नमस्ते जी

ऋषि दयानंद द्वारा प्रचारित वैदिक विचारधारा ने सैकड़ो हृदय को क्रन्तिकारी विचारो से भर दिया | जो वेद उस काल में विचारो से भी भुला दिए गए थे | ऋषि दयानंद ने उन हृदयों को वेदों के विचारो से ओतप्रोत कर दिया और देश में वेद गंगा बहने लगी | ऋषि के अपने अल्प कार्य काल में समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, और व्यक्तिगत विचार धारा को बदल के रख दिया | ऋषि के बाद भी कही वर्षो तक यह परिपाटी चली पर यह वैचारिक परिवर्तन पुनः उसी विकृति की और लौट रहा है | और इसी विकृति को रोकने के लिए वैदिक विद्वान प्रो० राजेंद्र जी जिज्ञासु के सानिध्य में "पंडित लेखराम वैदिक मिशन" संस्था का जन्म हुआ है | इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदों को समाज रूपी शरीर के रक्त धमनियों में रक्त के समान स्थापित करना है | यह कार्य ऋषि के जीवन का मुख्य उद्देश्य था और यही इस संस्था का भी मुख्य उद्देश्य है | संस्था के अन्य उद्देश्यों में सम्लित है साहित्य का सृजन करना | जो दुर्लभ आर्य साहित्य नष्ट होने की और अग्रसर है उस साहित्य को नष्ट होने से बचाना और उस साहित्य को क्रम बद्ध तरीके से हमारे भाई और बहनों के समक्ष प्रस्तुत करना जिससे उनकी स्वाध्याय में रूचि बढ़े और वे तुलनात्मक अध्यन कर सकें जिससे उनकी स्वधर्म में रूचि बढ़े और अन्य मत मतान्तरो की जानकारी उन्हें प्राप्त हो और वे विधर्मियो द्वारा लगाये जा रहे विभिन्न आक्षेपों का उत्तर दे सकें विधर्मियो से स्वयं भी बचें और अन्यो की भी सहयता करें | संस्था का उद्देश्य है समाज के समक्ष हमारे गौरव शाली इतिहास को प्रस्तुत करना जिससे हमारा रक्त जो ठंडा हो गया है वह पुनः गर्म हो सके और हम हमारे इतिहास पुरुषो का मान सम्मान करें और उनके बताये गये नीतिगत मार्ग पर चलें | संस्था का अन्य उद्देश्य गौ पालन और गौ सेवा को बढ़ावा देना जिससे पशुओ के प्रति प्रेम, दया का भाव बढ़े और इन पशुओ की हत्या बंद हो, समाज में हो रहे परमात्मा के नाम पर पाखण्ड, अन्धविश्वास, अत्याचार को जड़ से नष्ट करना और परमात्मा के शुद्ध वैदिक स्वरुप को समाज के समक्ष रखना, हमारे युवा शक्ति को अनेक भोग, विबिन्न व्यसनों, छल, कपट इत्यादि से बचाना |

इन कार्यो को हम अकेले पूरा करने का सामर्थ्य नहीं रखते पर, यह सारे कार्य है तो बड़े विशाल और व्यापक पर अगर संस्था को आप का साथ मिला तो बड़ी सरलता से पूर्ण किये जा सकते है | हमारा समजिक ढाचा ऐसा है की हम प्रत्येक कार्य की लिए एक दुसरे पर निर्भर है | आशा करते है की इस कार्य में आप हमारी तन, मन से साहयता करेंगे | संस्था द्वारा चलाई जा रही वेबसाइट www.aryamantavya.in और www.vedickranti.in पर आप संस्था द्वारा स्थापित संकल्पों सम्बन्धी लेख पड़ सकते है और भिन्न-भिन्न वैदिक साहित्य को निशुल्क डाउनलोड कर सकते है | कृपया स्वयं भी जाये और अन्यो को भी सूचित करे यही आप की हवी होंगी इस यज्ञ में जो आप अवश्य करेंगे यही परमात्मा से प्रार्थना करते है |

जिन सज्जनों के पास दुर्लभ आर्य साहित्य है एवं वे उसे संरक्षित करने में संस्था की सहायता करना चाहते है वो कृपया निम्न पते पर सूचित करें

ptlekhram@gmail.com

धन्यवाद् !

पंडित लेखराम वैदिक मिशन

आर्य मंतव्य टीम

सामवेदभाष्यम्

(प्रथमो भागः)

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

सम्पादक :
परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट
हिण्डौन सिटी (राज०) ३२२२३०

श्री गोविन्दार्यजी 'निशात', ई-८/४१, भरतनगर, शाहपुरा, भोपाल (म०प्र०) द्वारा प्रदत्त पचास सहस्र की धरोहर राशि के अंशदान द्वारा प्रकाशित।

प्रकाशक : श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी (राजस्थान)
संस्करण : प्रथम, १ जनवरी, २००५ श्री प्रहलादकुमार आर्य जन्मदिवस
विक्रमसंवत् : २०६१
मूल्य : ३५०/- रु० (दोनों भाग)
मुद्रक : राधा प्रेस
कैलाशनगर, दिल्ली-३१

प्रस्तावना

वेद परमात्मा-प्रदत्त वैदिक ज्ञान है। पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग पूर्ण पैदा होते हैं। उनका ज्ञान स्वाभाविक होता है। मनुष्य अपूर्ण उत्पन्न होता है। उसका ज्ञान नैमित्तिक होता है। सृष्टि के आदि में मनुष्य को ज्ञान किसने दिया ? निःसन्देह जगद् गुरु परमपिता परमात्मा ने। योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥ —योगदर्शन १.२६

वह परमात्मा पूर्व ऋषियों का भी गुरु है। और गुरु तो काल के कराल गाल में समा जाते हैं, परन्तु वह परमेश्वर तो काल का भी काल है।

यह संसार विधि है और वेद परमात्मा द्वारा प्रदत्त उसका विधान है। हम इस संसार में कैसे रहें ? हमारा अपने प्रति क्या कर्त्तव्य है ? हमारा दूसरों—परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के प्रति क्या कर्त्तव्य है ? हमारा ईश्वर के साथ क्या सम्बन्ध है ? हम परमात्मा की उपासना क्यों करें, कैसे करें, कहाँ करें—आदि सभी बातों का समाधान हमें वेद से प्राप्त होगा। इन सब बातों को जानने के लिए वेद का पठन-पाठन अत्यावश्यक है।

वेद चार हैं—**ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।**

आकार की दृष्टि से सामवेद सबसे छोटा है। इसमें केवल १८७५ मन्त्र हैं। गौरव और महत्त्व की दृष्टि से यह किसी भी वेद से कम नहीं है। ऋग्वेद ज्ञानकाण्ड है, यजुर्वेद कर्मकाण्ड है सामवेद उपासनाकाण्ड है और अथर्ववेद विज्ञानकाण्ड है।

जीवन का चरम और परम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति है। सामवेद बहुत विस्तार के साथ इसी लक्ष्य की ओर इङ्गित करता है। सामवेद में सङ्केतरूप में योग के सभी अङ्गों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—सभी का विवेचन है। योगाभ्यास कहाँ करें ? क्यों करें, कैसे करें—आदि सभी तत्त्वों का विवेचन है। श्री कृष्णजी इस वेद पर मोहित थे, इसलिए उन्होंने कहा—

वेदानां सामवेदोऽस्मि। —गीता १०.२२

अर्थात् वेदों में मैं सामवेद हूँ।

सामवेद की प्रशंसा में छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है—

ऋचः साम रसः। —छान्दोग्य० १.१.२

अर्थात् साम ऋचाओं का सार है।

तैत्तिरिय उपनिषद् के अनुसार ईश्वर-साक्षात्कार से कृतकृत्य जीवन्मुक्त पुरुष अपने आत्मानन्द की अभिव्यक्ति सामगान से ही करता है—

एतत् साम गायन्नास्ते, हा३उ हा३उ हा३उ इति।

अर्थात् अहो भाग्यम्, अहो ज्ञानम्, अहो ज्ञानम्।

स्वरचिह्न—सामवेद के मन्त्रों पर १, २, ३ आदि जो अङ्क दिये हुए हैं, उनका गान से कोई

सम्बन्ध नहीं है। वे उदात्त आदि स्वरों के चिह्न हैं। सामवेद के अतिरिक्त अन्य वेद में अनुदात्त आदि स्वर वर्णों के नीचे पड़ी [—] और खड़ी [।] रेखाओं से दिखलाये जाते हैं, परन्तु सामवेद के मन्त्रों में रेखाओं के स्थान पर अङ्कों का प्रयोग किया जाता है, जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उदात्त स्वर के लिए अक्षर के ऊपर '१' अङ्क लिखा जाता है, अनुदात्त के लिए '३' का अङ्क और स्वरित के लिए '२' का अङ्क लिखा जाता है। जिस अक्षर पर ये अङ्क न हों, उनका प्रचय स्वर होता है। ऋचा का अन्तिम उदात्त '२' अङ्क से दिखाया जाता है। कुछ वर्णों पर '२र' इत्यादि भी देखे जाते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—क्रमशः दो उदात्त वर्ण होने पर पहला उदात्त '१' अङ्क से दिखाया जाता है, दूसरे उदात्त के लिए कोई चिह्न नहीं होता, परन्तु उसके बाद के स्वरित को '२र' से दिखाया जाता है। अनुदात्त के पश्चात् स्वरित आने पर उसे भी '२र' से ही चिह्नित किया जाता है, किन्तु इसके पूर्व के अनुदात्त वर्ण पर '३क' का चिह्न दिखाया जाता है। क्रमशः दो उदात्त वर्णों के पश्चात् यदि अनुदात्त वर्ण आता हो तो पहले उदात्त वर्ण पर '२उ' यह चिह्न दिखाया जाता है और दूसरे उदात्त पर कोई चिह्न नहीं होता।

सामवेद मन्त्रसंख्या की दृष्टि से सबसे छोटा है, कदाचित् इसीलिए सामवेद पर अनेक व्यक्तियों ने भाष्य किये हैं। उनमें दो-चार को छोड़कर कुछ तो व्यर्थ ही हैं, उदाहरण के रूप में श्रीराम शर्मा का भाष्य ऐसा ही है। उनका तो सारा भाष्य ही कूड़ा है। अंग्रेज़ी के भाष्य भी गौरवपूर्ण नहीं है। कहीं-कहीं तो सिद्धान्तविरुद्ध हैं, कहीं-कहीं अर्थ सर्वथा निरर्थक हैं।

पं० हरिशरणजी का भाष्य अत्युत्तम है। यह सरल है, व्याकरण के अनुकूल है और गौरवपूर्ण है। इसे पढ़कर पाठक को वेद के महत्त्व और गुण-गरिमा का ज्ञान होगा। इस भाष्य में वेद की गहराई तक उतरने का प्रयत्न किया गया है। कुछ ऐसे तत्त्वों को उजागर किया है, जो अन्य किसी भाष्य में देखने को नहीं मिलेंगे। पढ़िए, वेद-सागर में गोते लगाइए, मोतियाँ लाइए। वेद की शिक्षाओं को जीवन में धारण करके अपने जीवन को सुजीवन बनाइए। स्वयं चमको और दूसरों को चमकाओ। ज्योतिष्मान् बनो और सर्वत्र ज्योति फैलाओ।

विदुषामनुचरः
(स्वामी) जगदीश्वरानन्द सरस्वती
१८.११.२००१

वेद-मन्दिर
इब्राहीमपुर, दिल्ली-११० ०३६
दूरभाष : ७२०२२४९

ओ३म्

प्रारम्भिक वक्तव्य

प्रिय पाठको !

प्रभुकृपा से यह सामवेद का भाष्य सम्पन्न हो पाया है। आर्यसमाज रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली के उत्साह से यह प्रकाशित होकर आपके सम्मुख प्रस्तुत है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद के भाष्य भी सम्पन्न होकर तैयार हैं। 'पाठकों की सहायता व उत्साह से वे भी शीघ्र छप सकेंगे,' ऐसी हमें पूर्ण आशा है। अपनी ओर से हमने यह प्रयत्न किया है कि सामान्य पाठक पढ़कर यह न कह बैठे कि 'समझ में नहीं आया और विद्वान् यह न कह सके कि 'यह व्याकरण के दृष्टिकोण से ठीक नहीं है'।

अपने से पूर्व के सब भाष्यकारों के प्रति तो हम कृतज्ञता प्रकट करते ही हैं। उनके भाष्यों से जो साहाय्य प्राप्त हुआ है, उसे भूलना तो सम्भव ही नहीं। साथ ही महर्षि दयानन्द को इस अवसर पर याद न करना सबसे अधिक कृतघ्नता की बात होगी। वस्तुतः उन्होंने ही वेदार्थ करने का ठीक मार्ग हम सबको दर्शाया है। उनका ऋण हम एक ही प्रकार से उतार सकते हैं और वह इस प्रकार कि हम प्रतिदिन वेद का स्वाध्याय करें—इसके पढ़ने को पुण्य-पाठ समझें। आचार्य के शब्दों में यही परमधर्म है।

अन्त में सब विद्वानों से यही निवेदन है कि इसे पढ़ने पर वे जो भी निर्माणात्मक सुझाव देने का अनुग्रह करेंगे, तदर्थ हम उनके आभारी होंगे।

आपके सौहार्द का आकांक्षी

हरिशरण

॥ ओ३म् ॥

सामवेदभाष्यम्

पूर्वार्चिकः

आग्नेयकाण्डम् : प्रथमोऽध्यायः

प्रथमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—भरद्वाजः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रकाश 'अन्धकार का नाश'

१. **अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि॥ १॥**

१. हे **अग्ने**='आगे ले-चलनेवाले' प्रभो! आपका 'अग्नि' नाम ही वेद में सबसे अधिक बार आया है। यह मानव-जीवन के लक्ष्य का संकेत कर रहा है कि 'तुझे मोक्ष तक पहुँचना है, पहुँचेगा प्रभु की कृपा से', अतः वह प्रार्थना करता है—हे प्रभो! आप **आयाहि**=आइए और **वीतये**=हमारे हृदय-अन्धकार का ध्वंस कर दीजिए (वी=असन=परे फेंक देना)। उस प्रभु के प्रकाश में वृत्र का अन्धकार कहाँ? उस ज्योति में तो काम भस्मीभूत हो जाता है।

२. **गृणानः**=(गृणाति आह्वयति भक्तान् कल्याणवर्त्मनि) हमें कल्याण के मार्ग का उपदेश देते हुए **हव्य-दातये**=प्रीणयितव्य (हु प्रीणनार्थेऽपि) भक्तों के कर्म-बन्धनों के उच्छेद के लिए होओ। जो भक्त नहीं वे तो प्रभु का आह्वान सुनने ही क्यों लगे हैं? हव्य वे जीव हैं जो प्रभु में श्रद्धा से उसके कृपापात्र बनते हैं।

३. **होता**=महान् उपदेशक प्रभो! (ह्वेञ् शब्दे) **बर्हिषि**=(बर्ह्+इस्=नष्ट करना) जिसमें वासना व अज्ञान का अन्धकार नष्ट हो गया है, उस हृदयान्तरिक्ष में आप **नि सत्सि**=निरन्तर विराजमान होते हैं। सर्वव्यापक प्रभु का दर्शन पवित्र हृदय में ही होता है।

आपके साक्षात्कार से, आपके सम्पर्क में आकर, शक्तिसम्पन्न बनकर, मैं इस मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज'='अपने में शक्ति को भरनेवाला' बन पाऊँ।

भावार्थ—हृदय में प्रभु का प्रकाश होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है। इस प्रकाशमय हृदय में सन्मार्ग की प्रेरणा देते हुए प्रभु भक्तों के कर्म-बन्धनों का उच्छेद करते हैं। वासनाशून्य हृदय में ही उस महोपदेशक की प्रेरणा सुनाई देती है।

ऋषिः—भरद्वाजः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

करनेवाला वह प्रभु है

२. **त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः। देवेभिर्मानुषे जने॥ २॥**

१. हे **अग्ने**=आगे और आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **विश्वेषाम्**=सब **यज्ञानाम्**=श्रेष्ठतम कर्मों के **होता**=सम्पादक हैं। जीव के द्वारा होते हुए सब शुभ कर्म उस प्रभु की दी हुई शक्ति से ही हो रहे हैं। जब जीव अल्पज्ञता के कारण उस शक्ति का ठीक प्रयोग नहीं करता तभी अशुभ कर्म हो जाते हैं और इनका उत्तरदायी वह जीव ही होता है।

२. आप **देवेभिः**=दिव्य गुणों के द्वारा **मानुषे जने**=मानवता (मननशीलता) से युक्त मनुष्य में **हितः**=प्रतिष्ठित होते हैं।

सर्वव्यापक होते हुए भी प्रभु का निवासस्थान मानवता से युक्त मनुष्य ही है, अर्थात् हम अपने अन्दर दिव्य गुणों की वृद्धि करके ही उस प्रभु का साक्षात्कार कर सकते हैं और तभी इस मन्त्र के ऋषि **'भरद्वाज'**=शक्तिसम्पन्न बन सकते हैं।

भावार्थ—संसार में सब उत्तम कर्म प्रभु की शक्ति से होते हैं। मनुष्य को उसका साक्षात्कार दिव्य गुणों के धारण करने से होता है।

ऋषिः—**मेधातिथिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

तपस्या की अग्नि में भक्त

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
३. अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्॥ ३॥

१. हम तो **अग्निम्**=अग्र-स्थान के प्रापक उस प्रभु को **वृणीमहे**=वरते हैं। जीव के सामने यह चुनाव है कि 'प्रकृति को वर ले या प्रभु को।' प्रकृति 'प्रेय-मार्ग' का प्रतीक है, प्रभु 'श्रेय-मार्ग' का। मन्दमति प्रेय-मार्ग का ही वरण करता है, उसकी हरियावल उसे मनोहर प्रतीत होती है, उसकी मधुरता से वह छला जाता है, परन्तु वह प्रभु तो **दूतम्**=उपतापक हैं (दु उपतापे), अपने भक्तों को तपस्या की अग्नि में तपाकर 'काञ्चन'=सोना बनाना चाहते हैं, **होतारम्**=परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर सब सम्पत्तियों के देनेवाले वही हैं (हु दाने), **विश्ववेदसम्**=वही सब सम्पत्तियों के ईश हैं। प्रकृति भी तो प्रभु की ही है। प्रभु के मिलने पर प्रकृति तो मिल ही जाती है।

२. प्रभु का वरण ही ठीक है, वे प्रभु **अस्य**=इस भक्त के **यज्ञस्य**=जीवनयज्ञ के **सुक्रतुम्**=उत्तम कर्त्ता होते हैं। हमारी जीवन-यात्रा को वे ठीक-ठाक ले-चलते हैं। हम अपने शरीर-रथ का चालक उस प्रभु को ही बनाएँ।

यदि हम प्रकृति के विलासों की ओर न जाकर प्रभु की प्रेरणा के अनुसार जीवन-यापन करेंगे तो इस बुद्धि-मार्ग को अपनाने के कारण इस मन्त्र के ऋषि 'मेधातिथि' बनेंगे।

भावार्थ—वे प्रभु तपस्या से परिपक्व हुए भक्त को सब इष्ट-सुख प्राप्त कराते हैं, और उसकी जीवन-यात्रा को सुन्दर प्रकार से पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

काम-संहार

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २र
४. अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया। समिद्धः शुक्र आहुतः॥ ४॥

मनुष्य की यह विवशता है कि वह चाहता हुआ भी काम-क्रोधादि वासनाओं को विनष्ट नहीं कर पाता। ये वासनाएँ अत्यन्त प्रबल हैं। ये मनुष्य की समझ पर पर्दा डाले रहती हैं

और उसे अपना शिकार बना लेती हैं, इसलिए इस वासना को 'वृत्र' कहते हैं।

इस वृत्र को वह **अग्निः**=प्रभु ही **जंघनत्**=नष्ट करता है। परमेश्वर का स्मरण ही एकमात्र उपाय है जिससे वासनाओं का संहार होता है, परन्तु वह अग्नि **द्रविणस्युः**=द्रविण को चाहता है। यदि मनुष्य अपने पास धन का संचय किये रक्खे और यह चाहे कि प्रभु उसकी वासनाओं को विनष्ट कर दें तो यह नहीं हो सकता। वस्तुतः **विपन्यया**=विशिष्ट स्तुति के द्वारा ही हम यह कार्य प्रभु से करा पाते हैं। उस प्रभु की विशिष्ट स्तुति यही है कि हम उसी से प्रीति करें, हमें धन से प्रीति न हो। प्रभु की यही 'ऐकान्तिकी भक्ति' है। प्रभु और धन दोनों की उपासना युगपत् सम्भव नहीं है, अतः हम धन उस प्रभु को अर्पित कर दें और तब हमारी इस विशिष्ट स्तुति से वे प्रभु हमारे लिए वृत्रों का संहार करेंगे।

प्रभु की प्राप्ति का क्रम यह होता है कि हम उसे अपने हृदयों में **समिद्धः**=दीप्त करते हैं। प्रकृति के सौन्दर्य, व्यवस्था आदि से उसका आभास (दीप्ति) हमारे हृदयों में होता है, तब हम उसकी ओर चलते हैं। वह हमसे **शुक्रः**=जाया जाता है (शुक् गतौ) और अन्त में उसकी ओर चलते-चलते हम उसे प्राप्त कर लेते हैं, वह **आहुतः**=हमसे समर्पित होता है। हम उसके प्रति आत्मसमर्पण करते हैं। किसी भी वस्तु की प्राप्ति का क्रम 'ज्ञान, गमन और प्राप्ति' ही है।

हमने प्रभु के प्रति अपना अर्पण किया, उसने हमें 'वृत्रविनाशरूप' कार्य के लिए शक्ति-सम्पन्न बनाया और हम इस मन्त्र के ऋषि 'भरद्वाज' कहलाये।

भावार्थ—अनन्य भक्ति, स्तुति के अनुरूप व्यवहार से आराधित प्रभु जीव की वासनाओं का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

यात्रा का रथ

५. **प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम्। अग्ने रथं न वेद्यम्॥ ५॥**

उपदेशक—इस मन्त्र का ऋषि 'उशना' सबका हित चाहनेवाला, अपने श्रोतृवृन्द (Audience) से कहता है कि वे प्रभु **प्रेष्ठम्**=अत्यन्त कान्तिमान् हैं। **'दिवि सूर्यसहस्रस्य'** हजारों सूर्यों के समान उस प्रभु की दीप्ति है। वे आदित्यवर्ण हैं, परन्तु इतने कान्तिमान् होते हुए भी वे प्रभु **वः**=तुम्हारे तो **अतिथिम्**=मेहमान की भाँति हैं। जिस प्रकार अतिथि के दर्शन घर पर कभी-कभी होते हैं, उसी प्रकार उस प्रभु का दर्शन भी कभी-कभी होता है। इसपर भी वह प्रभु **मित्रम् इव**=स्वाभाविक स्नेह करनेवाले मित्र की भाँति **प्रियम्**=विविध आवश्यक वस्तुओं की सृष्टि करके जीव को तृप्त करनेवाले हैं। जीव प्रभु की ओर अपनी दृष्टि करे या न करे, प्रभु तो उसपर अपनी कृपा-दृष्टि बनाये ही रखते हैं। माता-पिता के स्नेह में भी कुछ स्वार्थ हो सकता है, परन्तु उस स्वाभाविक मित्र का स्नेह स्वार्थ की गन्ध से परे है।

वे प्रभु **अग्ने**=(अग्निम्) जीव को आगे ले-चलनेवाले हैं। **रथं न**=रथ की भाँति **वेद्यम्**=जानने योग्य हैं। जिस प्रकार रथ से यात्रा की पूर्ति में सहायता मिलती है, उसी प्रकार मानव-जीवन की यात्रा भी इस प्रभुरूप रथ पर आरूढ़ होने से ही पूर्ण होगी। इस भावना को उपनिषदों में 'ब्रह्म-निष्ठ' शब्द से स्पष्ट किया गया है। यही 'ईश्वर-प्रणिधान'=अपने को ईश्वर में रख देना है। इस जीवन-यात्रा में होनेवाले विविध विघ्नों को जीतने का एक ही उपाय है—ब्रह्मरूपी

रथ में स्थित होना।

ऋषि उशना कहते हैं कि इस ब्रह्म का ही **स्तुषे**=मैं स्तवन करता हूँ, इसी के गुणों का गायन करता हूँ। यही तो कल्याण का मार्ग है।

भावार्थ--वे प्रभु अत्यन्त कान्तिमान्, जीव के मित्र, उसकी उन्नति के साधक तथा उसके लिए जीवन-यात्रा में रथ के समान हैं।

ऋषिः—**सुदीतिपुरुमीढौ तयोर्वान्यतरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दो दोषों से दूर

६. **त्वं नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्या अरातेः। उत द्विषो मर्त्यस्य॥ ६॥**

हे **अग्ने त्वम्**=प्रभो! आप **नः**=हमें **विश्वस्याः**=सब **अरातेः**=अदान की भावना से **उत**=और **मर्त्यस्य**=मनुष्य के **द्विषः**=(द्वेषणं द्विट्) द्वेष से **महोभिः**=तेजस्विता के द्वारा **पाहि**=बचाओ।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसके सामाजिक जीवन में दो बड़े दोष आ जाते हैं—एक 'अदान' की भावना और दूसरा 'द्वेष'। यदि मनुष्य में देने की वृत्ति न हो तो किसी भी सामाजिक कार्य का होना सम्भव न हो। सारी सामाजिक उन्नति दान की वृत्ति पर ही निर्भर है।

जिस प्रकार अदान की वृत्ति समाज के लिए घातक है उसी प्रकार द्वेष की। द्वेष में मनुष्य की शक्ति अपने उत्थान में न लगकर दूसरे के पतन में लगती है। द्वेष में हम दूसरे से प्रीति न कर वैर ठान लेते हैं।

इन दोनों अदान और द्वेषरूप सामाजिक दोषों से ऊपर उठने का उपाय **महोभिः** शब्द से सूचित हो रहा है। महस् का अर्थ है तेजस्विता। तेजस्वी पुरुष इन वृत्तियों को आत्मसम्मान की भावना से विपरीत समझता है, इसलिए इनसे दूर रहता है।

प्रभुकृपा से हम 'सुदीति' खूब दान देनेवाले तथा 'पुरुमीढ' द्वेष न करके सुखों का सेचन करनेवाले बनें। ये ही दोनों इस मन्त्र के ऋषि हैं।

भावार्थ—हम तेजस्वी बनकर अदान व द्वेष से दूर हों, तभी हम समाज व राष्ट्र को स्वर्ग बना सकेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु सामीप्य का परिणाम

७. **एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः। एभिर्वर्धास इन्दुभिः॥ ७॥**

हे **अग्ने**=प्रभो! **आ इहि**=आप मेरे हृदय में आइए, क्योंकि **ते**=आपके सामीप्य से मैं **इतराः**=सामान्य व्यवहार की बातों को भी **इत्था ब्रवाणि**=सत्य ही बोलता हूँ। प्रभु के सन्निकर्ष से मानव-जीवन में यह कितनी बड़ी क्रान्ति उत्पन्न हो जाती है कि वह सदा सत्य का पालन करता है। उसका व्यवहार शुद्ध होता है। उसे किसी भी बात का भय सत्य के मार्ग से विचलित नहीं कर पाता और लोभ इन्हें आकृष्ट नहीं कर सकता। इनकी दृढ़ता लोगों के आश्चर्य का कारण बनती है। इनके जीवन में उन्हें कोई महान् शक्ति कार्य करती हुई दृष्टिगोचर होती है। दूसरे शब्दों में, इनके जीवन लोगों के सामने प्रभु की महिमा को प्रकट

करते हैं। इसीलिए मन्त्र में कहा है कि **एभिः**=इन **इन्दुभिः**=शक्तिशाली पुरुषों से ('इन्द'=to be powerful) **वर्धासे**=आप (प्रभु) वृद्धि को प्राप्त करते हैं। आपकी लोगों में ख्याति होती है।

ये लोग सत्य पर दृढ़ता से चलने से सभी दिव्य गुणों को धारण कर इस मन्त्र के ऋषि 'भरद्वाज' बनते हैं।

भावार्थ—उपासना से मनुष्य का व्यवहार सत्यमय होता है और इन उपासकों में परमेश्वर की महिमा प्रकट होती है।

ऋषिः—**वत्सः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु का प्यारा क्या चाहता है

८. आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्थात्। अग्ने त्वां कामये गिरा॥ ८॥

हे प्रभो! **ते वत्सः**=तेरा यह प्यारा व सदा सत्य व्यवहार करनेवाला पुत्र **परमात्**=सबसे उत्कृष्ट **सधस्थात्**=प्रभु के साथ रहने के लोक, अर्थात् मोक्षलोक से **चित्**=भी **मनः**=अपने मन को **आ यमत्**=क़ाबू करता है, अर्थात् अपने मन में मोक्षलोक की भी कामना नहीं करता। इसकी कामना होती है कि **अग्ने**=हे प्रभो! **गिरा**=वाणी से **त्वाम्**=तुम्हें **कामये**=चाहूँ, अर्थात् संसार मे रहते हुए मैं सदा सत्य का पालन करता रहूँ। आप सत्यस्वरूप हैं, मेरी वाणी भी सत्य को ही चाहे।

अपने सुखों को तिलाञ्जलि देकर सर्वहित-साधन में प्रवृत्त होने के कारण ये प्रभु के 'वत्स' (प्यारे) बनते हैं। 'वत्स' ही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—सर्वदा सत्य विचारना, सत्य बोलना और सत्य का आचरण करना मोक्ष के आनन्द के समान है।

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु दर्शनार्थ दो बातें

९. त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥ ९॥

इस संसार में अस्थिर चित्तवृत्तिवाले पुरुष को प्रभु का दर्शन नहीं होता। उस प्रभु का मन्थन व ज्ञान तो अथर्वा ही कर पाता है। इसी से मन्त्र में कहते हैं कि **अग्ने**=हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको **अथर्वा**=निश्चल चित्तवृत्तिवाला पुरुष **पुष्करात् अधि**=इस हृदयदेश में **निरमन्थत**=अवगाहन कर ज्ञान पाता है, अर्थात् आपका दर्शन निरुद्ध चित्तवृत्तिवाले योगी को ही हृदय में हुआ करता है, परन्तु क्या यह योगी केवल हृदय के इस विकास व नैर्मल्य से ही प्रभु-दर्शन कर सकता है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मन्त्र में कहा है कि उस प्रभु के ज्ञान का मन्थन **मूर्ध्नः**=मस्तिष्क से होगा। कौन से मस्तिष्क से? **विश्वस्य**=सारे ब्रह्माण्ड के ज्ञान को **वाघतः**=धारण करनेवाले मेधावी के मस्तिष्क से।

एवं, यह स्पष्ट है कि प्रभु का दर्शन केवल पवित्र हृदय से न होकर मेधावी के ज्ञानपरिपूर्ण मस्तिष्क से होता है। हृदय व मस्तिष्क दोनों का ही विकास आवश्यक है। जैसे दो अरणियों को रगड़कर अग्नि प्रकट होती है, उसी प्रकार इस प्रभुरूप अग्नि को प्रकट

करने के लिए हृदय व मस्तिष्करूपी दोनों अरणियों की आवश्यकता है।

'वज' धातु ज्ञान व गमन की वाचक है। उस प्रभु के ज्ञान और उस प्रभु की ओर जाने की भावना से भरा हुआ व्यक्ति इस मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' कहलाता है।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिए उत्तम गुणों का पोषण करनेवाले (पुष्कर) हृदय व विश्व के ज्ञान से परिपूर्ण मस्तिष्क दोनों की ही आवश्यकता है।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञानियों के सम्पर्क में

१०. अग्ने विवस्वदा भरास्मभ्यमूतये महे। देवो ह्यसि नो दृशे ॥ १० ॥

हे **अग्ने**=प्रभो! आप **देवः हि असि**=निश्चय से देव हैं। **देवो दानात्, दीपनात्, द्योतनाद्वा**=सब-कुछ देनेवाले हैं, स्वयं दीप्तिमय-ज्योतिर्मय होते हुए औरों को ज्ञान की दीप्ति देनेवाले हैं। आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए भी **विवस्वत्**=ज्ञानी पुरुष को **आभर**=प्राप्त कराइए, जिससे—

१. **ऊतये**=उनसे उत्तम ज्ञान प्राप्त कर हम अपनी रक्षा के योग्य हों। ज्ञान ही हमें इन विषयों के जाल में फँसने से बचा सकता है।

२. **महे**=(महसे) तेज के लिए भी हमें ज्ञानियों की प्राप्ति कराइए।

३. **नः दृशे**=हमें इसलिए भी ज्ञानियों की प्राप्ति कराइए कि हम उनसे शब्दब्रह्म का=सृष्टिविद्या का ज्ञान प्राप्त करके प्राकृतिक रचनाओं में आपकी महिमा को अनुभव करते हुए आपका दर्शन व साक्षात्कार कर सकें।

आपके साक्षात्कार से सब मलिनता को भस्म करके सुन्दर गुणोंवाले हम इस मन्त्र के ऋषि 'वामदेव' बन पाएँ।

भावार्थ—ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर हम (१) विषय-जाल से अपनी रक्षा करके, (२) भोगों में शक्ति को जीर्ण न कर तेजस्वी बनते हुए (३) प्रभु का साक्षात्कार करनेवाले बनेंगे।

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—**आयुङ्क्ष्वाहिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

भक्ति से शक्ति की प्राप्ति

११. नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः। अमैरमित्रमर्दय ॥ १ ॥

अग्ने ओजसे=हे प्रभो! बल-प्राप्ति के हेतु से हम **ते नमः**=तुझे नमस्कार करते हैं। अनन्त शक्ति के स्रोत आप ही हैं, भक्ति के द्वारा आपसे सम्बद्ध हो हम भी उस शक्ति को अपने अन्दर प्रवाहित करते हैं। भक्ति से वह शक्ति प्राप्त होती है जो पर्वत-तुल्य कष्टों में भी मनुष्य को विचलित न होने योग्य बनाती है।

२. परन्तु हे **देव**=सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले प्रभो! **कृष्टयः**=कृषि करनेवाले मनुष्य ही **गृणन्ति**=तेरी सच्ची आराधना करते हैं। वे अन्न-वस्त्रादि जुटाकर आपकी भाँति

आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं।

३. **अमैः**=शक्तियों से **अमित्रम्**=शत्रु को **अर्दय**=समाप्त कीजिए। हे प्रभो! शारीरिक शक्ति से, तेज व वीर्य से हम रोगकृमिरूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाले हों। मानस ओज व स्नेह के बल से हम काम, क्रोधादि को नष्ट कर विश्वप्रेम को अपने जीवन में ला सकें। बौद्धिक ज्ञान के बल से हम अज्ञानरूप शत्रु को समाप्त कर दें।

इस सबके लिए हमारे जीवन का आदर्श वाक्य—(**आयुङ्क्ष्व**) "काम में लगे रहो" तथा 'अहि' (अ-हन) "समय को नष्ट मत करो"—यह बने तथा हम इस मन्त्र के ऋषि 'आयुङ्क्ष्वाहि' बनें।

भावार्थ—(१) भक्ति से शक्ति मिलती है, (२) सच्ची भक्ति के लिए कृषक का जीवन आदर्श है, (३) शक्ति से शत्रुओं की समाप्ति हो जाती है।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दो प्रकार की परीक्षा

१२. दूतं वो विश्ववेदसं हव्यवाहममर्त्यम्। यजिष्ठमृञ्जसे गिरा॥ २॥

वे प्रभु **वः**=तुम सब भक्तों के **दूतम्**=सन्तापक, सन्ताप की अग्नि में डालकर परीक्षा करनेवाले हैं। वे प्रभु **विश्ववेदसम्**=सम्पूर्ण धनोंवाले हैं। कष्टों की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर वे विविध ऐश्वर्यों को प्राप्त कराकर दूसरी परीक्षा लेते हैं कि यह सम्पत्तियों के लोभ में कहाँ तक नहीं फँसता? इन दोनों परीक्षाओं में उत्तीर्ण व्यक्ति ही हव्य हैं—प्राजापत्य यज्ञ में अपनी आहुति डालनेवाले हैं। वह प्रभु **हव्यवाहम्**=इन हव्य मनुष्यों को अपने समीप ले-जानेवाले हैं। (वह प्रापणे=to carry) और **अमर्त्यम्**=इन अपने सच्चे भक्तों को अमर्त्य करनेवाले—जन्म-मरण के चक्र से मुक्त करनेवाले हैं, **यजिष्ठम्**=अधिक-से-अधिक अपने साथ सङ्गत करनेवाले हैं, अर्थात् अपने समीप प्राप्तिरूप मोक्ष देनेवाले हैं। इस प्रभु को **गिरा**=मैं अपनी वाणी से **ऋञ्जसे**=प्रसाधित=आराधित करता हूँ।

मैं अपनी वाणी से सदा प्रभु का गुणगान करता हूँ और इस गुणगान से स्वयं भी उत्तम गुणों में प्रीतिवाला बनकर इस मन्त्र का ऋषि 'वामदेव' बनता हूँ।

भावार्थ—मनुष्य आपत्तियों और सम्पत्तियों की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर ही मोक्ष का अधिकारी बनता है।

ऋषिः—**प्रयोगः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वायु के समान बल की प्राप्ति

१३. उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीर्हविष्कृतः। वायोरनीके अस्थिरन्॥ ३॥

हविष्कृतः=(त्वयि एव हूयते निधीयते न तु विषयेषु इति हविः=शुद्धमनः, दानपूर्वकमदनशीलं मनः=हु दानादनयोः तत्करोति, तस्य) दानपूर्वक अदन=भक्षण को अपना स्वभाव बना लेनेवाले पुरुष की **त्वा उप**=तेरे समीप **जामयः**=गति करनेवाली, अर्थात् तेरी समीपता से कभी इधर-उधर न भटकनेवाली, **देदिशतीः**=निरन्तर तेरा निर्देश करती हुई **गिरः**=वाणियाँ भक्त को **वायोः अनीके**=वायु के बल में—वायु के समान शक्ति में **अस्थिरन्**=स्थित करती हैं।

जब एक मनुष्य अपने जीवन को भोगप्रधान न बनाकर अपनी शक्तियों को जीर्ण न होने देगा तो उसे वायु के समान अत्यधिक शक्ति क्यों न प्राप्त होगी? परन्तु जीवन को भोगप्रधान न बनने देने का साधन क्या है? यह साधन ही इस मन्त्र में **"उप त्वा जामयो गिरः"** इन शब्दों में वर्णित हुआ है 'निरन्तर तेरे समीप प्राप्त होनेवाली वाणियाँ।' जागते-सोते, खाते-पीते, उठते-बैठते सदा हमारी वाणी उस प्रभु का स्मरण करे, तभी ऐसा सम्भव है। 'देदिशतीः' हमारी वाणियाँ उस प्रभु का ही निर्देश करती हों। शरीर से कार्य चल रहे हों, परन्तु मन व वाणी प्रभु का ध्यान व जप कर रहे हों।

यदि इस प्रकार सब क्रियाओं को करते हुए भी हमारा सम्पर्क उस प्रभु से बना रहेगा, तो इस प्रकृष्ट योग=सम्बन्ध के कारण हम इस मन्त्र के ऋषि 'प्रयोग' बनेंगे।

भावार्थ—'हमारा प्रत्येक कार्य प्रभु-स्मरणपूर्वक चल रहा हो।' यही मार्ग है भोगों के शिकार न होने का और शक्ति के लाभ का।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञानपूर्वक कर्म ही उपासना है

१४. उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि॥ ४॥

हे **अग्ने! दोषावस्तः**=(वस आच्छादने, छद् अपवारणे) दोषों को समन्तात् अपवारित=दूर करनेवाले प्रभो! आप हमारे लिए उस छत के समान हैं जो ओलों आदि से बचाती है; उसी के समान आप सब ओर से आक्रमण करनेवाले दोषों से हमें बचाते हैं। **वयम्**=कर्मतन्तु का विच्छेद न करनेवाले आपके भक्त हम **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **त्वा उप**=आपके समीप **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्म से **नमः भरन्तः**=विनय का सम्पादन करते हुए **एमसि**=प्राप्त होते हैं। प्रभु 'दोषावस्तः' हमें सब ओर से सदा दोषों से बचाते हैं, परन्तु उसके लिए हमारा कर्त्तव्य है कि हम सदा 'धिया' ज्ञानपूर्वक कर्म में लगे रहें। धी शब्द ज्ञान और कर्म दोनों ही अर्थों का वाचक है। मनुष्य शब्द का निर्वचन भी यास्क ने **'मत्वा कर्माणि सीव्यति'**, 'सोचकर कर्म करता है'—यह किया है। एवं, धिया शब्द की भावना को अपनाने से ही हम अपने मनुष्य नाम को चरितार्थ करते हैं। हमें "Man proposes and God disposes",, "अन्यथा चिन्तितं यत्तु अन्यथैव प्रजायते", "चाहा कुछ हुआ कुछ" का अनुभव इसी परिणाम पर पहुँचाता है कि संचालक शक्ति कोई और है। ऐसी ही घटनाएँ हमारे अभिमान को तोड़कर हमें नतमस्तक कर देती हैं, और हम विनीत होकर उस प्रभु के समीप उपस्थित होते हैं। हमारा अभिमान गल जाता है और हम आसुर भावनाओं को छोड़कर उत्तम इच्छाओंवाले बनते हुए इस मन्त्र के ऋषि 'मधुच्छन्दाः' होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानपूर्वक कर्म ही प्रभु की सच्ची विनय है।

ऋषिः—**शुनःशेपः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दीखनेवाली स्तुति

१५. जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय। स्तोमं रुद्राय दृशीकम्॥ ५॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि **जराबोध**=जरा=बुढ़ापा, उसमें बुध्यते=जो चेतता है, अर्थात्

यौवन के नशे में मनुष्य की बुद्धि विलुप्त हो जाती है, मानव जीवन का लक्ष्य भूल जाने से वह पथ-भ्रष्ट हो जाता है। प्रायः शक्तियों के जीर्ण हो जाने पर—जरावस्था आने पर उसे होश आता है, परन्तु इस प्रकार तो सब जीवन ही व्यर्थ चला जाता है, अतः प्रभु कहते हैं कि हे जराबोध! **विशोविशे**=प्रत्येक प्राणी में **यज्ञियाय**=सङ्गतीकरण में—सम्पर्क में श्रेष्ठ उस **रुद्राय**=क्रियात्मक उपदेश देनेवाले प्रभु के लिए (रुत्+र) **तत्**='तनु विस्तारे' विस्तृत **दृशीकम्**=जो आँखो से दिखे (visible) नकि केवल वाणी से बोला जाए, ऐसे **स्तोमम्**=स्तोत्र को—स्तुतिसमूह को **विविड्ढि**=व्याप्त कर।

प्रभु प्रत्येक प्राणी में व्याप्त है, किसी से उन्हें घृणा नहीं है और इस प्रकार जीव को भी वे क्रियात्मक उपदेश दे रहे हैं कि मेरी स्तुति का प्रकार यही है कि तेरा सम्पर्क भी अधिक-से-अधिक प्राणियों से हो। Greatest good of the greatest number—**यद्भूतहित-मत्यन्तम्**=अधिक-से-अधिक प्राणियों का हित करना ही तेरा लक्ष्य हो।

इसी उद्देश्य से तेरे सारे कर्म चलें। ये तेरे कर्म ही वस्तुतः उस प्रभु की दृश्य स्तुति होंगे। इस मार्ग से चलकर ही हम वास्तविक सुख का (शुनः) निर्माण करनेवाले (शेपः) इस मन्त्र के ऋषि 'शुनःशेप' बनेंगे।

भावार्थ—प्रभु का अर्चन लोकहित के कर्मों द्वारा होता है, **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'**, कर्म ही उसके 'दृशीक स्तोम' हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मैं यज्ञ करूँ, प्रभु रक्षक हों

१६. **प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे। मरुद्भिरग्न आ गहि॥ ६॥**

त्यम्=उस **चारुम्**=करने योग्य (चर गतौ) **अध्वरं प्रति**=हिंसारहित यज्ञ में **गोपीथाय**=इन्द्रियों की रक्षा के लिए (गाव इन्द्रियाणि, पीथं=पानम्) हे **अग्ने**=प्रभो! आप **प्रहूयसे**=हमसे पुकारे जाते हैं। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि अपनी प्रत्येक इन्द्रिय से यज्ञ=उत्तम कर्मों का अनुष्ठान करे। इसी बात को मन्त्र का 'चारु' शब्द व्यक्त कर रहा है। हमारा कोई भी कार्य हिंसा की प्रवृत्तिवाला न हो। कार्य की श्रेष्ठता व यज्ञरूपता की यही कसौटी है। 'अ-ध्वर'=नहीं हिंसा। हमारे कार्य अधिक-से-अधिक प्राणियों का भला करनेवाले हों। प्रभु का स्मरण ही आसुर वृत्तियों के दूर करने का उपाय है। मन्त्र में उस प्रभु से प्रार्थना है कि हे प्रभो! **मरुद्भिः**=प्राणों के साथ **आगहि**=आओ, हमें प्राप्त होओ। इस प्रकार वेद का यह संकेत स्पष्ट है कि इन्द्रियों की रक्षा के लिए प्राणों की साधना ही उपाय है। हम प्राणों की साधना द्वारा इन्द्रियों का संयम कर यज्ञ को नष्ट न होने दें। प्राण-साधना द्वारा इन्द्रिय-संयम ही श्रेय-मार्ग है। विरले धीरों में से एक होते हुए हम इस मन्त्र के ऋषि 'मेधातिथि' बनें।

भावार्थ—हे मनुष्यो! प्राणसाधना से जितेन्द्रिय बनकर जीवन को यज्ञमय बनाओ।

ऋषिः—**शुनःशेपः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-रक्षण से ही यज्ञ चलते हैं

१७. **अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः। सम्राजन्तमध्वराणाम्॥ ७॥**

हम **वार-वन्तं**=प्रशस्तरूप से शत्रुओं का निवारण करनेवाले (वार=निवारण, मतुप् प्रशंसायाम्) **अश्वं न**=घोड़े के समान **त्वा**=उस **अग्निम्**=प्रभु का **नमोभिः**=नमस्कारों से **वन्दध्या**=वन्दन के लिए प्रवृत्त हुए हैं। किस प्रभु का? **अध्वराणाम्**=सब यज्ञों के **सम्राजम्**=सम्राट् **तम्**=उस प्रभु का।

पिछले मन्त्र में यह भावना स्पष्ट थी कि इन्द्रियाँ यज्ञों में प्रवृत्त रहें, इसके लिए प्रभु-चिन्तन आवश्यक है। प्रभु-चिन्तन उन्हें असुरों के आक्रमण से बचाता है। इस मन्त्र में इसी भावना को इन शब्दों में कहा गया है कि जैसे उत्तम घोड़ा शत्रुओं पर आक्रमण कर उन्हें दूर भगा देता है, उसी प्रकार वे प्रभु भी सभी यज्ञध्वंसक बुरी वृत्तियों को दूर करके यज्ञ को निर्विघ्न पूरा कराते हैं। मनुष्य को सदा इस तत्त्व को समझते हुए प्रभु के प्रति नतमस्तक होना चाहिए। तभी हम अपने वास्तविक सुख का निर्माण कर सकेंगे, और 'शुनःशेप' कहलाने के योग्य होंगे।

भावार्थ—परमेश्वर रक्षक न हो तो हम किसी भी कार्य को सफलता से सम्पन्न नहीं कर सकेंगे, अतः कभी भी सफलता का गर्व नहीं करना चाहिए।

ऋषिः—**प्रयोगः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

तीन उपासक

१८. और्वभृगुवच्छुचिमप्रवानवदा हुवे। अग्निं समुद्रवाससम्॥ ८॥

इस मन्त्र में कहा है कि और्व की भाँति, भृगु की भाँति और अप्नवान् की भाँति शुचि, अग्नि और समुद्रवासस् प्रभु को **आहुवे**=आह्वयामि=पुकारता हूँ। वैदिक संस्कृति में एक नियम है—उपासना का ठीक प्रकार यही है कि उपास्य-जैसा बनने का यत्न किया जाए। **'विष्णुर्भूत्वा भजेद् विष्णुम्'**=विष्णु बनकर ही विष्णु की उपासना की जाती है।

इसी नियम के अनुसार मन्त्र में प्रथम बात यह कही गयी है कि वे प्रभु **शुचिम्**=निर्मल हैं। उनकी उपासना और्व बनने से होगी। और्व शब्द का अर्थ है उरोरपत्यम्=उरु की सन्तान=विशाल का पुत्र, अर्थात् अत्यन्त उदार हृदयवाला। 'शुचि' प्रभु का उपासक तो वही है जो विशाल हृदय रखता है, जिसके हृदय में अपकारियों के लिए भी स्थान है।

द्वितीय, उपासक 'भृगु' है, जो 'अग्नि' की उपासना करता है। प्रभु ज्ञानाग्नि के पुञ्ज हैं। उनकी उपासना आचार्य के समीप रहकर तपस्या की अग्नि में अपना परिपाक करके ज्ञानी बननेवाला भृगु (भ्रस्ज पाके) ही करता है।

तृतीय, उपासक 'अप्नवान्' है जो 'समुद्रवासस्' को अपना उपास्य बनाता है। 'अप्न' शब्द निघण्टु में कर्मवाचक है, 'वान्' का अर्थ कोश में Living=जीवन है। एवं, Activity is Life=क्रिया ही जीवन है, इस तत्त्व को अपने जीवन में अनूदित करनेवाला व्यक्ति 'अप्नवान्' है। 'वान्' शब्द का अर्थ weaving=बुनना भी है, अतः जिसका जीवन कर्मों के ताने-बाने से बुने वस्त्र के समान है, वही 'अप्नवान्' है। यही 'समुद्रवासस्' प्रभु का उपासक है। मुद्=हर्ष। स=सहित। सदा आनन्द के साथ निवासवाले वे प्रभु समुद्रवासस् हैं। वे वस्तुतः आनन्दमय हैं। **'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'**—क्रिया उनका स्वभाव है, यही उनकी आनन्दमयता का रहस्य है। मनुष्य भी अप्नवान्=क्रियामय जीवनवाला बनकर आनन्द में निवास कर सकता है। अप्नवान् से पूर्व भृगु का उल्लेख ज्ञानपूर्वक क्रिया का संकेत कर

रहा है। हम ज्ञानी बनकर कर्म करें, यही आनन्द प्राप्ति का साधन है। उस समय हमारे सब कर्म उदार व पवित्र होंगे, उनमें शुचिता होगी और उनका परिणाम वास्तविक आनन्द का लाभ होगा।

भावार्थ—हम विशाल-हृदय बनें, तपस्या में अपना परिपाक कर ज्ञान का संचय करें तथा क्रियाशीलता को ही जीवन समझें। इसी प्रकार हम इस मन्त्र के ऋषि 'प्रयोग'—उत्तम कर्मों में कुशलतावाले बनेंगे, या प्र=प्रकृष्ट, योग=उपासनावाले होंगे। ऐसा बनना ही प्रभु की सच्ची उपासना है।

ऋषिः—**प्रयोगः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कर्म का सेवन

१९. अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः। अग्निमिन्धे विवस्वभिः॥ ९॥

मर्त्यः=मनुष्य **मनसा**=मन के द्वारा, चिन्तन के द्वारा **अग्निम्**=संसार के संचालक प्रभु को **इन्धानः**=अपने हृदय में दीप्त करता हुआ **धियम्**=ज्ञानपूर्वक कर्म का **सचेत**=सेवन करे। प्रभु अग्नि है, (अग् गतौ) गतिशील है। मनुष्य को चाहिए कि प्रभु के इस स्वरूप का चिन्तन करता हुआ कर्मशील बने, इसी में मानव-उन्नति का रहस्य छिपा हुआ है।

'धियं' शब्द भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। निरुक्त में उसके 'ज्ञान और कर्म' दोनों ही अर्थ दिये हैं। 'ज्ञानपूर्वक कर्म करना' धी शब्द का वाच्य है, अतः मनुष्य उन्हीं कर्मों को करे जो धी शब्द से कहे जाते हैं।

'प्रभु का ज्ञान प्राप्त कैसे होगा?' वेद कहता है कि **अग्निम्**=उस आगे ले-चलनेवाले प्रभु को **विवस्वभिः**=ज्ञानियों के साथ, अर्थात् उनके सत्सङ्ग से **इन्धे**=दीप्त करे। प्रभु का ज्ञान विद्वानों के सङ्ग से, उनके उपदेशों के श्रवण से होगा। इस प्रकार ज्ञानियों के साथ सम्पर्क रखनेवाले हम इस मन्त्र के ऋषि '**प्र-योग**'=प्रकृष्ट सम्बन्धवाले बनेंगे।

भावार्थ—सत्सङ्ग से प्रभु का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य विचारपूर्वक कर्म करे।

ऋषिः—**वत्सः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वासर ज्योति का दर्शन

२०. आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवि॥ १०॥

यत् दिवि=जिस दिन **परः**=क्लेश, कर्म, विपाकादि से परे होनेवाला वह प्रभु **इध्यते**=दीप्त किया जाता है **आत् इत्**=ठीक उसी समय **प्रत्नस्य रेतसः**=उस सनातन शक्ति की—प्रभु की **वासरम्**=बसानेवाली **ज्योतिः**=ज्योति को **पश्यन्ति**=देखते हैं।

गत मन्त्र में ज्ञानपूर्वक कर्म करने का वर्णन था। 'मनुष्य उन कर्मों को अपनी शक्ति से होता हुआ न समझ ले, इसलिए इस मन्त्र में कहा गया है कि सनातन शक्ति तो वह प्रभु ही है। उसी से शक्ति प्राप्त कर जीव भी कर्म किया करता है। 'परन्तु बुरे कर्म भी उसी से हो रहे हैं,' यह सोचकर जीव उनके फल से छूट नहीं सकता, क्योंकि वह प्रभु तो 'वासर-ज्योति' है। वह तो निवासक है, न कि ध्वंसक। उस प्रभु ने 'निर्माणात्मक कार्यों' के करने के लिए ही शक्ति दी है—उजाड़ने के लिए नहीं। वह प्रभु निवासक ज्योति है। यह देखकर जीव भी

शक्ति का प्रयोग बसाने में करे, नकि उजाड़ने में, तभी वह प्रभु का प्रिय बनेगा और इस मन्त्र का ऋषि 'वत्स' होगा।

भावार्थ—उस वासर ज्योति का दर्शन कर हम शक्ति का प्रयोग निर्माण के लिए करें, नकि ध्वंस के लिए।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—**प्रयोगः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उस प्रभु की ओर

२१. **अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम्। अच्छा नप्त्रे सहस्वते॥ १॥**

जीव के पास अल्पज्ञता के कारण आनन्द नहीं है। उसकी खोज में वह इधर-उधर जाता है। जाने के स्थान दो ही हैं—प्रकृति की ओर या प्रभु की ओर। 'प्रकृति में आनन्द नहीं' यह ज्ञान होने पर भी वह उसकी ओर जाता है। उसकी ओर भी क्या, उसी की ओर जाता है—क्योंकि चमकीली होने से वह इसे आकृष्ट कर लेती है। वेद कहता है कि हे जीवो! **अग्निं अच्छ**=उस प्रभु की ओर चलो जो **वः वृधन्तम्**=तुम्हारा सब प्रकार से बढ़ानेवाला है। अरे! प्रकृति तो अपने में फँसाकर उन्नति में विघ्न डालनेवाली है। **अध्वराणाम्**=हिंसारहित उत्तम कर्मों का **पुरूतमम्**=सर्वोत्तम पालन व पूरण करनेवाला वह प्रभु ही है। प्रकृति तो पारस्परिक कलह व विध्वंस की भावना को जन्म देनेवाली है।

प्रकृति की ओर न जाकर प्रभु की ओर क्यों जाना? इसका कारण स्पष्ट करते हुए वेद कहता है—**नप्त्रे**=अपने को न गिरने देने के लिए और **सहस्वते**=बलवान् बनने के लिए। प्रभु-प्रवण व्यक्ति पतित नहीं होता, प्रकृति में फँसा कि गिरा। प्रभु के सम्पर्क से शक्ति प्राप्त होती है—प्रकृति के सेवन से शक्ति जीर्ण हो जाती है। प्रकृति का सम्पर्क हीन है, प्रभु का सम्पर्क ही उत्तम है। प्रभुकृपा से हम इस उत्तम योग=सम्पर्क को करते हुए इस मन्त्र के ऋषि 'प्रयोग' बनें।

भावार्थ—सर्वाङ्गीन उन्नति, उत्तम कर्मों की पूर्ति, अपतन तथा शक्ति की प्राप्ति के लिए प्रभु की ओर चलो।

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अत्रियों का नियन्त्रण

२२. **अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यंसद्विश्वं न्या३त्रिणम्। अग्निर्नो वंसते रयिम्॥ २॥**

अग्निः=वह आगे ले-चलनेवाला प्रभु, अग्र-मोक्ष-स्थान को प्राप्त करानेवाला प्रभु **तिग्मेन**=अति तीक्ष्ण **शोचिषा**=ज्ञान की दीप्ति से **विश्वम्**=हमारे अन्दर प्रवेश कर जानेवाले और हमें **अत्रिणम्**=खा जानेवाले, अर्थात् हमारी आत्मिक उन्नति को समाप्त कर देनेवाले काम, क्रोध, लोभ को **नियंसत्**=नियन्त्रित करता है।

काम, क्रोध, लोभ अनियन्त्रित अवस्था में मनुष्य के शत्रु हैं। नियन्त्रित होकर ये शत्रु न रहकर मित्र हो जाते हैं। ज्ञान-प्राप्ति में सन्तोष न होना ही ठीक है तथा **'सन्तोषस्त्रिषु**

कर्त्तव्यः स्वदारे भोजने धने। त्रिषु चैव न कर्त्तव्यो दाने तपसि पाठने'=अपनी पत्नी, भोजन और धन—इन तीन में सन्तोष होना चाहिए, परन्तु दान, तप और पठन में सन्तोष नहीं होना चाहिए। **'मृदुदण्डः परिभूयते'** 'अत्यन्त मृदु का पराभव ही होता है' चाणक्य के ये शब्द मर्यादित रूप में क्रोध की आवश्यकता को भी स्पष्ट कर रहे हैं, एवं इनका नाश न कर नियमन ही ठीक है।

इन नियन्त्रित कामादि से मनुष्य धर्मपूर्वक अर्थ कमाकर वांछनीय वस्तुओं को जुटाता है और जीवन-यात्रा को सफल कर उसकी समाप्ति पर मोक्ष भी प्राप्त करता है, परन्तु इन सब **रयिम्**=धनों को—उत्तम पदार्थों को **नः**=हमारे लिए **अग्निः**=वह प्रभु ही **वंसते**=(Wins) विजय करता है। मनुष्य को कभी यह गर्व न होना चाहिए कि रयि का विजेता मैं हूँ। इस भावना को अपने अन्दर सदा जाग्रत् रखना चाहिए कि 'मैं तो निमित्तमात्र हूँ।'

प्रभुकृपा से काम, क्रोध, लोभरूप महान् शत्रुओं को वशीभूत करके मैं सचमुच ही इस मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' बन सकूँगा, परन्तु उस शक्ति के गर्व का त्याग भी तो करना ही होगा।

भावार्थ—ज्ञान से काम-क्रोधादि नियन्त्रित=वशीभूत रहते हैं और उत्तम धनों की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सुख किसे प्राप्त होता है

१ २ ३ २ ३ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २

२३. अग्ने मृड महाँ अस्यय आ देवयुं जनम्। इयेथ बर्हिरासदम्॥ ३॥

अग्ने=हे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **मृड**=हमें सुखी करो। **महान् असि**=आप अत्यन्त महान् हो—सर्वव्यापक हो, अतः आप सबको सुखी कर सकते हैं।

इस प्रार्थना का उत्तर प्रभु निम्न शब्दों में देते हैं—

देवयुं जनम्=शुभ गुणों को चाहनेवाले मनुष्य को **अयः**=शुभावह विधि=good fortune, good luck=उत्तम सम्पत्=कल्याण **आ**=आगच्छति=प्राप्त होता है।

जो व्यक्ति शुभ गुणों को अपनाने का संकल्प करता है, वह अशुभ भावनाओं को अपने हृदय से उखाड़ता है। उन्हें दूर करके ही दिव्य गुणों के बीज का वहाँ वपन होता है। 'बृह्' धातु का अर्थ उत्पाटन है, अतः दुर्गुणों का जिसमें से उत्पाटन हुआ, उस हृदय को भी 'बर्हि' नाम दिया गया है।

इस **बर्हिः**=शुद्ध हृदयाकाश में **आसदम्**=बैठने के लिए हे प्रभो! आप **इयेथ**=आते हो। शुद्ध हृदय में ही उस दिव्य ज्योति का दर्शन होता है। इस प्रकार सुख-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करके सुख तो पाया ही, साथ ही प्रभु को भी पा गये।

प्रभु करें कि हम 'देवयुजन'=शुभ गुणों को चाहनेवाले जनों में से हों तथा प्रयत्न करके उत्तम गुणों को अपनाकर इस मन्त्र के ऋषि 'वामदेव' हों।

भावार्थ—'दिव्य गुणों को अपनाना' मनुष्य को सुखी करता है और प्रभु की प्राप्ति के योग्य बनाता है।

ऋषि:—**वसिष्ठः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उन्नति का लक्षण

२४. अग्ने रक्षा णो अंहसः प्रति स्म देव रीषतः। तपिष्ठैरजरो दह॥ ४॥

अग्ने=हे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **रक्ष**=बचाइए। 'उन्नति' पाप से बचने का ही नाम है। सांसारिक दृष्टिकोण से उन्नति होना गौण है, मुख्य उन्नति तो यह अध्यात्म उन्नति ही है। अधिक धन का उपार्जन करने लगना, ऊँचे पद पर पहुँचना या प्रधान बन जाना आदि बातों का कुछ महत्त्व नहीं, यदि हम अपने जीवन को निष्पाप नहीं बनाते।

हे **देव! रीषतः**=हिंसा करते हुए शत्रुओं में से **प्रतिरक्ष**=एक-एक से हमारी रक्षा कीजिए। बाह्य शत्रुओं से रक्षा के साथ काम-क्रोधादि अन्तःशत्रुओं में प्रत्येक से रक्षा के लिए हम प्रार्थना करते हैं। प्रभु को देव शब्द से सम्बोधित करने का अभिप्राय यह है कि हम भी देव बनें।

देव बनने के लिए मन्त्र के अन्त में उपदेश है कि **तपिष्ठैः**=तपस्वी जीवनों से **अजरः**=जीर्ण न होता हुआ **दह**=तू इन काम आदि को नष्ट कर डाल। बाल्य, यौवन और वार्धक्य हमारे तीनों जीवनकाल तपस्वी हों।

हम जीर्ण कर देनेवाले काम आदि को जला डालें और इन्हें पूर्णरूप से वशीभूत करके इस मन्त्र के ऋषि 'वसिष्ठ'=वशिष्ठ बनें।

भावार्थ—तपस्वी बनकर ही काम आदि को जलाया जा सकता है। इन्हें जलाकर मनुष्य देव बनता है और पापों से बचकर वास्तविक उन्नति करनेवाला होता है।

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कैसे घोड़े?

२५. अग्ने युङ्क्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः। अरं वहन्त्याशवः॥ ५॥

हे **अग्ने**=देव! **ये**=जो **तव**=तेरे **साधवः**=यात्रा को सिद्ध करनेवाले **अश्वासः**=घोड़े हैं, उन्हें **हि**=ही **युङ्क्ष्व**=अपने रथ में जोड़ो, जोकि **आशवः**=शीघ्र मार्ग को व्याप्त करनेवाले **अरम्**=सुन्दरता से (अलं=भूषण तथा पर्याप्त) **वहन्ति**=रथ का खूब वहन करते हैं।

ये इन्द्रियरूप घोड़े कैसे होने चाहिएँ, इस बात का यहाँ प्रतिपादन इस प्रकार है कि—

१. **साधवः**=सिद्ध करनेवाले, निर्माण करनेवाले न कि नाश करनेवाले। हम प्रयत्न करें कि हमारी इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य ठीक रूप से करती हुईं हमारे जीवन का सुन्दर निर्माण करें। ये इन्द्रियाँ भोगों के भोगने में ही न लगी रहें।

२. **अरम्**=सुन्दरता से, खूब। ये इन्द्रियाँ जो भी काम करें कुशलता से करें, उस कार्य में सौन्दर्य हो—अनाड़ीपन न टपके। यही तो योग है—**'योगः कर्मसु कौशलम्'**, और ये इन्द्रियाँ अनथक हों, अर्थात् हम कभी अलसा न जाएँ, अन्यथा जीवन-यात्रा कैसे पूर्ण होगी?

३. **आशवः**=(अश् व्याप्तौ) शीघ्रता से मार्ग को व्यापनेवाले। यह जीवन-यात्रा अत्यन्त लम्बी है। प्राणायाम मन्त्र में इसकी सात मंज़िलों का सुन्दर वर्णन है, अतः सुस्ती से तो यहाँ काम चल ही नहीं सकता।

अपने इन्द्रियरूप घोड़ों को शक्तिशाली बनाकर ही हम इस मन्त्र के ऋषि 'भरद्वाज' बन

पाएँगे।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ कार्यों को सिद्ध करनेवाली हों, अपने कार्य को सुन्दरता से व न थकती हुई करती रहें, तेजस्विता के कारण उनमें मन्दता व शैथिल्य न हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु का किस रूप में ध्यान?

२६. नि त्वा नक्ष्य विश्पते द्युमन्तं धीमहे वयम्। सुवीरमग्न आहुत॥ ६॥

हे **नक्ष्य**=गन्तव्य प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपका **निधीमहे**=ध्यान व आपको धारण करते हैं। प्रकृति की ओर जाने में मनुष्य का कल्याण नहीं, गन्तव्य तो प्रभु ही हैं। वे गन्तव्य क्यों हैं? क्योंकि **विश्पते**=प्रजा के पालक हैं। संसार में भी जो कोई पालक वृत्तिवाला होता है, वह सभी दुःखियों का शरणस्थान बन जाता है। वह पालक क्यों है? क्योंकि **द्युमन्तम्**=वे ज्योतिर्मय हैं। जो जितना ज्ञान के मार्ग पर आगे बढ़ेगा उतना ही वह स्वार्थ को छोड़ परमार्थ में लगेगा।

वे प्रभु **सुवीरम्**=(सु+वीः, वी गतौ) शोभन गति प्राप्त करनेवाले हैं। इसलिए उत्तम वीर भी हैं। सुवीर वही है जो औरों का हित करे।

अग्ने=वे सबको सदा अग्र स्थान की ओर ले-चल रहे हैं, इसलिए ही वे **आहुत**=हैं। उसने चारों ओर उत्तम पदार्थों को हमें प्राप्त कराया है। (आ=समन्तात् हुतं=दानं यस्य) हमारे उत्कर्ष साधन के लिए सभी आवश्यक पदार्थ उसने जुटा दिये हैं।

उल्लिखित रूप में प्रभु का ध्यान करनेवाला व्यक्ति अपने को भोगवाद का शिकार नहीं होने देता। अपने पर काबू करनेवाला वह इस मन्त्र का ऋषि 'वसिष्ठ' बनता है।

भावार्थ—प्रभु की भाँति हम भी गन्तव्य बनें, इसके लिए प्रजापालक बनें, ज्ञान प्राप्त कर प्रजा-पालन की योग्यता बढ़ाएँ, औरों को दुःख से छुड़ा उत्तम स्थिति प्राप्त कराने में ही वीरता समझें, औरों का पथ-प्रदर्शन करते हुए अग्नि बनें, उसके लिए अधिक-से-अधिक त्याग करें।

ऋषिः—**विरूपः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शिखर पर

२७. अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्। अपां रेतांसि जिन्वति॥ ७॥

अग्निः=जीवन तो वह है जो अपने को आगे ले-चलता है (अग्रे नयति)। आगे कहाँ तक? **मूर्द्धा**=शिखर तक, जो चोटी पर पहुँचकर ही दम लेता है। उनकी सारी साधना शिखर पर पहुँचने के लिए होती है। किसके शिखर पर? **दिवः ककुत्**=ज्ञान के शिखर पर। वह व्यक्ति ज्ञानरूप पर्वत के शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करता है। मनुष्य का लक्ष्य वस्तुतः यही होना चाहिए कि वह अपने ज्ञान को चरम सीमा तक ले-चले।

ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही **पतिः पृथिव्याः अयम्**=यह इस पार्थिव शरीर का पति बना है। जो भी इस पार्थिव-भौतिक शरीर की भौतिक वासनाओं को संयम में रखता है, वही अपने ज्ञान को बढ़ाने में समर्थ होता है। संयम के अभाव में ज्ञान-वृद्धि सम्भव नहीं। किसी

भी इन्द्रिय का व्यसन लगा और प्रज्ञा का विनाश हुआ।

इस संयम-यज्ञ की सिद्धि के लिए वह **अपां रेतांसि जिन्वति**=जल-देवता के अंशावतार ('आपः रेतो भूत्वा'-ऐतरेय), अर्थात् वीर्य का अपव्यय नहीं करता-ब्रह्मचर्य का धारण करता है। यही तो ब्रह्म की ओर जाने का मार्ग है। यह व्यक्ति सांसारिक व्यवहारों की सिद्धि के लिए धनादि का अर्जन करता हुआ इस ज्ञान के शिखर पर पहुँचनेरूप महान् लक्ष्य को कभी नहीं भूलता। इसका जीवन अन्य मनुष्यों के जीवन से एक विशेषता लिये हुए होता है, क्योंकि इसका जीवन विशिष्ट रूपवाला होता है, अतः यह 'विरूप' कहलाता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ-मानव जीवन का लक्ष्य ज्ञान-पर्वत के शिखर पर पहुँचना है-इसी के लिए उसे संयमी बनना है।

ऋषिः-**शुनःशेपः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

देवों के तीन पाठ

२८. इममू षु त्वमस्माकं सनिं गायत्रं नव्यांसम्। अग्ने देवेषु प्र वोचः॥ ८॥

हे **अग्ने**=हमारी उन्नति व अग्रगति के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **अस्माकम्**=हमारे **देवेषु**=देवों में (चक्षु आदि के रूप में अङ्ग-प्रत्यङ्ग में निवास करनेवाले सूर्यादि देवों में) **इमम्**=इस **सनिं गायत्रं, नव्यांसम्**=सनि आदि का उ=निश्चय से सु=अच्छी प्रकार **प्रवोचः**=प्रवचन कर दें, अच्छे प्रकार पाठ पढ़ा दें।

पहला पाठ 'सनि' का है (षणु दाने व षण संभक्तौ) हमारी प्रत्येक इन्द्रिय दान व संविभाग का पाठ पढ़े। आँख ज्ञान प्राप्त करे तो उस ज्ञान को औरों को लिए भी दे। हमारा हाथ धन कमाये तो उसे दान करना भी आये।

दूसरा पाठ 'गायत्र' का है (गायति अर्चनकर्मा) निघण्टु में इसका अर्थ अर्चन=पूजन है। हमारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्रभु की अर्चना करे। हम उसके अनन्य उपासक हों। हम प्रजा व प्राणियों के सेवक बनें।

तीसरा पाठ **नव्यान्**=का है, (नू स्तुतौ) हमारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग खूब स्तुति करनेवाला हो। हमसे किसी की निन्दा न हो। हम प्रशंसा-ही-प्रशंसा करें। निन्दात्मक शब्दों का उच्चारण न करें, न सुनें। यदि हमारी इन्द्रियाँ सचमुच 'सनि, गायत्र व नव्यान्' अर्थात् दान, अर्चना और स्तुति का पाठ पढ़ेंगी तो हमारा जीवन तो उत्तम बनेगा ही, साथ ही हम इस संसार में सुख की वृद्धि का कारण बनेंगे और इस मन्त्र के ऋषि 'शुनःशेप' (सुख का निर्माण करनेवाले) कहलाने के अधिकारी होंगे।

भावार्थ-हमारा जीवन दानमय, प्राणी-सेवा में लगा हुआ व सदा सबके लिए शुभ भावनावाला हो।

ऋषिः-**गोपवनः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

गो-प्रवन

२९. तं त्वा गोपवनो गिरा जनिष्ठदग्ने अङ्गिरः। स पावक श्रुधी हवम्॥ ९॥

हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! या ज्ञानाग्नि से वासनाओं को भस्म कर देनेवाले प्रभो! **अङ्गिर**=अङ्ग-अङ्ग में बल का संचार करनेवाले प्रभो! **तम्**=उस **त्वा**=तुझे **गोपवनः**=अपनी इन्द्रियों को पवित्र करनेवाला व्यक्ति ही **गिरा**=वाणी से-संकीर्तन के द्वारा **जनिष्ठत्**=आविर्भूत करता है।

प्रभु केवल कीर्तन से प्रकट नहीं होते। कीर्तन तो दम्भ के लिए भी होता है। प्रत्येक कीर्तन करनेवाला उस प्रभु को नहीं पा सकता। वेद कहता है कि प्रभु का आभास तो **'गोपवन'** को ही होता है। गोपवन है गो=इन्द्रियों को, पवन=पवित्र करनेवाला। इन्द्रियों को पवित्र करने के लिए ही गत मन्त्र में आराधना थी कि मेरी इन्द्रियाँ दान, अर्चना व स्तुति का पाठ पढ़ें। इन तीन क्रियाओं में लगाकर इन्द्रियों को पवित्र बनानेवाला व्यक्ति ही प्रभु-दर्शन का अधिकारी होता है। प्रभु-दर्शन और उस **'सहस्रधार'** में स्नान कर वह और भी अधिक पवित्र हो जाता है।

हम सब भी उस प्रभु की आराधना करते हैं कि हे **पावक**=पवित्र करनेवाले प्रभो! **सः**=वे आप **हवम्**=मेरी भी प्रार्थना को-पुकार को **श्रुधि**=सुनिए। मुझे भी पवित्रता प्राप्त करने की कामना है-मैं भी आपको पुकार रहा हूँ। प्रभो! कृपा करो कि हमारी इन्द्रियाँ पवित्र हों। हम अपनी इन्द्रियों को पवित्र बनाकर इस मन्त्र के ऋषि 'गोपवन' बनें।

भावार्थ—हम अपनी इन्द्रियों को पवित्र बनाकर प्रभु-कीर्तन के अधिकारी बनें।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

समर्पण

३०. परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्। दधद्रत्नानि दाशुषे ॥ १० ॥

वाजपतिः=सब अन्नों का पति और **कविः**=क्रान्तदर्शी **अग्निः**=अग्रगति व उन्नति को सिद्ध करनेवाला वह प्रभु **हव्यानि**=दानपूर्वक अदन करने योग्य इन पदार्थों को (हु दान+अदन) **परि अक्रमीत्**=चारों ओर व्याप्त कर रहा है। वह प्रभु अनगिनत अन्नों का स्वामी है। उसने सब प्राणियों के निवास-स्थानों में, उस-उस स्थान के जल-वायु के अनुकूल खाद्य पदार्थ प्राप्त कराये हैं। **दाशुषे**=आत्मसमर्पण करनेवाले के लिए वे प्रभु **रत्नानि**=उत्तम पदार्थों को **दधत्**=धारण करते हैं।

उत्तमोत्तम पदार्थ हमारे चारों ओर विद्यमान हैं। 'उनमें कौन-सा हमारे लिए इस समय उपादेय है कौन-सा नहीं' यह बात अल्पज्ञतावश हम ठीक-ठीक नहीं समझते। वह प्रभु क्रान्तदर्शी=तत्त्वज्ञ होने से ठीक-ठीक समझता है। हमें चाहिए कि हम प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण करते हुए परिश्रम के परिणाम के रूप में पदार्थों को प्राप्त कराने का भार उस प्रभु पर ही डाल दें। वे ठीक पदार्थों को—रत्नों को—सर्वोत्तम वस्तुओं को प्राप्त कराके हमारी अग्रगति का साधन करेंगे, इसलिए तो वे प्रभु अग्नि कहलाते हैं।

जीव को चाहिए कि प्रभु के प्रति समर्पण कर दे और यही आराधना करे कि जिस स्थिति में आप ठीक समझते हैं, उसमें रखिए, तभी हम अपने जीवन को उत्तम गुणों से सम्पन्न बनाकर इस मन्त्र के ऋषि 'वामदेव' होंगे।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना समर्पण करें, वे हमें रत्न प्राप्त कराएँगे।

ऋषि:—प्रस्कण्व:॥ देवता—अग्नि:॥ छन्द:—गायत्री॥ स्वर:—षड्ज:॥

दर्शन

३१. उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतव:। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ ११॥

पिछले मन्त्र में समर्पण का विषय चल रहा था। समर्पण उसी के प्रति होता है जिसे हम देख पाते हैं। अनदिखे के प्रति अर्पण क्या! जीव को भी प्रभु दिखेंगे तभी तो उनके प्रति अर्पण करेगा, अत: समर्पण के बाद दर्शन का विषय आता है।

उत् उ=ऊपर उठकर ही। जब तक जीव प्राकृतिक भोगों में उलझा हुआ है तब तक तो प्रभु-दर्शन कर ही नहीं सकता। जिस दिन हम प्रकृति की उलझनों से **उत्**=out=बाहर निकल जाएँगे उसी दिन **त्यम्**=उस दूर-से-दूर-सर्वत्र विद्यमान **जातवेदसम्**=प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान **देवम्**=ज्ञानाग्नि से दीप्त (देवो दीपनात्) **सूर्यम्**=सबको प्रकाशित करनेवाले उस प्रभु को **केतव:**=ज्ञानी, विचारशील (कित ज्ञाने) होकर ही **वहन्ति**=धारण करेंगे।

परमेश्वर की सत्ता हमारे हृदयों में है, परन्तु ज्ञान के अभाव में उसकी सत्ता हमारे लिए न होने के ही समान है। विचारशील बनने पर ज्ञानी प्रभु को अपने अन्दर धारण करते हैं, परन्तु प्रभु का दर्शन कर ये उस अद्भुत रस में ही निमग्न नहीं हो जाते, अपितु **विश्वाय दृशे**=(सर्वेषां दर्शनाय) जगद्रूपी जङ्गल में भटकते हुए अन्य जीवों को भी वे उस प्रभु का दर्शन कराने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मानन्द की प्राप्ति करके भी वे स्वार्थी नहीं बन जाते। इनका जीवन ही यह प्रमाणित करता है कि ये स्वार्थ की, गन्ध से दूर हैं, परिणामत: मूर्खता से भी दूर हैं। ये वस्तुत: मेधावी हैं, इस मन्त्र के ऋषि 'प्रस्कण्व' बनने के योग्य हैं।

भावार्थ—ज्ञानी चिन्तन करके, प्रकृति की उलझनों से ऊपर उठ, प्रभु का दर्शन करते हैं और अन्य मनुष्यों को भी उसका दर्शन कराने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषि:—मेधातिथि:॥ देवता—अग्नि:॥ छन्द:—गायत्री॥ स्वर:—षड्ज:॥

चार रूपों का स्मरण

३२. कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीवचातनम्॥ १२॥

हे जीव! **अ-ध्वरे**=इस हिंसारहित जीवन-यज्ञ में **अग्निम्**=उस आगे ले-चलनेवाले प्रभु की **उपस्तुहि**=समीप से स्तुति कर। जीवन में हमसे किसी की हिंसा न हो। हम यथासम्भव औरों का कल्याण ही करें। इस स्थिति में हमारे लिए वे प्रभु अवश्य अग्नि=आगे ले-चलनेवाले होंगे। वस्तुत: अहिंसा का मार्ग ही उन्नति का मार्ग है।

इस जीवन में हम उस प्रभु की समीप से स्तुति करें। उसे सदा समीप समझते हुए उत्तम गुणों में प्रीतिवाले बनें। ये उत्तम गुण इस मन्त्र के चार शब्दों से सूचित हो रहे हैं—

(क) **अमीवचातनम्**=नीरोगता, (ख) **देवम्**=दीपन, प्रकाश, (ग) **सत्यधर्माणम्**=सत्य का धारण, (घ) **कविम्**=क्रान्तदर्शी होना

अन्नमयकोश के दृष्टिकोण से प्रभु को हम **अमीवचातनम्** के रूप में स्मरण करें। वे रोगों का नाश करनेवाले हैं (अमीव=रोग, चातन=नाशक)। प्रभु-स्मरण से मानव-जीवन भोगप्रधान नहीं बनता, परिणामत: रोग भी नहीं होते।

प्राणमयकोश के दृष्टिकोण से वे प्रभु 'देव' हैं (देवो द्योतनात्) सब प्राणों=इन्द्रियों को (प्राणा वाव इन्द्रियाणि) वे द्योतित करनेवाले हैं। ज्ञान की साधनभूत ये इन्द्रियाँ ज्योतिर्मय हैं। इन्हें यह ज्योति प्रभु ने ही प्राप्त कराई है। प्रभु का स्मरण करनेवाले की इन्द्रिय-शक्तियाँ क्षीण नहीं होतीं।

मनोमयकोश के विचार से वे प्रभु सत्यधर्मा हैं। सत्य के द्वारा प्रभु ने मन की पवित्रता की व्यवस्था की है। सत्य मन को राग-द्वेषादि मलों से दूर रखता है। एक स्तोता को सत्य के द्वारा मन का नैर्मल्य सम्पादन करना है।

विज्ञानमयकोश के दृष्टिकोण से मन्त्र में प्रभु को कवि कहा गया है। वे क्रान्तदर्शी हैं। स्तोता को भी क्रान्तदर्शी बनना है। इस मार्ग पर चलना ही बुद्धिमत्ता है। प्रभुकृपा होगी तो हम भी बुद्धिमान् बनेंगे और इस मन्त्र के ऋषि 'मेधातिथि' होंगे।

भावार्थ—प्रभु रोगों से दूर, ज्योतिर्मय, सत्यस्वरूप व ज्ञान-धन हैं। स्तोता को भी ऐसा ही बनना है। स्तुति का तो लाभ ही उस प्रभु के गुणों में प्रीति है।

ऋषिः—**त्रित आप्त्यो वा॥** देवता—**अग्निः॥** छन्दः—**गायत्री॥** स्वरः—**षड्जः॥**

दिव्य बुद्धियाँ (Libraries)

३३. शं नो देवीरभिष्टये शं नो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः ॥ १३ ॥

१. **देवीः**=दिव्य बुद्धियाँ, **नः शम्**=हमारे लिए शान्ति देनेवाली हों। ज्ञान ही मनुष्य को वास्तविक शान्ति प्राप्त करा सकता है। ज्ञान की पराकाष्ठा में वह शान्ति है, जो मनुष्य को वस्तुतः सुखी करती है।

२. **अभिष्टये**=ये दिव्य बुद्धियाँ ही आक्रमण के लिए होती हैं। हमपर जो भी आसुर भावनाएँ आक्रमण करती हैं, ज्ञान ही प्रत्याक्रमण द्वारा उनसे हमारी रक्षा करता है।

३. इस प्रकार **नः**=हमारे रोगों को **शम्**=शान्त करते हुए जल **पीतये**=रक्षा के लिए **भवन्तु**=हों। ज्ञान का अभाव विनाश का मार्ग है। ज्ञान ही वह कवच है जो मानव की आधि-व्याधियों से रक्षा करता है।

४. **शं-योः**=ये शान्ति देनेवाली तथा सब भय व रोगों का निवारण करनेवाली दिव्य बुद्धियाँ **नः**=हमारे **अभिस्रवन्तु**=चारों ओर बहें, अर्थात् हम सदा ज्ञान के वातावरण में रहें। हमारे चारों ओर ऋषि-महर्षि अपने ग्रन्थों के रूप में उपस्थित हों और उनके सङ्ग रहकर हम सदा अपने ज्ञान को बढ़ाते हुए शान्ति, शक्ति, रक्षा तथा नीरोगता आदि का अनुभव करें।

ज्ञान के द्वारा तीनों प्रकार के कष्टों से उत्तीर्ण होकर हम इस मन्त्र के ऋषि 'त्रित' बनें।

भावार्थ—ज्ञान के समान पवित्र करनेवाली कोई वस्तु नहीं है। हम ज्ञान-समुद्र में डुबकी लगाने का अभ्यास करें।

ऋषिः—**उशना॥** देवता—**अग्निः॥** छन्दः—**गायत्री॥** स्वरः—**षड्जः॥**

ज्ञान से सनी वाणियाँ

३४. कस्य नूनं परीणसि धियो जिन्वसि सत्पते। गोषाता यस्य ते गिरः ॥ १४ ॥

१. हे **सत्पते**=सयनों के रक्षक प्रभो! यह शब्द हमें बोध दे रहा है कि हम सयन बनें, वे प्रभु हमारी रक्षा करेंगे।

२. **नूनम्**=निश्चय से आप **कस्य**=सुख की **परीणसि**=पालन व पूरण करनेवाली (पृ=पालन-पूरणयोः) **धियः**=बुद्धियों को **जिन्वसि**=देते हो। इस वाक्य का बोध स्पष्ट है कि प्रभु की दी हुई प्रेरणाएँ हमारे कल्याण की साधिका हैं। हम उन्हें सुनेंगे तो हमारा कल्याण अवश्य होगा। हृदयस्थ उस प्रभु की आवाज़ को हम न भी सुन पाएँ तो वेदस्थ उसके शब्दों को तो पढ़ व सुन ही सकते हैं। हमें उन्हें पढ़ और सुनकर अपने जीवन को कल्याणमय बनाना चाहिए।

३. हे प्रभो! **यस्य**=जिस **ते**=आपकी **गिरः**=वाणियाँ **गोषाता**=(गो+सन्) ज्ञान से सनी हुई हैं। प्रभु की वेदवाणियाँ ज्ञान-रस परिपूर्ण हैं। वेद क्या हैं? **"रायः समुद्रान् चतुरः"** ये ज्ञान के चार समुद्र हैं। समुद्र भी रत्नाकर होते हैं, ये भी ज्ञानरत्नों से भरे पड़े हैं। इससे हमें भी यह बोध लेना चाहिए कि हमारी वाणियाँ ज्ञान से भरी हों। हमारी परस्पर बातचीत हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाली हों। इस बोध को प्राप्त करके हम सभी के साथ प्रेम करनेवाले, सभी का हित चाहनेवाले इस मन्त्र के ऋषि 'उशना' बनेंगे।

भावार्थ—हम सयन बनें, प्रभु प्रेरणा को सुनें, हमारे वार्तालाप भी प्रकाशमय हों।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—**शंयुः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

अमर व ज्ञानी बनना

३५. **यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे।**
प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम्॥ १॥

इस मन्त्र के ऋषि 'शंयु' सबके लिए शान्ति चाहनेवाले हैं। उनकी कामना है कि **वयम्**=हम **अ-मृतम्**=उस अमर **जातवेदसम्**=प्रत्येक पदार्थ को जाननेवाले, सर्वत्र विद्यमान प्रभु की **प्रियं मित्रं न**=प्यारे मित्र की भाँति **प्र प्र शंसिषम्**=स्तुति करते हैं और खूब स्तुति करते हैं।

स्तुति का अभिप्राय गुणों में प्रीति करना है। हम भी प्रभु की भाँति अमर व ज्ञानी बनने का प्रयत्न करते हैं। शंयु के लिए ऐसा करना आवश्यक ही है, क्योंकि **"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः"**। उसे देखकर ही तो सामान्य लोग भी उसी मार्ग का अनुसरण करेंगे। इसीलिए मन्त्र में कहा गया है कि **यज्ञायज्ञा**=यज्ञों के द्वारा **अग्नये**=अग्रगति के लिए **च**=और **गिरागिरा**=वेदवाणियों द्वारा **दक्षसे**=योग्य बनने के लिए हम **वः**=तुझ प्रभु का सर्वज्ञरूप में शंसन करते हैं।

मनुष्य यज्ञों द्वारा ही उन्नत होता है और अमरता का लाभ करता है। एवं, ये यज्ञ उसके अभ्युदय (उन्नति) व निःश्रेयस (अमरता) का कारण बनते हैं।

इसी प्रकार वेदवाणी से मनुष्य का ज्ञान व योग्यता बढ़ती है। मनुष्य के सामने ये ही दो लक्ष्य हों कि यज्ञों के द्वारा अमर व वेदवाणी के द्वारा योग्य बनना है, तभी हमें चाही हुई शान्ति प्राप्त होगी।

भावार्थ—मनुष्य यज्ञों से अमर बने और वेदवाणी से अपने ज्ञान को बढ़ाए।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

चार वाणियों के द्वारा रक्षा

३६. पाहि नो अग्न एकया पाह्यू३त द्वितीयया।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो॥ २॥

हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **एकया**=ऋग्रूपी प्रथम वाणी से **नः**=हमारी **पाहि**=रक्षा कीजिए, **उत**=और **द्वितीयया**=यजूरूप द्वितीय वाणी से भी **पाहि**=रक्षा कीजिए।

ऋग्वेद=विज्ञान-वेद है। बिना विज्ञान के मनुष्य की उन्नति सम्भव नहीं। संसार में जिन जातियों ने विज्ञान में प्रगति की, वे आगे बढ़ गयीं, परन्तु इसी अग्रगति के लिए 'यजूरूप वाणी' से भी रक्षा की प्रार्थना की गयी है। यजुर्वेद कर्मवेद है। उसमें उत्तम कर्मों का प्रतिपादन है। लोकहित के लिए कर्म करने का उपदेश है। जब विज्ञान का प्रयोग यज्ञमय कर्मों में न करके, नाशक कर्मों के लिए किया जाता है तब वही विज्ञान अवनति का कारण बन जाता है, अतः ऋग् और यजुः (विज्ञान व उत्तम कर्म) मिलकर हमारी उन्नति करें और हमारे रक्षक हों।

हे **ऊर्जां पते**=सामर्थ्यों के स्वामिन्! **तिसृभिः**=पहली दो वाणियों के साथ तृतीय सामरूप वाणी से भी हमारी **पाहि**=रक्षा कीजिए। यह साम ही उपासना है, परमेश्वर के सम्पर्क में आना है, और ट्राईन के शब्दों में "In tune with the Infinite" (अनन्त के साथ एक तान में होना) है, तभी तो उसकी शक्ति का प्रवाह हममें हो सकता है और हम भी उसकी शक्तियों से शक्ति-सम्पन्न हो जाते हैं।

वसो=हे निवासक प्रभो! हमें **चतसृभिः**=प्रथम तीन के साथ चौथी अथर्वरूप वाणी से भी **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। यह अथर्ववाणी मुख्यरूप से दो संकेत कर रही है। एक तो **'अ-थर्व'**=नहीं डाँवाँडोल होना, और दूसरा **'अथ-अर्वाङ्'**=अब अपने अन्दर, अर्थात् औरों का अध्ययन करते रहने की बजाय अपना ही अध्ययन करना। ये ही दो बातें हमारे बसने व न उजड़ने का मुख्य साधन हैं। डाँवाँडोल होना, दृढ़ निश्चय से कार्यों को न करना तथा दूसरों के दोषों का दर्शन करते रहने की बजाय आत्म-निरीक्षण द्वारा अपने दोषों को जानकर उन्हें दूर करना ही **वसु**=उत्तम निवासवाला बनने के साधन हैं। इस प्रकार चारों वेदों की ज्ञानाग्नियों से अपने को परिपक्व कर हम इस मन्त्र के ऋषि 'भर्ग' (भ्रस्ज पाके) बनेंगे और इस प्रकार प्रभु का सच्चा गायन करनेवाले 'प्रागाथ' होंगे।

भावार्थ—हम विज्ञान का यज्ञों में प्रयोग कर आगे बढ़ें। भक्ति द्वारा मानस बल को बढ़ाएँ तथा स्थिर संकल्प व स्वाध्याय से वसु (उत्तम बसने व बसानेवाले) बनें।

ऋषिः—शंयुः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

प्रभु का प्रकाश किनमें?

३७. बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवत् पावक दीदिहि॥ ३॥

हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **बृहद्भिः**=वृद्धि की कारणभूत **अर्चिभिः**=पूजाओं से

तथा हे **देव**=ज्ञान से दीप्यमान प्रभो! **शुक्रेण**=तीव्र **शोचिषा**=ज्ञान की दीप्ति से **भरद्वाजे**=अपने में शक्ति भरनेवाले में **समिधानः**=प्रकाशित होते हुए **यविष्ठ्य**=सर्वदा युवतम **रेवत्**=ज्ञानधन-सम्पन्न **पावक**=सबको पवित्र करनेवाले आप **दीदिहि**=दीप्त होओ।

प्रभु का प्रकाश पूजा करनेवाले के हृदय में होता है। प्रभु की पूजा उसकी आज्ञाओं के पालन तथा शम, दम, दया, दानादि से होती है। ये ही उसके आदेश हैं।

प्रभु का प्रकाश **रेवत्**=देदीप्यमान ज्ञान की ज्योति से होता है। जब हम अपने मस्तिष्क को निर्मल ज्ञान का निधान बनाएँगे, तभी उसके प्रकाश का अनुभव करेंगे।

प्रभु निर्बलों को प्राप्त नहीं होते। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**, अतः हम अपने में शक्ति का संचय करेंगे, तभी उस प्रभु को पाने के अधिकारी होंगे।

वे प्रभु 'पावक' हैं। हम उस प्रभु का स्मरण करते हुए शम, दमादि गुणों से अपने हृदयों को पवित्र करें। वे प्रभु 'रेवत्' हैं—सर्वोत्तम ज्ञानधन से पूर्ण हैं। हम भी स्वाध्यायादि द्वारा अपने ज्ञान को दीप्त करें।

प्रभु **'यविष्ठ'**=सर्वदा युवतम, अनन्त शक्तिशाली हैं, हम भी अपने अन्दर शक्ति भरें।

जो भी पुरुष 'शंयु' शान्ति की कामनावाला है, उसे अपना जीवन ऐसा बनाना ही होगा।

भावार्थ—पवित्र मन से, दीप्त मस्तिष्क से व शक्ति-सम्पन्न शरीर से ही प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु के प्यारे कौन?

३८. **त्वे अग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः।**
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वं दयन्त गोनाम्॥ ४॥

स्वाहुत=जीव के हित के लिए अपनी उत्तम आहुति देनेवाले हे प्रभो! प्रभु ने बिना किसी स्वार्थ के अपने को पूर्णरूप से जीवों के हित के लिए दिया हुआ है। इसी भावना को वेद में अन्यत्र 'आत्म-दा' शब्द से कहा है। **अग्ने**=अग्रगति के साधक प्रभो! **त्वे**=तुझे **प्रियासः**=प्रिय **सन्तु**=हों। कौन?

१. **सूरयः**=ज्ञान का विकास करनेवाले, विद्वान्, स्वाध्यायशील लोग। प्रभु ने मनुष्य को सर्वोत्तम उपकरण बुद्धि दी है। जो उसका विकास नहीं करता, वह प्रभु को प्रिय नहीं होता।

२. **यन्तारः**=मन को नियमन करनेवाले। जो मन को वश में नहीं कर पाते, वे मूढ़ विषयासक्त हो प्रभु से दूर ही रहते हैं।

३. **ये**=जो **जनानाम्**=मनुष्यों में **मघवानः**=इन्द्र बनते हैं। इन्द्र ने जिस प्रकार जम्भ, वल, शुष्ण, शम्बर, नमुचि आदि असुरों को मारा, उसी प्रकार जो इन 'जम्भ' हर समय खाने की वृत्ति, 'वल' निर्बलों पर अत्याचार, 'शुष्ण' ईर्ष्या, 'शंवर' क्रोध तथा 'नमुचि' अभिमान आदि को नष्ट करते हैं, वे ही प्रभु के प्रिय होते हैं। और जो—

४. **गोनाम्**=इन्द्रियों के **ऊर्वम्**=समूह को **दयन्ते**=सुरक्षित करते हैं, वाणी आदि इन्द्रियों पर असुरों का आक्रमण नहीं होने देते। जो इन्हें असुरों के आक्रमण से बचाते हैं, वे प्रभु के

प्रिय होते हैं। इन गुणों से युक्त साधक ही इस मन्त्र के ऋषि 'वसिष्ठ' बनते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी, मनस्वी, आसुर वृत्तियों का संहार करनेवाले, इन्द्रिय-रक्षक पुरुष ही प्रभु के प्रिय होते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

न भटकनेवाला

३९. अग्ने जरितर्विश्पतिस्तपानो देव रक्षसः।
अप्रोषिवान् गृहपते महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः॥५॥

जीव परमात्मा की स्तुति करता है—हे प्रभो! आप **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले हैं, **जरितः**=पापों को जीर्ण करनेवाले हैं, **विश्पतिः**=सब प्रजाओं के पालक हैं। हे **देव**=विजेतारूप में **रक्षसः**=राक्षसों के—आसुर भावनाओं के **तेपानः**=सन्तापक, नाशक हैं।

जब जीव इस प्रकार प्रभु की आराधना करता है, तब प्रभु जीव से कहते हैं—हे **गृहपते**=अपने शरीररूप घर के रक्षक! **अप्रोषिवान्**=यदि तू अन्यत्र भटकता नहीं रहता, अर्थात् परालोचन ही नहीं करता रहता, अथवा यदि तेरी सारी शक्तियाँ धनादि बाह्य वस्तुओं को जुटाने में ही समाप्त नहीं हो जातीं और तू अपने घर की रक्षा की चिन्ता करता है, **महाँ असि**=यदि तू हृदय के दृष्टिकोण से महान् बनता है तथा **दिवः पायुः**=विज्ञानमयकोश के दृष्टिकोण से ज्ञान का रक्षक बनता है अथवा अपनी दिव्यता को नष्ट नहीं होने देता तो तू **दुरोणयुः**=अपने इस मिट्टी के घर को (दुरोणम्=गृहम्) यु=पृथक् करनेवाला होता है, अर्थात् मोक्ष के लिए समर्थ होता है, तभी तूने अपनी शक्ति का ठीक परिपाक किया होता है और तू 'भरद्वाज' कहलाने का अधिकारी बनता है।

भावार्थ—मनुष्य प्रभु की आराधना तो करे, परन्तु साथ ही स्वयं आत्मालोचनशील, विशाल-हृदय तथा दिव्यता की ओर झुकाववाला बने और इस प्रकार मुक्ति का अधिकारी हो।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

ज्ञान के लिए ज्ञानियों का सङ्ग

४०. अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः॥६॥

हे **अग्ने अमर्त्य**=पूर्ण उन्नत, अमरणधर्मा प्रभो! **जातवेदः**=सर्वज्ञ परमात्मन्! मैं भी आप-जैसा अग्नि, अमर्त्य और ज्ञानी बन सकूँ, इसलिए **उषसः**=अज्ञान के (उच्छति विवासयति पथ्यापथ्यविचारमिति) **विवस्वत्**=निवर्तक (विवस्वान्=विवासनवान्) **चित्रम्**=ज्ञान के दाता (चित्+र) **राधः**=ब्रह्मज्ञानरूप धन को **दाशुषे**=मुझ समर्पण करनेवाले के लिए **आवह**=प्राप्त कराइए। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए **त्वम्**=आप मुझे **उषर्बुधः**=प्रातः जागरणशील अथवा अविद्यारूप नींद से जो जाग्रत् हो चुके हैं, उन **देवान्**=विद्वानों को **आवह**=प्राप्त कराइए।

मनुष्य में 'अग्नि, अमर्त्य व जातवेद' बनने की कामना होनी चाहिए। **अग्नि**=प्रगतिशील

वह है जो 'अमर्त्य' हो, उन्नति करते-करते मरणधर्मा न रहे, अर्थात् मुक्त हो जाए।

अमर्त्य वह बनता है जो कि **जातवेद**=ज्ञानी हो। ज्ञानी वह बनता है जो ज्ञानियों के सम्पर्क में आ पाये। ज्ञानी वे बनते हैं जो उषर्बुध होते हैं। ऐसा बोध यहाँ मन्त्र के शब्दों का क्रम दे रहा है। प्रभु की कृपा से हम भी ज्ञानी बनकर इस मन्त्र के ऋषि 'प्रस्कण्व' उत्तम मेधावी बनें।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम सदा ज्ञानियों के सम्पर्क में रहें।

ऋषिः—**शंयुः (तृणपाणिः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

यह (ज्ञानरूप) धन

४१. त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय।
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं तुचे तु नः॥ ७॥

हे **वसो**=सबके बसानेवाले न कि उजाड़नेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **ऊत्या**=रक्षा के हेतु से (यहाँ हेतु में तृतीया है) **चित्रः**=ज्ञान देनेवाले हैं। प्रभु जीवों के उत्तम निवास के लिए शतशः साधन जुटाते हैं, परन्तु जीव उनका ठीक प्रयोग न करके कई बार लाभ के स्थान में अपनी हानि कर बैठता है। प्रभु ने जीव को अपनी रक्षा के लिए सर्वोत्तम साधन बुद्धि दी है। देव जिसका नाश चाहते हैं उसकी बुद्धि हर लेते हैं, **'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'** बुद्धि गयी तो मनुष्य गया।

इसलिए हे प्रभो! आप हमें **राधांसि**=सर्वकार्यसाधक ज्ञानरूप धन प्राप्त कराइए (राध संसिद्धौ)। यह ज्ञानरूप धन हमारे पास होगा तो हम संसार में सफल-ही-सफल होंगे। **'बुद्धिस्तु मा गान्मम'**=मेरी बुद्धि न जाए। इस ज्ञानरूप धन के लिए मैं और किससे याचना करूँ? **अस्य रायः**=इस धन के तो **अग्ने त्वम्**=हे प्रभो! आप ही **रथीः असि**=नियन्ता स्वामी हैं। इसे तो आप ही प्राप्त कराएँगे। लौकिक धन तो और भी दे सकते हैं, यह उत्कृष्ट धन तो आपकी कृपा से ही प्राप्त होता है।

आप **नः**=हमारे **तुचे**=युवक सन्तानों के लिऐ भी **गाधम्**=गम्भीर ज्ञान को **विदा**=प्राप्त कराइए। युवकों में जोश होता है, गम्भीरतापूर्वक न विचारने से व बदले की भावना से वे अकार्य कर बैठते हैं। तुच् शब्द तुर्वी धातु से बना है, जिसके अर्थ 'हिंसा, वृत्ति और पूर्ति' हैं। सम्मिलित अर्थ बनता है—हिंसा के द्वारा अपनी जीविका की पूर्ति करने में संकोच न करनेवाला। यौवन के मद में ऐसा करने की सम्भावना होती है, अतः प्रार्थना है कि हमारे युवकों को गम्भीर ज्ञान दीजिए; वे बदले की भावना में न बह जाएँ।

इस गम्भीर ज्ञान को महत्त्व देने पर ही हम सच्ची शान्ति फैला सकेंगे और तभी हम इस मन्त्र के ऋषि 'शंयु' होंगे। ऐसा न हो कि हम सोने-चाँदी को ही महत्त्व देनेवाले बने रहें और अन्त में यह अनुभव करें कि हम तो 'तृणपाणि' ही रह गये।

भावार्थ—प्रभो! ज्ञानरूप धन तो आप ही दे सकते हैं। आप हमें और हमारे युवकों को गम्भीर ज्ञान प्राप्त कराइए।

ऋषिः—**भर्गः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु के उपासक कौन?

४२. **त्वमित् सप्रथा अस्यग्ने त्रातर्ऋतः कविः।**
त्वां विप्रासः समिधान दीदिव आ विवासन्ति वेधसः॥ ८॥

हे **अग्ने**=अग्ने! **त्वम्**=आप **इत्**=ही **स-प्रथाः**=विस्तारवाले **असि**=हैं, **त्रातः**=त्राण करनेवाले, **ऋतः**=सत्यस्वरूप, **कविः**=क्रान्तदर्शी हैं। इन शब्दों में प्रभु की स्तुति करते हुए हम सामान्यतः अन्नमयकोश के दृष्टिकोण से विस्तारवाले, प्राणमयकोश के दृष्टिकोण से रक्षा करनेवाले, मनोमयकोश के दृष्टिकोण से सत्यव्रती तथा विज्ञानमयकोश के दृष्टिकोण से क्रान्तदर्शी बनने का प्रयत्न करें।

हमारा शरीर विस्तृत हो; हम पतले-दुबले, संकुचित से शरीरवाले न हों। आत्मरक्षा के लिए हम सदा परतन्त्र न बनें रहें। हमारी इन्द्रियाँ सुरक्षित हों, हम उनपर असुरों का आक्रमण न होने दें, तदर्थ हम कानों से भद्र ही सुनें और आँखो से भद्र ही देखें। हम सत्य के द्वारा मन को सदा पवित्र रक्खें तथा बुद्धि को तीव्र बनाकर कवि बनने का यत्न करें।

हे प्रभो! आप **समिधान**=ज्ञान से सम्यक् दीप्त हैं, **दीदिवः**=ज्ञानज्योति से जगमगा रहे हैं। **त्वाम्**=आपको **विप्रासः**=ज्ञान के द्वारा अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले **वेधसः**=मेधावी ही **आ विवासन्ति**=पूजते हैं। आपकी भक्ति तो ज्ञानी ही कर पाते हैं। ज्ञान ही हमें पवित्र करके आपकी गोद में पहुँचाता है। प्रभुकृपा से हम भी अपने को इस ज्ञानाग्नि में परिपक्व कर इस मन्त्र के ऋषि 'भर्ग' बनें।

भावार्थ—ज्ञानी बनकर स्वकर्म करना ही सच्ची प्रभु-भक्ति है।

ऋषिः—**भर्गः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

'ज्ञानधन' व 'प्राकृतिक धन'

४३. **आ नो अग्ने वयोवृधं रयिं पावक शंस्यम्।**
रास्वा च न उपमाते पुरुस्पृहं सुनीती सुयशस्तरम्॥ ९॥

इस मन्त्र में '**नः**=हमें **आ**=चारों ओर से **रयिम्**=धन **रास्व**=प्राप्त कराइए'—इन शब्दों में धन के लिए प्रार्थना की गयी है 'वह धन ज्ञानरूप है या प्राकृतिक' इस प्रश्न का उत्तर **अग्ने, पावक** व **उपमाते** इन विशेषणों से मिल सकता है। इनके अर्थ क्रमशः 'आगे बढ़ानेवाला, पवित्र करनेवाला, तथा उप=समीप रहकर माति=निर्माण करनेवाला है। प्राकृतिक धन के लिए निःसंकोच ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह तो पतन का कारण भी हो जाता है। ज्ञान के समान कोई पवित्र करनेवाली वस्तु नहीं, जबकि धन अपवित्र विचारों का कारण भी बन जाता है। ज्ञानरूप धन को प्रभु हमारे हृदयों में बैठे हुए ही निर्मित कर रहे हैं। '**ऋचो यस्मादपातक्षन्**'=अग्नि इत्यादि के हृदयों में ऋचाओं का प्रभु द्वारा निर्माण हुआ, अतः वे '**उपमाति**' हैं। प्राकृतिक धन के लिए ऐसी बात नहीं कही जा सकती। एवं, इस मन्त्र में ज्ञानरूप धन के लिए ही प्रार्थना है। इन दोनों धनों का अन्तर निम्न विशेषणों से स्पष्ट है—

१. **वयोवृधम्**=जीवन को उन्नत करनेवाला। ज्ञान मानव-जीवन को उन्नत करने का प्रमुख

साधन है। सांसारिक सम्पत्ति तो व्यसनों में फँसाने का कारण हो जाती है।

२. **शंस्यम्**=प्रशंसा के योग्य अथवा विज्ञान की वृद्धि करनेवाले (शंस:=Science)। बाह्य धन ज्ञान की तुलना में प्रशस्य नहीं है।

३. **पुरुस्पृहम्**=(पुरु च स्पृहं च) जो पालन व पूरण करनेवाला है, अतएव वाञ्छनीय है (पॄ=पालनपूरणयो; स्पृह=to desire, to aspire) ज्ञान मनुष्य की रक्षा करता है और उसकी न्यूनताओं को दूर करता है। बाह्य धन मृत्यु का कारण हो जाता है, पत्नी भी विष दे देती है, अत: वह वाञ्छनीय नहीं है।

४. **सुनीती सुयशस्तरम्**=उत्तम मार्ग पर ले-चलने के द्वारा खूब उत्तम यश का कारण है। ज्ञान मनुष्य को पवित्र मार्ग पर ले-चलकर उसे यशस्वी बनाता है। धन विपरीत मार्ग पर ले-जाकर अपयश का हेतु होता है। एवं, इस मन्त्र में ज्ञान-धन की याचना की गयी है।

भावार्थ—प्रभो! हमें ज्ञान देकर पवित्र जीवनवाला कीजिए। यही ज्ञान हमें परिपक्व करके 'भर्ग' बनाएगा।

ऋषि:—**सोभरि:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**बृहती**॥ स्वर:—**मध्यम:**॥

प्रधान कर्त्तव्य 'ईश-स्तुति'

४४. **यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम्।**
मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नये॥ १०॥

य:=जो **होता**=दाता **विश्वा वसु**=निवास के साधनभूत सब पदार्थों को **दयते**=देता है और इस प्रकार सब आवश्यकताओं को पूर्ण करता हुआ **जनानाम्**=मनुष्यों का **मन्द्र:**=आह्लाद करनेवाला है, उस **अग्नये**=अग्नि के लिए **प्रथमा**=सबसे पहले अतिथि को दिये जानेवाले **मधो: पात्रा न**=जल के पात्रों की भाँति **स्तोमा:**=स्तुतिसमूह **प्रयन्तु**=प्रकर्षेण (खूब) प्राप्त होते हैं।

प्रभु पुरुषार्थ करनेवालों की सब आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं। मनुष्य (**मत्वा कर्माणि सीव्यति**) विचारपूर्वक कर्म करता चले—आवश्यकता पूर्ण करना, योगक्षेम प्राप्त कराना प्रभु का काम है।

जीव का कर्त्तव्य है कि शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रतिदिन प्रभु-चिन्तन से अपने जीवन का प्रारम्भ करे। उसकी स्तुतियाँ प्रभु को सर्वप्रथम उसी प्रकार प्राप्त हों जैसे अतिथि को सर्वप्रथम जल-पात्र प्राप्त होता है। ऐसा करने से हमारे अन्दर उस शक्ति के स्रोत से शक्ति का प्रवाह चलेगा और हम अपने को उस शक्ति से खूब भरनेवाले 'सोभरि' होंगे।

भावार्थ—हमारा प्रतिदिन का प्रथम कर्त्तव्य प्रभु-गुण-स्मरण होना चाहिए।

पञ्चमी दशति:

ऋषि:—**वसिष्ठ:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**बृहती**॥ स्वर:—**मध्यम:**॥

स्तुति के लाभ

४५. **एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे।**
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम्॥ १॥

वः=तुम सबके **अग्निम्**=आगे ले-चलनेवाले प्रभु को **एना**=इस **नमसा**=नम्रता के द्वारा **आहुवे**=पुकारता हूँ।

इस आराधना का लाभ मन्त्र में प्रभु के कुछ विशेषणों द्वारा प्रकट किया गया है—

१. **ऊर्जः न-पातम्**=वे प्रभु शक्ति को न गिरने देनेवाले हैं। प्रभु की आराधना से मनुष्य का सम्पर्क शक्ति के स्रोत प्रभु से बना रहता है और इस प्रकार आराधक में शक्ति का प्रवाह चलता रहता है।

२. **प्रियम्**=प्रभु के आराधक का मन प्रभु-दर्शन के परिणामस्वरूप सदा प्रसन्नता से भरा रहता है।

३. **चेतिष्ठम्**=(अतिशयेन चेतयते) आराधक के हृदय में स्थित ये प्रभु उसे उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

४. **अरतिम्**=(अविद्यमाना रतिर्यस्मात्) प्रभु-दर्शन के बाद विषयों में रस व प्रीति समाप्त हो जाती है (रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते)। ब्रह्मानन्द की तुलना में विषयानन्द तुच्छ लगने लगता है।

५. **स्वध्वरम्**=(शोभनोऽध्वरो यस्मात्) प्रभु का आराधक सदा हिंसाशून्य उत्तम कर्मों में रत रहता है।

६. **विश्वस्य दूतम्**=यहाँ विश्व शब्द विशेषण व सर्वनाम न होकर संज्ञावाची है। यह विश् to enter से बना है। इसका अर्थ है—'जो घुस आये हैं' उनका। वेद के अनुसार यह शरीर **'देवानां पूः'** देवनगरी है। **'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'**=सात ऋषियों का आश्रम है, परन्तु असुर इस देवगृह में बलात् घुस जाते हैं। उन्हें यहाँ 'विश्व' शब्द से कहा गया है। प्रभु इन आसुर वृत्तियों के उपतापक हैं, उन्हें दूर भगानेवाले हैं और इस प्रकार—

७. **अमृतम्**=मोक्ष के साधक हैं—मृत्यु से बचानेवाले हैं।

यह सब प्रभु की आराधना से होता है और प्रभु की आराधना नम्रता से होती है। नम्रता अभिमान आदि वृत्तियों को पूर्णरूप से वशीभूत कर लेने पर आती है। यदि हम ऐसा कर सकेंगे तो मन्त्र के ऋषि 'वसिष्ठ' कहलाएँगे। सबसे बड़ा विजेता अपने को विजय करनेवाला है।

भावार्थ—प्रभु की आराधना नम्रता से होती है। आराधना के सात लाभ हैं—शक्ति, प्रसन्नता, प्रतिभा (Intuitional knowledge), विषय अरुचि, यज्ञशीलता, कामादि संहार व अमृत-प्राप्ति।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

प्रभु का निवास किनमें?

४६. शेषे वनेषु मातृषु सं त्वा मर्तास इन्धते।
अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृत आदिद्देवेषु राजसि॥ २॥

हे प्रभो! आप **वनेषु**=वनों में (वन=to win)—विजयशील पुरुषों में और **मातृषु**=निर्माण करनेवालों में **शेषे**=शयन करते हैं, निवास करते हैं। वेद में निवास करने के लिए 'शयन

करना' इसका प्रयोग बहुधा पाया जाता है। पुरि शेते=पुरुषः=जीव का नाम है—शरीररूपी नगरी में शयन करनेवाला।

जो हृदय-स्थली में चलनेवाले देवासुर-संग्राम में असुरों से पराजित नहीं हो जाते, वे विजयी हैं। वे असुरों का संहार करते हैं वस्तुतः वे ही सदाचारी हैं। 'विजय ही सदाचार है, पराजय ही अनाचार है।' अपराजित विजयी पुरुषों में ही प्रभु रहते हैं तथा **माता**=निर्माताओं में उनका निवास है। निर्माता पुरुष ध्वंसक वृत्तिवाले नहीं होते। **'तृणं न छिन्द्यात्'** यह मनु-वाक्य इस वृत्ति को न पनपने देने के लिए ही लिखा गया है। ये पुरुष रोग से घृणा करते हैं, रोगी से नहीं। ये पाप से घृणा करते हैं पापी से नहीं। ये पापी को निष्पाप बनाने का प्रयत्न करते हैं। ये शत्रु से घृणा नहीं करते, अपितु उसकी शत्रुता की भावना को दूर करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। ऐसे निर्माणशील पुरुषों में प्रभु का निवास होता है।

मर्तासः=(मृङ् प्राणत्यागे) जो धन व समय का ही नहीं, अपने छोटे-मोटे सुखों का ही नहीं, अपितु अपने प्राणों का भी परित्याग करना सीखते हैं, वे मर्त ही **त्वा**=तुझे **समिन्धते**=अपने में दीप्त करते हैं। लोक-संग्रह के लिए जो प्राणत्याग कर सकते हैं, उन्हीं में प्रभु का प्रकाश होता है।

हविष्कृतः=अपने जीवनों को हविरूप बनानेवालों को **हव्यम्**=देने योग्य पदार्थों को आप **अतन्द्रः**=बिना आलस्य के **वहसि**=प्राप्त कराते हैं। ये आत्मत्यागी लोग भूखे नहीं मरते। वस्तुतः जब ये परमेश्वर की प्रजा के हित में लगते हैं तब प्रभु इनके परिवार के पालने में। बस, इस प्रकार, **वन**=विजयी—जितेन्द्रिय, **माता**=निर्माता=निर्माण की वृत्तिवाले, **हविष्कृत्**=अपने जीवन को हविरूप बना देनेवाला मनुष्य, जब मनुष्य श्रेणी से ऊपर उठकर देव बन जाता है, **आत् इत्**=तब निश्चय से इन **देवेषु**=देवों में आप **राजसि**=शोभायमान होते हैं। उनकी एक-एक क्रिया में प्रभु की ज्योति दीखती है।

जीवन का पूर्ण विकास व परिपाक करनेवाले ये व्यक्ति इस मन्त्र के ऋषि 'भर्ग' होते हैं। ये ही प्रभु की क्रियात्मक भक्ति करने के कारण 'प्रागाथ' (उत्तम गायन करनेवाले) कहलाते हैं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय, निर्माता और प्राणों को प्राजापत्य यज्ञ में उत्सर्ग करनेवाले बनें।

ऋषिः—**सोभरिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु को कौन देखता है?

४७. **अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः ।**
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्तु नो गिरः ॥ ३ ॥

अग्निम्=आगे ले-चलनेवाले प्रभु को **नः**=हमारी **गिरः**=वाणियाँ **नक्षन्तु**=प्राप्त हों, अर्थात् हम सदा प्रभु को पुकारें, उसी का द्वार खटखटाएँ (नक्ष=to knock at) जो प्रभु **आर्यस्य**=उन्नति के मार्ग पर नियमपूर्वक चलनेवाले को (ऋ=गतौ, इयर्ति इति आर्यः) **वर्धनम्**=उत्साहित करनेवाले हैं **उ**=और **उप षु जातम्**=उत्तम प्रकार से समीप प्राप्त होनेवाले हैं। जो आर्यपुरुष इस देवमार्ग पर नियमपूर्वक चलते रहते हैं, वे एक दिन उस प्रभु के समीप पहुँच जाते हैं।

किस प्रभु के समीप? **यस्मिन् व्रतानि आदधुः**=जिसकी प्राप्ति के निमित्त (निमित्त

सप्तमी) विविध व्रतों को धारण किया करते हैं। **'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'**=जिस प्रभु को चाहते हुए ब्रह्मचर्य व्रत को धारण किया करते हैं। वस्तुतः प्रत्येक उत्तम व्रत हमें उस प्रभु के कुछ समीप ही ले-जाता है।

इस प्रभु को **अदर्शि**=देखता है। कौन? **गातुवित्तमः**=(गातु+वित्+तमः) अतिशयेन देवमार्ग को प्राप्त करनेवाला। जो व्यक्ति इस देवमार्ग पर सर्वाधिक चलता है (विद् लाभे)।

हम सब अपने अन्दर आर्यत्व, व्रतशीलता तथा उत्तम मार्ग पर चलने की भावनाओं को भरकर इस मन्त्र के ऋषि 'सोभरि' हों।

भावार्थ—गत मन्त्र में देवमार्ग का उल्लेख हुआ था, जो नियम से इस मार्ग पर चलता है, वह प्रभु के समीप पहुँचकर उसका दर्शन करता है।

ऋषिः—मनुः॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

वरेण्य अव=चाहने योग्य रक्षा

४८. अग्निरुक्थे पुरोहितो ग्रावाणो बर्हिरध्वरे।
ऋचा यामि मरुतो ब्रह्मणस्पते देवा अवो वरेण्यम्॥ ४॥

१. **उक्थे**=स्तुति होने पर **अग्निः**=आगे ले-चलनेवाला वह प्रभु **पुरः**=सामने **हितः**=निहित, रक्खा हुआ होता है। हम प्रभु की स्तुति करेंगे तो हमें अवश्य प्रभु का साक्षात् होगा। 'प्रभु का सच्चा उपासक कौन है?' इस विषय में वेद ही कह रहा है कि **'पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत'**=अग्नि के समान तेजस्वी, राग-द्वेष से शून्य, शुचि मनवाले महान् ज्ञानी ही प्रभु के सच्चे उपासक हैं। जो ऐसा बनता है वह प्रभु का उपासक होता है और प्रभु के दर्शन करता है।

२. **अध्वरे**=हिंसारहित यज्ञों, उत्तम कर्मों के होने पर **ग्रावाणः**=इन्द्रियाँ (गृ=गिरन्ति,) विविध रूपादि विषयों का भोजन करती हैं, अथवा **गृणन्ति**=रूपादि विषयों का ज्ञान देती हैं। **बर्हिः**=खूब वृद्ध होती हैं (बृहि वृद्धौ) हिंसात्मक कर्मों से ही इन्द्रियों की शक्ति जीर्ण होती है। हम औरों से बदला लेने के कार्यक्रम बनाते रहें तो अवश्य हमारी शक्तियाँ क्षीण होंगी। क्रोधी, खीझनेवालों को ही जीर्णता प्राप्त होती है।

३. **ऋचा**=विज्ञान व मधुर भाषण से (ऋच्=स्तुतौ=पदार्थों का गुणवर्णन अर्थात् विज्ञान, स्तुति=निन्दा न करना, मधुर शब्द ही बोलना), **वरेण्यं अवः**=चाहने योग्य रक्षा को **यामि**=प्राप्त होता हूँ। इस विज्ञान व मधुर भाषण को जीवन का अङ्ग बनाने के लिए निम्न सम्बोधन उपाय बता रहे हैं—

१. **मरुतः**=हे प्राणो! (प्राणा वाव मरुतः) प्राणों के संयम से बुद्धि की तीव्रता प्राप्त होगी—हम ऊँचे ज्ञानी बनेंगे तथा इन्द्रियों के दोषों को दूर करके भद्र वाणीवाले होंगे।

२. **ब्रह्मणस्पते**=हे ज्ञान के पति प्रभो! प्रतिदिन प्रातः-सायं ज्ञानमय आपके सम्पर्क में आने पर हमारा ज्ञान क्यों न बढ़ेगा और परस्पर भ्रातृत्व की भावना में वृद्धि होकर कलहों की इतिश्री क्यों न होगी?

३. **देवाः**=प्राकृतिक शक्तियो व विद्वानो! विद्वानों के सम्पर्क में आने पर ही हम ज्ञानी

व शिष्ट बनेंगे, इसके साथ पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, वायु आदि के सम्पर्क से भी हम इन दिशाओं में अवश्य उन्नत होंगे। हम इन सब उपायों से अपने ज्ञान को बढ़ाकर तथा व्यवहार में सदा मधुरता का मनन करते हुए सच्चे मनुष्य बनें और इस मन्त्र के ऋषि 'मनु' हों।

भावार्थ—हम सच्चे स्तोता बनकर प्रभु का दर्शन करें।

ऋषि:—**सुदीतिपुरुमीढौ**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**बृहती**॥ स्वर:—**मध्यम:**॥

प्रभु किसको शरण देते हैं?

४९. **अग्निमीडिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम्।**
अग्निं राये पुरुमीढ श्रुतं नरोऽग्निः सुदीतये छर्दिः॥ ५॥

१. हे मनुष्य! तू **अवसे**=रक्षा के लिए **शीर**-(शृ हिंसायाम्) हिंसक हैं **शोचिषम्**=ज्ञानाग्नि की ज्वालाएँ जिसकी, उस **अग्निम्**=प्रभु की **गाथाभिः**=गायन के द्वारा **ईडिष्व**=स्तुति कर। मनुष्य पर प्रतिक्षण काम-क्रोधादि वासनाओं का आक्रमण हो रहा है। उस आक्रमण से अपने बचाव के लिए एक ही उपाय है कि मनुष्य प्रतिक्षण प्रभु का चिन्तन करे। जैसे गडरिये अपनी रक्षा के लिए वन में चारों ओर अग्नि प्रज्वलित कर लेते हैं, उसी प्रकार हम काम-क्रोधादिरूप हिंस्र पशुओं से इस भव-कान्तार में अपने बचाव के लिए ज्ञानाग्नि के पुञ्ज प्रभु को अपने चारों ओर सदा दीप्त रक्खें।

२. हे **पुरुमीढ**=धन की खूब वर्षा करनेवाले पुरुष! तू तो धन की वर्षा करता ही रह। धन समाप्त हो जाने की चिन्ता न कर। **राये**=धन के लिए **अग्निम्**=उस प्रभु की **ईडिष्व**=स्तुति कर, अर्थात् देता जा, और धन के लिए उस प्रभु को पुकारता चल। तू बाँट, बाँटने के लिए धन प्रभु प्राप्त कराएँगे।

३. हे **नर:**=मनुष्यो! **श्रुतम्**=(शृणुत) सुनो। **अग्नि:**=वे प्रभु **सुदीतये**=खूब दान देनेवाले के लिए **छर्दि:**=गृह, आश्रय, रक्षणस्थान (Shelter) हैं। जो खूब देता है, वह कभी वासनाओं का शिकार नहीं होता। पञ्चयज्ञ करके यज्ञशेष खानेवाले के पास विलास के लिए धन बचता ही नहीं।

प्रभु करें कि हम इस मन्त्र के ऋषि 'सुदीति' खूब देनेवाले और 'पुरुमीढ' खूब धन की वर्षा करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु रक्षक हैं। हे मनुष्य! तू दानी बन। प्रभु तुझे धन भी प्राप्त कराएँगे और वासनाओं से भी बचाएँगे।

ऋषि:—**प्रस्कण्व:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**बृहती**॥ स्वर:—**मध्यम:**॥

हृदय में किनका वास हो?

५०. **श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः।**
आ सीदतु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावभिरध्वरे॥ ६॥

हे **अग्ने**=आगे ले चलनेवाले **श्रुत्कर्ण**=ज्ञान को विकीर्ण करनेवाले प्रभो! (श्रूयते इति

श्रुत्, तद् विकिरति) **श्रुधि**=मेरी पुकार को सुनिए। आप **देवैः**=दिव्य गुणों के साथ तथा **मित्रः**=स्नेह की देवता और **अर्यमा**=दान की देवता (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) ये सब **अध्वरे**=हिंसा की भावना से शून्य **बर्हिषि**=बढ़े हुए (विशाल, महान्) मेरे हृदय में **आसीदतु**=आकर विराजमान हों।

ये दिव्य भावनाएँ कैसी हैं—

(क) **वह्निभिः**=ये मुझे उस प्रभु के समीप ले-जानेवाली हैं (वह=to carry)। जितनी-जितनी दिव्यता हम प्राप्त करेंगे उतना-उतना प्रभु के समीप पहुँचते जाएँगे।

(ख) **सयावभिः**=(सह यान्ति) ये सब दिव्य गुण साथ-साथ चलनेवाले हैं। हम एक भी दिव्य गुण को अपनाने का यत्न करेंगे तो शेष गुण हमें स्वतः प्राप्त हो जाएँगे।

(ग) **प्रातर्यावभिः**=(प्रातः यान्ति) ये प्रातःकाल ही प्राप्त करने के योग्य हैं। प्रातः उठते ही दिव्य भावनाओं के धारण का संकल्प करना चाहिए। यदि हम अपने हृदयों में दिव्य भावनाओं को न बिठाएँगे तो वहाँ आसुर भावनाएँ बैठ जाएँगी।

बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम इन अशुभ भावनाओं को दूर ही रक्खें। इस मन्त्र का ऋषि 'प्रस्कण्व'=बुद्धिमान् है। वह इस रहस्य को खूब समझता है।

भावार्थ—मेरा हिंसाशून्य, विशाल हृदय प्रभु का, देवताओं का, स्नेह का तथा देने की वृत्ति का निवासस्थान बने।

ऋषिः—**सोभरिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

मोक्ष-प्राप्ति के चार साधन

५१. प्र दैवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना।
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य शर्मणि॥ ७॥

१. **मातरं पृथिवीं अनु**=इस भूमिमाता पर रहने के पश्चात् **वि वावृते**=लौट जाता है और **नाकस्य**=मोक्षलोक के **शर्मणि**=सुख में **तस्थौ**=ठहरता है।

मन्त्र के उत्तरार्ध से यह स्पष्ट है कि जीव का पृथिवी पर निवास अस्थायी है, उसे यहाँ से लौटना है। जैसेकि यात्रा में प्रवास से लौटकर मनुष्य फिर घर में आता है, उसी प्रकार यह पृथिवीवास हमारा प्रवास है, यहाँ से हमें लौटना है। हमारा वास्तविक घर तो ब्रह्मलोक है, जहाँ हम यात्रा के सब कष्टों से मोक्ष पाकर आनन्द में ठहरेंगे।

यह जीवन जब यात्रारूप है तो यात्रा के दो सिद्धान्तों का हमें ध्यान रखना चाहिए। १. यात्रा में मनुष्य अधिक-से-अधिक हल्का रहना चाहता है, क्योंकि यात्रा में अधिक बोझ रुकावट बनता है, अतः हमें भी जीवन-यात्रा में बहुत बड़े-बड़े मकान, ट्रंक व अनावश्यक समान नहीं जुटाना है। २. यात्रा में आदमी आराम को ध्येय न बनाकर कुछ कष्ट से जैसे-तैसे गुज़ारा कर लेता है। हमारा भी जीवन-यात्रा का ध्येय आराम न होकर आ-श्रम (exertion) परिश्रम हो तभी हमारी यात्रा पूर्ण होगी और हम मोक्ष-सुख को प्राप्त करने के लिए अपने घर ब्रह्मलोक में पहुँच सकेंगे। यह कैसे हो? इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं—

१. **दैवोदासः**=देव का सेवक। हमें प्रभु का उपासक बनना है, न कि प्रकृति का दास।

प्रभु के सेवक के उठने-बैठने में यह विशेषता होती है कि वह स्वाद के लिए न खाकर शरीर-धारण के लिए खाता है, वह आमोद-प्रमोद के लिए ज्ञानेन्द्रियों का प्रयोग न करके उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है।

२. **अग्निः**=अग्रे-णीः। अपने को आगे पहुँचानेवाला। हमारे जीवन का यह सूत्र हो कि हमें शरीर, मन व बुद्धि—तीनों दृष्टिकोणों से आगे बढ़ना है। हमारा शरीर अधिक स्वस्थ बने, मन अधिक विशाल व बुद्धि अधिक तीव्र हो।

३. **देवः**=(दिवु=क्रीडा) हम संसार को क्रीड़ामय समझें, तभी हम चोटों को हँसते हुए सहेंगे और चोट लगानेवाले से खिझेंगे नहीं।

४. **इन्द्रो न**=(न=इव, इदि परमैश्वर्ये) हम प्रभु के समान परमैश्वर्यवाले बनें। उस प्रभु का अन्तिम ऐश्वर्य 'सहोऽसि' सहनशीलता है। मैं भी उसके समान तेजस्वी बनूँ, परन्तु यह होगा कैसे? **प्रमज्मना**=प्रकर्षेण उसमें लीन हो जाने के द्वारा। (मस्ज्=Merge=लीन हो जाना।

जैसे लोहे का गोला अग्नि में लीन होकर अग्निमय हो जाता है, उसी प्रकार उस परमैश्वर्यवाले प्रभु में लीन होकर हम भी तन्मय हो जाएँ। इस प्रकार इस यात्रा को उत्तम प्रकार से पूरा करनेवाले हम इस मन्त्र के ऋषि 'सोभरि' होंगे।

भावार्थ—यह जीवन एक यात्रा है—इसे पूर्ण करने के लिए १. हम प्रभु-भक्त बनें, २. हमारे जीवन का सूत्र आगे बढ़ना हो, ३. हमारे अन्दर खिलाड़ी की आदर्श मनोवृत्ति हो, ४. हम सदा खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते अपने को प्रभुमय बनाये रक्खें। इस प्रकार यात्रा को पूर्णकर हम मोक्षसुख में स्थित होंगे।

ऋषिः—**मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

इसी मानव देह से

२ ३ १ २र ३ १ २३ १ २ ३ १ २र
५२. अध ज्मो अध वा दिवो बृहतो रोचनादधि।
३ १ २ ३क २र ३ २उ ३ १ २
अया वर्धस्व तन्वा गिरा ममा जाता सुक्रतो पृण॥ ८॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **जात**=उच्च योनि में उत्पन्न आत्मन्! तुझे मैंने सर्वोच्च योनि में जन्म दिया है, अतः **सुक्रतो**=उत्तम प्रज्ञा, उत्तम कर्मों तथा उत्तम संकल्पोंवाला होकर **पृण**=सुखी हो। मनुष्य को चाहिए कि मानवदेह को प्राप्त करके अपनी प्रज्ञा, कर्मों व संकल्पों को उत्तम बनाकर मस्तिष्क, भुजाओं व हृदय सभी का ठीक विकास करे। यह शरीर इसीलिए मिला है।

ये सब बातें होंगी कैसे? प्रभु कहते हैं कि **मम गिरा**=मेरी वेदवाणी के द्वारा। सृष्टि के आरम्भ में दिया गया यह वेदज्ञान मनुष्य का सर्वहितकारी है। इसी से मानव-कल्याण सम्भव है। प्रभु कहते हैं कि इस वेदज्ञान को अपनाकर **अया=अनया**=इस **तन्वा**=मानवदेह से **वर्धस्व**=तू वृद्धि को प्राप्त हो, आगे बढ़ और मोक्ष में अवस्थित हो। इस मानवदेह से ही मनुष्य मोक्ष तक पहुँच सकता है, अन्य पशु-पक्षियों के शरीर से यहाँ पहुँचने में समर्थ नहीं।

मनुष्य को आगे बढ़ना है, परन्तु कहाँ? **अध ज्मः**=पृथिवी से ऊपर, **अध वा दिवः**=और अन्तरिक्ष से ऊपर तथा **बृहतः**=इस विशाल **रोचनात्**=देदीप्यमान द्युलोक से **अधि**=ऊपर। यदि हम सारा समय केवल स्वास्थ्यनिर्माण में समाप्त कर देते हैं तो हम पृथिवीलोक से

ऊपर नहीं उठे। यदि हम द्वेषादि की भावना को दूर कर हृदय के परिमार्जन में लगे रहते हैं तो हम अन्तरिक्षलोक में ही स्थित हैं। इससे भी ऊपर उठकर हमें अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञान की ज्योति से ज्योतिर्मय करना है, परन्तु यहाँ भी रुक तो नहीं जाना। यह ज्ञान भी तो सात्त्विक बन्धन ही है। इससे भी ऊपर उठकर हमें स्वयं देदीप्यमान ज्योति (ब्रह्म) को प्राप्त करना है।

इस मन्त्र के ऋषि 'मेधातिथि' व 'मेध्यातिथि' हैं। अत् धातु का अर्थ 'निरन्तर जाना' होता है। जो निरन्तर मेधा की ओर चल रहा है वह मेधातिथि है, और वही मेध्य=पवित्र प्रभु की ओर जानेवाला भी बनता है। द्युलोक में पहुँचकर हम मेधातिथि होते हैं, और उससे भी ऊपर उठकर ब्रह्मलोक में पहुँच हम मेध्यातिथि बनते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी को अपनाकर हम इस मानवदेह में आगे बढ़ें, और मोक्षसुख में अवस्थित हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

आगे जाकर लौट पड़ना ठीक नहीं

५३. **कायमानो वना त्वं यन्मातॄरजगन्नपः।**
न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद् दूरे सन्निहाभुवः॥ ९॥

प्रभु कहते हैं कि **अग्ने**=हे आगे बढ़नेवाले जीव! **त्वम्**=तू **वना**=उपासना तथा प्रकाश की किरणों, अर्थात् ज्ञान (Worshipping, Ray of light) को **कायमानः**=(कामयमानः) चाहता हुआ **यत्**=जो **मातॄः**=धन का निर्माण करनेवाले (मा) और धन में आसक्त करके उपासना व ज्ञान से दूर ले-जानेवाले अतएव हिंसक **अपः**=कर्मों को **अजगन्**=प्राप्त हुआ है, **ते**=तेरे **तत्**=उस **निवर्तनम्**=फिर लौट पड़ने को **न**=नहीं **प्रमृषे**=क्षमा करता हूँ, अच्छा नहीं समझता हूँ।

धन का एक अच्छा पहलू भी है। धन की उपयोगिता विवादास्पद नहीं, परन्तु इसके काले पहलू में एक बात यह भी है कि यह मनुष्य को लोभाभिभूत कर देता है। यह आध्यात्मिक उन्नति के लिए विघातक व अनावश्यक है। उपासना व ज्ञान की ओर चलकर, माया से आकृष्ट हो फिर धनार्जन के कामों में उलझ जाना, यह फिर लौट पड़ना अवनति का कर्म है, अतः त्याज्य है। प्रभु जीव से कहते हैं कि हे जीव! यह जो **दूरे सन्**=बहुत दूर आगे बढ़ा हुआ होकर **इह आभुवः**=फिर वहीं काम्य कर्मों में रह गया, यह ठीक नहीं।

जिस प्रकार गृहस्थ आश्रम बड़ा सुन्दर है। ब्रह्मचर्य के बाद एक व्यक्ति गृहस्थ में प्रवेश करता है तो सभी उसका सम्मान करते हैं, परन्तु वह गृहस्थ के बाद वनस्थ हो, संन्यासी बन फिर गृहस्थ में लौट पड़े तो अखरता है, ठीक नहीं लगता।

काम्य कर्मों से ऊपर उठकर फिर उन्हीं में उलझना ठीक नहीं। काम्य कर्मों से ऊपर उठ, राग-द्वेष से परे पहुँचकर हम इस मन्त्र के ऋषि 'विश्वामित्र' बनेंगे।

भावार्थ—मानव जीवन का सूत्र आगे बढ़ना है, न कि पिछड़ जाना—नीचे की ओर लौट पड़ना।

ऋषिः—कण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

निवृत्त होकर प्रवृत्त होना

५४. नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते।
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टयः॥ १०॥

प्रभु जीव से ही कहते हैं कि हे **अग्ने**=अपने को वृद्धि प्राप्त करानेवाले जीव! **त्वाम्**=तुझे तो **मनुः**=ज्ञानी मैंने **शश्वते**=(शश्वत् इति बहुनाम) अनेकविध (शश्—गतौ) क्रियाओं को करती हुई **जनाय**=प्रजाओं के लिए **ज्योतिः**=प्रकाश के रूप में **निदधे**=रक्खा था।

सकामता से ऊपर उठकर काम करनेवाले के आदर्श को देखकर ही अन्य लोग क्रियाएँ करते हैं। यदि इसका जीवन क्रियाशून्य हो जाए तो इसे देखकर अन्य लोग भी अकर्मण्य हो जाएँ।

प्रभु कहते हैं कि तू तो **दीदेथ**=चमकता था—तेरा जीवन तो प्रकाशमय था, **कण्वः**=तू मेधावी था। कण-कण करके तूने उत्तम ज्ञान का संचय किया था, **ऋतजातः**=ऋत से, नियमित गति से तूने अपना विकास किया था, **उक्षितः**=(उक्ष् सेचने) तेरा हृदय करुणा आदि वृत्तियों से सिंचा था। एवं, तूने बौद्धिक, शारीर व मानस सभी उन्नतियों को सिद्ध किया था, इसीलिए **कृष्टयः**=सब मनुष्य **यम्**=जिस तुझे **नमस्यन्ति**=नमस्कार करते थे, वह तू यदि लौट पड़े और आर्थिक बन्धनों में फिर से जकड़ा जाए तो क्या यह ठीक है? नहीं। तुझे तो मैंने विविध क्रियाओं को करते हुए लोगों के लिए ज्योति के रूप में रक्खा है। तुझे घर के धन्धों से निवृत्त हो, लोकहित में प्रवृत्त होना है। 'निवृत्त होकर प्रवृत्त होना' यही मानव जीवन की सार्थकता है, अतः हम भी ज्ञानियों की भाँति निष्काम कर्म करनेवाले बनें, तभी इस मन्त्र के ऋषि 'कण्व' मेधावी होंगे।

भावार्थ—मनुष्य को चाहिए कि बुद्धिमान्, संयमी व करुणाशील बनकर सामान्य मनुष्यों के लिए 'प्रकाश-स्तम्भ' हो।

प्रथमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

दया का उमड़ता हुआ समुद्र (Overflowing kindness)

५५. देवो वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्वासिचम्।
उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद् वो देव ओहते॥ १॥

हे मनुष्यो! **उत् सिञ्चध्वम्**=अपने हृदयों को दया की भावना से इतना सींचो कि वह दया तुम्हारे हृदयों से बाहर प्रवाहित होने लगे। **वा**=और **उप**=दुःखियों के समीप पहुँचकर **पृणध्वम्**=उनके जीवन को सुखी बनाओ (पृण=सुखी करना)।

दुःखी पुरुष जब हमारे समीप आएँ तो हम उनकी सहायता करें यह भी भद्रता है, परन्तु प्रभु इससे कुछ अधिक चाहते हैं। प्रभु की इच्छा है कि हम दुःखियों के आने की प्रतिक्षा क्यों करें, हम उनके समीप पहुँचकर उन्हें सुख पहुँचाएँ। पीड़ितों के पास पहुँचकर उनकी पीड़ा दूर करने पर **आत् इत्**=उसके पश्चात् अवश्य ही **देवः**=प्रभु **वः**=तुम्हें **ओहते**=प्राप्त होते हैं। प्रभु-प्राप्ति इन **'सर्व-भूत-हिते रतः'** को ही होती है।

वह प्रभु **पूर्णां आसिचम्**=हृदय में दया की भावना के पूर्ण सेचन को **विवष्टु**=चाहते हैं। दया की न्यूनता हमें प्रभु से दूर रखती है।

जब व्यक्ति करुणामय बनकर सबकी सहायता करता है तब उसके पास स्वयं अपनी आवश्यकताओं के लिए धन की कमी हो जाती है और कई बार ऐसा विचार आने लगता है कि इतने श्रम से कमाये हुए धन को इस प्रकार औरों पर कैसे व्यय कर दें? इस प्रश्न का उत्तर वेद इस रूप मे देता है कि **वः**=तुम्हें **देवः**=वह प्रभु ही **द्रविणोदाः**=धन देनेवाले हैं। सब धन उस प्रभु का है। उस प्रभु के धन को प्रभु की प्रजा के कल्याण में व्यय कर देना ही ठीक है।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिए दो बातें आवश्यक हैं—हृदय का दया से पूर्ण होना और दुःखियों की सेवा करना। ये दोनों बातें तभी हो सकती हैं जब हम अपने मन को वश में करके इस मन्त्र के ऋषि 'वसिष्ठ' बनें।

ऋषिः—**कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

यज्ञ के विस्तार के लिए आवश्यक तीन बातें

५६. **प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता।**
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः॥ २॥

मानव-जीवन एक यज्ञ है। इस जीवन को यज्ञमय बनाना ही दोनों लोकों को सुखी बनाने का साधन है। 'हमारा जीवन यज्ञमय बना रहे' इसके लिए तीन बातें आवश्यक हैं—

१. **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का पति सर्वज्ञ प्रभु **प्र एतु**=हमें प्रकर्षेण प्राप्त हो। प्रातः-सायं तो हम उसका चिन्तन करें ही, दिन-रात में भी सभी क्रियाओं को करते हुए हम उसे स्मरण करें। प्रभु के स्मरण से हम भोग-विलास में न फँसेंगे और हमारा जीवन यज्ञमय बना रहेगा।

२. **सूनृता**=(सु ऊनृ ऋत) उत्तम, दुःखों का परिहाण करनेवाला, सत्यवाणीरूप **देवी**=दिव्य गुण **प्र एतु**=हमें प्रकर्षेण प्राप्त हो। सत्य के साथ सभी उत्तम गुण हमारे जीवन का अङ्ग बनते हैं और हमारा जीवन यज्ञमय बना रहता है।

३. **देवाः**=सब प्राकृतिक शक्तियाँ व सब विद्वान् हमारे इस **यज्ञं अच्छ**=यज्ञिय जीवन में **वीरम्**=ऐसी सन्तान **नयन्तु**=प्राप्त कराएँ जो **नर्यम्** (नरहितम्)=लोकहित करनेवाली हो तथा **पङ्क्तिराधसम्**=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद पाँचों के हितकर कार्यों को सिद्ध करनेवाली हो। सन्तान की प्रतिकूलता में उस यज्ञ में कुछ शिथिलता आ जाना स्वाभाविक है।

हम पूर्ण प्रयत्न करके अपने इस जीवन को यज्ञिय बनाएँ, भोग-मार्ग धीरपुरुषों का मार्ग नहीं। यज्ञमय जीवनवाला धीरपुरुष ही इस मन्त्र का ऋषि 'कण्व'=मेधावी होता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, सत्य को धारण करें व यज्ञिय प्रवृत्तिवाली सन्तान

को प्राप्त करें, जिससे हमारा यह जीवन यज्ञमय बना रहे।

ऋषिः—**कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु की रक्षा किनको प्राप्त होती है?

५७. ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता।
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे॥ ३॥

सविता=सब पदार्थों को उत्पन्न करनेवाला वह प्रभु **देवः न**=(देवो दानात्) दाता की भाँति **नः**=हमारी **सु ऊतये**=उत्तम रक्षा के लिए **ऊर्ध्वः तिष्ठ**=ऊपर ही खड़ा है, अर्थात् पूर्ण तैयार है और वह **वाजस्य**=शक्ति का **सनिता**=देनेवाला **ऊर्ध्वः**=सदा शक्ति देने के लिए उद्यत है। **यत्**=ज्योंहि हम **अञ्जिभिः**=(अञ्ज्=व्यक्ति) विषय का स्पष्टीकरण करने में निपुण **वाघद्भिः**=ज्ञान को खूब धारण करनेवाले (वह=to carry) विद्वानों के साथ **विह्वयामहे**=विशेषरूप से बातें (ज्ञानचर्चाएँ) करते हैं (ह्वेञ् शब्दे) तथा उनके साथ स्पर्धा करते हैं, उनसे भी आगे बढ़ने के लिए प्रयत्नशील होते हैं (ह्वेञ् स्पर्धायाम्)। **'अति समं क्राम'** बराबरवाले से आगे लाँघ जाओ—इस वेद-वाक्य के अनुसार यह स्पर्धा उचित ही है। संसार का नियम है 'उन्नति या अवनति' (Either progress or regress), अतः हम आगे बढ़ेंगे तो ठीक है, अन्यथा अवनत हो जाएँगे। विद्वानों की स्पर्धा में आगे बढ़ने पर ही हम प्रभु की रक्षा के पात्र होंगे।

मानव जीवन के निर्माण में दो बातें आवश्यक हैं। एक बीज, दूसरी परिस्थिति। बीज हमें माता-पिता से प्राप्त होता है, परन्तु परिस्थिति का निर्माण हम स्वयं करते हैं। बीज की अपेक्षा परिस्थिति का जीवन-निर्माण में तीन गुणा भाग है, अतः अपने भाग्य का निर्माण बहुत कुछ मनुष्य के अपने ही हाथ में है। 'Man is the architect of his own fate.' यह कहावत ठीक ही है। उत्तम परिस्थिति हमें उत्तम बनाएगी, अधम परिस्थिति में हम अधम बन जाएँगे।

भावार्थ—ज्ञानियों के सम्पर्क में रहकर हम प्रभु की रक्षा व शक्ति-प्राप्ति के पात्र बनें। कण-कण करके ज्ञान व शक्ति का सञ्चय करनेवाले हम इस मन्त्र के ऋषि 'कण्व' बनें।

ऋषिः—**सोभरिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

उत्तम सन्तान किसे प्राप्त होती है?

५८. प्र यो राये निनीषति मर्तो यस्ते वसो दाशत्।
स वीरं धत्ते अग्न उक्थशंसिनं त्मना सहस्रपोषिणम्॥ ४॥

यः=जो **मर्तः**=मनुष्य **राये**=धन के लिए **प्र निनीषति**=औरों को भी प्रकर्षेण ले-चलना चाहता है। यदि राष्ट्र-शासक इस विचारवाले होंगे तो वे चोरों को केवल क़ैद न करेंगे, अपितु उन्हें जेल में कोई शिल्प सिखाएँगे और मुक्ति पर उन्हें कार्य में लगाने की व्यवस्था करेंगे। एक गृहस्थ भी औरों को धन-प्राप्ति योग्य कार्य सिखाने की दशा में थोड़ा-बहुत काम कर ही सकता है।

परन्तु ऐसी वृ[illegible]हित के लि[illegible]जुट पाएगा और हमें

अपने सुखों को तिलाञ्जलि देनी होगी, अतः मन्त्र कहता है कि **यः**=जो **ते**=तुझे **वसो**=हे सबको बसानेवाले प्रभो! **दाशत्**=आत्मसमर्पण कर देता है। अपनी मौज को समाप्त करके प्रभु की प्रजा के हित के कार्यों में जुटता है और उन कार्यों को करते हुए भी अभिमान नहीं करता कि अमुक पुरुष को बसाने में मेरा हाथ है। 'वसु' तो प्रभु हैं। बसानेवाले हम कौन? जो इस प्रकार निरभिमानता से आपके कार्य में लगा रहता है **सः**=वह **अग्ने**=हे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आपकी कृपा से **वीरम्**=पुत्र को **धत्ते**=प्राप्त करता है। कैसे पुत्र को? १. **उक्थशंसिनम्**=उक्थों=स्तुतियों के द्वारा प्रभु का कीर्तन करनेवाले को। जिस सन्तान का झुकाव प्रभु-कीर्तन की ओर होगा, वह सन्तान पाप में न फँसेगी। प्रभु 'शुद्धम्, अपापविद्धम्' हैं, यह भी वैसा ही बना रहेगा। २. **त्मना सहस्रपोषिणम्**=यह अपने द्वारा हज़ारों का पोषण करनेवाला होगा। औरों का हित करनेवालों की सन्तान ऐसी ही होनी चाहिए।

इस प्रकार प्रभु के प्रति अर्पण करनेवालों की सन्तान दूसरों का भला करनेवाली होती है। प्रभु करें कि हम स्वयं सदा औरों का उत्तम हित और उत्तम पोषण करनेवाले इस मन्त्र के ऋषि 'सोभरि' बने रहें।

भावार्थ—लोकहित करनेवालों को उत्तम सन्तति की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

सूक्तों का आश्रय

५९. प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम्।
अग्निं सूक्तेभिर्वचोभिर्वृणीमहे यं समिदन्य इन्धते ॥ ५ ॥

वः=मनुष्यों में से जो **पुरूणाम्**=अपना पालन व पूरण करनेवाले, अर्थात् आसुर वृत्तियों के आक्रमण से अपनी इन्द्रियों की रक्षा करनेवाले तथा अपनी न्यूनता को देखकर उसे दूर करनेवाले हैं, **विशाम्**=दूसरों के दुःखों में प्रवेश करनेवाले और उनके दुःखों को दूर करके शान्तिलाभ करानेवाले हैं। **देव-यतीनाम्**=(देवान् आत्मन इच्छन्तीनाम्) दिव्य गुणों को अपनाने की इच्छा करनेवाले हैं, उनका जो **प्र**=खूब **यह्वम्**=(यातश्च हूतश्च भवति) जाने योग्य व पुकारने योग्य है, अर्थात् उसी को पुकारते हैं—दूसरे से याचना नहीं करते। इस **अग्निम्**=आगे ले-चलनेवाले प्रभु को **सूक्तेभिः**=मधुरता से बोले गये **वचोभिः**=वचनों से **वृणीमहे**=हम वरते हैं। **यम्**=जिस प्रभु को **अन्ये इत्**=अन्य लोग भी जप, तप, दान, अध्ययनादि के द्वारा **समिन्धते**=दीप्त करते हैं।

संसार में बालक दो प्रकार के हैं। एक वे जो सदा अपनी माता के चरणों में उपस्थित रहते हैं, किसी भी कार्य के लिए जाना हो तो माता से पूछकर जाते हैं। यदि माता मना कर दे तो नहीं जाते हैं। दूसरे वे बालक हैं जो माता से सदा दूर भागे रहते हैं, साथियों के साथ खेलने में लगे रहते हैं और माता की पुकार को सुनकर भी अनसुना कर देते हैं। हमें यह देखना है कि उस जगज्जननी के प्रति अपने व्यवहार से हम किन बालकों की श्रेणी में आते हैं। यह ठीक है कि खेलनेवाले बालक भी भूख से पीड़ित हो माता के समीप दौड़ते हैं। इसी प्रकार कट्टर-से-कट्टर नास्तिक को भी, "God is no where" के प्रचारक को भी आपत्ति आने पर "God is now here", दीखने लगता है और वे 'अमनसो मां त उप क्षियन्ति'

नास्तिक भी उस प्रभु के चरणों में पहुँचते हैं। इस प्रकार प्रभु सभी के लिए 'यह्व' हैं ही, पर हमें तो 'पुरु, विश् और देवयति' बनकर सदा प्रभु की शरण में रहना चाहिए। ऐसा व्यक्ति कड़वे शब्द बोल ही कैसे सकता है? सबसे बड़ी मूर्खता कटु शब्द बोलना है, अतः हमें मधुर शब्दों को अपनाकर 'कण्व' मेधावी ही बनना है, न कि मूर्ख।

भावार्थ—हम मधुर भाषण द्वारा प्रभु का वरण करें।

ऋषिः—**उत्कीलः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

अग्नि के तीन लक्षण

६०. **अयमग्निः सुवीर्यस्येशे हि सौभगस्य।**
राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्रहथानाम्॥ ६॥

अयम्=यह **अग्निः**=आगे बढ़ने के स्वभाववाला जीव **सुवीर्यस्य**=उत्तम वीर्य का **ईशे**=ईश होता है। भोजन के अनुरूप शरीर में शक्ति का निर्माण होता है—तामस् भोजन से तामस् शक्ति, राजस् से राजस् व सात्त्विक से सात्त्विक। अग्नि सुवीर्य का ईश है, इसलिए **हि**=निश्चय से **सौभगस्य**=उत्तमता व सौन्दर्य का भी ईश है। अग्नि का यही पहला लक्षण है।

दूसरा लक्षण यह है कि यह अग्नि **रायः**=(रा दाने) देने योग्य धन का **इशे**=ईश होता है, क्योंकि यह धन का सदा दान में विनियोग करता है, इसीलिए **स्वपत्यस्य**=उत्तम सन्तान का भी ईश बनता है। "**श्रदस्मै वचसे नरो दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः**" प्रभु कहते हैं कि इस वचन पर श्रद्धा करो कि दिल खोलकर दान देनेवाले पति-पत्नी सुन्दर सन्तान प्राप्त करते हैं। दान लोभ को नष्ट कर सब व्यसनों को नष्ट कर देता है, अतः पवित्र पति-पत्नी उत्तम सन्तान क्यों न पाएँगे?

इस अग्नि का तीसरा लक्षण यह है कि यह **गोमतः**=गोमानों का **ईशे**=मुखिया होता है। उस समय जबकि सब गौ रखते थे, सभी गोमान् थे। उन गोमानों में भी जो खूब उत्तम गौवें रखता है वह गोमानों का ईश **वृत्रहथानाम्**=वृत्र को मारनेवालों का भी ईश बनता है। कामादि वासनाएँ वृत्र हैं, गो-दुग्ध का सेवन करनेवाला उनसे बचा रहता है। यह दुग्ध सात्त्विक होने से सात्त्विक भावों को ही जाग्रत् करता है, इसीलिए वेद में गौ को रुद्र और आदित्यों को पैदा करनेवाली कहा गया है।

भावार्थ—मनुष्य सुवीर्य का ईश बन सौभाग्य का ईश बने, धन का दान करते हुए उत्तम सन्तान प्राप्त करे, गो-दुग्ध के सेवन से सात्त्विक वृत्तिवाला बने। इस प्रकार अपने को इन तीन उत्तम नियमों में बाँधकर मनुष्य मन्त्र का ऋषि 'उत्कील' बने।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

वरणीय पदार्थ प्राप्त करने का मार्ग=(मोक्ष-मार्ग)

६१. **त्वमग्ने गृहपतिस्त्वं होता नो अध्वरे।**
त्वं पोता विश्ववार प्रचेता यक्षि यासि च वार्यम्॥ ७॥

१. इस मन्त्र में अग्नि=प्रगतिशील जीव को सम्बोधित करके कहा है कि **अग्ने**=हे

अग्ने! **त्वम्**=तू **गृहपतिः**=गृह का पति है। यह शरीर गृह है, अग्नि इसका स्वामी है। कभी-कभी हमारे अन्नमयकोश के स्वामी रोग-कृमि भी बन जाते हैं। अग्नि **"मिताशी स्यात् कालभोजी"** वाक्य को आदर्श बनाकर कृमियों को प्रबल नहीं होने देता। हमारे प्राणमयकोश पर असुरों का आक्रमण हो तो इन्द्रियाँ अशुभ कार्यों में प्रवृत्त हो जाती हैं, परन्तु अग्नि प्राणायाम के द्वारा इन्द्रिय-दोषों का दहन कर डालता है। मनोमयकोश राग, द्वेष, मोह आदि मलों से मलिन हो जाता है, परन्तु यह अग्नि सत्य का व्रत धारण कर उसे निर्मल बनाये रखता है। हमारी बुद्धि असद् विचारों का केन्द्र बन जाती है, परन्तु अग्नि स्वाध्याय के द्वारा बुद्धि को अपना सच्चा सारथि बनाये रखता है। हमें आनन्दमयकोश का नाममात्र भी ध्यान नहीं होता, परन्तु यह अग्नि 'अयुतता'—अपृथक्ता=सबके साथ एकता का ध्यान करता हुआ आनन्दमयकोश का अधिपति बन पूर्णरूपेण गृहपति बनता है।

२. हे अग्ने! **नः**=हममें से **त्वम्**=तू **अध्वरे**=हिंसारहित कर्मों में **होता**=आहुति देनेवाला है। यह अग्नि कभी कोई ऐसा कर्म नहीं करता जिससे दूसरे की हिंसा हो। यह किसी के व्यापार को हानि पहुँचाकर अपने लाभ की बात नहीं सोचता।

३. **विश्ववार**=सभी के चाहने योग्य! **त्वम्**=तू **पोता**=अपने को पवित्र बनाता है। अपवित्रता की स्थिति में मनुष्य न्याय-अन्याय सभी साधनों से धन कमाने में लग जाता है, परन्तु यह अग्नि अपने को इन अशुभ मार्गों से बचाकर ठीक मार्ग पर ही चलता है।

४. **यक्षि**=यह अपने को यज्ञरूप बना डालता है। इसने तन, मन, धन की प्राजापत्य यज्ञ में आहुति दी है **च**=और परिणामतः **वार्यम्**=वरणीय पदार्थ **यासि**=प्राप्त करता है। प्राणिमात्र से वरणीय होने के कारण मोक्ष वार्य है। सभी छुटकारा चाहते हैं, कभी रोगों से, कभी कष्टों से। छुटकारा ही मोक्ष है, चाहने योग्य होने से यही वरणीय है—वार्य है। इस मोक्ष को गृहपति, होता, पोता, विश्ववार व यज्ञशील बनकर यह अग्नि ही प्राप्त करता है। पूर्ण जितेन्द्रिय होने से वह इस मन्त्र का ऋषि 'वसिष्ठ' होता है।

भावार्थ—मोक्ष-मार्ग की पाँच मंजिलें हैं—गृहपति बनना, किसी की हिंसा न करना, पवित्रता, विश्वप्रिय बनना और यज्ञशील होना।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

प्रभु की रक्षा का क्रम

६२. सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्तास ऊतये।
अपां नपातं सुभगं सुदंससं सुप्रतूर्तिमनेहसम्॥ ८॥

प्रभु ने जीव को स्वतन्त्रता दी है, अतः प्रभु जीव की रक्षा तभी करते हैं जब जीव रक्षक के रूप में उन्हीं का वरण करे। योग्य-से-योग्य डाक्टर किसी रोगी का बिना कहे इलाज शुरू नहीं कर देता। प्रभु ने तो हमें स्वतन्त्रता दी है, वह बिना कहे उसमें क्यों हस्तक्षेप करे! परन्तु जो समझदार हैं, वे डाक्टर के रूप में प्रभु का वरण करते हैं। **सखायः**=तेरे सखा बनकर **त्वा**=तुझे **ववृमहे**=वरते हैं। प्रभु से रक्षा चाहने का अधिकार भी तो हमें तभी है जब हम कुछ उस-जैसा बनने का प्रयत्न करें। यही भावना 'सखा' शब्द से व्यक्त की गयी है। **सखा**=समान ख्यातिवाले, कुछ-कुछ उस-जैसे स्वरूपवाले (God like)।

देवम्=आप तो सदा देने के लिए तैयार ही हो, **मर्तासः**=हम मर्त हैं, सदा मृत्यु=रोगों का

शिकार हैं; क्या शारीरिक और क्या मानस, आधि-व्याधियाँ हमें सदा व्याकुल किया करती हैं। **ऊतये**=रक्षा के लिए हम मर्त तुझ देव का वरण करते हैं।

प्रभु की रक्षा का प्रकार मन्त्र के उत्तरार्ध में दिये गये पाँच विशेषणों से स्पष्ट हो रहा है। १. **अपां न-पातम्**=आप शक्ति (आपः=रेतः) को नष्ट न होने देनेवाले हो। प्रभु-स्मरण से वीर्यरक्षा होती है। २. **सुभगम्**=उत्तम एश्वर्य प्रदाता हो। ३. **सुदंससम्**=आप उत्तम कर्मों में प्रेरित करनेवाले हो। ४. **सुप्रतूर्तिम्**=अज्ञान का खूब ही ध्वंस करनेवाले हो (तुर्वी=हिंसायाम्) और इस प्रकार ५. **अनेहसम्**=पवित्र=Sinless=पवित्र बनानेवाले हो। इन्हीं पाँच क्रमों से प्रभु हमारी रक्षा करते हैं।

भावार्थ—हम सखा बनकर प्रभु को रक्षक के रूप में वरने के अधिकारी बनें। प्रभु का सखा प्राणिमात्र का मित्र होता है, अतः हम इस मन्त्र के ऋषि 'विश्वामित्र' बनेंगे।

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—**श्यावाश्ववामदेवौ**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

हवि के द्वारा मार्जन, दान से अपना शोधन

६३. आ जुहोता हविषा मर्जयध्वं नि होतारं गृहपतिं दधिध्वम्।
इडस्पदे नमसा रातहव्यं सपर्यता यजतं पस्त्यानाम्॥ १॥

प्रभु अपने सखा से कहते हैं कि १. **आ जुहोत**=सर्वशः आहुति देनेवाले बनो। तन, मन, धन से लोकहित करनेवाले बनो। यह हवि तुम्हें पवित्र बनाएगी। **हविषा**=हवि के द्वारा **मर्जयध्वम्**=अपना मार्जन करो। जिसके अन्दर हवि=दान की वृत्ति उपजी, उसका अन्तःकरण पवित्र हुआ। दान शब्द 'डुदाञ् दाने', 'दो अवखण्डने' तथा 'दैप् शोधने' धातुओं से बनकर 'देना', दोषों का खण्डन करना और अपना शोधन इस क्रम को व्यक्त कर रहा है। दान वस्तुतः लोभ को नष्ट कर व्यसन-वृक्ष के मूल को ही समाप्त कर देता है।

२. इस दान की वृत्ति के उपजाने के लिए **नि**=(in) अपने अन्दर **होतारम्**=होतृत्व की भावना को तथा **गृहपतिम्**=गृहपतित्व की भावना को **दधिध्वम्**=धारण करो। हम सदा सोचें कि हमें होता बनकर गृहपति बनना है। प्रारम्भ से ही हममें होता बनने की भावना होगी तो बड़े होकर हम ऐसा क्यों नहीं बनेंगे?

३. यह होतृत्व हममें स्थिर रहे, इसके लिए हमें चाहिए कि **इडः पदे**=अपनी वाणी के स्थान हृदय में **नमसा**=नम्रता से उस प्रभु की **सपर्यत**=पूजा करें, जो प्रभु **रातहव्यम्**=हवि के योग्य पदार्थों, अर्थात् पवित्र पदार्थों के देनेवाले हैं। अपवित्रता व दुर्गन्ध तो हमारे दुष्प्रयोग का परिणाम है, 'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च'=प्रभु ने तो पुण्य गन्ध को ही उपजाया है। जब प्रभु सब पदार्थों के देनेवाले हैं तब हमें प्रभु के दिये पदार्थों को प्रभु के प्राणियों को देते हुए क्यों संकोच होगा? वे प्रभु **पस्त्यानाम्**=सब घरों के साथ **यजतम्**=सङ्गति करनेवाले या सबको देनेवाले हैं। हम भी एक ही घर से अपना सम्बन्ध क्यों समझें? सभी घरों को अपना घर समझते हुए वस्तुतः 'सर्वभूतहिते रतः' बनकर, सच्चे प्रभु-भक्त बनें।

भावार्थ—१. पवित्रता के लिए अपने को हविरूप बनाना आवश्यक है। २. हविरूप बनने के लिए प्रारम्भ से होतृत्व का लक्ष्य अपने सामने रखना चाहिए तथा ३. इस लक्ष्य को

क्रियान्वित करने के लिए सभी को सब-कुछ देनेवाले उस प्रभु की विनय सहायक होती है।

ऋषि:-**उपस्तुतो वार्ष्टिहव्य:**।। देवता-**अग्नि:**।। छन्द:-**जगती**।। स्वर:-**निषाद:**।।

आदरणीय मानव-जीवन के चार पड़ाव

६४. चित्र इच्छिशोस्तरुणस्य वक्षथो न यो मातरावन्वेति धातवे।
अनूधा यदजीजनदधा चिदा ववक्षत्सद्यो महि दूत्यां३ चरन्॥ २॥

मानव जीवन का प्रथम पड़ाव ब्रह्मचर्यकाल है। इसमें **शिशो:**=शिशु (शो तनूकरणे) अपनी बुद्धि को तीव्र करनेवाले का तथा **तरुणस्य**=तरुण (तॄ) वासनाओं को तैर जानेवाले का **वक्षथ:**=विकास (वक्ष=to wax, to grow) **चित्र इत्**=सचमुच अद्भुत है। ब्रह्मचर्यकाल में यदि उसने दो बातों का ही ध्यान रक्खा कि १. बुद्धि को तीव्र करना है तथा २. वासनाओं का शिकार नहीं होना है तो यह उसकी प्रशंसनीय सफलता होगी।

इसके बाद गृहस्थ में वह **धातवे**=पालन-पोषण के लिए **मातरौ अनु**=माता-पिता के पीछे **न एति**=नहीं जाता तो यह प्रशंसनीय है। गृहस्थ में तो प्रवेश ही तब करना चाहिए जबकि 'धीं श्रीं स्त्रीम्'=ज्ञान व धन का उसने सम्पादन कर लिया हो। गृहस्थ बनकर तो उसे स्वयं माता-पिता की सेवा करनी है, न कि सेवा लेनी।

अब गृहस्थ का सम्यक् पालन करने के बाद **यत्**=जब वह अपने को **'अनूधा:'**=अन्त:पुर (secret apartments)=निज घर के बिना **अजीजनत्**=कर लेता है, अर्थात् वानप्रस्थ बन जाता है और उसकी कुटिया का द्वार सबके लिए खुला रहता है तब यह भी बड़ी प्रशंसनीय बात है।

अध चित्=अब इस वानप्रस्थ के बाद ही, संन्यासी बन **सद्य:**=वह शीघ्र ही **महि दूत्याम्**=महान् दूतकर्म को **चरन्**=करता हुआ **आववक्षत्**=वेदज्ञान को सर्वत्र ले-जाता है, अर्थात् पहुँचाता है। इस प्रकार अपने जीवन के चारों पड़ावों को प्रशंसनीय प्रकार से बिताता हुआ यह सचमुच इस मन्त्र का ऋषि 'उपस्तुत' बनता है। हृदय की वासनाओं के उद्बर्हण के कारण स्तुति किये जाने से यह 'वार्ष्टिहव्य' कहलाता है।

भावार्थ-जीवन के चारों पड़ावों को हम बड़े सुन्दर प्रकार से तय करें।

सूचना-मातरौ का अर्थ माता-पिता करना कुछ कठिन है, उस स्थिति में रूप 'मातापितरौ' या 'पितरौ' बनता है। यहाँ वास्तव में माता और mother-in-law से तात्पर्य है। आजकल युवक पिता न भी दें तो माता से माँग लेते हैं और mother-in-law से माँगना तो अधिकार ही समझते हैं। वे भी तङ्ग हैं-यह तङ्गी **'जामाता दशमो ग्रह:'** इस वाक्य से व्यक्त है।

ऋषि:-**बृहदुक्थ:**।। देवता-**अग्नि:**।। छन्द:-**त्रिष्टुप्**।। स्वर:-**धैवत:**।।

तीन ज्योतियाँ

६५. इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व।
संवेशनस्तन्वे३ चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे॥ ३॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि १. **इदं ते एकम्** (ज्योति:)=यह तेरी प्रथम ज्योति है।

स्वास्थ्य से प्राप्त होनेवाली शरीर की कान्ति ही जीव की प्रथम ज्योति है। यदि एक व्यक्ति स्वस्थ रहे तो उसके शरीर पर एक चमक होगी।

शरीर में अग्नि (जाठराग्नि) का कार्य ठीक चलता रहे तो रोग नहीं आते और स्वास्थ्य ठीक बना रहता है, अतः जिस प्रकार पृथिवी की ज्योति अग्नि है उसी प्रकार पार्थिव शरीर की ज्योति भी इसी जाठराग्नि से उत्पन्न होती है। इसके बाद प्रभु कहते हैं कि—

२. **उ**=और **ते**=तेरी **एकम्**=एक परम् (ज्योतिः) इस शारीरिक ज्योति से **परः**=अधिक उत्कृष्ट ज्योति है, जिसे 'मानस ज्योति' कहा जाता है। शरीर को स्वस्थ रखने से जैसे शारीरिक कान्ति प्राप्त होती है उसी प्रकार मन को स्वस्थ रखने से यह मानस ज्योति उपलब्ध होती है। मन में किसी के प्रति द्वेष न होने, राग-द्वेष-मोहादि मलों से शून्य होकर मन के शुचि होने से जो मानस आनन्द प्राप्त होता है, वह एक अनुपम आनन्द है। उस समय अन्तरिक्ष की ज्योति चन्द्रमा की भाँति यह हृदयान्तरिक्ष की ज्योति मन भी खूब दीप्तिमय होता है। निर्मल चन्द्र आह्लाद उत्पन्न करता है, निर्मल मन भी उसी प्रकार आह्लादमय होता है।

३. शरीर के स्वास्थ्य और मन की निर्द्वेषता के पश्चात् प्रभु कहते हैं कि तू अब **तृतीयेन**=तीसरी **ज्योतिषा**=ज्योति के साथ **संविशस्व**=आनन्द लेनेवाला बन (संविश्=to enjoy) तथा प्रतिक्षण उसी के प्राप्त करने में लगा रह। (संविश्=to be engaged in)। यह तृतीय ज्योति मस्तिष्करूप द्युलोक की ज्योति बुद्धिरूप सूर्य है। जीव के कर्त्तव्य की परिनिष्ठा स्वास्थ्य व निर्द्वेषता के साथ नहीं हो जाती, उसे तो बुद्धि का विकास करके ही विश्रान्ति लेनी है। जैसे सूर्य के बिना अग्नि व चन्द्र की सत्ता नहीं हो सकती, उसी प्रकार बुद्धि निर्द्वेषता व स्वास्थ्य को जन्म देती है।

मनुष्य ने केवल स्वास्थ्य पर ध्यान दिया तो उसने हाथी बनने को ही अपना लक्ष्य समझ लिया। केवल निर्द्वेषता को लक्ष्य बनाकर हम गौ, भेड़ से ऊपर नहीं उठ सकते। मनुष्य तो बुद्धि का विकास करके ही मनुष्य बन पाता है।

एवं, शारीरिक, मानस व बुद्धि तीनों ज्योतियों को प्राप्त करने में लगे रहनेवाला व्यक्ति **'संवेशनः'** कहलाता है। यह संवेशनः ही वस्तुतः **तन्वे**=शरीर में (तन्वाम्=तन्वे) **चारुः**=बड़ा सुन्दर बनकर **एधि**=रह रहा है। एकाङ्गी उन्नति करनेवाले के जीवन में वह सौन्दर्य नहीं, जो इस सर्वाङ्गीण उन्नति से उत्पन्न होता है।

इन तीनों उन्नतियों का करना ही परम=उत्कृष्ट जनित्र=विकास (प्रादुर्भाव) है। समविकास ही परम विकास है। इसी में सौन्दर्य है। इस **परमे जनित्रे**=परम विकास के होने पर ही मनुष्य **देवानाम्**=विद्वानों का **प्रियः**=प्रिय होता है। समझदार लोग इस समविकासवाले का ही आदर करते हैं।

परमेश्वर की स्तुति भी समविकास द्वारा ही होती है। **पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत**, अर्थात् अग्नि के समान कान्तिवाले, पवित्र विद्वान् ही वस्तुतः स्तुति-समूहों से प्रभु की स्तुति करते हैं। यह शरीर प्रभु का मन्दिर है, इसे नीरोग, निर्द्वेष, निर्जड़ रखना ही प्रभु का आदर करना है। यह महान् स्तुति करनेवाला 'बृहदुक्थ' इस मन्त्र का ऋषि है। बृहत्=महान्, उक्थ=स्तुतिवाला।

भावार्थ—प्रभु की सच्ची स्तुति यही है कि हम स्वस्थ, द्वेषरहित व तीव्र बुद्धिवाले बनने

का प्रयत्न करें।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

यह स्तोम=स्तुति

६६. इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ ४॥

इमं स्तोमम्=इस स्तुति को, जिसका गत मन्त्र में तीन ज्योतियों के समविकास के रूप में उल्लेख हुआ है, हम **अर्हते**=प्रशंसनीय प्रभु के लिए **संमहेमा**=संस्कृत करते हैं। इन तीनों ज्योतियों का विकास हमने क्या किया है? इनका विकास करनेवाला तो वह प्रभु ही है। यह सब प्रशंसा उसी की है। जहाँ-जहाँ विजय व सफलता है, उसका करनेवाला वही है, क्योंकि वह **जातवेदसे**=प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है (जाते जाते विद्यते)। नासमझ व्यक्ति इन विजयों को अपना समझ गर्वान्वित हो जाया करते हैं, परन्तु समझदार इन विजयों को अपना न समझ प्रभु का ही जानते हैं। इसी से मन्त्र में कहा है कि **मनीषया**=बुद्धि से हम इस स्तुति को उस प्रशंसनीय, सबमें विद्यमान प्रभु के लिए उसी प्रकार संस्कृत करते हैं **इव**=जैसे एक बढ़ई **रथम्**=रथ को।

जिस प्रकार रथ हमें यात्रा के अन्त तक पहुँचाता है, उसी प्रकार यह प्रभु की स्तुति भक्त की जीवन-यात्रा के लिए रथ का काम देती है। **अस्य**=इस प्रभु की **संसदि**=समीपता में सम्यक् बैठने से **नः**=हमारी **प्रमतिः**=बुद्धि **हि**=निश्चय से **भद्रा**=कल्याणी, शुभ विचारोंवाली बनी रहती है। अशुभ विचार आते ही मनुष्य व्यसनों में फँस यात्रा की प्रगति को समाप्त कर लेता है और उसकी महान् हानि (महती विनष्टिः) हो जाती है, परन्तु **अग्ने**=हे प्रभो! **वयम्**=हम तो **तव**=तेरी **सख्ये**=मित्रता में **मा**=मत **रिषाम**=हिंसित हों।

प्रभु की मित्रता में आसुर वृत्तियों को हमपर आक्रमण करने का साहस ही कैसे हो सकता है? प्रभु-सम्पर्क से शक्तिशाली बन हम इन आसुर वृत्तियों के कुचलनेवाले इस मन्त्र के ऋषि 'कुत्स' (कुथ हिंसायाम्) बनते हैं। शक्तिशाली होने से 'आङ्गिरस' होते हैं।

भावार्थ—हम सदा प्रभु की स्तुति करें, उसी के सम्पर्क में रहें, उसी की मित्रता प्राप्त करें।

ऋषिः—भरद्वाजः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

उन्नत पुरुष के लक्षण

६७. मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्।
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्नः पात्रं जनयन्त देवाः॥ ५॥

जो पुरुष परमेश्वर के सम्पर्क में आकर उन्नत होता है, उसके क्या लक्षण हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह मन्त्र इस प्रकार देता है कि—

१. **दिवः मूर्धानम्**=ज्ञान व प्रकाश के मस्तक=शिखररूप इस पुरुष को **देवाः**=प्राकृतिक शक्तियाँ, विद्वान् व महादेव प्रभु **जनयन्त**=विकसित करते हैं। प्रभु की स्तुति करनेवाला पुरुष उत्तम परिस्थिति पाकर प्रकृष्ट पण्डित बनता है।

२. **पृथिव्याः अ-रतिम्**=इस पुरुष को पार्थिव भोगों के प्रति बहुत रति व प्रेम नहीं होता। इसकी रुचि भोजनों की स्वादुता व वस्त्रों की सुन्दरता में केन्द्रित नहीं होती।

३. **वैश्वानरम्**=विश्व-नर-हितम्=यह सब मनुष्यों के लिए हितकर कार्य करता हुआ जीवन बिताता है। यह केवल अपने लिए नहीं जीता।

४. **ऋते आजातम्**=यह सत्य का ही अनुभव करने के लिए पैदा होता है। सांसारिक सुखोपभोग की वृद्धि के लिए यह कभी असत्य का आश्रय नहीं लेता।

५. **अग्निम्**=इसके जीवन का सूत्र होता है—'आगे बढ़ना', अवनति-पथ पर यह कभी पग नहीं रखता।

६. **कविम्**=यह क्रान्तदर्शी बनता है। वस्तुओं की बाह्य आकृति (appearance) से यह धोखे में नहीं आता। यह तह तक पहुँचकर वस्तुतत्त्व को जानने का यत्न करता है।

७. **सम्राजम्**=(सम् राज्) इसका जीवन बड़ा नियमित (well-regulated) होता है।

८. **जनानाम्**=यह सदा मनुष्यों के सम्पर्क में आनेवाला होता है। मनुष्यों की ओर—न कि उनसे दूर—सतत गमन करनेवाला होता है। संसार को माथा-पच्ची समझ हिमालय की कन्दराओं की ओर नहीं भाग जाता।

९. **आसन्**=(आसन्=आस्य) मुख के द्वारा, अपने वेदानुकूल उपदेशों द्वारा **नः**=लोगों का **पात्रम्**=रक्षक (पा=रक्षणे) होता है।

इस प्रकार अपने जीवन में शक्ति का भरण करने से यह इस मन्त्र का ऋषि भरद्वाज होता है।

भावार्थ—उन्नत पुरुष ज्ञान के शिखर पर पहुँचता है, पार्थिव वस्तुओं में रुचि नहीं रखता, लोकहित का जीवन बिताता है, सदा सत्यवादी, प्रगतिशील, क्रान्तदर्शी, नियमित जीवनवाला होकर मनुष्यों के सम्पर्क में रहता हुआ सदुपदेशों से उनका कल्याण करता है।

ऋषिः—भरद्वाजः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

श्रव्य स्तुति के तीन लाभ

६८. **वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरग्ने जनयन्त देवाः।**
तं त्वा गिरः सुष्टुतयो वाजयन्त्याजिं न गिर्ववाहो जिग्युरश्वाः॥ ६॥

हे **अग्ने**=प्रभो! **उक्थेभिः**=स्तुतियों के द्वारा **त्वत्**=आपसे **देवाः**=दिव्य गुण (divinity) **वि**=विशेषरूप से **जनयन्त**=प्रादुर्भूत होते हैं, **न**=जैसे **पर्वतस्य पृष्ठात्**=पर्वत-पृष्ठ से **आपः**=जल अवतीर्ण हुआ करते हैं। प्रभु का स्तोता अपने में दिव्यता को अवतीर्ण होता हुआ अनुभव करता है। क्रोध-द्वेषादि भावनाएँ उसे छोड़ जाती हैं।

२. **तम्**=देवरूप बने हुए इस पुरुष की **सुष्टुतयः**=उत्तम स्तुतियोंवाली **गिरः**=ये वाणियाँ **त्वा**=आपको (प्रभु को) **वाजयन्ति**=गमयन्ति=प्राप्त कराती हैं। सर्वत्र व्यापक होने के नाते तो प्रभु सर्वत्र हैं, परन्तु जीव अपने में दिव्यता को धारण कर, प्रभु का प्रतिरूप-सा बनकर प्रभु के समीप पहुँचता है।

३. प्रभु के समीप पहुँचनेवाले ये **गिर्ववाहः**=अतिशय स्तुतियों को धारण करनेवाले भक्त

अश्वाः न=घोड़ों की भाँति, शक्तिशालियों के समान (घोड़ा शक्ति का प्रतीक है) **आजिम्**=इस संसार-संग्राम को—हृदय-स्थली पर चलनेवाले देवासुर-संग्राम को **जिग्युः**=जीत जाते हैं। यह संसार एक नदी के समान है जो पग-पग पर प्रलोभनों की चट्टानों से भरा पड़ा है, इसे जीतना सुगम नहीं, परन्तु प्रभु का स्तोता प्रभु से शक्ति पाकर इसे पार कर लेता है। वह प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर इस मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' (अपने में वाज=शक्ति को भरनेवाला) बनता है।

भावार्थ—स्तुति के क्रमिक तीन लाभ हैं—१. दिव्यता की प्राप्ति, २. प्रभु की समीपता ३. संसार-संग्राम में विजय।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मृत्यु से पहले ही

६९. आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः।
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम्॥ ७॥

मनुष्य की उन्नति इसी में है कि उसके कार्य हिंसाशून्य हों। यदि मनुष्य अपने जीवन को 'अ-ध्वर'=हिंसाशून्य बना लेता है तो वह उत्तमता की मर्यादा पर पहुँच जाता है, परन्तु इस उत्थान का उसे गर्व न हो जाए, अतः वेद कहता है कि **वः**=तुम्हारे **अध्वरस्य**=इस हिंसाशून्य जीवन का **राजानम्**=दीप्त करनेवाला वह प्रभु है। उस प्रभु की कृपा से ही तुम अपने जीवन को ऐसा बना पाये हो। वह प्रभु ही इन **अध्वरस्य**=यज्ञों का **रुद्रम्**=वेदवाणी द्वारा उपदेश देनेवाला है। उसने वेद में सब उत्तम कर्मों का ज्ञान दिया है। यजुर्वेद मनुष्य द्वारा किये जाने योग्य यज्ञों का वेद है।

प्रभु ने उपदेश ही दे दिया हो, इतना ही नहीं उसने उन यज्ञों को कर सकने के लिए **होतारम्**=सब आवश्यक साधनों को भी प्राप्त कराया है। वे प्रभु **रोदस्योः**=इस पृथिवी और द्युलोक के मध्य में **सत्ययजम्**=सत्य का अनुष्ठान करनेवालों का आदर करते हैं, वे सत्यनिष्ठ प्रभु के प्रिय होते हैं, परन्तु इस सत्यनिष्ठा पर पहुँचानेवाले भी वे प्रभु ही हैं। वे ही **अग्निम्**=हमें आगे ले-चलते हैं।

हमें चाहिए कि **तनयित्नोः**=विद्युत् की चमक के समान आकस्मिक रूप से आ जानेवाली **अचित्तात्**=मृत्यु से **पुरा**=पहले ही प्रभु को जानने का प्रयत्न करें। न जाने कब मृत्यु आ जाए, अतः हम यथासम्भव शीघ्र **आकृणुध्वम्**=अपने चारों ओर व्याप्त प्रभु को जानने के लिए यत्नशील हों। वे प्रभु **हिरण्यरूपम्**=ज्योतिर्मय हैं। उनका जानना ही **अवसे**=हमारे रक्षण के लिए है, अन्यथा उपनिषद् के शब्दों में आवागमन के चक्र में उलझे रहने के रूप में **महती विनष्टिः**=महान् हानि-ही-हानि है।

उस प्रभु को जानकर ही हमारा जीवन भी **राजानम्**=यज्ञों से दीप्त, **रुद्रम्**=औरों को सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाला, **होतारम्**=दानशील, **सत्ययजम्**=सत्यनिष्ठ, **अग्निम्**=उन्नतिशील व **हिरण्यरूपम्**=ज्योतिर्मय होगा और हम इन उत्तम दिव्य गुणों से सम्पन्न 'वाम'=सुन्दर 'देव' दिव्य गुणोंवाले इस मन्त्र के ऋषि 'वामदेव' बनेंगे।

भावार्थ—मृत्यु से पूर्व ही प्रभु को जानने का प्रयत्न करो। इसी में मानव-जीवन की सफलता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मुमुक्षु के लक्षण

७०. इन्धे राजा समर्यो नमोभिर्यस्य प्रतीकमाहुतं घृतेन।
नरो हव्येभिरीडते सबाध आग्निरग्रमुषसामशोचि॥ ८॥

१. **अग्निः**=अपने को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाला यह मुमुक्षु **राजा**=बड़ा नियमित जीवनवाला होता है। इसकी सभी क्रियाएँ—खाना, पीना, सोना, जागना—बड़े नियम से चलती हैं, सूर्य-चन्द्र की गति के समान समय पर होती हैं। २. **अर्यः**=यह स्वामी होता है। किनका? अपनी इन्द्रियों का। इन्द्रियों के वशीभूत होकर यह कभी कोई अकार्य नहीं करता। इन्द्रियाँ उसकी उन्नति का साधन होती हुई उसकी दास होती हैं। प्राकृतिक जीवन में उसकी क्रियाएँ नियमित होती हैं, आध्यात्मिक जीवन में संयत।

इतना उत्कृष्ट जीवनवाला होता हुआ भी वह नम्र होता है और वस्तुतः ३. **नमोभिः**=इन नम्रताओं से **समिन्धे**=और भी अधिक चमकता है। ४. यह मुमुक्षु वह है **यस्य**=जिसका **प्रतीकम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग **घृतेन**=दीप्ति से **आहुतम्**=आहुत होता है। इसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग एक विशेष प्रकार की चमकवाला होता है। उसके मन की शान्ति चेहरे पर ज्योति के रूप में प्रकट होती है।

५. अपने जीवन को इस प्रकार बनाकर यह मुमुक्षु **नरः**=औरों को आगे ले-चलनेवाला बनता है और इस लोकहित की प्रवृत्ति में ६. **हव्येभिः**=तन, मन, धन की आहुतियों से यह प्रभु की **ईडते**=उपासना करता है। इस कार्य में यह ७. **सबाधः**=बलयुक्त होता है। इस लोकहित के कार्य को यह ढिलमिलपने से न करके शक्तिशाली बनकर करता है। ८. यह अग्नि **आ-उषसाम् अग्रे**=सदा उषाकाल के अग्रभाग में—बहुत तड़के **अशोचि**=अपनी गत दिन की कमियों पर पश्चात्ताप करता है और आगे से उन्हें न दुहराने के दृढ़-निश्चय से अपने को पवित्र व दीप्त बनाता है।

इस प्रकार सब इन्द्रियों को वश में करने के कारण यह मुमुक्षु इस मन्त्र का ऋषि 'वसिष्ठ' बनता है।

भावार्थ—मुमुक्षु को नियमित व संयत जीवनवाला होकर लोकहित के द्वारा प्रभु की उपासना में निरत रहना चाहिए।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

चार बातें

७१. प्र केतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति।
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध॥ ९॥

१. **अग्निः**=अपने जीवन को गतिशील बनाकर 'अग्नि' नाम से पुकारा जानेवाला

व्यक्ति **बृहता**=सब प्रकार की वृद्धि के कारणभूत **केतुना**=नीरोगता के साथ **प्रयाति**=उत्तम प्रकार से जीवन-यात्रा में चलता है। स्वास्थ्य के बिना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष किसी भी पुरुषार्थ की प्राप्ति सम्भव नहीं, अतः यह अग्नि अपने स्वास्थ्य का पूरा ध्यान करता है। यह पथ्य का ही सेवन करता है, इसके जीवन में स्वाद को प्रधानता नहीं मिलती।

२. यह अग्नि स्वस्थ बनकर **रोदसी**=द्युलोक से पृथिवीलोक तक सभी के लिए **वृषभः**=सुखों की वर्षा करनेवाला होकर **आरोरवीति**=खूब उपदेश देता है।

३. यह अग्नि लोगों को ज्ञान देने के लिए स्वयं **दिवः**=ज्ञान के **अन्तात्**=परले सिरों को तथा **उपमाम् चित्**=समीप के सिरों को **उदानट्**=व्याप्त करता है। सरस्वती=ज्ञान की देवता जब एक नदी के रूप में चित्रित की जाती है तब सृष्टि-विद्या उसका उरला किनारा होता है और ब्रह्मविद्या परला। यह अग्नि इन दोनों किनारों को व्याप्त करने का प्रयत्न करता है। वह यह समझता है कि अलग-अलग ये दोनों विद्याएँ अन्धकार में ले-जानेवाली हैं। इनका मेल ही निःश्रेयस को सिद्ध कर सकता है।

४. इस प्रकार विज्ञान व ब्रह्मज्ञान को अपनाकर अग्नि **अपाम्**=कर्मों की **उपस्थे**=गोद में **ववर्ध**=आगे और आगे बढ़ता है। ज्ञानी बनकर यह सदा क्रियाशील होता है। यह लोकहित के लिए सदा कर्मों में लगा रहता है, अतएव **महिषः**=लोकों का पूजनीय होता है।

इस अग्नि का लक्ष्य उत्तम ज्ञान के द्वारा त्रिविध दुःखों को शीर्ण (नष्ट) करना होता है और इसी से यह इस मन्त्र का ऋषि 'त्रिशिराः' कहलाता है।

भावार्थ—'अग्नि'=प्रगतिशील जीव स्वस्थ, ज्ञानी व क्रियाशील होता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिपाद्विराड् गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अरणियों से अग्नि का दीपन

७२. अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम्।
दूरेदृशं गृहपतिमथर्व्युम्॥ १०॥

प्रभु कहते हैं कि हे **नरः**=मनुष्यो! तुम **अरण्योः**=ज्ञान और भक्ति की अरणियों की **दीधितिभिः**=दीप्तियों से **अग्निम्**=प्रगतिशील जीव का **जनयत**=विकास करो, अर्थात् ज्ञान और भक्ति का उचित समन्वय होने पर ही मनुष्य प्रगति कर सकता है। केवल ज्ञान या केवल भक्ति मनुष्य के उत्थान के लिए उसी प्रकार असमर्थ है, जैसे केवल दायाँ या केवल बायाँ पंख पक्षी के उत्पतन के लिए। हृदय व मस्तिष्क दोनों का मेल ही मनुष्य को ऊँचा उठा सकता है।

मनुष्य ज्यों-ज्यों ऊँचा उठता जाता है त्यों-त्यों वह **हस्तच्युतम्**=धन को हाथ से त्यागनेवाला बनता जाता है। धन उत्थान में विघ्न है, यात्रा में बोझ है। धन को त्यागनेवाला होकर ही यह **प्रशस्तम्**=उत्तम जीवनवाला होता है। इसके कार्य लोभशून्य होने से पवित्र होते हैं। यह इहलौकिक सुखों को ही प्रधानता न देने के कारण **दूरे दृशम्**=दूरदृष्टि होता है। केवल शारीरिक सुख इसका ध्येय नहीं बनता, आत्मिक उत्थान को यह अधिक महत्त्व देता है।

लोगों को भी सत्योपदेश द्वारा वैर-विरोध से दूर कर यह **गृहपतिम्**=उनके घरों का रक्षक होता है और इस सत्योपदेश के कार्य में **अथव्युम्**=सतत गमनशील होता है। इस प्रकार लोभादि को पूर्णरूप से वश में करके निरन्तर आगे बढ़नेवाला यह अग्नि इस मन्त्र का ऋषि 'वसिष्ठ' कहलाता है।

भावार्थ—उन्नति के लिए ज्ञान और भक्ति का समन्वय आवश्यक है।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—बुधगविष्ठिरौ॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

चार आश्रम

७३. **अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।**
यह्वाइव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सस्रते नाकमच्छ॥ १॥

प्रथम आश्रम—मानव जीवन चार आश्रमों में विभक्त है। प्रथम आश्रम में आचार्य, जोकि स्वयं अग्नि के तुल्य ज्ञान से चमक रहा है, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के पदार्थों की ज्ञानरूप समिधाओं से ब्रह्मचारी की ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में इन समिधाओं का संकेत है, अतः **समिधा**=इन लोकों की ज्ञानरूप समिधाओं से ब्रह्मचारी **अग्निः**=अग्नि के रूप में **अबोधि**=उद्बुद्ध किया जाता है।

इस मन्त्र के ऋषि 'बुध तथा गविष्ठिर' हैं। बुध का अर्थ है ज्ञानी। आचार्य को ज्ञानी व ज्ञान का समुद्र होना ही चाहिए तथा ब्रह्मचारी को गविष्ठिर=इन्द्रियों पर अधिष्ठित, इन्हें वश में रखनेवाला होना आवश्यक है तभी अग्नि का उद्बोधन सम्भव होगा।

गृहस्थ आश्रम—यह उत्तम ब्रह्मचारी समावृत होकर जीवन-यात्रा के दूसरे पड़ाव में प्रवेश करता है। यहाँ उसे **प्रति-आय-तीम् उषासम्**=प्रत्येक आनेवाले उषःकाल में **जनानाम्**=मनुष्यों की **धेनुमिव**=गाय की भाँति औरों का पालन करना है। जैसे अपने उत्तम दूध से गाय अपने बछड़े व अन्य बन्धुओं का पालन करती है, वैसे ही गृहस्थ भी अपनी सन्तान व अन्य तीनों आश्रमवालों का पालन करता है। इसी उत्तरदायित्त्व के कारण गृहस्थ को ज्येष्ठाश्रमी कहा गया है।

यहाँ धेनु से समता कितनी सुन्दर है! गृहस्थ को भी स्वयं अपनी आवश्यकताएँ यथासम्भव कम रखकर औरों का पालन करना चाहिए।

वानप्रस्थ आश्रम—गृहस्थ आश्रम महान् है, पर मनुष्य को सदा इसी में नहीं बने रहना। वेद कहता है कि **यह्वाः**=बड़े पक्षी **इव**=जैसे **वयाम्**=शाखा को **प्र उज्जिहानाः**=छोड़कर आगे बढ़नेवाले होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य को भी बड़ी अवस्था में पहुँचकर घर को छोड़कर आगे बढ़ना ही चाहिए। उसे अब वनस्थ हो **'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'** सदा स्वाध्याय में लगे रहना चाहिए।

चतुर्थ आश्रम—और फिर **भानवः**=ज्ञान-ज्योति से दीप्त सूर्य के समान ये संन्यासी **नाकम् अच्छ**=मोक्ष की ओर **प्र सस्रते**=अग्रसर होते हैं। लोकहित के लिए सूर्य के समान

अलिप्तभाव से अज्ञानान्धकार को दूर करते हुए ये संन्यासी राग-द्वेषादि सब बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं।

भावार्थ—मनुष्य को क्रमशः 'अग्नि, धेनु, यह्व व भानु' बनकर जीवन के चार पड़ावों को उत्तमता से तय करने के लिए यत्नशील होना चाहिए।

ऋषिः—**वत्सप्रीः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु की गोद में

७४. प्र भूर्जयन्तं महां विपोधां मूरैरमूरं पुरां दर्माणम्।
नयन्तं गीर्भिर्वना धियं धा हरिशमश्रुं न वर्मणा धनर्चिम्॥ २॥

प्रभु **प्रधाः**=विशेषरूप से धारण करते हैं। किसको?

१. **भूर्जयन्तम्**=प्राणों पर विजय पानेवाले को। जो सदा प्राण-साधना से आसुर वृत्तियों को पराजित करता है, वही प्रभु का प्रिय होता है।

२. **महाम्**=प्रभु का प्रिय वह होता है जो अपने हृदय को विशाल बनाता है।

३. **विपो-धाम्**=(विप इति मेधाविनाम—नि० ३.५.१४) प्रभु का प्यारा मेधा को धारण करता है। अपने विज्ञानमयकोश को धारक-ज्ञान का खज़ाना बनाता है।

४. **मूरैः अमूरम्**=यह मूर्खों के साथ मूर्ख नहीं बनता। अपने प्राणमयकोश को असुरों के आक्रमण से सुरक्षित करके यह प्रभुभक्त अपने मनोमयकोश को विशाल तथा विज्ञानमयकोश को ज्ञान से दीप्त बनाकर व्यवहार में बुद्धिमत्ता से चलता है। यह क्रोध को प्रेम से जीतने का प्रयत्न करता है।

५. **पुरां दर्माणम्**=यह तीनों पुरों का विदारण करनेवाला बनता है। वैदिक साहित्य में असुरों की तीन नगरियों का उल्लेख है—एक स्वर्ण की, दूसरी रजत की और तीसरी 'अयस्' (लोहे) की। इन्हीं तीन नगरियों का ध्वंस करके महादेव 'त्रिपुरारि' बने हैं। ये तीन नगरियाँ ही सात्त्विक, राजस्, तामस् सद्न कहे गये हैं। ये ही उत्तम, मध्यम व अधम बन्धन हैं। इन तीनों से ऊपर उठना ही तीन नगरियों का विदारण है और ऐसा करनेवाला ही प्रभु का प्रिय होता है।

६. **गीर्भिः वना धियं नयन्तम्**=स्तुतियों के द्वारा वननीय—सेवनीय बुद्धि को प्राप्त करनेवाला प्रभु का प्रिय होता है। प्रातः-सायं प्रभु के सम्पर्क में आने से मनुष्य की बुद्धि शुद्ध होती है। उस शुद्ध बुद्धि में सदा शुद्ध विचार ही उत्पन्न होते हैं।

७. **हरिशमश्रुं न**=यह प्रभुभक्त हरिशमश्रु-सा (न=सा) बन जाता है। (श्म-श्रु=श्मनि श्रितम्) इसके शरीर में श्रित=रहनेवाली प्रत्येक वस्तु—बल, भावना व ज्ञान औरों के दुःखों का हरण करनेवाली होती है। यह कभी किसी की हिंसा नहीं करता। इसका जीवन एक 'अ-ध्वर' हिंसाशून्य यज्ञ हो जाता है।

८. **वर्मणा धनर्चिम्**=यह प्रभुभक्त धन की भी अर्चना=पूजा करता है, अर्थात् धन भी कमाता है, परन्तु 'वर्मणा' उसे अपने शरीर का कवच बनाने के दृष्टिकोण से, अर्थात् जितना शरीर की आवश्यकताओं के लिए चाहिए उतना ही उसका अपने लिए विनियोग करते हुए—कभी विलास का शिकार न बनते हुए।

इन सब बातों के कारण यह प्रभु का 'वत्स'=प्रिय होता है, क्योंकि यह अपने कर्मों से

प्रभु की क्रियात्मक स्तुति का उच्चारण (वद्=बोलना) करता है और अपने उत्तम कर्मों से प्रभु को प्रीणत=प्रसन्न करता है। इस प्रकार इस मन्त्र का ऋषि 'वत्सप्रीः' होता है।

भावार्थ—मन्त्र में वर्णित बातों को जीवन में धारण करते हुए हम प्रभु से धारणीय बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दो रूप

७५. **शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद् विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि।**
विश्वा हि माया अवसि स्वधावन्भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु॥ ३॥

गत मन्त्र में प्रभु की ओर जानेवाले व्यक्ति का उल्लेख था, उसी का वर्णन इस मन्त्र में इस प्रकार करते हैं कि **ते**=तेरा **शुक्रम्**=चमकता हुआ रूप **अन्यत्**=विलक्षण है और **ते**=तेरा **यजतम्**=सबके साथ सङ्गति करनेवाला—मेलवाला रूप भी **अन्यत्**=विलक्षण है। तेरा मस्तिष्क उज्ज्वल है तथा तेरा हृदय सबके प्रति मेल की भावनावाला है। इस प्रकार तू **विषुरूपे**=विविध उत्तम रूपोंवाले **अहनी इव**=दिन और रात के समान **असि**=है। दिन उज्ज्वल है, रात्रि सबका सङ्गतीकरण करनेवाली है। रात में दिन के समय के सब वैर-विरोध व भेद-भाव समाप्त होकर सबका एकीभाव हो जाता है—उस समय न कोई लखपति है, न कोई गरीब। इसी प्रकार प्रभुभक्त का मस्तिष्क यदि दिन के समान चमकनेवाला है तो उसका हृदय रात्रि के समान सबके प्रति वैर-विरोध-शून्य व समानतावाला है। **द्यौः इव असि**=तू द्युलोक के समान है। द्युलोक प्रकाशमय है तथा सभी का निवास-स्थान है। इसी प्रकार इस प्रभुभक्त का मस्तिष्क प्रकाशमय है और इसके हृदय में सभी के लिए स्थान है।

पिछले मन्त्र में प्रभुभक्त को 'धनर्चिम्'=धन की अर्चना करनेवाला कहा गया था, अतः वह धन तो कमाता ही है पर 'वर्मणा' कवच की भाँति अत्यन्त आवश्यकता के लिए ही उसका प्रयोग करता है। **विश्वा हि मायाः**=शेष सब धनों को **अवसि**=(अव=भाग) बाँट देता है। न बाँटता तो ये धन उसे विलास में फँसाकर नाश की ओर ले-जाते। धनों को बाँटकर यह **स्वधावन्**=अपना ही धारण कर रहा होता है। हे **पूषन्**=औरों का पोषण करनेवाले! **इह**=यहाँ **ते**=तेरा यह **रातिः**=दान **भद्रा**=कल्याणकर **अस्तु**=हो, अर्थात् तू पात्रापात्र का विचार करके ही दान कर। इस प्रकार यह प्रभुभक्त धन को गौण तथा ज्ञान और प्रेम को अपने जीवन में प्रधान स्थान देता है। इसका हृदय स्वार्थ-त्याग की भावना से भरा होने के कारण यह 'भरद्वाज' है (भरद्=भरनेवाला, वाज=त्याग) इसका मस्तिष्क ज्ञान से उज्ज्वल होने के कारण यह 'बृहस्पतिपुत्र' वा बार्हस्पत्य=ज्ञानी की सन्तान कहलाता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनें, हमारे हृदय मेल की भावना से भरे हों तथा हम धनों का संविभाग करनेवाले बनें।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

हमें आपकी सुमति प्राप्त हो

७६. **इडामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।**
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे॥ ४॥

हे **अग्ने**=प्रभो! **हवमानाय**=तुझे पुकारनेवाले मेरे लिए **शश्वत्तमम्**=सनातन **इडाम्**=वेदवाणी को—जोकि मानव के लिए (इडा=इ+ला=a law) सृष्टि के आरम्भ में दिया गया विधान है, **साध**=सिद्ध कीजिए। मैं इस वेदवाणी को अच्छी प्रकार समझ सकूँ। यह वेदवाणी **पुरुदंसम्**=पूरक और पालक कर्मों का उपदेश देनेवाली है (पुरु=पृ पालनपूरणयो:, दंस:=कर्म)। 'मनुष्य को किस प्रकार अपनी न्यूनताओं को दूर करना और किस प्रकार पालक=अहिंसक कर्मों में प्रवृत्त होना' इस बात का उपदेश इस वेदवाणी में दिया गया है तथा यह वेदवाणी **गो:सनिम्**=ज्ञान की रश्मियों को देनेवाली है। प्रत्येक पदार्थ के तत्त्व का ज्ञान इसमें उपलभ्य है।

न:=हमारे **सूनु:**=पुत्र भी हमारे पदचिह्नों पर चलते हुए **तनय:**=विस्तार करनेवाले, शरीर, मन व बुद्धि को विशाल बनानेवाले, यज्ञ को विस्तृत करनेवाले, शारीरिक, आत्मिक व सामाजिक सभी प्रकार की उन्नति करनेवाले हों। वस्तुत: जिन घरों में इस वेदवाणी का अध्ययन व अनुष्ठान चलता रहेगा, वहाँ वंश उत्तम बना रहेगा। इसलिए **अग्ने**=हे प्रभो! हमारी यही आराधना है कि **सा**=वह **ते**=तेरी **सुमति:**=वेद में उपदिष्ट कल्याणी मति **अस्मे**=हममें **भूतु**=सदा बनी रहे। हम संसार की चमक से आकृष्ट होकर उस सद्बुद्धि को छोड़ न दें। धन-धान्य, स्तुति-प्रशंसाएँ व शानदार जीवनादि के प्रलोभन हमें वेदोपदिष्ट न्याय्य मार्ग से विचलित न कर दें। हम संसार-चक्र में उलझकर राग-द्वेष में न फँस जाएँ।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से हम राग-द्वेष से ऊपर उठकर सदा आपका गायन करनेवाले 'गाथिन:' व प्राणिमात्र के मित्र 'विश्वामित्र' बन पाएँगे और इस प्रकार इस मन्त्र के ऋषि 'गाथिन विश्वामित्र' होंगे।

ऋषि:—**वत्सप्री:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:**॥

कौन पूजा करता है?

७७. प्र होता जातो महान्नभोविन्नृषद्मा सीददपां विवर्ते।
दधद्यो धायी सुते वयांसि यन्ता वसूनि विधते तनूपा:॥ ५॥

प्रभु का प्यारा, प्रभु की दी हुई सुमति को धारण करनेवाला, **प्र-होता**=प्रकृष्ट होता, लोक-संरक्षण यज्ञ में अपने तन, मन व धन सभी की खूब आहुति देनेवाला **जात:**=बनता है। अपने इस लोकहित के कार्य में वह **महान्**=उदार हृदयवाला होता है—वह सभी का हित करता है। वह तो विश्वामित्र—सभी का मित्र है न? हृदय की संकीर्णता नष्ट करने के लिए ही वह **नभोवित्**=द्युलोक को, प्रकाशमय लोक को प्राप्त करनेवाला बनता है। जैसे सूर्य अपना प्रकाश सभी को प्राप्त कराता है; इसी प्रकार यह प्रभु का उपासक भी सभी का हित करता है।

ज्ञानी बनकर वह संसार को माया या मिथ्या समझकर इस संसार से भाग नहीं खड़ा होता, अपितु अज्ञानवश विविध अकार्यों में लगे हुए **नृषद्मा**=लोगों में ही यह रहता है (सद्=to sit)। यह गङ्गा तीर को नहीं अपना लेता। मनुष्यों में ही रहता हुआ **अपाम्**=कर्मों के **विवर्ते**=चक्र में **सीदत्**=रहता है। कर्म मुझे बाँध लेंगे या अमुक कर्म से मैं अमुक का अप्रिय हो जाऊँगा, ऐसी बातों को सोचकर यह कर्मों से कतराता नहीं। लोकहित के कार्यों में निरन्तर लगा रहता हुआ **य:**=यह व्यक्ति **दधत्**=जगत् को धारण करने के हेतु से ही **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में **धायी**=धारित होता है, जीता है। इसके जीवन का तथा जीवन में

कर्मशील होने का उद्देश्य लोकहित ही होता है।

लोक-संग्रह के लिए शरीर को धारण करनेवाला यह व्यक्ति **वयांसि**=अन्नों को **यन्ता**=नियमित करता है; अर्थात् शरीर-धारण के उद्देश्य से तदनुकूल अन्नों को खाता है और इस प्रकार **वसूनि यन्ता**=शरीर में उत्तम रत्नों को (रस-रुधिर आदि सप्त धातुओं व ओज को) स्थिर करता है।

शरीर की इस प्रकार रक्षा करनेवाला यह **तनूपाः**=शरीर-रक्षक **विधते**=प्रभु की उपासना करता है। प्रभु के दिये हुए शरीर का ठीक उपयोग करना प्रभु का आदर करना है। स्वादवश अनावश्यक भोजनों से शरीर को रोगी बना लेना प्रभु का निरादर है, क्योंकि हम प्रभु की दी हुई वस्तु का ठीक उपयोग नहीं कर रहे।

यदि हम प्रभु से दिये शरीर का ठीक रक्षण व उपयोग करेंगे तो प्रभु के प्रिय=वत्स होंगे और अपने इस कार्य से प्रभु को प्रसन्न करनेवाले 'प्री' बनेंगे। यह 'वत्सप्रीः' ही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—शरीर का उचित रक्षण व लोकहित के लिए विनियोग ही प्रभु की सच्ची उपासना है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

क्या चाहें?

७८. **प्र सम्राजमसुरस्य प्रशस्तं पुंसः कृष्टीनामनुमाद्यस्य।**
इन्द्रस्येव प्र तवसस्कृतानि वन्दद्वारा वन्दमाना विवष्टु॥ ६ ॥

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ=मन व इन्द्रियों को पूर्णरूप से वश में करनेवाला (वशिनां श्रेष्ठः) अथवा सर्वोत्तम ढङ्ग से इस शरीररूपी नगरी में रहनेवाला (वसूनां श्रेष्ठः) **प्र विवष्टु**=विशेषरूप से खूब कामना करे। कामना से रहित जीवन जड़ जीवन है, परन्तु काम में फँस जाना ठीक नहीं। **'कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता'**। वेदादि सच्छास्त्रों का पढ़ना तथा सारा वैदिक कर्मयोग भी कामना होने पर ही होता है। **'काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः'**। वसिष्ठ ने कामशून्य होना तो नहीं माना है, परन्तु प्रश्न यह है कि 'वह किन-किन वस्तुओं की कामना करे?'

असुरस्य सम्राजम्=प्राणशक्ति के पुञ्ज व प्रज्ञान-धन से सम्यक् शासित जीवन को (सम्=well राजम्=regulated) चाहे। असु शब्द प्राण व प्रज्ञा का वाचक है। 'र' प्रत्यय 'वाला' अर्थ में आता है। आदर्श मनुष्य वही है जो प्राणशक्ति व ज्ञान से सम्पन्न है—Body of an athlete and the soul of a sage. वसिष्ठ की दूसरी कामना हो कि—

प्रशस्तं पुंसः=उदार मनवाले पुरुष की भाँति मेरा प्रत्येक कर्म प्रशस्त हो (पुमान् पुरुमना भवति—नि० २.१५)। अनुदारता व संकुचितता के कारण ही अपवित्रता आया करती है। जो उदार मनवाला पुरुष है, वह **कृष्टीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों की **अनुमाद्यस्य**=प्रसन्नता में प्रसन्न होनेवाला है (अनु=पीछे, मदी हर्षे) दूसरों के उत्कर्ष को देखकर जलना अपवित्र व संकुचित हृदय का चिह्न है। इस वसिष्ठ की तीसरी कामना यह हो कि—

प्र तवसः=प्रबल शक्तिवाले **इन्द्रस्य इव**=इन्द्र की भाँति मेरे **कृतानि**=उत्तम कर्म **वन्दमाना**=

(वन्द्यमानानि) वन्दना व स्तुति के योग्य हों। निर्बलता मूलक कोई भी कर्म शुभ नहीं हो सकता। 'तवस' शब्द शक्ति व उत्तमता का वाचक होते हुए इस भावना को ही सूचित कर रहा है। कायरता कभी धर्म की जननी नहीं हो सकती। वैदिक साहित्य में बल के सब कर्म इन्द्र के हैं, अतः वसिष्ठ के कर्म भी शक्तिशाली इन्द्र के कर्मों की भाँति होते हैं।

परन्तु ये तीन बातें १. कार्यों में नियमितता (regularity), २. हृदय में उदारता व ३. शक्तिसम्पन्नता आएँगी किस प्रकार इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—

वन्दद्वारा=वन्दना के द्वारा। प्रातः-सायं प्रभु की स्तुति से ही वसिष्ठ का जीवन उल्लिखित ढङ्ग का बन सकता है।

भावार्थ—हमारे कार्यों में नियमितता, उदारता व शक्तिसम्पन्नता का प्रकाश (आभास) हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दो अरणियोंवाला उपासक

७९. **अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भइवेत् सुभृतो गर्भिणीभिः।**
दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥७॥

वह **जातवेदाः**=प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान प्रभु **अरण्योः**=ज्ञान व भक्तिरूप अरणियों में (ऋ गतिप्रापणयोः=प्रभु की ओर ले-जानेवाले और उसे प्राप्त करानेवाले ज्ञान और भक्ति ही यहाँ अरणियाँ हैं।) **निहितः**=रक्खा हुआ है। जैसे सुप्तावस्था में विद्यमान अग्नि अरणियों की रगड़ होने पर ही दीप्त होता है, इसी प्रकार सर्वत्र वर्तमान प्रभु ज्ञान और भक्ति की रगड़ से ही दीखते हैं। वे प्रभु **गर्भिणीभिः**=गर्भिणी माता से **सुभृतः**=उत्तम प्रकार से पोषित **गर्भः इव इत्**=गर्भ की भाँति ही है। गर्भ जैसे माता के ही रस, रुधिरादि से पोषित होता है, किसी बाह्य वस्तु से नहीं, उसी प्रकार प्रभु का दर्शन भी आन्तर ज्ञान व भक्ति के विकास से ही होता है, प्रवचन आदि से नहीं।

इस **अग्निः**=प्रभु की **दिवे-दिवे**=प्रतिदिन **ईड्यः**=उपासना करनी चाहिए। यह प्रभु शक्ति का स्रोत है, उसकी उपासना हममें शक्ति का सञ्चार करेगी। उसकी उपासना होती है **जागृवद्भिः**=जागनेवालों से **हविष्मद्भिः**=हविरूप बननेवालों से तथा **मनुष्येभिः**=विचारशीलों से। जो प्रभु के उपासक हैं वे सदा जागते हैं, क्योंकि **'भूत्यै जागरणम्'**=जागना कल्याण के लिए है, **'अभूत्यै स्वप्नम्'**=सोना अकल्याण के लिए है। जागरूक होकर जीवन को त्यागमय व हविरूप बनाना ही ठीक है। जो मननशील होकर सब पदार्थों में ओत-प्रोत प्रभु को देखेगा वह **'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'**=एकत्व को देखनेवाला राग-द्वेष से ऊपर उठकर सबको स्नेह की दृष्टि से देखनेवाला इस मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' होगा।

भावार्थ—ज्ञान और भक्ति के विकास से हम प्रभु का दर्शन करें। जागनेवाले (प्रमादरहित), त्यागशील व मननशील बनें।

ऋषिः—**पायुः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

राक्षसों का समूल-दहन

८०. **सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।**
अनु दह सहमूरान् कयादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥८॥

हे **अग्ने**=प्रभो! आप हृदयान्तरिक्ष में ज्ञान व भक्ति की अरणियों से जगाये जाकर **सनात्**=सदा से **यातुधानान्**=पीड़ित करनेवाली राक्षसी वृत्तियों को (यातूनि यातनाः पीडा धीयन्ते अस्मिन्) **मृणसि**=कुचलते हो। जीव की अपनी शक्ति नहीं कि वह इन अशुभ वृत्तियों को नष्ट कर सके। इनका विनाश तो 'नर' के हित के लिए 'नारायण' ही करेंगे।

प्रभो! **त्वा**=आपको **पृतनासु**=मनुष्यों के हृदयों में चल रहे देवासुर संग्रामों में **रक्षांसि**=(र+क्ष) रमण के द्वारा क्षय की ओर ले-जानेवाली ये अशुभ वृत्तियाँ **न जिग्युः**=पराजित नहीं कर सकतीं (पृतना=battle, encounter, fight)। जीव अकेला इन अशुभ वृत्तियों से हार जाता है, परन्तु जब वह प्रभु को अपने रथ पर बैठा लेता है तब वे वृत्तियाँ प्रभु को थोड़े ही हरा सकती हैं, परिणामतः जीव उनका शिकार होने से बच जाता है।

हे प्रभो! आप इन **क्रयादः**=(क्रव्यादः) मनुष्य का मांस ही खा जानेवाली अशुभ वृत्तियों को **सह मूरान्**=जड़ समेत, अर्थात् इनके उत्पत्तिकारणों के साथ **अनुदह**=क्रम से जला दीजिए। जब जीव प्रभु को अपना साथी बनाता है तब वे जीव के हित के लिए इन अशुभ वृत्तियों का 'समूल दहन' कर देते हैं। कामादि के ध्वंस के साथ उनके उत्पत्तिकारणों को भी प्रभु-स्मरण समाप्त कर देता है। हे प्रभो! **ते**=आपके **दैव्यायाः**=अलौकिक प्रकाशमय **हेत्याः**=हनन-साधन से कोई भी अशुभ वृत्ति **मा**=मत **मुक्षत**=छूटे। इन अशुभ वृत्तियों को नष्ट करनेवाला शस्त्र प्रकाश व ज्ञान ही है। ज्ञानाग्नि ही इन अशुभ वृत्तियों का दहन किया करती है।

हम सब प्रभु-दर्शनरूप ज्ञानाग्नि को अपने अन्दर प्रज्वलित करके ही इन अशुभ वृत्तियों से अपनी रक्षा कर सकते हैं। ऐसा करने पर हम इस मन्त्र के ऋषि 'पायुः'='रक्षा करनेवाले' कहलाएँगे।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण राक्षसी वृत्तियों का समूल दहन कर देता है।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—**गय आत्रेयः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

महान् त्याग की तैयारी

८१. **अग्न ओजिष्ठमा भर द्युम्नमस्मभ्यमध्रिगो।**
प्र नो राये पनीयसे रत्सि वाजाय पन्थाम्॥ १॥

इस मन्त्र में प्रभु को **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले तथा **अध्रिगो**=अधृतगमन=अप्रतिहत गतिवाले—इन दो शब्दों से सम्बोधित किया गया है। ये सम्बोधन उपासक को यही प्रेरणा दे रहे हैं कि तुझे आगे बढ़ना है, थककर इस अग्रगति में रुक नहीं जाना है। यह जीवन यात्रा ही तो है, और इस यात्रा में रुक गये तो यह अधूरी ही रह जाएगी।

इस यात्रा के प्रथम प्रयाण में हम प्रभु से याचना करते हैं कि **अस्मभ्यम्**=हमें **द्युम्नम्**=प्रकाशशील ज्ञानरूप धन **आभर**=प्राप्त कराइए, परन्तु वह ज्ञानरूप धन **ओजिष्ठम्**=हमें ओजस्वी व शक्तिशाली बनानेवाला हो। ज्ञान प्राप्त करके हम सुकोमल शरीर (delicate) न बन जाएँ, क्योंकि जीवन के अगले प्रयाण में यह शारीरिक श्रम की वृत्ति ही हमें अशुभ

मार्गों से धन कमाने से बचाएगी।

दूसरे प्रयाण के लिए प्रार्थना ही यह है कि **नः**=हमें **पनीयसे**=(पन=स्तुतौ) स्तुत्य **राये**=धन के लिए ले-चलिए, अर्थात् हम गृहस्थ बनकर प्रशंसा के योग्य मार्गों से धन कमाएँ। गृहस्थ में धन की आवश्यकता तो है ही—गृहस्थ को अपना ही नहीं अन्य तीनों आश्रमियों का भी पालन करना है। इस धन को वह उत्तम मार्ग से संचित करे। सबसे उत्तम मार्ग 'श्रम' ही है। **"अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व"**='पासों से जुआ मत खेल, खेती ही कर' यह वेदवाक्य श्रमसाध्य धन की उत्तमता का संकेत कर रहा है। हमारा ज्ञान ओजिष्ठ होगा तो हम सदा श्रमशील बने रहेंगे और तब हमारी टेढ़े-मेढ़े साधनों से धन कमाने की वृत्ति न होगी।

तीसरे प्रयाण में हम प्रभु से आराधना करते हैं कि **वाजाय**=(वाज=a sacrifice) त्याग के लिए **पन्थाम्**=मार्ग को **प्र-रंसि**=विशेषरूप से तैयार कर दीजिए (रद्=to chalk out)। गृहस्थ गृह को त्यागकर वनस्थ होता है। यह वानप्रस्थाश्रम त्याग का आश्रम है और इसके बाद संन्यास कुटिया व आश्रमादि को छोड़कर सर्वत्र विचरते हुए लोकहित में लगे रहने से 'महान् त्याग' का आश्रम है। इसी के लिए तो हमने इस रूप में तैयारी की थी कि शक्तिशाली ज्ञान प्राप्त किया और सदा स्तुत्य धन को अपनाकर धन के प्रति अपनी आसक्ति को बढ़ने नहीं दिया। आसक्ति तो हमें त्याग और महान् त्याग के अयोग्य बना देती।

'ओजिष्ठ द्युम्न' नींव है, 'स्तुत्य धन' उसपर खड़ी दीवारें हैं और त्याग व महान् त्याग इस 'मानव भवन' की छत हैं। प्रभुकृपा से हम इस सुन्दर भवन का निर्माण करनेवाले इस मन्त्र के ऋषि 'गय'=उत्तम गृहवाले बनें। (गयम् अस्यास्ति इति गयः)

भावार्थ—अपनी जीवन-यात्रा के चार पड़ावों में हमें शक्तिशाली ज्ञानवाला, स्तुत्य धन कमानेवाला, त्यागी व महान् त्यागी बनना है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

एक वीर का अखण्ड यज्ञ

८२. **यदि वीरो अनु ष्यादग्निमिन्धीत मर्त्यः ।**
आजुह्वद्धव्यमानुषक् शर्म भक्षीत दैव्यम् ॥ २ ॥

यदि=यदि **वीरः**=विशेषरूप से शत्रुओं को कम्पित करनेवाला (वि+ईर) **अनुष्यात्**=होना चाहे (प्रार्थना में लिङ्लकार है) तो **मर्त्यः**=शत्रुओं से लड़ाई में जिसके मर जाने की सम्भावना है वह मनुष्य **अग्निम्**=शत्रुओं को जला डालनेवाले प्रभु को **इन्धीत**=अपने हृदय में, जहाँ काम-क्रोधादि शत्रुओं से युद्ध चल रहा है, दीप्त करे (इन्ध=दीप्त करना)। 'यदि' शब्द हमारे कर्म-स्वातन्त्र्य की सूचना दे रहा है, हमारी इच्छा पर निर्भर है कि हम प्रभु को याद करें या न करें। 'मर्त्य' शब्द स्पष्ट कर रहा है कि इन शत्रुओं को हम युद्ध में हरा न सकेंगे। 'अग्नि' शब्द स्पष्ट संकेत कर रहा है कि इन शत्रुओं को वे अग्निरूप प्रभु ही जलाएँगे। इन्हें भस्मसात् करना मानवशक्ति से परे है। हमें प्रभु को हृदय में दीप्त करना है—हृदय में बैठाना है न कि बाहर मन्दिर के मण्डप में। युद्धस्थली हृदय है—प्रभु का वहीं उपस्थित होना आवश्यक है।

अब यदि हम प्रभु की सहायता से वीर बनकर शत्रुओं को कम्पित कर परे भगा देंगे तो हम कामादि से ऊपर उठकर अपने जीवन को **हव्यः**=हविरूप बना सकेंगे—लोकहित के लिए न्यौछावर कर सकेंगे और **आनुषक्**=निरन्तर—जीवन के सौ-के-सौ वर्ष **हव्यम्**=पवित्र हविमय जीवन की **आजुह्वत्**=प्राजापत्य यज्ञ में आहुति देते हुए हम **दैव्यम्**=अलौकिक प्रभु की प्राप्तिरूप **शर्म**=दुःख-संयोग के वियोगरूप शुद्ध सुख (आनन्द) को **भक्षीत**=अनुभव करेंगे। सेवा में जो आनन्द है वह भोग के आनन्दों से अनन्तगुणा उत्तम है। प्राकृतिक सुखों में दुःख का मिश्रण है। यह प्रभु-प्राप्ति का आनन्द ही सब दुःखों को समाप्त कर शुद्ध आनन्द का अनुभव कराता है। यह जीवन को हव्य बना देने से ही मिलेगा। उस समय हमारा जीवन निर्दोष ही नहीं सुन्दर व दिव्य गुणोंवाला होगा। हम इस मन्त्र के ऋषि वामदेव होंगे।

भावार्थ—हम वीर बनकर जीवन को हविरूप बनाएँ और दिव्य सुख—मोक्ष के अधिकारी हों।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

यदि प्रभु को हृदय में बैठाएँगे तो—

८३. **त्वेषस्ते धूम ऋण्वति दिवि संच्छुक्र आततः।**
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे॥ ३॥

पिछले मन्त्र में कहा था कि मनुष्य वीर बनने के लिए उस अग्निरूप प्रभु को हृदय में दीप्त करने का प्रयत्न करे। यदि ऐसा करेंगे तो **दिवि**=उस चमकते हुए हृदयाकाश में हे प्रभो! **ते**=तेरा **त्वेषः**=प्रकाश—दीप्ति **ऋण्वति**=काम-क्रोधादि वासनाओं पर आक्रमण करता है। (ऋ=to attack) और इस प्रकार वह प्रकाश **धूमः**=इन हमारे आन्तर शत्रुओं को कम्पित करनेवाला होता है (धूञ् कम्पने)।

यह प्रकाश कैसा है? १. **सन्**='सत्' उत्तम सात्त्विक है; तामस् होकर यह औरों के संहार के लिए विनियुक्त नहीं होता; राजस् होकर इसका उद्देश्य 'धन का संग्रहमात्र' नहीं हो जाता। यह तो सात्त्विक है, अतः प्राणिमात्र में आत्मतत्त्व की अनुभूति कराता है। २. **शुक्रः**=यह ज्ञान हमें गतिशील बनाता है (शुक् गतौ)। सभी प्राणियों में आत्मानुभूति होने पर सभी के दुःखों को हम अपना दुःख समझते हुए उन्हें दूर करने के लिए प्रवृत्त होते हैं और अधिक-से-अधिक क्रियाशील होते हैं। ब्रह्मज्ञानी क्रियाशील होता ही है—**'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'**। ३. **आततः**=यह प्रकाश सब ओर विस्तारवाला होता है (आ+तन्+त) इस ज्ञान से उपासक का हृदय विशाल बनता है, वह सभी का हित करता है। वह सर्वत्र एकत्व देखता है और सर्व-भूत-हित में प्रवृत्त रहता है।

इस उपासक के जीवन में अब एक ज्योति (द्युत्) और शक्ति (कृप्=सामर्थ्य) आ जाती है, परन्तु यह ज्योति व शक्ति उसकी अपनी थोड़े ही है? उसे इसका गर्व क्यों करना? मन्त्र कहता है कि **सूरो न**=सूर्य के समान (न=इव) **हि**=निश्चय से **पावक**=हे पवित्र करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप ही तो **द्युता**=ज्योति से और **कृपा**=सामर्थ्य से, शक्ति से **रोचसे**=चमकते हैं। वस्तुतः यह ज्योति और शक्ति प्रभु को हृदय में प्रतिष्ठित करने का ही परिणाम है। सूर्य में चमक है, शक्ति है, वह पवित्र करनेवाला है—उपासक के हृदय का सूर्य यह प्रभु भी

चमकता है, शक्ति देता है और पवित्र करनेवाला है।

इस 'द्युति' को प्राप्त करके उपासक बृहस्पति के समान ज्ञान से चमकता है, 'बार्हस्पत्य' बनता है और शक्ति को प्राप्त करके वह इस मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' अपने में शक्ति को भरनेवाला बनता है।

भावार्थ–प्रभु को अपने हृदयों में आसीन करके हम ज्योति व शक्ति से सम्पन्न होकर पावक=पवित्र व पवित्र करनेवाले बन जाएँ।

ऋषिः–**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः**॥ देवता–**अग्निः**॥ छन्दः–**अनुष्टुप्**॥ स्वरः–**गान्धारः**॥

प्राण, ज्ञान व पोषण

८४. **त्वं हि क्षैतवद्यशोऽग्ने मित्रो न पत्यसे। त्वं विचर्षणे श्रवो वसो पुष्टिं न पुष्यसि॥ ४॥**

हे **अग्ने**=हमारी उन्नति के साधनभूत प्रभो! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **क्षैतवत्**=निवास और गतिवाले (क्षि=निवासगत्योः, मत्=वाला) **यशः**=प्राणों के **पत्यसे**=स्वामी हैं **न**=जैसेकि **मित्रः**=सूर्य। जिस प्रकार सूर्य प्राणशक्ति का स्रोत है, उसी प्रकार आप उस सम्पूर्ण प्राणशक्ति के प्रथम स्रोत हैं, जो हमारे शरीर में निवास और गति का साधन होती है। हमारे हृदयों में प्रभु का निवास होने पर सूर्य की भाँति हमें जीवन प्राप्त होता है और शक्तिसम्पन्न होकर हम क्रियाशील बने रहते हैं। हे **विचर्षणे**=सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ प्रभो! **त्वम्**=आप हममें **श्रवः**=ज्ञान का **पुष्यसि**=पोषण करते हैं। प्रभु का हमारे हृदयों में निवास होगा तभी हमें प्रातिभिक (Intuitive) ज्ञान प्राप्त होगा। प्रभु को हृदय में बैठाने का तीसरा लाभ यह होगा कि **वसो**=हे बसानेवाले प्रभो! आप हमें **पुष्टिं न**=(न=च के अर्थ में है) पोषण भी **पुष्यसि**=प्राप्त कराते हो। प्रभु का हृदय में निवास होने पर हमें पोषण व दृढ़ता प्राप्त होती है जो हमारे जीवन के विकास का मूल बनती है, जो हमें विघ्नों से, असफलताओं से व्याकुल नहीं होने देती।

इस प्रकार हृदय में प्रभु का निवास होने पर हम प्राणशक्ति व दृढ़ता प्राप्त करके इस मन्त्र के ऋषि 'भरद्वाज' होते हैं तथा ज्ञान-सम्पन्न बनकर 'बार्हस्पत्य' होते हैं।

भावार्थ–हृदय में प्रभु का निवास होगा तो हम प्राण, ज्ञान व पोषण को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः–**मृक्तवाहा द्वितः**॥ देवता–**अग्निः**॥ छन्दः–**अनुष्टुप्**॥ स्वरः–गान्धारः॥

बुझे दीपक को फिर-फिर जगाना

८५. **प्रातरग्निः पुरुप्रियो विश स्तवेतातिथिः। विश्वे यस्मिन्नमर्त्ये हव्यं मर्तास इन्धते॥ ५॥**

विशः=हे संसार में प्रविष्ट मनुष्यो! **प्रातः**=प्रातःकाल **स्तवेत**=उस प्रभु की स्तुति करो जो **अग्निः**=आगे ले-चलनेवाला है, **पुरुप्रियः**=पालन, पूरण (पृ पालनपूरणयोः) और तृप्त करनेवाला है (प्रीञ् तर्पणे) तथा **अतिथिः**=जीवों के हित के लिए निरन्तर गतिशील है। यह प्रातःकाल ही अपने में भावनाओं को भरने का समय है (प्रा पूरणे)।

उल्लिखित शब्दों में प्रभु-उपासना के निम्न लाभ दर्शाये गये हैं–(क) यदि हम प्रभु की उपासना करेंगे तो आगे बढ़ेंगे, धर्म के मार्ग पर हमारी प्रगति होगी, (ख) उस प्रभु को अपना पालन करनेवाला अनुभव करने के कारण हमारा जीवन निर्भीक होगा, व्याकुलता से शून्य होगा, (ग) हम अपने जीवन की न्यूनताओं को दूर कर प्रतिदिन जीवन का पूरण

करनेवाले होंगे तथा (घ) हम एक तृप्ति का अनुभव करेंगे जो किन्हीं भी सांसारिक पदार्थों से नहीं मिल सकती।

मन्त्र के उत्तरार्ध में कहते हैं कि उस प्रभु का स्मरण करो **यस्मिन्**=जिस **अमर्त्ये**=न मरनेवाले, न बुझनेवाले ज्ञान-दीपक में **विश्वे**=सब **मर्तासः**=बारम्बार मरनेवाले, बुझे ज्ञान-दीपकवाले मनुष्य **हव्यम्**=कान्त बनाये जाने के योग्य मन को (हु प्रीणनार्थः प्रीञ्=कान्ति) **समिन्धते**=अच्छी प्रकार दीप्त करते हैं। एवं, प्रभु-स्मरण का यह भी लाभ हुआ कि हमारा ज्ञानदीपक फिर प्रज्वलित हो उठता है। उसके प्रकाश में हमारे शरीररूप रथ के इन्द्रियरूप घोड़े ठीक मार्ग पर चलते हैं, वे भटककर पापपङ्क में नहीं गिरते और हम मृक्त=शुद्ध वाहा:-घोड़ोंवाले बनकर इस मन्त्र के ऋषि 'मृक्तवाहा' बनते हैं तथा तमोगुण और रजोगुण से ऊपर उठकर सदा सत्त्वगुण में अवस्थित होने के कारण 'द्वित'=दो को, तम और रज को, तैर जानेवाले होते हैं। हमारे सामने प्रकाश-ही-प्रकाश, सत्त्व-ही-सत्त्व होता है। इस मार्ग से जानेपर ही यह बारम्बार संसार में प्रवेश का क्रम समाप्त हो सकता है।

भावार्थ—प्रभु-प्रार्थना से जीवन उन्नत, अव्याकुल, पूर्णतावाला, कृतज्ञतामय तथा प्रकाश से दीप्त बनता है।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

वैदिक समाजवाद

८६. यद्वाहिष्ठं तदग्नये बृहदर्च विभावसो। महिषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजा उदीरते॥ ६॥

पिछले मन्त्र में प्रातःवेला में प्रभु की आराधना का उल्लेख था। इस मन्त्र में कहते हैं कि हे **विभावसो**=ज्ञान को ही धन समझनेवाले जीव! तू **यत्**=जो **वाहिष्ठम्**=अत्यन्त चञ्चल मन है (मनो जगाम दूरकम्) **तत्**=उसे **अग्नये**=प्रभु के लिए अर्पित कर, तभी इसका भटकना समाप्त होगा। सान्त वस्तुओं में इसकी स्थिरता सम्भव नहीं—यह अनन्त प्रभु में ही स्थिर हो सकेगा। तू अपने मन को **बृहत्**=विशाल बना। तेरे मन में सभी प्राणियों के लिए स्थान हो। तेरे लिए सारी वसुधा एक कुटुम्ब हो जाए। इस प्रकार तू **अर्च**=उस प्रभु की सच्ची आराधना कर। आत्मौपम्येन सब प्राणियों को देखना ही प्रभु का सच्चा आराधन है। सांसारिक सम्पत्ति-सोने-चाँदी को धन समझने के स्थान पर ज्ञान को वास्तविक धन समझने पर मनुष्य का हृदय विशाल बनता है और **महिषी इव**=गृहपत्नी के समान **त्वत्**=उस उपासक से **रयिः**=धन तथा **त्वत्**=उसी उपासक से **वाजाः**=अन्न **उदीरते**=उद्गत होते हैं, अर्थात् जिन्हें आवश्यकता होती है उन तक पहुँचते हैं। एक घर में गृहपत्नी स्वप्न में भी यह कभी नहीं सोचती कि ये बच्चे कमाते तो हैं नहीं, इन्हें खाने को क्यों दिया जाए? वहाँ तो एक ही सिद्धान्त काम करता है कि जो-जो कुछ कर सकता है वह उससे कराया जाए और जो जिसे चाहिए वह उसे दिया जाए। यही समाजवाद का सिद्धान्त है और वेद के अनुसार प्रभु के उपासक अपने जीवन में इसी सिद्धान्त को अपनाते हैं। वे अपनी कमाई के धन व अन्न को पात्रों के लिए प्राप्त कराते हैं। प्रभु भी इनको योग्य न्यासी trustee समझकर खूब धन व अन्न देता है और ये व्यक्ति इस मन्त्र के ऋषि 'वसूयवः'=वसु को प्राप्त करनेवाले बनते हैं (वसु+या+कु)।

भावार्थ—हम मन को प्रभु में स्थिर करें। मन को विशाल बनाना ही प्रभु-पूजन है।

गृहपत्नी के समान हम धनों व अन्नों के विभाजक बनें।

ऋषिः—**गोपवन आत्रेयः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

अर्थभावनपूर्वक जप

८७. **विशोविशो वो अतिथिं वाजयन्तः पुरुप्रियम्।**
अग्निं वो दुर्यं वचः स्तुषे शूषस्य मन्मभिः॥ ७॥

वः=तुममें **विशः विशः**=प्रत्येक प्रजाको **अतिथिम्**=निरन्तर प्राप्त होनेवाले, दुःख के समय सदा सहायक होनेवाले **पुरुप्रियम्**=सबके पालक, पूरक तथा तृप्त करनेवाले **अग्निम्**=अग्रस्थान पर पहुँचानेवाले, **शूषस्य**=बल व सुख के **दुर्यम्**=धाम उस प्रभु को **वः**=तुममें से **वाजयन्तः**=शक्ति को चाहते हुए या अर्चना करते हुए लोग **मन्मभिः**=मनन के साथ **वचः**=वचन **स्तुषे**=कहते हैं।

वह प्रभु सुख में विस्मृत हो जाए, पर दुःख में तो मनुष्य को उसका स्मरण होता ही है और वस्तुतः दुःख में जब कोई भी दूसरा सहायक नहीं होता उस समय वे प्रभु ही हमारे कष्टों का निवारण करते हैं। वे प्रत्येक के अतिथि हैं, निरन्तर उसे प्राप्त होनेवाले हैं। वे पुरु हैं—पालन व पूरण करनेवाले हैं। सबके रक्षक हैं और सबकी कमियों को सदा दूर किया करते हैं। इस प्रकार **प्रियम्**=तृप्त करनेवाले हैं। सब प्रकार से हमारी कमियों को दूर कर वे हमें आगे ले-चलते हैं और उन्नत कराते-कराते हमें 'परागति'=मोक्ष को भी प्राप्त कराते हैं।

वे प्रभु सुख व शक्ति के धाम हैं। 'शूष' शब्द शक्ति व सुख दोनों का वाचक है। इस शब्द की मूल धातु शूष=उत्पन्न करने के अर्थ में आती है। वास्तव में सुख उत्पन्न करने व निर्माण में ही है और शक्ति भी वही है जो उत्पादक हो।

इस मन्त्र में वर्णित गुणों में प्रीति होने पर इस स्तोता की इन्द्रियाँ विषय-वासनाओं की ओर जाती ही नहीं। वह दुःखियों का सहायक बनता है, अनाथों का पालन करता है, अपनी कमियों को दूर करने का प्रयत्न करता है, सभी का प्रिय होता है, आगे-आगे पग रखता है और निर्माण के कार्यों में आनन्द का अनुभव करता हुआ अपनी शक्ति को बढ़ाता है—यही उसकी आराधना होती है। एवं, इसकी इन्द्रियाँ विषय-पंक में लिप्त नहीं होती और यह पवित्र इन्द्रियोंवाला बनकर इस मन्त्र का ऋषि गो-पवन होता है। काम, क्रोध, लोभरूप तीनों नरक-द्वारों से दूर होने के कारण 'अत्रि-पुत्र' कहलाता है (नहीं हैं तीनों जिसमें)। परिणामतः 'आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक' इन तीनों कष्टों से भी यह बचा रहता है। इसलिए भी यह 'अ-त्रि' है।

भावार्थ—हम सदा विचारपूर्वक प्रभु के नामों से उसका स्तवन करें, हमें उन गुणों में प्रीति हो। '**तज्जपस्तदर्थभावनम्**'=प्रभु का जप और अर्थ का चिन्तन हमें भी उत्तम बनने की प्रेरणा दे।

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

जीवन ज्ञान के लिए

८८. **बृहद् वयो हि भानवेऽर्चा देवायाग्नये। यं मित्रं न प्रशस्तये मर्तासो दधिरे पुरः॥ ८॥**

इस मन्त्र के ऋषि 'पुरु' हैं—अपना पालन व पूरण करनेवाले, आसुर वृत्तियों से अपनी रक्षा करनेवाले और अपनी न्यूनताओं को दूर करनेवाले। वे अपने समान उपासकों को प्रेरणा देते हैं कि **बृहद् वयः**=इस बड़े जीवन को, वृद्धिशील व विस्तृत जीवन को **हि**=निश्चय से **भानवे**=दीप्ति के लिए अर्पित करो, अपना समय ज्ञान-प्राप्ति में लगाओ। यही वास्तव में ज्ञानी-भक्त बनने का प्रकार है। ज्ञान-प्राप्ति में जीवन को अर्पित करके उस **देवाय**=ज्ञान की ज्योति से जगमग, द्योतमान **अग्नये**=सबसे अग्रस्थान में स्थित परमेष्ठी प्रभु के लिए **अर्च**=उपासना कर। प्रभु की उपासना का प्रकार प्रभु-जैसा बनना ही है। प्रभु ज्ञानमय, ज्ञान के पुञ्ज, शुद्ध और चिद्रूप हैं, जीव भी ज्ञान-यज्ञ से प्रभु की अर्चना कर पाता है।

किस प्रभु की अर्चना करनी है? इस प्रश्न का उत्तर इन शब्दों में है कि **यम्**=जिस प्रभु को **मर्तासः**=संग्राम में बारम्बार मरनेवाले पुरुष **मित्रं न**=मित्र के समान **पुरः**=सामने **दधिरे**=स्थापित करते हैं। इस संसार में मानवमात्र का आसुर वृत्तियों से एक संघर्ष चल रहा है। उस संघर्ष में मनुष्य स्वयं जीत नहीं पाता। जीतने की तो बात ही क्या, यह तो बार-बार मृत्यु का शिकार होता है। अन्त में यह अनुभवी और ज्ञानी बनकर इस प्रभु को सामने करता है। ये प्रभु **मि-त्र**=प्रमिति=मृत्यु से उसकी रक्षा करते हैं। ऐसा होनेपर मनुष्य आसुर वृत्तियों का शिकार होने से बच जाता है और उसका जीवन **प्रशस्तये**=उत्तमता के लिए होता है। अपने जीवनों को उत्तम बनाने का साधन यही है कि हम प्रभु को सदा अपने सामने रक्खें। वे प्रभु हमारी ढाल हैं, जो हमें सब आक्रमणों से सुरक्षित कर देते हैं। उस समय हमपर 'काम, क्रोध, लोभ' तीनों ही आक्रमण करने में विफल होते हैं और हम 'आत्रेय' इन तीनों से रहित होते हैं (अविद्यमानास्त्रयो यस्य)।

भावार्थ—हमारा जीवन ज्ञान-यज्ञ के लिए अर्पित हो तथा प्रभुरूपी ढाल हमें कामादि के वार से सुरक्षित करे।

ऋषिः—**गोपवन आत्रेयः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

श्रुतर्वा और आक्ष्य

१ २ ३१ २ ३ १ २ ३ १ २र १ २ ३१२ ३ २ ३१२ ३ १२
८९. अगन्म वृत्रहन्तमं ज्येष्ठमग्निमानवम्। यः स्म श्रुतर्वन्नाक्षे बृहदनीक इध्यते॥ ९॥

इन्द्रियों को पवित्र करनेवाला इस मन्त्र का ऋषि 'गोपवन' अपने मित्रों के साथ निश्चय करता है कि हम **अगन्म**=प्राप्त होते हैं, उस प्रभु को जोकि **वृत्रहन्तमम्**=ज्ञान को आवृत करनेवाले 'वृत्र' नामक काम का बुरी तरह से नाश करनेवाला है। मनुष्य जब प्रभु को अपनी ढाल बनाता है और उसे इन शत्रुओं के सामने करता है तब ये शत्रु नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।

वे प्रभु **ज्येष्ठम्**=स्वयं प्रशस्यतम हैं, उनमें किसी प्रकार के पाप का अंश नहीं है। स्वयं प्रशस्य होते हुए वे **अग्निम्**=हमें आगे ले-चलनेवाले हैं। वे सदा अपने मित्र जीव के उत्थान की कामना करते हैं और इस उत्थान के लिए **आनवम्**=ये सदा उसे उत्साहित करनेवाले हैं (आनयति प्रोत्साहयति)।

प्रभु जीव को उन्नत करते हैं, परन्तु कब? जबकि **यः स्म इध्यते**=वे हृदय में दीप्त किये जाते हैं। अदीप्त अग्नि काष्ठ में होते हुए भी कार्य करनेवाली नहीं होती। इसी प्रकार सर्वव्यापकता से विद्यमान वह प्रभु हममें वृत्रहननादिरूप कार्यों को करते तभी हैं जब हम उन्हें अपने में प्रकाशित करते हैं। प्रभु का प्रकाश होता है **श्रुतर्वन् आक्षे**=श्रुतर्वा और आक्ष्य

में। **"श्रुतं प्रति ऋच्छति"**=सदा ज्ञान के प्रति जाने से जीव श्रुतर्वा होता है और ऋच् स्तुतौ=सदा स्तुतिरूप, नकि निन्दारूप वचनों के उच्चारण से आर्क्ष्य होता है। हम अपने मस्तिष्क को ज्ञान की ज्योति से दीप्त करें और हमारी वाणी सदा स्तुतिरूप वचनों को बोले। ऐसा करने पर हममें उस प्रभु का प्रकाश होगा, जोकि **बृहद् अनीकः**=विशाल व अनन्त बलवाले हैं।

अनन्त बल प्रभु से बलवाले होकर ही हम कामादि वृत्रों का विनाश कर सकेंगे और इस प्रकार कामादि के ध्वंस से हम अपनी इन्द्रियों को पवित्र कर इस मन्त्र के ऋषि 'गोपवन' बनेंगे।

भावार्थ—हम सदा ज्ञानमार्ग के पथिक श्रुतर्वा बनें और शुभ शब्दों का उच्चारण करनेवाले आर्क्ष्य हों, तभी हममें प्रभु का प्रकाश होकर पवित्रता का प्रसार होगा।

ऋषिः—**वामदेवः; कश्यपो वा मारीचः; मनुर्वा वैवस्वतः; उभौ वा**॥ देवता—**अग्निः**॥
छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

३ १ ३र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१०. **जातः परेण धर्मणा यत् सवृद्भिः सहाभुवः।**
३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २र ३ २
पिता यत्कश्यपस्याग्निः श्रद्धा माता मनुः कविः॥ १०॥

यत्=क्योंकि **परेण**=सर्वोत्कृष्ट **धर्मणा**=धर्म के द्वारा तू **जातः**=विकसित हुआ है और **यत्**=क्योंकि **सवृद्भिः सह**=यज्ञों के साथ **अभुवः**=तूने अपने जीवन को युक्त किया है, अतः **कश्यपस्य**=तुझ ज्ञानी (समझदार) का **अग्निः**=आगे ले-चलनेवाला प्रभु **पिता**=रक्षक हुआ है, **श्रद्धा**=सत्य का ही धारण करनेवाला तथा विकास का **माता**=निर्माण करनेवाला बना है, और **कविः**=क्रान्तदर्शी, ज्ञानी **मनुः**=अवबोध देनेवाला उपदेष्टा हुआ है।

मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट धर्म 'ज्ञान-प्राप्ति' है। **'ब्रह्मचर्यं परो धर्मः'**=ब्रह्मचर्य परम धर्म है, ब्रह्म=ज्ञान, चर्=उसका भक्षण। ब्रह्मचारी आचार्यकुल में २४, ३६ वा ४८ वर्ष रहकर ज्ञान का विकास करता है और फिर समय पर गृहस्थ में प्रवेश करता है।

गृहस्थ में उसे यज्ञमय जीवन बिताना है। यज्ञों को **स-वृत्**=साथ होनेवाला कहा है। ये यज्ञ सृष्टि के आरम्भ से ही जीव के साथ होनेवाले=सवृत् हैं, मनुष्य को चाहिए कि इन यज्ञों के साथ ही अपना जीवन व्यतीत करे और यज्ञों से ही फूले-फले।

इस प्रकार ज्ञान व यज्ञ-प्रधान जीवनवाले मनुष्य को रक्षक प्रभु आगे ले-चलता हुआ मोक्ष तक पहुँचा देता है। वह अपने जीवन में सत्य-विश्वास के साथ चलता है। यह सच्चा विश्वास उसके उत्कर्ष का साधक होता है।

प्रभु की कृपा से जिसे समय-समय पर क्रान्तदर्शी, तत्त्वज्ञानी उपदेष्टाओं का सङ्ग प्राप्त होता रहता है, वह उत्तम मनवाला बना रहता है। इस प्रकार निर्भयता, सत्य, विश्वास व सौमनस्य से युक्त होकर वह **वामदेव**=उत्तम गुणोंवाला होता है, **कश्यपः**=ज्ञानी बनता है और **मनुः**=औरों को भी अपने जीवन से बोध देनेवाला होता है। ये ही इस मन्त्र के ऋषि हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन ज्ञान व यज्ञ के लिए अर्पित हो। हम अपने को प्रभु-रक्षा का अधिकारी बनाएँ, सत्य-विश्वास से युक्त और सत्सङ्ग करनेवाले हों।

पञ्चमी दशतिः

ऋषिः—अग्निस्तापसः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

सोम से बृहस्पति तक

९१. सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे। आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम्॥ १॥

इस मन्त्र का ऋषि अग्नि=प्रगतिशील स्वभाववाला, जोकि तापस=तपस्वी है, अपने वैयक्तिक व सामाजिक जीवन को निम्न गुणों से अलंकृत करता है—

१. **सोमम् अनु आरभामहे**=सोम के साथ हम अपने जीवन को प्रारम्भ करते हैं, अर्थात् अपने जीवन में सौम्यता लाने का प्रयत्न करते हैं। (यहाँ अनु का प्रयोग तृतीया के अर्थ में हुआ है, **अनु**=के साथ)। मनुष्य का सबसे प्रथम गुण सौम्यता है। प्रभु सौम्य व्यक्तियों का ही पथ-प्रदर्शन करते हैं=**सोम्यानां भृमिरसि।** गुरु सौम्य विद्यार्थियों को प्रेम से पढ़ाते हैं। एवं, यह सौम्यता हमें उन्नत करती है।

राजानम्=अपने जीवन को हम राजा के साथ चलाते हैं। राजा शब्द नियमितता का प्रतीक है। राजा भी राजा इसीलिए कहलाता है कि वह प्रजा के जीवन को नियमित बनाता है। (राज्=to regulate)। हम अपने जीवन को सूर्य और चन्द्र की भाँति नियमित करते हैं, उसे clockwise चलाते हैं। यह नियमितता हमें स्वास्थ्य व दीर्घजीवन प्राप्त कराती है।

वरुणम्=हम श्रेष्ठ बनते हैं। परतन्त्रता के साथ अवगुणों का व स्वतन्त्रता के साथ सद्गुणों का वास है। यहाँ शरीर में इन्द्रियों की दासता हमारे सद्गुणों की दस्यु=destroyer बनती है और जितेन्द्रिता सद्गुणों की जननी, अतः हम स्वतन्त्र बनकर श्रेष्ठ बनते हैं। वरुण पाशी है, प्रचेता है। हम समझदारी से इन्द्रियों को मर्यादाओं से जकड़कर रखते हैं और श्रेष्ठ बनते हैं।

अग्निम्=हम अग्नि की भावना के साथ जीवन चलाते हैं। **'अधः कृतस्यापि तनूनपातो नाधः शिखा याति कदाचिदेव'**=नीचे की हुई भी अग्नि की ज्वाला ऊपर ही जाती है। हम भी अपने जीवन में समय-समय पर होनेवाली असफलताओं से नीचे नहीं बैठ जाते, अपितु आगे और आगे—शिखर पर—**"मूर्धिन वा सर्वलोकस्य"** यही हमारा जप होता है।

इस प्रकार सौम्यता, नियमितता, मर्यादाशीलता व उच्च लक्ष्यता से वैयक्तिक जीवन को सुन्दर बनाकर हम समाज में प्रवेश करते हैं और वहाँ—

आदित्यम्=आदित्य के साथ अपने जीवन का प्रारम्भ करते हैं। आदान=ग्रहण करने के कारण सूर्य को आदित्य कहते हैं। वह कीचड़ व खारी समुद्र में से भी मल व खारेपन को छोड़कर शुद्ध जल का ही ग्रहण करता है। हम भी दोषों को छोड़कर गुणों का ही ग्रहण कर अपने जीवन को गुणों से भूषित करते हैं और इसके लिए—

विष्णुम्=अपने जीवन को (विष्लृ व्याप्तौ) व्यापक मनोवृत्ति से युक्त करते हैं। व्यापक व उदार मनोवृत्तिवाला ही सब स्थानों से गुणों का ग्रहण कर पाता है।

सूर्यम्=सामाजिक जीवन में हमारा यह सिद्धान्त होना चाहिए कि हम सूर्य की भाँति अपना कार्य करते चलें। सूर्य कभी इस प्रतीक्षा में रुकता नहीं कि औरों ने अपना कार्य किया है या नहीं।

ब्रह्माणम्=हम ब्रह्मा के साथ अपना जीवन प्रारम्भ करते हैं। ब्रह्मा creator है—कर्त्ता है, नकि ध्वंसक। हम भी समाज में 'निर्माण' को अपना लक्ष्य बनाकर चलें। हमारा सामाजिक जीवन गुणग्राही, उदार, क्रियाशील व निर्माणवाला हो।

यदि इस प्रकार हम वैयक्तिक व सामाजिक गुणों से अपने जीवन को अलंकृत करेंगे तो हम **बृहस्पतिम्**=ऊर्ध्वा दिक् के अधिपति होंगे, अर्थात् सर्वोच्च शिखर पर पहुँच पाएँगे—'परमेष्ठी' होंगे, ब्रह्मा-जैसे बन जाएँगे।

भावार्थ—हमारा जीवन सदा सोम से प्रारम्भ हो, जिससे हम बृहस्पति बन पाएँ।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**अङ्गिराः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

ये ऊपर उठते हैं

९२. इत एत उदारुहन्दिवः पृष्ठान्या रुहन्। प्र भूर्जयो यथा पथोद्द्यामङ्गिरसो ययुः॥ २॥

एते=सौम्यता आदि वैयक्तिक व गुणग्राहकता आदि सामाजिक गुणों को अपने अन्दर धारण करनेवाले ये व्यक्ति **इतः**=इस पृथिवी-पृष्ठ से **उत्**=ऊपर **आरुहन्**=चढ़ते हैं, **दिवः**=द्युलोक के **पृष्ठानि**=पृष्ठों पर **आरुहन्**=आरूढ़ होते हैं। मनुष्य जीवन का यही लक्ष्य होना चाहिए कि **पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहम्**=पृथिवी-पृष्ठ से मैं अन्तरिक्ष में पहुँचूँ, और **अन्तरिक्षात् दिवम् आरुहम्**=अन्तरिक्ष से मैं द्युलोक में पहुँचूँ। इस **दिवो नाकस्य पृष्ठात्**=स्वर्गलोक के पृष्ठरूप द्युलोक से ही तो मैं **स्वर्ज्योतिः अगाम् अहम्**=स्वयं देदीप्यमान् ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करूँगा।

द्याम्=द्युलोक को **प्र-ययुः**=प्राप्त होते हैं। कौन?

१. **भूर्जयः**=(भूरिति प्राणः, तं जयति) प्राणों का विजय करनेवाला। प्राणों के विजय से सब आसुर भावनाएँ नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। प्राणों के संयम से इन्द्रियों के दोष जल जाते हैं, जैसे अग्नि में धातुओं के मल। एवं, प्राणविजय से निर्मल बन हम ऊपर उठते हैं।

२. **यथा पथा**=(पथं अनतिक्रम्य गच्छति) जो व्यक्ति मार्ग का उल्लंघन न करके चलता है, जिसकी सब क्रियाएँ नपी-तुली होती हैं।

३. **अङ्गिरसः**=अङ्गरसवाले व्यक्ति, जिनका शरीर सूखे काष्ठ की भाँति निर्जीव न हो गया हो। प्राणायाम और योगमार्ग से चलने का यह परिणाम होगा कि हम अपने नवें तथा दसवें दशक तक भी स्निग्ध त्वचावाले, सरस अङ्गोंवाले बने रहेंगे, हम नवग्व व दशग्व होंगे। (नवदशकपर्यन्तं गच्छतीति नवग्वः)। इसी प्रकार अङ्गिरस वही व्यक्ति हो सकता है जो विषयों का शिकार नहीं बनता। विषय तो उसे शीघ्र ही जीर्ण-शीर्ण शरीरवाला बना देंगे।

भावार्थ—हम प्राणों को वश में करनेवाले, योगमार्ग से चलनेवाले, अङ्गों को शक्ति-सम्पन्न रखनेवाले बनें और द्युलोक में पहुँचें।

ऋषिः—**वामदेवः काश्यपोऽसितो देवलो वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

महान् त्याग

९३. राये अग्ने महे त्वा दानाय समिधीमहि।
ईडिष्वा हि महे वृष द्यावा होत्राय पृथिवी॥ ३॥

हे **अग्ने**=उन्नत भावों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! हम **त्वा**=आपको **समिधीमहि**=अपने हृदयों में दीप्त करते हैं। किसलिए? **राये**=धन के लिए, उस धन के लिए जोकि (रा=दाने) लोकहित के लिए दिया जाता है। **महे**=महान् बनने के लिए, अपने हृदयों को विशाल बनाने के लिए। हम उदार हों, और **दानाय**=दिल खोलकर देने के लिए संमर्थ हों। इस उदारता व दान के लिए हम आपकी ज्योति को अपने हृदयों में जगाते हैं। इस ज्योति के अभाव में धन की चमक हमारी आँखों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है और हम संकुचित हृदय बनकर उसका दान नहीं कर पाते।

वृषम्=सब धनों की वर्षा करनेवाले **महे**=महान् **द्यावा-पृथिवी होत्राय**=द्युलोक से पृथिवी-लोक तक सम्पूर्ण ऐश्वर्य के होत्र के लिए, अर्थात् सर्वस्व के दान के लिए **ईडिष्व हि**=हम आपकी स्तुति करते हैं। इस भावना के उदय होने पर ही मैं इन अर्थों=धनों में आसक्त न होऊँगा और तभी मुझे धर्म का ज्ञान होगा। **'अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते'**=धन में आसक्त को धर्म का ज्ञान नहीं हुआ करता, मुझे धर्मज्ञ होने का सौभाग्य प्राप्त होगा तो मैं अपने अन्दर दिव्य गुणों का विकास करनेवाला वामदेव बन पाऊँगा और तभी मैं ज्ञानी=काश्यप भी कहला पाऊँगा। हे अग्ने! आपकी कृपा से मैं ऐसा ही बनूँगा।

भावार्थ—सब धनों के वर्षक उस प्रभु का स्मरण करते हुए हम अपने जीवन को 'महान् त्याग' का जीवन बना पाएँ।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

आनन्द-चक्र की परिधि

९४. **दधन्वे वा यदीमनु वोचद् ब्रह्मेति वेरु तत्।**
परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभुवत्॥ ४॥

दधन्वे वा=वे प्रभु निश्चय से धारण करते हैं, **यत् ईम्**=जब जीव उस परमेश्वर को **ब्रह्म इति**=ब्रह्मरूप में **उ**=और **तत् वेः**='संसार-जाल का संहार करनेवाले हैं', इस रूप में **अनुवोचत्**=स्मरण करता है। जीव को चाहिए कि प्रतिदिन प्रातः-सायं उस प्रभु को 'ब्रह्म' और 'वेः' इन शब्दों से स्मरण करे। **ब्रह्म**=(बृहि वृद्धौ) वह प्रभु ही महान् है। **'वर्द्धमानं स्वे दमे'**=अपने स्वरूप में सदा से बढ़े हुए उस प्रभु का स्मरण करते हुए जीव अहंकारशून्यता को प्राप्त करता है। वह प्रभु 'वेः' हैं, वही तो संसार के सब घटनाचक्र को चला रहे हैं, अतः जो कुछ हो रहा है वह सब ठीक ही है, सब मेरे हित के लिए ही है। यह भावना मनुष्य को कितना सन्तोष प्राप्त कराती है!

वास्तविकता तो यह है कि **इव**=जिस प्रकार **चक्रं परि**=एक पहिए के चारों ओर **नेमिः**=परिधि होती है, उसी के कारण पहिया स्थिर होता है, ठीक इसी प्रकार **विश्वानि**=सब **काव्यानि**=ज्ञानों व आनन्दों के **परि**=चारों ओर वे प्रभु **आभुवत्**=हैं। परिधि हटी कि पहिया टूटा। बस, ठीक इसी प्रकार प्रभु हमारे जीवनों से दूर हुए और हमारे सब आनन्द व ज्ञान समाप्त हुए। प्रभु से दूर होने पर प्रेम व शान्ति का स्थान द्वेष तथा संघर्ष ले-लेते हैं। मनुष्य बनने के लिए आवश्यक है कि हम उस प्रभु के **ब्रह्म**=महान् रूप को स्मरण करते हुए **सोम**=विनीत बनें और यह समझकर कि प्रभु से दूर हुए और वास्तविक आनन्द से भी दूर

हुए' उस प्रभु के प्रति अपना समर्पण करनेवाले 'आहुति' बनें। यह 'सोमाहुति' ही इस मन्त्र का ऋषि है। यह भृगु-पुत्र है, **भृगु**=परि-पाक करनेवाले का सन्तान है। यदि हम ज्ञान से अपने को परिपक्व बनाएँगे तभी 'सोमाहुति' भी हो पाएँगे।

भावार्थ—प्रभु की महिमा व सर्वकर्तृत्व का स्मरण कर हम विनीत व सन्तुष्ट बनें। प्रभु को अपने जीवन-चक्र की परिधि बना आनन्द को नष्ट न होने दें।

ऋषिः—**भरद्वाजः पायुः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

तीन असुरों का संहार

९५. प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणाहि विश्वतस्परि। यातुधानस्य रक्षसो बलं न्युब्ज वीर्यम्॥ ५॥

अग्ने=मुझे उन्नत अवस्था में प्राप्त करानेवाले प्रभो! **हरसा** (हरसः)=मेरा हरण करनेवाले, मुझे अपने-आपे में न रहने देनेवाले क्रोध नामक असुर के **हरः**=क्रोध को **विश्वतः परि**=सब ओर से, सब प्रकार से **प्रतिशृणाहि**=नष्ट कर दीजिए। मैं क्रोध को अपने से दूर रख सकूँ। इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि में कहीं भी इसका निवास न हो। इसके प्रबल होते ही मेरा सारा शरीर काँपने लगता है और मैं स्वस्थ नहीं रहता। मुझे एक सम्मोह-सा हो जाता है और मैं सुध-बुध भूल जाता हूँ। संक्षेप में, यह मुझे हर ले-जाता है और इस प्रकार 'हरस' इस सार्थक नाम-वाला होता है।

हे प्रभो! आप मेरे इस क्रोध को तो दूर कीजिए ही और **यातु-धानस्य**=(यातु=पीड़ा) पीड़ा का आधान करनेवाले काम नामक असुर के **बलम्**=बल को भी **न्युब्ज**=झुका दीजिए। **काम**—इच्छा पूर्ण नहीं होती और पूर्ण न होती हुई मनुष्य को पीड़ित करती है। पूर्ण होकर भी वासना मनुष्य को जीर्ण करके दुःखी बना डालती है। इसी से काम को यहाँ **यातुधान**=पीड़ा देनेवाला कहा गया है। इसका बल व वेग कम होगा तभी हमारा कल्याण होगा।

हे प्रभो! इस यातुधान को दूर करने के साथ ही **रक्षसः**=(र+क्ष) अपने रमण (मौज) के लिए औरों के क्षय की वृत्ति-लोभ की **वीर्यम्**=शक्ति को भी **न्युब्ज**=कुचल दो।

काम, क्रोध व लोभ मनुष्य की दुर्गति का कारण बनते हैं—सुगति का नहीं। इनकी समाप्ति करके ही मनुष्य अपनी रक्षा कर सकता है और इस मन्त्र का ऋषि 'पायुः'=अपनी रक्षा करनेवाला बनता है। इनके समाप्त करने पर ही उसकी शक्ति में भी वृद्धि होगी और वह अपने में शक्ति भरनेवाला 'भरद्वाज' कहलाएगा (वाज=शक्ति)।

भावार्थ—काम, क्रोध तथा लोभ को समाप्त कर हम अपनी रक्षा करें और शक्तिशाली बनें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रभु का निवास किन सात में?

९६. त्वमग्ने वसूँरिह रुद्राँ आदित्याँ उत। यजा स्वध्वरं जनं मनुजातं घृतप्रुषम्॥ ६॥

हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **इह**=इस मानव-जीवन में **यज**=मेल करते हो। किनके साथ?

१. **वसून्**=वसुओं के साथ, जो लोगों को बसाते हैं। निराश्रय को आश्रय देना, भूखे को

रोटी और बेकार को काम देना उसे बसाना है। बसाने के कारण वह 'वसु' कहलाता है और प्रभु के सङ्ग के योग्य बनता है।

२. **रुद्रान्**=(रुत्=शब्द, ज्ञान; रा=देना) ज्ञान देनेवाला 'रुद्र' कहलाता है। स्वयं ज्ञान प्राप्त करके जो उस ज्ञान को औरों को देने के लिए प्रयत्नशील है, वह 'रुद्र' है। ये रुद्र उस महान् रुद्र के साथी बनते हैं, जो सम्पूर्ण ज्ञान का स्रोत है।

३. **उत**=और **आदित्यान्**=आदित्यों को भी प्राप्त होते हैं। सूर्य आदित्य कहलाता है, क्योंकि वह कीचड़ में से, खारे समुद्र में से और दुर्गन्धित जोहड़ों में से भी निरन्तर शुद्ध जल का आदान कर रहा है। इसी प्रकार जो प्रत्येक व्यक्ति से गुणों का ही ग्रहण करता है, वह आदित्य कहलाता है और प्रभु का प्रेमपात्र बनता है।

४. **स्वध्वरम्** (सु अध्वरम्)=उत्तम हिंसारहित जीवनवाले को प्रभु प्राप्त होते हैं। जो मन में द्वेष नहीं करता, सूनृत—मधुर वाणी का प्रयोग करता है और हिंसा से दूर रहता है वह 'स्वध्वर' कहलाता है और प्रभु उससे स्नेह करते हैं।

५. **जनम्**=जो जनयति=उत्पन्न करता है, निर्माणात्मक कार्य करता है न कि ध्वंसात्मक, उस 'जन' को प्रभु मिलते हैं।

६. **मनुजातम्**=जातो मनुर्यस्मिन्=जिसमें ज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसे प्रभु मिलते हैं। जो व्यक्ति अपने में ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है, वह प्रभु का सङ्ग करता है।

७. **घृतप्रुषम्**=घृत शब्द घृ धातु से बना है। इसके दो अर्थ हैं—क्षरण तथा दीप्ति। प्रुष के भी दो अर्थ हैं—जला देना (to burn) तथा उँडेलना=छिड़कना (to pour out, sprinkle) जो व्यक्ति ज्ञानाग्नि द्वारा दोषों को जला डालता है वह 'घृतप्रुष' है। यह घृतप्रुष प्रभु को अत्यन्त प्रिय होता है।

इस प्रकार एक-एक करके, कण-कण करके उल्लिखित गुणों का अपने में संग्रह करनेवाला 'प्रस्कण्व' इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम अपने को प्रभु का निवास-स्थान बनाने के लिए अपने में उपर्युक्त गुणों का संग्रह करने में प्रयत्नशील हों।

द्वितीयप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—दीर्घतमाः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

उसी की ओर

९७. **पुरु त्वा दाशिवाँ वोचेऽ रिरग्ने तव स्विदा। तोदस्येव शरण आ महस्य॥ १॥**

गत मन्त्र में कहा गया था कि वसु आदि में परमेश्वर का वास होता है। हम भी उन सात श्रेणियों में से किसी एक श्रेणी में आ सकें, इसके लिए साधनरूप तीन बातों का उल्लेख इस मन्त्र में किया गया है—

१. हे प्रभो! **दाशिवान्**=(दाश् दाने) आपके प्रति समर्पण करनेवाला मैं **त्वा**=आपकी **पुरु**=बहुत **वोचे**=स्तुति करता हूँ। मैं सोते-जागते, खाते-पीते, उठते-बैठते सदा आके नाम का जप करता हूँ। सदा प्रभु का स्मरण करनेवाला व्यक्ति उस शक्ति के स्रोत प्रभु को न भूलने से कर्मों का अहंकार नहीं करता—फल के लिए कभी व्याकुल नहीं होता, उसका जीवन शान्ति से चलता है। यह दाशिवान् प्रभु का प्रिय होता है।

२. यह दाशिवान् कहता है—हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! तव **स्वित्**=तेरा ही **आं**=सब प्रकार से **अरिः**=मैं भक्त बनता हूँ (अरिः=moving towards; devoted to)। मैं प्रत्येक कार्य इसी दृष्टिकोण से करता हूँ कि वह मुझे तेरी ओर लानेवाला बने। संसार में सब सन्त 'लोकहित में लगे दीखते हैं'। वस्तुतः यही तेरी ओर आने का मार्ग है। मैं अपनी आवश्यकताओं को न्यून करता हुआ अपने को परार्थ साधन के योग्य बनाता हूँ और इस प्रकार आपकी ओर बढ़ता हूँ। अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाना प्रकृति की ओर बढ़ना और आपसे दूर हटना है।

३. मैं इस मार्ग पर न जाकर **महस्य**=आदरणीय **तोदस्य इव**=प्रेरक के समान जो आप हैं, उन्हीं की **शरणे**=शरण में आता हूँ। प्रभु अपनी प्रेरणा में सदा मधुर व शान्त हैं। वे अनन्त धैर्य के साथ सदा हृदयस्थ हो जीव को उत्तम कर्मों के लिए उत्साह तथा अशुभ कर्मों के लिए चेतावनी दे रहे हैं। उन्होंने अपना सब-कुछ जीव को देकर उसके लिए महान् त्याग भी किया है, इसीलिए भी वे महनीय **तोद**=त्यागवाले (sacrificer) हैं। मैं तो आपकी ही शरण में आता हूँ।

जिस दिन जीव प्राकृतिक भोगों में सुख के भ्रान्त विचार को छोड़कर प्रभु की ओर चलेगा, उसी दिन वह अपनी भ्रान्ति को भगा देने के कारण इस मन्त्र का ऋषि 'दीर्घतमा'='अन्धकार का विदारण करनेवाला' बनेगा।

भावार्थ—हम प्रभु के नाम का सतत जप करें, उसी की ओर चलें और उसी की शरण में पहुँचें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः गाथिनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

उसी का जप

९८. **प्र होत्रे पूर्व्यं वचोऽग्नये भरता बृहत्। विपां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे॥ २॥**

इस मन्त्र का मुख्य वाक्य यह है कि उसी के लिए **वचः**=स्तुतिवचन का **प्र-भरत**=प्रकर्षेण सम्पादन करो। यह स्तुतिवचन ही **पूर्व्यम्**=पूरण तथा पालन करनेवाला होगा (पॄ पालनपूरणयोः) तथा **बृहत्**=तुम्हारी वृद्धि का कारण बनेगा (बृहि वृद्धौ)। जब मनुष्य प्रभु के गुणों का गान करता है तब उन गुणों में प्रीति होकर वह अपने भक्तिभाजन के अनुरूप बनने का प्रयत्न करता है। यह प्रभु का स्मरण उसे अशुभ बातों की ओर जाने से बचाकर उसका पालन भी करता है। प्रभु के नाम का स्मरण वासना का विनाश करता है। यह नाम-स्मरण अहंकार आदि सभी भावनाओं को समाप्त करने के कारण पूर्व्यम् है। यह हमें आत्मस्वरूप का स्मरण करा उत्थान की ओर ले-चलने के कारण 'बृहत्' भी है।

'हम उस प्रभु का किस रूप में स्मरण करें?' इसका उत्तर मन्त्र में **'होत्रे'**, **'अग्नये'**, **'विपां ज्योतींषि बिभ्रते न'** तथा **'वेधसे'** इन शब्दों के द्वारा दिया गया है। वे प्रभु होता हैं (हु दाने) देनेवाले हैं। जैसे माता अपने लिए कुछ भी न बचाती हुई सब-कुछ बच्चों को देकर प्रसन्न होती है, उसी प्रकार यह जगज्जननी वस्तुतः होत्री है। अपने लिए कुछ न रखकर सब-कुछ जीव के लिए दे रही है। हमें भी अपने उस महान् सखा का अनुकरण करते हुए होता बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

'अग्नये' शब्द आगे ले-चलने की भावना को व्यक्त करता है। प्रभु हमें उन्नत करते-करते मोक्ष-स्थान तक पहुँचाएँगे।

(विपां न)=मेधावियों-जैसे लोगों के लिए **ज्योतींषि**=प्रकाश को **बिभ्रते**=धारण करते हुए प्रभु के लिए हम स्तुतिवचनों का उच्चरण करें। वे प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा आदि मेधावियों को वेद का ज्ञान प्राप्त कराते हैं और उनके द्वारा गुरु-शिष्य परम्परा से हमें भी ज्ञान देते हैं। अब भी जब हम अपनी बुद्धि को परिष्कृत करते हैं तब उस हृदयस्थ प्रभु से प्रकाश पाते हैं। हमें भी प्रकाश प्राप्त कर औरों को प्रकाश देने का प्रयत्न करना चाहिए।

वेधसे=वे प्रभु **वेधा**=विधाता हैं, प्राणिमात्र का विशेषरूप से धारण कर रहे हैं। हमें भी यथासम्भव इस दिशा में प्रयत्न करना ही चाहिए।

इस प्रकार प्रभु के लिए विशेषरूप से स्तुति-वचनों को धारण करनेवाला व्यक्ति 'गाथिनः' कहलाता है, यह सदा उसी का गायन करता है। यह प्राणिमात्र में प्रभु का ध्यान करता हुआ सभी का मित्र 'विश्वामित्र' होता है। इसका सभी के साथ स्नेह-ही-स्नेह होता है, यह द्वेष को अपने अन्दर नहीं आने देता।

भावार्थ—प्रभु के नाम का जप मनुष्य का पालन, पूरण व वृद्धि करनेवाला होता है।

ऋषिः—**राहुगणो गोतमः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

प्रार्थना-त्रयी

९९. **अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो। अस्मे देहि जातवेदो महि श्रवः॥ ३॥**

१. हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आप **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले (प्रशंसायां मतुप्) **वाजस्य**=बल को **अस्मे**=हमें **देहि**=दीजिए। आप **ईशानः**=स्वामी हैं। इन शब्दों में यह पहली प्रार्थना है कि हम शक्तिशाली हों और शक्तिशाली होकर इन्द्रियों को वश में रखते हुए उन्हें निर्मल बनाये रक्खें। शक्ति ही न हो और शक्ति के अभाव में इन्द्रियाँ शान्त बनी रहें, यह वैदिक आदर्श नहीं। इसके लिए जहाँ सौम्य भोजन व सौम्य व्यायाम (भ्रमण, तैरना, आसन आदि) उपयोगी हैं, वहाँ 'अग्ने' और 'ईशानः' शब्द भी आवश्यक संकेत कर रहे हैं कि हमारे सामने आगे बढ़ने का लक्ष्य हो, साथ ही हम ध्यान रक्खें कि हमें 'ईशान' बनना है न कि दास। हमारा सदा यही जप हो कि 'आगे बढ़ना है, ईशान बनना है।' यह जप हमें धर्म के मार्ग पर चलने में सहायक होगा, हमारी शक्ति हमें असंयमी न बनने देगी।

२. **'यहो'**=हे महान् प्रभो! **अस्मे**=हमें **सहसः**=सहनशक्ति **देहि**=दीजिए। हममें सहिष्णुता हो। छोटी-छोटी बातों से हम क्षुब्ध न हो जाएँ। सहिष्णुता होने पर प्रायः सब सामाजिक व पारिवारिक झगड़ों का अन्त हो जाता है।

'यहो' शब्द हमें संकेत दे रहा है कि हम महान् बनें। महान् बनने पर हममें सहनशक्ति जागेगी।

३. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **अस्मे**=हमें **महि**=प्रशंसनीय **श्रवः**=उत्तम ज्ञान **देहि**=प्राप्त कराइए। हमारा कोई भी कर्म निन्दनीय न हो। वस्तुतः ज्यों-ज्यों हम अपना ज्ञान बढ़ाएँगे त्यों-त्यों हमारे कर्म प्रशस्त होते जाएँगे। **'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'**=ज्ञान के समान पवित्र करनेवाली अन्य कोई वस्तु नहीं है।

इस प्रकार अपनी इन्द्रियों को पवित्र बनानेवाला व्यक्ति इस मन्त्र का ऋषि 'गोतम' कहलाता है। यह भोगों, क्रोध और निन्द्य कर्मों को छोड़ता है। इस प्रकार छोड़नेवालों में श्रेष्ठ स्थान में गिना जाकर यह 'राहूगण' कहलाता है।

भावार्थ—हम भोगों तथा असहिष्णुता को छोड़ें और निन्द्य कर्मों का भी त्याग करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

दैवी-सम्पत्-त्रयी

१००. अग्ने यजिष्ठो अध्वरे देवां देवयते यज। होता मन्द्रो वि राजस्यति स्त्रिधः ॥ ४ ॥

अग्ने=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **अध्वरे**=हिंसारहित यज्ञरूप उत्तम कर्मों में **यजिष्ठः**=सर्वोत्तम सङ्गत करनेवाले तो आप ही हो, परन्तु प्रभु भी उसी को उत्तम मार्ग पर ले-चलते हैं जो स्वयं दिव्य गुणों की प्राप्ति की कामनावाला हो। प्रभु का द्वार तो खुलेगा, पर जीव को थपथपाना तो होगा। प्रभु की कृपारूपी वायु हमारी मनरूपी नाव को चलाएगी तो सही, परन्तु हमें नाव के बादवानों को खोलना होगा, इसीलिए मन्त्र में कहते हैं कि **देवयते**=दिव्य गुणों को अपनाने की कामनावाले मेरे लिए आप **देवान्**=दिव्य गुणों को **यज**=सङ्गत कराइए।

जीव की प्रार्थना को सुनकर प्रभु जीव से कहते हैं कि **होता**=तू दानपूर्वक अदन (भक्षण) करनेवाला बन। तू सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाला हो। यही तेरे लिए 'अमृत' है। इस अमृत के सेवन से तेरी सब अशुभ वृत्तियाँ मृत हो जाएँगी।

मन्द्रः=तेरी मनोवृत्ति सदा प्रसन्नतावाली हो। मनःप्रसाद ही सर्वोत्तम तप है। होता बनने से तू मन्द्र भी बन पाएगा। तेरे चेहरे पर कभी क्रोध न हो, तुझसे प्रसाद का प्रवाह चारों ओर प्रवाहित हो।

स्त्रिधः=हानि पहुँचाने की भावनाओं से (स्त्रिध् to injure) तेरा जीवन **अति**=परे हो। इन भावनाओं को तू लाँघ चुका हो। कोई तेरा अपमान करे, तुझे हानि पहुँचाए, उसके लिए भी तेरी मङ्गलकामना हो। तू सभी को अपने परमपिता प्रभु का पुत्र समझता हुआ द्वेष से शून्य हो।

संक्षेप में तू सभी के साथ स्नेह करनेवाला इस मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' बन तभी यह दानशीलता, सदा प्रसन्नता तथा अहिंसारूप सम्पत्-त्रयी तुझे प्राप्त होगी और **विराजसि**=तू इस संसार में विशेष शोभावाला होगा, तेरा जीवन चमक उठेगा।

भावार्थ—हम होता बनें, सदा प्रसन्न रहें और अपकारी को हानि पहुँचाने की भावना को भी अपने से दूर रक्खें।

ऋषि:—**त्रित आप्त्यः**॥ देवता—**पवमानः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

क्या माँगें?

१०१. जज्ञानः सप्त मातृभिर्मेधामाशासत श्रिये। अयं ध्रुवो रयीणां चिकेतदा॥ ५॥

योगदर्शन में योग-मार्ग आठ मञ्ज़िलोंवाला है। आठवीं मञ्जिल समाधि है (जिसमें प्रभु का साक्षात्कार हो जाना है।) उससे पहले सात मञ्जिलें हैं, जिन्हें हम साधना का नाम दे सकते हैं। ये सातों मानव-जीवन को स्वस्थ, सबल, सुन्दर व सुप्रज्ञ बनाकर बड़ा उत्तम बना देतीं हैं। इस निर्माण के कारण इन्हें मन्त्र में 'सप्त मातरः' कहा है। इन सात मंजिलों को पार कर मनुष्य प्रभु का साक्षात् कर पाता है। मन्त्र में कहा है कि **'सप्त मातृभिः'**=योग की इन सात (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान) मंज़िलों द्वारा **जज्ञानः**=वह प्रभु तुम्हारे सामने प्रादुर्भूत हुए हैं (जनी प्रादुर्भावे)।

'प्रभु से जीव क्या याचना करे?' याचना करने की सहस्रों वस्तुएँ हो सकती हैं—'प्रजा, पशु, आयु, प्राण, द्रविण, कीर्ति' एक-एक वस्तु मनुष्य के लिए आकर्षण रखती है। वेद कहता है कि **श्रिये**=अपने जीवन को सम्पन्न बनाने के लिए **मेधाम्**=मेधा बुद्धि को **आशासत**=माँगो। श्री शब्द 'धर्म, अर्थ, काम' तीनों पुरुषार्थों को एक शब्द से कहने के लिए प्रयुक्त होता है। यदि मनुष्य यह चाहता हो कि उसके जीवन में धर्म, अर्थ व काम तीनों का सुन्दर समन्वय हो तो वह मेधा की याचना करे। मेधा उसे कहीं भी आसक्त न होने देती हुई धर्म, अर्थ, काम इन सभी पुरुषार्थों की श्री से सम्पन्न कर देती है।

'प्रभु का दर्शन होने पर मेधा ही माँगनी है', ऐसा हम निश्चय करें, कहीं ऐसा न हो कि उस विस्मय में हमें कुछ सूझे ही नहीं या हम कुछ ग़लत वस्तु माँग बैठें। **अयम्**=यह प्रभु तो **रयीणाम्**=सब प्रकार की सम्पत्तियों के **ध्रुवः**=अवधिभूत स्थान हैं—पवित्र पात्र हैं। ऐसा ही वह प्रभु **आ**=सर्वत्र **चिकेतत्**=जाना गया है। उन सम्पत्तियों में से हम 'धर्म में स्थिर बुद्धि' को ही चाहें। हमारी याचना सात्त्विक सम्पत्ति के लिए हो। यह सर्वोत्तम सात्त्विक सम्पत्ति ही 'मेधा' है। इसके होने पर कुछ भी अप्राप्य न रहेगा। इस प्रकार हम प्राप्त करनेवालों में श्रेष्ठ, इस मन्त्र के ऋषि 'आप्त्य' होंगे और संसार-सागर को तैरनेवालों में उत्तम होकर तीर्णतम=त्रित कहलाएँगे।

भावार्थ—हम योग की सात भूमिकाओं से उस प्रभु का दर्शन करें और सदा मेधा की

कामना करें।

ऋषिः—इरिम्बिठिः॥ देवता—अदितिः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

मेधा के साथ मननशीलता

१०२. उत स्या नो दिवा मतिरदितिरूत्यागमत्। सा शन्ताता मयस्करदप स्त्रिधः॥ ६॥

उत=और **नः**=हमें **स्या**=वह **मतिः**=विचारशीलता **आगमत्**=प्राप्त हो, जो **ऊत्या** [ऊत्यै]=रक्षा के लिए होती है। **"अविवेकः परमापदां पदम्"**—अविवेक सब आपत्तियों का आधार है। जब मनुष्य विचारकर कार्य करता है तब शुभ को ही प्राप्त होता है। मनुष्य तो है ही वह जो **"मत्वा कर्माणि सीव्यति"**=विचारकर कर्म करता है।

यह विचारशीलता **दिवा**=दिन के समान प्रकाशमय (as bright as day) है। इस प्रकाश में हमें अपने कर्त्तव्य का मार्ग स्पष्ट दीखता है। यह विचारशीलता **अदितिः**=अखण्डन=अहिंसा का कारण है। इससे हमारी हिंसा नहीं होती। मार्ग अन्धकारमय न होने से हमें ठोकर नहीं लगती।

सा=वह **मतिः**=विचारशीलता **शन्ताता**=शान्ति का विस्तार करनेवाली होती है। मन में शान्ति के कारण सारा नाड़ीसंस्थान ठीक कार्य करता है और हमारा शरीर नीरोग व सुखी होता है, अतः यह मति शान्ति के विस्तार के द्वारा **मयः**=सुख **करत्**=प्रदान करती है। विचारशीलता से हम बदले की भावना से दूर हो जाते हैं और यह मति हमें **स्त्रिधः**=हानि पहुँचाने की वृत्तियों से **अप**=दूर करती है। विचारने पर मनुष्य इससे ऊपर उठता है और शान्ति व सुख प्राप्त करता है। बदला तो क्या लेना, उसका हृदय अविचारशील लोगों के लिए करुणा से आर्द्र होता है। सभी महापुरुषों ने अपना अन्त करनेवालों के शुभ की ही कामना की। इनका **बिठ**=हृदयान्तरिक्ष **इरि**=दया के जल से आर्द्र होता है, अतः ये "इरिम्बिठि" कहलाते हैं और इस मन्त्र के ऋषि होते हैं।

भावार्थ—हम विचारशील बनें, जिससे शान्ति व सुख का लाभ करते हुए हम घृणा की वृत्ति से सदा दूर रहें।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

पूजा, सम्पर्क, समर्पण

१०३. ईडिष्वा हि प्रतीव्यां३ यजस्व जातवेदसम्। चरिष्णुधूममगृभीतशोचिषम्॥ ७॥

जीव कितना ही प्रयत्न करे, वह अपने को काम-क्रोधादि के विजय में असमर्थ पाता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **हि**=निश्चय से **प्रतीव्यम्**=(प्रति+वी)=कामादि प्रतिकूल शत्रुओं के प्रति जानेवाले, अर्थात् उनपर आक्रमण करनेवाले प्रभु की **ईडिष्व**=स्तुति कर। वे प्रभु 'स्मर-हर' हैं—इन कामादि का तेरे लिए हरण करनेवाले हैं। हृदय में स्मर-हर का स्मरण होने पर वहाँ 'स्मर' कैसे आ सकता है!

हे जीव! तू **जातवेदसम्**=(जातं जातं वेत्ति) उस सर्वज्ञ प्रभु की **यजस्व**=पूजा कर। उसी की भाँति सर्वज्ञ बनने का प्रयत्न कर। जितना-जितना तेरा ज्ञान बढ़ता जाएगा, उतना-उतना तू इन वासनाओं से ऊपर उठता जाएगा।

वह प्रभु **चरिष्णुधूमम्**=क्रिया के स्वभाववाले (चर्+इष्णु 'ताच्छील्य अर्थ में') और धूम (धूञ् कम्पने) सब बुराइयों को कम्पित कर दूर करनेवाले हैं। उस प्रभु के साथ **यजस्व**=अपना सम्पर्क स्थिर रखनेवाला बन। तू उसी की भाँति स्वाभाविकरूप से क्रियाशील बन जा। इस प्रकार तू इन अशुभ भावनाओं को कम्पित करनेवाला बन सकेगा। आलस्य के साथ वासनाओं का साहचर्य है। प्रभु का सम्पर्क तुझे शक्ति-प्रवाह से शक्तिमान् बना देगा और अनथक रूप से क्रिया करनेवाला तू कभी इन वासनाओं का शिकार न होगा।

वे प्रभु **अगृभीतशोचिषम्**=सदा अनाक्रान्त ज्योतिवाले हैं, इनकी दीप्ति मलिनता से ग्रस्त नहीं होती। वे सर्वदा शुचि-ही-शुचि हैं—निर्मल हैं। हे जीव! तू भी निर्मल प्रभु के प्रति **यजस्व**=अपना दान—'अर्पण' कर दे। तू भी उसी की भाँति निर्मल बन जाएगा। देवपूजा, सङ्गतीकरण और दान=समर्पण में ही यज्ञ निहित है। यज्ञ करनेवाले जीव का जीवन यज्ञिय (पवित्र) हो जाएगा और वह सचमुच **वैयश्व**=व्यश्व (वि=विशिष्ट, अश्व=इन्द्रिय) का सन्तान, अत्यन्त उत्तम इन्द्रियोंवाला होगा। इसका मन काम-क्रोधादि की भावनाओं से दूर होने के कारण सबके प्रति प्रेमवाला होकर विश्वव्यापक, असंकुचित होगा और यह मन्त्र का ऋषि 'विश्वमना:' बनेगा।

भावार्थ—हम उस सर्वज्ञ, पूर्ण-प्रज्ञ प्रभु की पूजा करें। स्वाभाविक क्रियावाले प्रभु के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ें और सदा पवित्र उस प्रभु के चरणों में अपना अर्पण कर दें।

ऋषि:—**विश्वमना वैयश्व:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**उष्णिक्**॥ स्वर:—**ऋषभ:**॥

हम विश्वमना वैयश्व बनें

१०४. न तस्य मायया च न रिपुरीशीत मर्त्य:। यो अग्नये ददाश हव्यदातये॥ ८॥

य:=जो **अग्नये**=अग्रगति के साधक तथा **हव्यदातये**=(हव्यानां दातिर्दानं येन तस्मै) उत्तम पदार्थों को देनेवाले प्रभु के लिए **ददाश**=अपने को दे डालता है, अपना समर्पण कर देता है, **तस्य**=उसका **रिपु:**=(to rip open) नाश कर देनेवाला **मर्त्य:**=यह मार (काम) **मायया**=अपनी पूरी माया के द्वारा **च न**=भी **ईशीत न**=स्वामी नहीं बन पाता।

मनुष्य संसार में आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है, परन्तु उसे पग-पग पर अनुभव होने लगता है कि कोई शक्ति उसे आगे बढ़ने से रोक देती है। यह शक्ति ही यहाँ मन्त्र में 'रिपु' और 'मर्त्य' नामों से उल्लिखित हुई है। ये ही मनुष्य के शत्रु हैं—उसका शातन (नाश) करनेवाले हैं।

यह काम ही तेरा शत्रु है। यह मर्त्य है, मार है। अन्त में तेरी समाप्ति का कारण बनता है।

इसके मारने की प्रक्रिया भी कितनी माया से भरी है! बड़े ही आकर्षकरूप से वह हमारी ओर आता है और फिर फूलों के धनुषबाण से हमारी सभी ज्ञानेन्द्रियों पर एक साथ आक्रमण करता है। हमें पता भी नहीं लग पाता, पता लगने से पूर्व ही यह अपना काम बड़ी मधुरता से कर चुकता है। हमारे ज्ञान को नष्ट कर (मन्मथ) यह हमें अपना शिकार बना लेता है। इसकी माया से ऊपर उठना मनुष्य की शक्ति से बाहर की बात है।

परन्तु जब मनुष्य प्रभु के प्रति अपना अर्पण कर देता है तब फिर इस काम का कुछ

वश नहीं चलता। यह स्मर है, तो प्रभु स्मर-हर हैं। मनुष्यों के ज्ञानदीप को यह काम बुझा देता है, तो प्रभु की ज्ञानाग्नि में यह स्वयं भस्म हो जाता है। मनुष्य के हृदय में प्रभु का स्मरण होते ही इस काम की इतिश्री हो जाती है। मनुष्य पर इसकी माया प्रबल थी, परन्तु प्रभु की तो माया दासी ही है, इस प्रकार प्रभु-स्मरण से काम के समाप्त होने पर मनुष्य की वास्तविक उन्नति प्रारम्भ होती है, इसीलिए मन्त्र में प्रभु को 'अग्नि' कहा है—वे हमें आगे ले-चलनेवाले हैं। अब हम आत्मिक उन्नति के मार्ग पर निर्विघ्न हो आगे बढ़ पाते हैं। सांसारिक दृष्टिकोण से भी यह प्रभु का स्मरण घाटे का व्यापार नहीं है। वे प्रभु सब प्राप्तव्य पदार्थों के देनेवाले हैं। जो-जो वस्तु हमारे लिए उपयोगी है, वह हमें प्राप्त होगी। हमें तो उचित पुरुषार्थ करते चलना है। हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति का ध्यान स्वयं प्रभु करेंगे। वे 'हव्यदाति' हैं।

इस प्रकार काम के नाश से 'हमारा प्रेम का तत्त्व समाप्त हो जाता हो' यह बात नहीं। यह प्रेम संकुचित न रहकर व्यापक हो जाता है, हम सभी के प्रति प्रेमवाले होकर इस मन्त्र के ऋषि 'विश्वमनाः' बन जाते हैं। अब हमारे ज्ञानेन्द्रियरूपी घोड़े हीनमार्ग पर न जानेवाले होकर उत्कृष्ट मार्ग पर जाते हैं। ये सामान्य घोड़े न होकर विशिष्ट स्थितिवाले होते हैं। इनके स्वामी हम 'वैयश्व' बन जाते हैं—विशिष्ट अश्वोंवाले।

भावार्थ—प्रभु के प्रति समर्पण द्वारा हम 'विश्वमना वैयश्व' बनें।

ऋषिः—**ऋजिष्वा भरद्वाजः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

दूर-से-दूर फेंकिए (सात समुद्र पार)

१०५. अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम्। दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम्॥ ९॥

हे **सत्पते**=सयनों के रक्षक! हमारे मार्ग को **सुगम्**=सुगमता से जाने योग्य, सरल **कृधि**=कीजिए। हम सब कभी-न-कभी उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ चलने का संकल्प अवश्य करते हैं, उस मार्ग पर चल भी पड़ते हैं, परन्तु उसपर चलना **'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति'** सचमुच छुरे की तेज धार के समान कठिन प्रतीत होता है और हम फिर-फिर रुक जाया करते हैं, तब हम प्रभु से आराधना करते हैं कि **दविष्ठम्**=दूर-से-दूर (बहुत दूर) **अस्य**=इसे फेंकिए। यह बारम्बार लौटकर हमारे मार्ग को दुर्गम न बनाता रहे। स्पष्ट है कि यह मार्ग का विघ्न बड़ा धृष्ट (हठी obstinate) है, इसे हम परे फेंक भी दें, यह फिर आ जाता है, अतः हारकर हम प्रभु से कहते हैं कि आप इसे दूर-से-दूर (सात समुद्र पार) फेंकिए, जिससे यह फिर न लौट आये।

इस विघ्न का चित्रण ही 'वृजिनं, रिपुं, स्तेनं व दुराध्यम्' इन चार शब्दों से हुआ है। यह विघ्नरूप वासना (काम) **वृजिनम्**=वर्जनीय (वृजी वर्जने) है। इसकी आकृति अत्यन्त सुन्दर है, वस्तुतः सब देवों में सर्वाधिक सुन्दर 'काम' ही है। यह अत्यन्त कान्त है, परन्तु यह सुन्दराकृति सर्प के समान है, जो विषमय होने से बचकर चलने योग्य है। हम इसके फन्दे में पड़ गये तो यह 'रिपु' है, हमारा विदारण (Rip) करनेवाला है। यह हमें नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। भोगों को हम भोगने लगें तो हम उनका शिकार हो जाएँगें। ये हमारी इन्द्रियशक्तियों को जीर्ण कर देंगे—**सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः**। इतना ही नहीं, यह स्तेन है। **'संस्त्यानमस्मिन् पापकम्'** इसमें पाप घनीभूत होकर रहता है। इसके वशीभूत होने से हमारा जीवन पापमय

हो जाएगा।

यह सब-कुछ होते हुए यह 'दुराध्य' है, **दु:खेन वशीकर्तुं योग्यम्**' (दयानन्द)। इसको वश में करना बड़ा कठिन है और इसे दूर किये बिना आगे बढ़ना असम्भव है, अत: हम प्रभु से कहते हैं कि **त्यम्**=इस प्रसिद्ध वासनारूप शत्रु को **अप-अस्य**=हमसे दूर फेंकिए (असु क्षेपणे) जिससे हम आगे बढ़ सकें। हे प्रभो! आप **अग्ने**=हमें आगे ले-चलनेवाले हैं।

हम स्वयं आगे क्या बढ़ पाएँगे? आपकी शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर हम 'भरद्वाज' बनेंगे और तभी सरलता से अपने मार्ग पर आगे बढ़नेवाले 'ऋजिश्वा' (ऋजु सरल, श्वि-गति) हो सकेंगे।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम 'ऋजिश्वा भरद्वाज:' बन पाएँ।

ऋषि:—**विश्वमना वैयश्व:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**उष्णिक्**॥ स्वर:—**ऋषभ:**॥

तप से राक्षसों का दहन

१०६. श्रुष्ट्यग्ने नवस्य मे स्तोमस्य वीर विश्पते। नि मायिनस्तपसा रक्षसो दह॥ १०॥

अग्ने=हे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **वीर**=काम-क्रोधादि अमित्रों को समाप्त करनेवाले और इस प्रकार **विश्पते**=प्रजाओं की रक्षा करनेवाले प्रभो! प्रभु ही हमें उन्नति के पथ पर आगे ले-चलते हैं। उन्नति के विघातक काम-क्रोधादि शत्रुओं को वे समाप्त करते हैं और इस प्रकार वे सब प्रजाओं की रक्षा करते हैं।

जीव प्रभु से याचना करता है कि **मे**=मेरे **नवस्य**=(नव गतौ—नि०) क्रियामय **स्तोमस्य**=स्तुतिसमूह को **श्रुष्टि**=सुनिए—सायण। प्रभु यान्त्रिक कीर्तन को नहीं सुनते। प्रभु की अर्चना तो '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' कर्मों के द्वारा होती है। यदि हम सकामता से ऊपर उठ अपने नियत कर्मों को कर्त्तव्य-बुद्धि से करते हैं तो हम प्रभु की आराधना कर रहे होते हैं। स्तुति नव अर्थात् क्रियामय हो, केवल शाब्दिक नहीं।

इस क्रियामय स्तुति का रूप ही मन्त्र के उत्तरार्ध में व्यक्त हुआ है। प्रभु जीव से कहते हैं कि तू **मायिन:**=इन मायावी **रक्षस:**=राक्षसी वृत्तियों को **तपसा**=तप के द्वारा **निदह**=नितरां भस्म कर डाल। ये काम-क्रोधादि वासनाएँ मायावी हैं। ऊपर से इनका स्वरूप कुछ और है, अन्दर से कुछ और। 'काम' देवों में सबसे अधिक सुन्दर है, मधुर है, परन्तु परिणाम में वह मार=घातक है। यही इसका मायावीपन है कि प्रतीत कुछ और होता है, है कुछ और। मायावी कामादि रक्षस् हैं, रमण के द्वारा हमारा क्षय करनेवाले हैं। हमें प्रतीत ऐसा होता है कि हम आनन्द प्राप्त कर रहे हैं, परन्तु उसी आनन्दोपभोग में हमारे क्षय का बीज निहित होता है। इसीलिए इसका नाम 'र' (रमण)+क्षस् (क्षय) है। इन मायावी कामादि का नाश तपसे होता है। तित्तिरि ऋषि के शब्दों में तप का अभिप्राय 'ऋत, सत्य, श्रुत, शान्ति और दम' है। नियमित जीवन, सत्य-पालन, शास्त्र-श्रवण, यथासम्भव शान्ति, इन्द्रियों का दमन—यही तप है।

जो अपने जीवन को तप से युक्त करने के लिए प्रयत्नशील होगा, वह इन राक्षसी वृत्तियों का दहन करके 'विश्वमना:' व्यापक, उदार मनवाला बनेगा और विशिष्ट इन्द्रियरूप अश्वोंवाला होने से 'वैयश्व' होगा।

भावार्थ—हमारी स्तुति क्रियामय हो और हम तप से राक्षसी वृत्तियों का दहन करें।

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—**प्रयोगो भार्गवः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

यथाविधि उपासना

१०७. प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे। उपस्तुतासो अग्नये॥ १॥

इस मन्त्र का दर्शन 'प्रयोग भार्गव' ऋषि ने किया था। प्रयोग शब्द का अर्थ है 'जो क्रिया में लाता है'। यहाँ स्तुति का प्रकरण है, अतः प्रयोग क्रियात्मक स्तुति के पक्ष में है। प्रयोग का अर्थ प्रकृष्ट सम्पर्कवाला भी है। हम अपने सन्तानों का सम्बन्ध जोड़ते समय ध्यान रखते हैं कि कुल ऊँचा हो, परन्तु अपना सम्बन्ध जोड़ते समय हमें यह ध्यान नहीं रहता और हम प्रायः प्रभु को छोड़ प्रकृति से अपना सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। यह प्रयोग ऐसी ग़लती कभी नहीं करता। वह भार्गव है—भृगुपुत्र है। उसने तपस्या के द्वारा अपने जीवन का बड़ा सुन्दर परिपाक किया है (भ्रस्ज पाके)।

यह प्रयोग अपने साथियों से कहता है कि हे **उपस्तुतासः**=उपासको! **प्रगायत**=खूब गान करो। किसका? उस प्रभु का जो **१. मंहिष्ठाय २. ऋताव्ने ३. बृहते ४. शुक्रशोचिषे ५. अग्नये**—इन शब्दों से सूचित हो रहा है। यह सिद्धान्त है कि जिस रूप में हम प्रभु की उपासना करेंगे, वैसे ही बन जाएँगे, अतः हम प्रभु का निम्न पाँच रूपों में स्मरण करें—

१. मंहिष्ठाय प्रगायत=उस प्रभु के लिए स्तुति करो जोकि 'दातृतम' है (मंह्=दानकर्मा)। जिसने सब-कुछ जीवों के हित के लिए दिया हुआ है। प्रभु सबसे महान् दाता हैं। इतना महान् कि उनकी अपनी आवश्यकता है ही नहीं। हम भी अपनी आवश्यकताएँ न्यून और न्यून करते हुए अधिक-से-अधिक दानी बनने का प्रयत्न करें।

२. ऋताव्ने=ऋत=ठीक के अवन=रक्षण करनेवाले प्रभु का गान करो। प्रभु की पूर्ण अधीनता में चलनेवाली प्रकृति में सब ठीक समय पर होता है। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र ठीक समय पर प्रकट होते हैं। हम भी यथासम्भव सब कार्यों को ठीक समय पर करनेवाले बनें। विशेषतः 'सोना, जागना तथा खाना' नियत समय पर हो, जिससे हम पूर्ण आयुष्य तक चल सकें।

३. बृहते=वे प्रभु बृहत् हैं, महान् हैं। **'अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति'**=अपने न माननेवालों को भी वे भोजनाच्छादनादि प्राप्त कराते ही हैं। हम भी महान् बनें। हमारे विशाल हृदय में **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भावना हो।

४. शुक्रशोचिषे=दीप्त ज्योतिवाले प्रभु का गान करो। प्रभु का ज्ञान निर्मल, निर्भ्रान्त और देदीप्यमान है। हम भी अपने ज्ञान को दीप्त करने के लिए सतत प्रयत्न करें। यह ज्ञान हमारे सब कर्मों को पवित्र करेगा।

५. अग्नये=अग्रस्थान पर स्थित प्रभु के लिए गान करो। **'तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्'**—वे प्रभु तो अग्रस्थान पर स्थित हैं ही, मेरे जीवन का भी प्रतिदिन यही ध्येय हो कि 'आगे' और 'आगे'। यह ध्येय ही मुझे आलस्य व मार्गभ्रंश से बचाएगा।

भावार्थ—हम दाता, ऋत का पालन करनेवाले, दीप्त ज्ञानी व आगे बढ़ने के ध्येयवाले बनें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—ककुबुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

प्रभु-मित्रता के तीन लाभ

१०८. प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः। यस्य त्वं सख्यमाविथ॥ २॥

हे **अग्ने**=अग्रगति के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **यस्य**=जिसकी **सख्यम्**=मित्रता को **आविथ**=प्राप्त होते हो, **सः**=वह **तव**=आपके **ऊतिभिः**=रक्षणों से **प्रतरति**=तैर जाता है। यह संसार एक तेज बहती हुई पथरीली नदी के समान है। प्रलुब्ध करनेवाले शतशः विषय ही इसमें नुकीले पत्थर हैं। वे जीव को अपनी ओर आकृष्ट कर उसमें वासना के बीज अंकुरित कर देते हैं। ये विषय 'ग्राह' हैं। ये मनुष्य को पकड़ लेते हैं और वह उनमें डूब जाता है, परन्तु प्रभु जिसके मित्र होते हैं, उसे यह ग्राह पकड़ नहीं पाते, और वह सुरक्षित रूप से नदी के पार कल्याण-स्थान पर पहुँच जाता है।

परमेश्वर के संरक्षण कैसे हैं? इसका उत्तर **'सुवीराभिः'** तथा **'वाजकर्मभिः'** इन शब्दों से दिया गया है। ये रक्षण जिसे प्राप्त होते हैं उसे वे वीर बनाते हैं, उसमें कायरता नहीं होती। कायर के कर्म शक्ति-(वाज)-वाले हो ही कैसे सकते हैं? इसकी मनोवृत्ति कुछ दासता की-सी बन जाती है। यह संसार में खुशामद से भरा जीवन बिताता है। इसका आत्मसम्मान नष्ट हो चुका होता है। उसकी जीवन-नौका बहती चलती है, वह नदी की धारा को चीरकर उसे पार नहीं ले-जाती। प्रभु के साथ होते ही स्थिति बदल जाती है और वह शक्तिसम्पन्न हो नदी से पार हो जाता है।

एवं, प्रभु-मित्रता के तीन लाभ हैं—(क) संसार-समुद्र में विषय-ग्राहों से जकड़े जाकर डूब न जाना, (ख) कायरता से दूर होकर वीर बनना, तथा (ग) शक्तिशाली कर्मोंवाला होना।

प्रभु-मित्रता का अभिप्राय क्या है? इस प्रश्न का उत्तर इस मन्त्र के ऋषि के नाम में उपलभ्य है। मन्त्र का ऋषि है "सोभरि काण्व"—कण्वपुत्र अर्थात् अत्यन्त मेधावी, सुभर=सन्तान का उत्तम प्रकार से पालन-पोषण करनेवाला। मेधावी होने से वह इस तत्त्व को समझ लेता है कि भोजन (भुज=पालनाभ्यवहारयोः) पालन के लिए खाने का नाम है। उसका वह उतना ही प्रयोग करता है जितना शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक है। अधिक खाने से मनुष्य भोगों में फँस जाता है और अपनी शक्तियों को जीर्ण कर निर्बल बन जाता है। मनुष्य को चाहिए कि भोगों का शिकार न बन प्रभु का मित्र बने, तभी वह अपना ठीक भरण व पोषण कर पाएगा।

भावार्थ—हम सोभरि काण्व बनें। मेधावी बनकर 'जीवन के लिए खाना, नकि खाने के लिए जीना' इस महान् तत्त्व को व्यवहार में लाएँ।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—ककुबुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

स्वर्णर देव की उपासना

१०९. तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे। देवत्रा हव्यमूहिषे॥ ३॥

इस मन्त्र के ऋषि "सोभरि काण्व" हैं—यह कण्वपुत्र, अर्थात् अत्यन्त मेधावी (कण्व=मेधावी) उत्तम प्रकार से अपना पालन करनेवाला है। जीव स्वयं अपूर्ण होने से अपने पूरण

के लिए प्रकृति या परमात्मा की अपेक्षा करता है। शरीरधारी जीव के वस्तुतः दो अंश हैं—(१) क्षरांश—शरीर (२) अक्षरांश—आत्मतत्त्व, अतः इसे इन दोनों के पूरण के लिए क्रमशः प्रकृति व परमात्मा की आवश्यकता है। सामान्य मनुष्य केवल प्रकृति की ओर झुक जाता है और कुछ शारीरिक भोगों व आनन्द को प्राप्त करने के साथ उन्हीं में उलझकर अन्त में उनका शिकार हो जाता है। मन्त्र में कहते हैं कि **तम्**=उस प्रभु की **गूर्धय**=अर्चना कर जो **स्वर्णरम्**=स्वर्ग में—सुखमय स्थिति में पहुँचानेवाला है। प्रभु सुखमय स्थिति में किस प्रकार पहुँचाते हैं? इसका उत्तर मन्त्र में इस प्रकार दिया गया है कि **देवासः**=समझदार ज्ञानी लोग **देवम्**=उस दिव्य गुण परिपूर्ण **अरतिम्**=विषयों में अ-रममाण प्रभु की **दधन्विरे**=उपासना करते हैं। अ-रममाण प्रभु के उपासक ये देव स्वयं भी अ-रममाण बनने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः शरीर के लिए इन भोगों का उपादान आवश्यक है, इनमें फँस जाना हमारे अकल्याण का कारण होता है। यदि हम शरीर के लिए इनका सेवन करते रहें और 'अरति' परमात्मा की उपासना द्वारा इनमें फँसें नहीं तो ये भोग हमारे शारीरिक स्वास्थ्य का साधन बनते हुए आत्मिक पतन का कारण न बनेंगे। उस समय हमारा शरीर स्वस्थ होगा तथा आत्मा शान्त होगी। हम स्वर्ग में होंगे—सब कष्टों से ऊपर। भोगों में फँस जाने से हमारी आवश्यकताएँ बढ़ जाती हैं और हम उन्हीं को जुटाने में मर-खप जाते हैं, उस समय हम लोकहित के लिए कुछ व्यय नहीं कर सकते, परन्तु भोगों में न फँसने से **देवत्रा**=देवताओं में **हव्यम्**=देने योग्य पदार्थों को **ऊहिषे**=प्राप्त कराने में हम समर्थ होते हैं।

भावार्थ—अ-रममाण प्रभु की उपासना के द्वारा हम अपनी स्थिति को सुखमय बनाएँ।

ऋषिः—**प्रयोगो भार्गवः सोभरिः काण्वो वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

हम अतिथि को क्रुद्ध न करें

११०. मा नो हृणीथा अतिथिं वसुरग्निः पुरुप्रशस्त एषः। यः सुहोता स्वध्वरः॥ ४॥

प्रभु अतिथि हैं। १. अतिथि की भाँति हमें प्रभु के दर्शन कभी-कभी होते हैं। २. वे हमें स्वर्ग प्राप्त करानेवाले हैं। ३. अतिथि की भाँति वे भी गमनशील हैं। प्रभु अरति हैं। ४. वे सभी के हित के लिए सदा क्रियाशील हैं (अत् सातत्यगमने)। **अतिथिम्**=अतिथि प्रभु को **नः**=हमारे लिए **मा**=मत **हृणीथाः**=क्रुद्ध करो। हमारा सारा प्रयत्न ऐसा हो कि हम इस अतिथि की ठीक आराधना कर पाएँ—हमारा व्यवहार उसे अप्रसन्न करनेवाला न हो। हमें चाहिए कि जैसे वे प्रभु 'वसु, अग्नि, पुरु, प्रशस्त, सुहोता और स्वध्वर' हैं, हम भी उसी प्रकार वसु आदि बनने का प्रयत्न करें—

१. **वसुः**=(वासयति) बसानेवाला है। प्रभु सबके बसानेवाले हैं, हमारे प्रयत्न भी इसी दिशा में हों। हम औरों के उजाड़नेवाले न बनें।

२. **अग्निः**=(अग्रे णीः) प्रभु स्वयं सर्वोच्च स्थान में स्थित (परमेष्ठी) होते हुए सब जीवों को आगे और आगे चलने की प्रेरणा दे रहे हैं। हम भी अपने जीवन को ऊँचा बनाकर औरों की उन्नति में सहायक हों।

३. **पुरु-प्रशस्तः**=प्रभु 'पुरु' हैं (पृ-पालनपूरणयोः) सबके पालक व पूरक हैं—कमियों को दूर करनेवाले हैं, अतएव 'प्रशस्त' प्रशंसा योग्य हैं। हमारा जीवन भी पालक व पूरक बनकर प्रशस्त (admirable) हो।

४. हम किस प्रभु को क्रुद्ध न करें? **यः**=जो **सुहोता**=उत्तम दाता हैं (हु दाने)। प्रभु की अपनी आवश्यकताएँ शून्य हैं, अतः वे खूब देनेवाले हैं—देने-ही-देनेवाले हैं। हम भी अपनी आवश्यकताओं को कम और कम करते हुए अपनी देने की क्षमता को बढ़ाएँ, सदा दानपूर्वक अदन (भक्षण) करनेवाले बनें। दें, और बचे हुए यज्ञशेष को खाएँ। यज्ञशेष ही अमृत है। यही 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' का पाठ है।

५. **स्वध्वरः**=(सु अध्वर, ध्वृ हिंसायाम्) वे प्रभु सर्वोत्तम अहिंसक हैं। हमारे जीवन का व्यवहार भी ऐसा हो कि वह औरों की किसी प्रकार की हिंसा व हानि करनेवाला न हो। अहिंसा परमधर्म है। शक्ति की परख निर्माण में है, हिंसा शक्ति की सूचक नहीं।

इन वसु आदि गुणों का अपने साथ उत्तम मेल करनेवाले—प्रकृष्ट योग=सम्बन्ध करनेवाले ही इस मन्त्र के ऋषि 'प्रयोग' हुआ करते हैं। यह सब तपस्या से साध्य है, अतः यह प्रयोग 'भार्गव'—भृगु=तपस्वी (भ्रस्ज पाके) का पुत्र है—खूब तपस्वी है, इस मार्ग पर चलनेवाला 'सोभरि'=उत्तम पालन करनेवाला है। यही 'काण्व'=मेधावी है।

भावार्थ—मनुष्य वसु आदि गुणों से सम्पन्न बनकर प्रभु की आराधना करे।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

चार प्रयाण : चार कर्त्तव्य

१११. भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः। भद्रा उत प्रशस्तयः॥ ५॥

इस मन्त्र के ऋषि 'सोभरि काण्व' हैं। यह उत्तम प्रकार से अपना भरण करता है, अतएव सचमुच मेधावी है। जीवन-यात्रा के चार प्रयाण हैं। एक-एक प्रयाण=पड़ाव के लिए यह अपना एक-एक आदर्शवाक्य (motto) बना लेता है। ब्रह्मचर्यरूप प्रथम पड़ाव में यह कहता है कि **आहुतः**=जिसके प्रति हमने पूर्णतया अपना समर्पण कर दिया है, वह **अग्निः**=पिता, माता और आचार्य **नः**=हमारे लिए **भद्रः**=कल्याणकर हों। इस आश्रम में बालक को पाँच वर्ष तक माता के प्रति, आठ वर्ष तक पिता के प्रति और फिर पच्चीस वर्ष की आयु तक आचार्य के प्रति अपने को सौंप देना चाहिए। वे जो कुछ खिलाएँ, पिलाएँ, पढ़ाएँ वही ठीक है, ऐसी इसकी भावना होनी चाहिए। जो ब्रह्मचारी इस प्रकार आचार्य के प्रति अपना समर्पण करेगा वह स्वभावतः आचार्य का अत्यन्त प्रिय होगा और आचार्य उसे पुत्र से भी अधिक समझते हुए अधिक-से-अधिक ज्ञानी बनाने का प्रयत्न करेंगे।

इसके बाद द्वितीय आश्रम गृहस्थ है। इसमें मूल कर्त्तव्य है कि 'हम दें'। **सुभगः**=घर को सौभाग्यशाली बनानेवाली **रातिः**=दान-वृत्ति **भद्राः**=हमारा कल्याण करनेवाली हो। **"जुहोत प्र च तिष्ठत"**=दान दो और प्रतिष्ठा पाओ। यह बात सबके अनुभव की है कि दान देनेवाले की लोक में प्रतिष्ठा होती है। **"श्रदस्मै वचसे नरो दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः"**= प्रभु कहते हैं कि हे मनुष्यो! इस वचन में श्रद्धा करो कि दिल खोलकर दान करनेवाले पति-पत्नी सुन्दर सन्तान प्राप्त करते हैं और **"दक्षिणां दुहते सप्त मातरम्"** दान दिये हुए धन को सप्त गुणित करके हम फिर प्राप्त करते हैं। इस प्रकार दान एक गृहस्थ को प्रतिष्ठित, उत्तम सन्तान से युक्त व धनधान्य-सम्पन्न बनाता है।

अब वानप्रस्थाश्रम अथवा यात्रा के तीसरे पड़ाव में यह सोभरि कहता है कि **अध्वरः**= अहिंसात्मक यज्ञ [illegible] को गृहस्थाश्रम छोड़ते हुए घर की सारी

सामग्री को ही छोड़ जाना होता है। केवल अग्निकुण्ड व हवन के हेतु चम्मच आदि लेकर ही वह वनस्थ हो जाता है। यह अग्निहोत्र उसके यज्ञिय जीवन का प्रतीक है, अब उसे सारा जीवन यज्ञमय बनाना है। गृहस्थ में वह थोड़ी-बहुत हिंसा कर बैठता था, परन्तु अब तो गृहस्थ-भार से मुक्त हो जाने पर उसे उतनी हिंसा से भी ऊपर उठना है।

उत=और अब इस अहिंसा की साधना के बाद चौथे पड़ाव में **प्रशस्तयः**=प्रभु की स्तुतियाँ, सदा प्रभु का स्मरण **भद्राः**=कल्याणकर हों। संन्यासी यदि प्रभु का स्मरण न करे तो किसी भी समय स्खलित हो सकता है, अतः उसे सदा प्रभु-स्मरण में लगे रहना है। ऐसा करने पर यह यात्रा निर्विघ्न पूरी हो जाएगी।

भावार्थ—हम समर्पण, दान, यज्ञ व प्रभु-स्मरणरूप चार केन्द्रीभूत कर्त्तव्यों का पालन करते हुए जीवन-यात्रा को निर्विघ्न पूर्ण करें।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वरः—ऋषभः॥

यजिष्ठ प्रभु के वरण का लाभ

११२. यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्॥ ६॥

सोभरि काण्व प्रार्थना करता है कि हम **यजिष्ठम्**=दान देनेवालों में सर्वश्रेष्ठ **त्वा**=तुझे (प्रभु को) **ववृमहे**=वरते हैं। इस जीवन-यात्रा में जिसने प्रभु को वरा वही 'काण्व'=मेधावी है। प्रकृति का वरण बुद्धिमत्ता नहीं; यह घाटे का सौदा है। इसमें क्षणिक आनन्द के लिए हम अपनी इन्द्रिय-शक्तियों को जीर्ण कर लेते हैं और अपने ज्ञान को क्षीण करनेवाले बनते हैं, किन्तु सोभरि-जीवन यात्रा का भरण करनेवाला है—इसलिए वह प्रभु का वरण करता है।

वे प्रभु यजिष्ठ हैं। यजिष्ठ शब्द का ही व्याख्यान मन्त्र में इस प्रकार करते हैं कि **देवत्रा**=देवों में भी **देवम्**=वह प्रभु देव हैं। **'देवो दानात्'**=देव देता है। सूर्यादि प्रकाशादि देने से देव हैं। प्रभु महादेव हैं। और सब देवों की देने की शक्ति सीमित है—प्रभु की दानशक्ति असीम है। **होतारम्**=प्रभु तो जीव के हित के लिए अपनी आहुति दे देनेवाले हैं। **'आत्मदा'**=अपने को दे-देनेवाले हैं।

जो व्यक्ति इस प्रभु का वरण करता है—वह भी अपने जीवन को ऐसा ही बनाता है। यजिष्ठ के वरण का अभिप्राय यही तो है कि यह वरण करनेवाला भी यजिष्ठ बनने का निश्चय करता है। यह अधिक-से-अधिक दान देनेवाला बनता है। इसका लाभ यह होता है कि **अमर्त्यम्**=प्रभु तो न मरनेवाले हैं ही, दान देनेवाला भी अमर हो जाता है। अमर्त्य की भावना यह भी है कि इस त्यागवृत्ति के कारण भोगों का शिकार न होकर वह रोगों में नहीं फँसता। वह स्वाभाविक मृत्यु से ही शरीर छोड़ता है।

वे प्रभु **अस्य यज्ञस्य**=इस ब्रह्माण्ड-यज्ञ के **सुक्रतुम्**=उत्तम कर्त्ता हैं। प्रभु की अपनी आवश्यकताएँ नहीं, इसी का परिणाम है कि वे ब्रह्माण्ड-यज्ञ को उत्तम प्रकार से चला रहे हैं, हम भी अपनी आवश्यकताओं को कम करेंगे तो अपने जीवन-यज्ञ के उत्तम कर्त्ता बन पाएँगे।

भावार्थ—हम देनेवाले बनकर अमर्त्य बनें और जीवन-यज्ञ को उत्तम विधि से पूर्ण करें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—ककुबुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

उस ज्योति को

११३. तदग्ने द्युम्नमा भर यत्सासाहा सदने कं चिदत्रिणम्। मन्युं जनस्य दूढ्यम्॥ ७॥

अपना उत्तम पोषण करनेवाला मेधावी 'सोभरि काण्व' प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अग्ने**=हे प्रभो! **तत् द्युम्नम्**=उस ज्योति को **आभर**=हममें पूर्णतया भर दो **यत्**=जो **सासाहा**=पराभूत कर दे **सदने**=उनके घर में, उनके निवास स्थान में। किनको?

१. अत्रिणम्=(अद् भक्षणे) खानेवाले को, कभी न तृप्त होनेवाले को, 'महाशन' काम को। **'कामो हि समुद्रः'** काम समुद्र है। समुद्र कभी भरता नहीं। काम भी कभी भरता—रजता नहीं। यह काम कुछ विचित्र है—तृप्त होता ही नहीं और कितना सुन्दर है! आते ही आकृष्ट कर लेता है। मित्ररूप में शत्रु यह काम कुछ विलक्षण ही है। यह ज्योति इस 'काम' को नष्ट करे। फिर किसको नष्ट करे?

२. मन्युम्=क्रोध को। अविचार (मन्=विचार, यु=पृथक् करना) से ही क्रोध उत्पन्न होता है। विचार करते ही यह उड़ जाता है। शिक्षा-विज्ञों ने इस तत्त्व के आधार पर ही यह सिद्धान्त बनाया कि दण्ड चौबीस घण्टे बाद दिया जाए। तत्काल दण्ड देने में अविचार के कारण क्रोध में अधिक दण्ड दिया जाता है। कुछ विलम्ब हो जाने से विचार का अवसर मिल जाता है और क्रोध-समाप्ति से दण्ड भी समाप्त हो जाता है।

३. अन्त में, यह ज्योति उस वृत्ति को समाप्त करे जो वृत्ति **जनस्य**=मनुष्य को **दूढ्यम्**=दुर्बुद्धि बना देती है (दुर्धियम्)। लोभ के कारण संसार में भाई-भाई की हत्या कर देता है, बहिन भाई को समाप्त करने की सोचती है। वस्तुतः लोभ मनुष्य की बुद्धि को नष्ट कर देता है—मनुष्य को दुर्बुद्धि बना देता है। हम प्रभु से याचना करते हैं कि हमें वह ज्योति दो जिसके तीव्र प्रकाश में यह लोभ पनपे ही नहीं।

यदि हमने काम, क्रोध, लोभ की विनाशक ज्योति को प्राप्त किया तो हम अपना ठीक भरण करनेवाले इस मन्त्र के ऋषि 'सोभरि काण्व' बन जाएँगे।

भावार्थ—हम वह ज्योति प्राप्त करें जिसमें काम, क्रोध, लोभ का अंकुर रहे ही नहीं।

ऋषिः—विश्वमनाः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—ककुबुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

आत्मा को पतला कीजिए

११४. यद्वा उ विश्पतिः शितः सुप्रीतो मनुषो विशे। विश्वेदग्निः प्रति रक्षांसि सेधति॥ ८॥

यत्=जब **वा उ**=निश्चय से **विश्पतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक **अग्निः**=वह प्रभु **शितः**=पतला किया जाता है और **सु-प्रीतः**=जीव से सम्यक् प्रसन्न होता है **इत्**=निश्चय से तब **मनुषः**=मनुष्य के **विशे**=अन्दर, अर्थात् हृदय में **विश्वा**=न चाहते हुए भी अन्दर घुस आनेवाली और **रक्षांसि**=रमण के द्वारा क्षय करनेवाली राक्षसी वृत्तियों को **प्रतिसेधति**=निषिद्ध कर देता है, अर्थात् दूर कर देता है।

गत मन्त्र में उस ज्योति की याचना की थी जो काम, क्रोध, लोभ को पराभूत कर दे। इस मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि इन राक्षसी वृत्तियों के आक्रमण से बचानेवाला वह प्रभु ही

है—इसी से 'विश्-पति' है। यह काम, क्रोध, लोभ की वृत्तियाँ रमण के द्वारा क्षय करनेवाली होने से 'रक्षस्' हैं। आरम्भ में ये मधुर, परन्तु परिणाम में विष के तुल्य हैं। ये भोगों के द्वारा ही रोगी बनाती हैं। खिलाती-खिलाती ही खा जाती हैं। आराम (ease) के द्वारा बे-आरामी (disease) में ले-आती हैं। हम इन्हें क्या भोगते हैं, ये ही हमें अपना शिकार बना लेती हैं।

ये बड़ी प्रबल हैं। हम इन्हें क्या जीतेंगे? प्रभु ही हमारे लिए इनका विध्वंस करेंगे, परन्तु कब? जब वो 'शित' व 'सुप्रीत' होंगे। प्रभु को प्रसन्न करने का उपाय यह है कि प्रभु ने हमें जो कार्य सौंपे हैं हम उन्हें करनेवाले बनें। प्रभु की आराधना कर्म से ही होती है **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'**। हमारे कर्म निम्न हैं—१. मनुष्य, मानुष, मनुज, मानव—ये चारों शब्द 'मनु' की—ज्ञानी की सन्तान बनने का संकेत कर रहे हैं। हम खूब ज्ञानी बनें। २. मर्त्य=हम लोकहित के लिए प्राणों का भी त्याग करनेवाले हों। ३. नर=(न रम्) हम विषयों में विचरते हुए भी उनमें न फँसें। ४. पुमान्=(पूञ्) अपने को पवित्र बनाएँ। ५. पञ्चजना:=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों की शक्ति का विकास करनेवाले बनें और अन्त में ६. पुरुष, पूरुष—अपने में पौरुष को सिद्ध करें। इन कार्यों के द्वारा प्रभु सु-प्रीत (well pleased with us) होंगे।

आत्मा को पतला करने का अभिप्राय उपनिषद् की 'मुञ्जादिवेषीकाम्'—मुञ्ज से सींक की भाँति, इस उपमा से स्पष्ट है। इषीका (सींक) पतली-सी होती है, उसपर मूँज का आवरण होने से वह सींक मोटी हो जाती है, आवरण हटाते जाएँ तो वह फिर से अपने रूप में आ जाती है। इसी प्रकार आत्मा के अन्दर परमात्मा निहित है और वह आत्मा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय—इन पाँच कोशों से आवृत है। इन आवरणों ने सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आत्मतत्त्व को स्थूल बना दिया है। सामान्यत: हम इस स्थूल शरीर को ही 'मैं' के रूप में समझते हैं। ज्यों-ज्यों हम इन आवरणों का विश्लेषण कर इन्हें आत्मतत्त्व का आवरण नहीं रहने देंगे, त्यों-त्यों आत्मतत्त्व शित=पतला—सूक्ष्म होता जाएगा। अन्त में सब आवरण हटकर उसका शुद्ध रूप हम देखेंगे, उस समय ये कामादि हममें न दिखेंगे। ये अन्धकाररूप हैं, उस ज्योति में इनका रहना सम्भव कहाँ? उस समय व्यक्ति **"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानम्"** सब भूतों को आत्मा में और सब भूतों में आत्मा को देखता हुआ 'विश्वमना:'=व्यापक मनवाला बन जाता है। उस समय उसके इन्द्रियरूप अश्व विशिष्ट शान्ति-सम्पन्न होने से यह व्यश्व की सन्तान 'वैयश्व' कहलाता है। इस समय इसकी इन्द्रियाँ कामादि का अधिष्ठान न रहकर शान्ति का अधिष्ठान बन गयी हैं।

भावार्थ—हम आत्मा को आवरणों से पृथक् करके देखें और अपने कर्त्तव्य कर्मों के द्वारा उस प्रभु की आराधना करें।

अथ ऐन्द्रं काण्डम् : द्वितीयोऽध्यायः

तृतीया दशतिः

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

निर्माण, नकि ध्वंस

११५. तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने। शं यद्गवे न शाकिने॥ १॥

तत्=उस प्रभु का **गाय**=गायन कर जो **पुरुहूताय**=बहुतों से पुकारा जाता है या जिसका आह्वान पालन व पूरण करनेवाला है। कट्टर-से-कट्टर नास्तिक भी कष्ट आ पड़ने पर प्रभु को पुकारता है। प्रभु उसकी पुकार को सुनते हैं, अवश्य उसकी रक्षा करते हैं और उसकी कमी को दूर करते हैं। उस प्रभु का गायन कर जोकि **सत्वने**=शत्रुओं का **सद्**=विशरण—नाश कर देते हैं। प्रभु का गायन करने पर काम-क्रोधादि की वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। वह प्रभु **यत्**=जोकि **वः**=तुममें से **गवे न शाकिने**=गौ-जैसे निर्दोष (innocent, harmless) तथा शक्ति के मद में चूर निर्बलों पर अत्याचारी (शाकी)—दोनों के लिए ही कल्याण करनेवाले हैं। प्रभु सभी का कल्याण करते हैं, चाहे वह भोला-भाला निर्दोष हो अथवा अत्याचारी। यदि वह प्रभु की शरण में आया है तो प्रभु उसका स्वागत ही करते हैं, क्योंकि उसने शुभ मार्ग पर चलने का निश्चय किया है।

प्रभु के गायन के लिए एक नियम ध्यान में रखना चाहिए कि घर के सभी सभ्य **सचा**=मिलकर उस प्रभु का गायन करें। इस सम्मिलित गायन से घर का सारा वातावरण बड़ा सुन्दर बनता है—एक अद्भुत वायुमण्डल।

यह गायन क्यों करें? **सुते**=उत्पादन के निमित्त। प्रभु के स्तवन से मनोवृत्ति इतनी सुन्दर बनती है कि किसी के ध्वंस का हमें ध्यान भी नहीं आता। प्रभु का गायन हममें सर्वबन्धुत्व की भावना को जन्म देता है। उस भावना के जाग्रत् होने पर हम किसी का भी बुरा क्यों चाहेंगे? इस मनोवृत्ति से परस्पर के संघर्ष समाप्त होकर शान्ति का विस्तार होगा। इस शान्ति का उपस्थापन करनेवाला 'शं-यु' इस मन्त्र का ऋषि है। उत्तम ज्ञान होने पर ही यह सब सम्भव है, अतः वह 'बार्हस्पत्य' है, ज्ञानियों का ज्ञानी है।

भावार्थ—हम सब मिलकर प्रभु का गायन करें, जिससे हममें निर्माण की, नकि ध्वंस की भावना जन्म ले।

(नोट—इन्द्र का सम्बन्ध 'सुत'=निर्माण से है, निर्माण के बिना ऐश्वर्य नहीं।)

ऋषिः—श्रुतकक्ष आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अद्भुत मस्ती

११६. यस्ते नूनं शतक्रतविन्द्र द्युम्नितमो मदः। तेन नूनं मदे मदेः॥ २॥

हे **शतक्रतो**=अनन्त ज्ञान व कर्मवाले **इन्द्र**=सर्वैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यः**=जो **ते**=तेरा **नूनम्**=निश्चय ही **द्युम्नितमः मदः**=अत्यन्त प्रकाशमय मद है **तेन**=उससे **ऊनम्**=रहित मुझे **नु**=इस समय **मदे**=मद के निमित्त **मदेः**=मदवाला कर दीजिए।

मद का अर्थ नशा, धुन, मस्ती व ख़ब्त होता है। जब यह नशा शराब आदि के प्रयोग से उत्पन्न किया जाता है तब इसमें अच्छी भावना नहीं होती। अन्नमात्र के खाने से कुछ नशा उत्पन्न होता है। धन का भी नशा है, जो धतूरे के नशे से भी अधिक कहा गया है। किसी भी बाह्य वस्तु का नशा उत्तम नहीं। अन्दर का नशा इनकी तुलना में उत्तम होता है। मनुष्य बल का सम्पादन करे, बल-सम्पादन की उसे धुन हो। यह बल-सम्पादन धन-सम्पादन से अधिक उत्तम है। इससे भी उत्तम प्राणों की साधना है। प्राणों को निर्भीक बनाने की धुन बल-सम्पादन से अच्छी है। इस प्राणमयकोश से भी ऊपर उठकर मनोमयकोश को निर्मल बनाना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। मन से द्वेष को दूर हटाने में जुट जाना अधिक आनन्दप्रद होता है, परन्तु इससे भी उत्कृष्ट आनन्द विज्ञानमयकोश का है। उस आनन्द में डूबे हुए व्यक्ति को अन्य सब आनन्द फीके प्रतीत होते हैं। इस आनन्द से ऊँचा आनन्द तो केवल ब्रह्म-प्राप्ति का आनन्द है, जिसका यह साधन है। विज्ञान-प्राप्ति में लगा हुआ मनुष्य अन्य सब सांसारिक व्यसनों से बच जाता है और इस प्रकार यह विद्या का व्यसन मनुष्य को हीन व्यसनों से मुक्त कर ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य बनाता है। यह ज्ञान उसका शरण-स्थल बनता है, जहाँ छिपकर वह काम, क्राधादि के आक्रमणों से बच जाता है। एवं, ज्ञान को अपनी शरण (shelter) बनानेवाला यह व्यक्ति 'श्रुतकक्ष' (ज्ञान है शरण जिसका, hiding place) बना है। इससे उत्तम शरण और क्या हो सकती है! अतः यह 'सु-कक्ष'=उत्तम शरणस्थलवाला है। व्यसनों में न फँसने से अपनी शक्ति की रक्षा करनेवाला यह 'आङ्गिरस'=शक्तिसम्पन्न है।

भावार्थ—हमें ज्ञान की मस्ती प्राप्त हो। ज्ञान-प्राप्ति में हमें आनन्द आने लगे। यह ज्ञान-प्राप्ति का व्यसन हमें अन्य व्यसनों से बचा लेगा। यह ज्ञान हमारा शरण=shelter होगा।

ऋषिः—हर्यतः प्रागाथः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभो! बोलो तो

११७. गाव उप वदावटे महीं यज्ञस्य रप्सुदा। उभा कर्णा हिरण्यया॥ ३॥

इस मन्त्र का ऋषि 'हर्यत प्रागाथ' है। प्रभु का खूब ही गायन करनेवाला 'प्रागाथ' है। खाते-पीते, सोते-जागते यह प्रभु का स्मरण करना नहीं भूलता। इसकी वाणी निसर्गतः प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करती है, परन्तु प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करते हुए यह 'हर्यत' है (हर्य गतिकान्त्योः)। यह गतिमय है, इसमें पुरुषार्थ है तथा प्रबल इच्छाशक्ति है कि वह ज्ञान प्राप्त कर सके। पिछले मन्त्र में इसी ज्ञान की मस्ती की याचना थी। यह माता, पिता, आचार्य व विद्वान् लेखकों की पुस्तकों से खूब ज्ञान प्राप्त करने के बाद अभी अतृप्त ही है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि आप मेरे **अवटे**=उस हृदयाकाश में, जिसकी मैंने यथासम्भव काम-क्रोधादि की वृत्तियों के आक्रमण से रक्षा (अव् रक्षणे) की है, **गावः**=तत्त्व को जनानेवाली वेदवाणियों का **उपवद**=उच्चारण कीजिए। मैं प्राकृतिक भोगों में फँसा हुआ नहीं हूँ। इस समय मैं आपके ही समीप उपस्थित हूँ। आप बोलिए तो सही। मैं क्यों न सुनूँगा? इस समय मुझे सुनने की प्रबल कामना है।

कैसी वाणियों को? १. **महीः**=महिमा से भरी—अर्थगौरववाली। जिनके छोटे-छोटे शब्द महान् अर्थों से भरे हुए हैं। जैसे यहाँ ही 'अवट' शब्द उस हृदय का वाचक है जिसको वासनाओं से अवन=रक्षा की गयी है। २. **यज्ञस्य रप्+सु+दा**=यज्ञ के उपदेश को उत्तम प्रकार से देनेवाली। ये वेदवाणियाँ सदा उत्तम कर्मों का उपदेश देती हैं। उपदेश भी इस प्रकार से कि पाठक के हृदय पर उत्तम प्रभाव पड़े। ३. **उभा कर्णा हिरण्यया**=जो वाणियाँ दोनों कानों के लिए हितकर व रमणीय हैं। अशुभ शब्दों का सुनना भी अहित व अरमणीय है। कुछ आपातरमणीय वह लगा करता है, परन्तु उसका परिणाम परिताप-कर है। वेदवाणियों का सुनना ही ठीक है।

भावार्थ—प्रभु बोलें और मैं सुनूँ। ये वेदवाणियाँ अर्थ से भरी, उत्तम उपदेश देनेवाली व हित-रमणीय हैं।

ऋषिः—श्रुतकक्षः आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

इन्द्र का तेज

२३१ २ ३ १२ ३ २३ १२ २३ १ २ ३ १ २
११८. अरमश्वाय गायत श्रुतकक्षारं गवे। अरमिन्द्रस्य धाम्ने॥ ४॥

इस मन्त्र का ऋषि 'श्रुतकक्ष आङ्गिरसः' है। श्रुत=शास्त्र-श्रवण है कक्ष=रक्षण स्थान (hiding place) जिसका, ऐसा श्रुतकक्ष आङ्गिरस=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला है। उसका शरीर सूखी लकड़ी नहीं बन गया। सब अङ्गों में एक लोच है, लचक है। ज्ञान को इसने अपनी शरणस्थली बनाया है और व्यसनों से बचकर अपनी शक्तियों को यह स्थिर रख सका है। यह श्रुतकक्ष व्यसनों से बचाव के लिए ही उस प्रभु का **अरम्**=खूब **गायति**=गायन करता है। प्रभु का स्मरण उसे सन्मार्ग से विचलित नहीं होने देता। यह प्रभु का गायन इसलिए करता है कि **अश्वाय**=इसकी कर्मेन्द्रियाँ उत्तम बनी रहें। कर्मेन्द्रियों की उत्तमता के लिए यह गायन करता है। (अश् व्याप्तौ) कर्मों में व्याप्त होने से कर्मेन्द्रियाँ 'अश्व' कहलातीं हैं। प्रभु के स्मरण से वे निन्द्य कर्मों में प्रवृत्त नहीं होतीं। **श्रुतकक्ष अरम्**=हे श्रुतकक्ष! तू खूब गायन करता है **गवे**=गौओं के लिए। अर्थों=विषयों को प्राप्त करानेवाली होने से ज्ञानेन्द्रियाँ 'गावः' कहलाती है। इनके अपवित्र न होने देने के लिए श्रुतकक्ष प्रभु का गायन करता है और फिर **अरम्**=खूब गायन करता है **इन्द्रस्य धाम्ने**=आत्मा के तेज के लिए। प्रभु के गायन से आत्मा से मेल होता है और परमात्मा की शक्ति से आत्मा शक्तिसम्पन्न बनती है। यह शक्तिसम्पन्न आत्मा इन्द्रियों को अपने वश में रखती है और इन आत्मवश्य इन्द्रियों से विषयों में जाता हुआ भी उनमें फँसता नहीं, वरन् 'प्रसाद' प्राप्त करता है।

मनुष्य इन्द्रियों को निर्दोष रखते हुए आत्मा की शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करे। इन्द्रियों की शक्ति बढ़ाना और इन्द्र की शक्ति की ओर ध्यान न देना अन्त में इन्द्रियों की दासता का कारण बनता है। इन्द्रियों का दास बनकर मनुष्य दुःख-सागर में गिरता है। श्रुतकक्ष इन्द्रियों को पवित्र बनाता है और आत्मा को तेजस्वी।

भावार्थ—हम प्रभु का गायन करें, जिससे हमें इन्द्रियों की पवित्रता व आत्मिक तेज प्राप्त हो।

ऋषिः—श्रुतकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

आत्मिक शक्ति के चार लाभ

११९. तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे। स वृषा वृषभो भुवत्॥ ५॥

पूर्व मन्त्र में श्रुतकक्ष ने कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों व इन्द्र की तेजस्विता के लिए प्रभु का गायन किया था। वह श्रुतकक्ष ही इस मन्त्र में कहता है कि इन्द्रियों को शक्तिशाली बनाने की बजाय हम **तम्**=उस **इन्द्रम्**=आत्मा को ही **वाजयामसि**=शक्तिशाली बनाते हैं। किसलिए? **महे**=महत्त्व प्राप्ति के लिए। इन्द्रियों की शक्ति बढ़ा लेने से किसी ने इस लोक में महिमा प्राप्त नहीं की। वस्तुतः बाह्य साम्राज्य के स्थान में अन्तःसाम्राज्य को बढ़ाना ही श्रेयस्कर है। हम इस अन्तःसाम्राज्य में आत्मिक शक्ति को बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, **वृत्राय हन्तवे**=ज्ञान को आवृत करनेवाले इस कामरूप वृत्र के विनाश के लिए। इन्द्रियों की शक्ति बढ़ाने से वासनाओं को कुछ बढ़ावा मिलता है—जबकि आत्मा की तेजस्विता इन वासनाओं को दग्ध कर देती है।

आत्मा की शक्ति बढ़ाकर **सः**=वह श्रुतकक्ष **वृषा**=शक्तिशाली **भुवत्**=बनता है। स्वयं शक्तिशाली होकर वह **वृषभः**=औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला बनता है। इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ानेवाला व्यक्ति निजी भोगों को बढ़ाने के मार्ग पर चलता है, औरों को हानि पहुँचाकर भी वह अपने को सुखी बनाने के लिए प्रयत्नशील होता है।

भावार्थ—हम आत्मिक तेज प्राप्त करें। वह हमें महत्त्व प्राप्त कराएगा, कामादि के विध्वंस के योग्य बनाएगा, इस प्रकार शक्तिसम्पन्न होकर हम लोकहित करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—इन्द्रमातरो देवजामयः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

माता का कर्त्तव्य

१२०. त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः। त्वं सन्वृषन्वृषेदसि॥ ६॥

इस मन्त्र की ऋषिका 'देवजामय इन्द्रमातरः' हैं। ये दिव्य गुणों को जन्म देनेवाली हैं और इन्द्र का निर्माण करती हैं। यदि माता शैशव में ही उसे आत्मा की सम्पत्ति कमाने का उपदेश करेगी तो वह जीव सचमुच 'इन्द्र' बनेगा, अन्यथा इन्द्रियों को सबल बनाने में ही लगा रहेगा। माताओं को बालकों में आरम्भ से ही दिव्य गुणों को पैदा करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए, अतः ये देव-जामियाँ जात=उत्पन्न बालक से कहती हैं कि **इन्द्र**=इन्द्र! **त्वम्**=तू **बलात् अधिजातः असि**=मानस बल से उत्पन्न हुआ है, तू **सहसः**=सहन-शक्ति से, उत्पन्न हुआ है, **ओजसः**=ओजस् से उत्पन्न हुआ है। तुझे अपने में मानस बल व ओज का सम्पादन करना है और सहन-शक्ति का पुञ्ज बनना है। मानस बल का सम्पादन करके **त्वम्**=तू **सन्**=एक विशेष सत्तावाला बनना। तू संसार में non-entity=सत्ताशून्य निर्बल-सा प्राणी न बनना। सहन-शक्ति का पुञ्ज होकर तू **वृषन्**=सुखों की वर्षा करनेवाला हो।

इस प्रकार ओजस्वी बनकर तू **इत्**=सचमुच **वृषा**=बलवान् बनना—प्रभावशाली बनना, औरों पर अपने प्रभाव की वर्षा करनेवाला होना। यह बल, सहस् व ओज ही तेरी आत्मिक सम्पत्ति हैं, तू इन्हीं को महत्त्व देना।

भावार्थ—माताएँ अपने बालकों में दिव्य गुणों को जन्म देकर उन्हें परमैश्वर्यशाली 'इन्द्र' बनाएँ।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मस्तिष्क का आभूषण

१२१. यज्ञ इन्द्रमवर्धयद् यद्भूमिं व्यवर्तयत्। चक्राण ओपशं दिवि॥ ७॥

इस मन्त्र के ऋषि 'गोषूक्ति' और 'अश्वसूक्ति' हैं। गौवों से—ज्ञानेन्द्रियों से उत्तम कथन करनेवाला गोषूक्ति है और अश्वों=कर्मेन्द्रियों से उत्तम कथन करनेवाला अश्वसूक्ति है, अर्थात् जिनकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ दोनों ही ठीक मार्ग पर चल रही हैं—ऐसे ये ऋषि हैं। इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों के ठीक चलने का रहस्य इस बात में है कि रथी 'इन्द्र' शक्तिशाली है। वह निर्बल होता तो ये घोड़े मार्ग से विचलित हो जाते, परन्तु यहाँ तो **यज्ञः**=यज्ञ की भावना ने **इन्द्रम्**=आत्मा को **अवर्धयत्**=बढ़ाया है। यज्ञ की भावना स्थूलरूप में त्याग की भावना है। जब मनुष्य इस भावना को अपने अन्दर जाग्रत् करता है तब उसकी आत्मिक शक्ति का विकास होता है। इसके विपरीत जब वह त्याग की भावना से दूर होकर भोगों को बढ़ाने में जुट जाता है, तब वह इन्द्रियों का दास बन जाता है और उसकी आत्मा निर्बल हो जाती है। यज्ञ 'इन्द्र' को बढ़ाता है तो यज्ञ का अभाव 'इन्द्रियों' को। इसलिए आत्मिक शक्ति का विकास चाहनेवाला अपने अन्दर यज्ञ की भावना का पोषण करता है। ये गोषूक्ति और अश्वसूक्ति तो खूब यज्ञ करते हैं, इतना **यत्**=कि **भूमिम्**=इस पृथिवी को ही **व्यवर्तयत्**=उलट देते हैं। जैसे खूब दान देनेवाला सारी थैली को ही उलट देता है, उसी प्रकार ये यज्ञशील व्यक्ति अपने सारे कोश को उलटकर खाली कर देता है। अपने पास कुछ बचाता नहीं। यही सर्वमेधयज्ञ कहलाता है। यह यज्ञिय भावना हमारे अन्दर उत्पन्न हो, इसके लिए ज्ञान की आवश्यकता है, अतः यह ऋषि **दिवि**=मूर्धा में (मस्तिष्क में) **ओपशम्**=मस्तक के ज्ञानरूप आभरण को **चक्राणः**=बनाने के स्वभाववाला होता है। यह ज्ञान उसे पवित्र करता है। उसमें यज्ञ की भावना को जगाये रखता है और इस प्रकार उसकी आत्मा को बलवान् बनाता है। **'कस्य स्विद् धनम्'**—भला यह धन किसका है? यह सोचना ही सबसे बड़ा ज्ञान है। यह धन आज तक किसी के साथ नहीं गया, यह समझकर मनुष्य यज्ञशील बनता है—भोगासक्त नहीं होता—धन व इन्द्रियों का दास नहीं बनता।

भावार्थ—मनुष्य यज्ञशील बने, दानी हो और अपने मस्तिष्क को ज्ञान से अलंकृत करे।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु के प्रति भक्त का उपालम्भ

१२२. यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत्। स्तोता मे गोसखा स्यात्॥ ८॥

गत मन्त्र में कहा गया था कि इन्द्र बनने के लिए यज्ञ की वृत्ति का होना आवश्यक है और यज्ञ की वृत्ति के लिए ज्ञान-प्राप्ति अनिवार्य है। ज्ञान-प्राप्ति का इच्छुक इस ज्ञान-प्राप्ति के लिए अपनी ओर से कोई कसर उठा नहीं रखता, परन्तु जब पूर्ण प्रयत्न के पश्चात् भी वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं होता तब प्रभु को इस रूप में उपालम्भ देता है कि—

यत्=यदि **इन्द्र**=सब ऐश्वर्यों के स्वामी प्रभो! **अहम्**=मैं **यथा त्वम्**=आपकी भाँति **वस्वः**=ज्ञानादि सम्पूर्ण उत्तम वसुओं=रत्नों का **ईशीय**=ईश्वर होता तो **मे स्तोता**=मेरी स्तुति करनेवाला

तो **गोसखा**=खूब ज्ञानी **स्यात्**=हो जाता। हे प्रभो! मुझे ज्ञानरूप धन देने के लिए आपने किसी दूसरे साथी व साझीदार से परामर्श थोड़े ही करना है! आप इन सब वसुओं के **एकः इत्**=अकेले ही, अद्वितीय ईश्वर हैं। मैं कब से आपकी स्तुति में लगा हूँ! कोरी स्तुति में ही नहीं पूर्ण प्रयत्न करता हुआ मैं आपकी कृपा का अधिकारी बनने के प्रयत्न में हूँ। 'हे प्रभो! आप कृपा करेंगे और अवश्य करेंगे' ऐसा मेरा विश्वास है। मेरा स्तोता तो, यदि मैं आपकी भाँति ऐश्वर्यशाली होता, अब तक अभीष्ट ज्ञान को अवश्य प्राप्त कर चुकता। आपका स्तोता होता हुआ मैं उस ज्ञान को क्योंकर न प्राप्त करूँगा? करूँगा और उस ज्ञान को प्राप्त करने पर मेरी ज्ञानेन्द्रियों (गौवों) और कर्मेन्द्रियों (अश्वों) से उत्तम वृत्तियों का ही प्रवाह बहेगा और इस प्रकार मैं इस मन्त्र का ऋषि 'गोषूक्ति व अश्वसूक्ति' बनूँगा।

भावार्थ—प्रभु के स्तोता का कर्त्तव्य है कि वह पूर्ण पुरुषार्थ करके प्रभुकृपा से ज्ञान प्राप्त करे।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोम का शोधन

१२३. पन्यंपन्यमित् सोतार आ धावत मद्याय। सोमं वीराय शूराय॥ ९॥

पिछले मन्त्र में ज्ञान-प्राप्ति के लिए भरपूर प्रयत्न करनेवाले ने प्रभु को उपालम्भ दिया था कि यही तेरी सर्वेश्वरता है कि मैं अब तक ज्ञानी नहीं बन पाया! यह उपालम्भ भी पूर्ण प्रयत्न के बाद ही दिया जा सकता है। वह प्रयत्न ही इस मन्त्र में संकेतित है।

इस मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि काण्व' है—(मेधां प्रति अतति) जो निरन्तर मेधा-प्राप्ति के प्रयत्न में लगा हुआ है—कण-कण करके उसी के सञ्चय में जुटा है। यह मेधातिथि समझता है कि बुद्धि की सूक्ष्मता के लिए वीर्यशक्ति (vitality) की रक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है, उसी को मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनना है, यह मेधातिथि कहता है कि **सोतारः**=अपने में शक्ति का अभिषव करनेवाले प्रभु के प्यारो! **पन्यंपन्यं इत्**=सचमुच स्तुति के योग्य (पन स्तुतौ) भोज्य पदार्थों को ही अपने भोजन का अङ्ग बनाओ और इस प्रकार **सोमम्**=अपनी वीर्यशक्ति को **आधावत**=शुद्ध बनाओ (धावु=to cleanse)। वस्तुतः सौम्य भोजनों से उत्पन्न वीर्यशक्ति ही शुद्ध व निर्विकार होती है, वही शरीर के अन्दर स्थिर रहती है। मांस-मदिरादि अग्नेय पदार्थों से उत्पन्न शक्ति का शरीर में स्थिरता से रहना सम्भव नहीं होता।

सौम्य भोजनों से उत्पन्न शक्ति शरीर में **मद्याय**=(मदी हर्षे) हर्ष के लिए होती है। संयत शक्तिवाला पुरुष सदा प्रसन्न व उल्लासमय रहता है। इसके अभाव में वह क्रोधी व चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है। **वीराय**=यह शक्ति मनुष्य की वीरता के लिए होती है। संयत वीर्यवाला व्यक्ति उदारता आदि गुणों से विभूषित होता है। उसकी मानस स्थली गुणों (virtues) के अंकुरित होने के लिए अनुकूल होती है। **शूराय**=यह अपनी बुराइयों (vices) की शीर्णता के लिए (शॄ हिंसायाम्) समर्थ होता है। इसका मानस व्यसनों के लिए ऊसर भूमि हो जाता है। एवं, संयत शक्ति के तीन लाभ सुव्यक्त हैं।

भावार्थ—सौम्य भोजनों से मैं संयमी होकर सदा मस्त, वीर व शूर बना रहूँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोम का पान

१२४. इदं वसो सु तमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम्। अनाभयिन् ररिमा ते॥ १०॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **वसो**=उत्तम ढङ्ग से शरीर में निवास करनेवाले जीव! **इदं अन्धः**=यह सोम **सुतम्**=उत्पन्न किया गया है। प्रभु ने इस शरीर की रचना इस प्रकार की है कि उसमें आहार से रस, रस से रुधिर और रुधिर से मांसादि के क्रम से सातवें स्थान में वीर्य=सोम की उत्पत्ति होती है। जिस जीव को इस शरीर में उत्तम ढङ्ग से रहना हो उसके लिए आवश्यक है कि वह सोम की रक्षा करे। **'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'**=इस सोम के बिन्दु के गिरने से हम मृत्यु के मार्ग पर जाते हैं और इसकी रक्षा से जीवन के मार्ग पर। एवं, यह सदा सब दृष्टिकोणों से (समन्तात्=आ) ध्यान देने योग्य होता है, इसीलिए इसे 'अन्धः' (आध्यायनीय) कहा गया है। प्रभु ने इस अद्भुत सोम के उत्पादन की व्यवस्था तो कर दी है, अब जीव का कर्त्तव्य है कि वह प्रभु के इस उपदेश को क्रियारूप में लाये कि **पिब**=इसका तुम पान करो। इस वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित करने का प्रयत्न करो। इसकी रक्षा से यह **सुपूर्णम्**=तुम्हारा उत्तम प्रकार से पालन व पूरण करेगा और **अरम्**=तुम्हारे जीवन को सद्गुणों से अलंकृत कर देगा (अरं=to decorate)। वीर्य-रक्षा जहाँ हमें अशुभ वृत्तियों से बचाएगी वहीं उत्तम गुणों से अलंकृत भी करेगी। हमारे शरीर नीरोग होंगे, मन विशाल होंगे और बुद्धियाँ तीव्र होंगी। उस समय हम निर्भीक होकर इस जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़ पाएँगे।

प्रभु जीव को सम्बोधित करते हैं कि **अनाभयिन्**=हे निर्भीक जीव! **ते**=तुझे **ररिमा**=हमने यही तो एक देन दी है। परमेश्वर की दी हुई वस्तुओं में सर्वोत्तम वस्तु यह वीर्य ही है। वेद-ज्ञान क्या इससे अच्छा नहीं है? ऐसा प्रश्न हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि उस वेद-ज्ञान का साधन भी तो वीर्यशक्ति की रक्षा ही है। प्रभु-प्रदत्त इस सर्वोत्तम वस्तु की हमें रक्षा करनी ही चाहिए। इसकी रक्षा से ही हम ज्ञान प्राप्त करके इस मन्त्र के ऋषि 'मेधातिथि काण्व' बन सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु ने वीर्य की उत्पत्ति की व्यवस्था की है। यह प्रभु द्वारा प्रदान की गयी सर्वोत्तम वस्तु है। हम इसकी रक्षा करें और निर्भीक बनें।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—**सुकक्षश्रुतकक्षौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्य का उदय

१२५. उद् घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम्। अस्तारमेषि सूर्य॥ १॥

सूर्य के उदय होने पर जिस प्रकार अन्धकार नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार हृदय-गगन में प्रभुरूपी सूर्य के उदित होने पर अविद्यान्धकार नष्ट हो जाता है। **सूर्य**=हे प्रभुरूपी सूर्य! आप **घ इत्**=निश्चय से **उत् एषि**=उदय होते हैं। **अभि**=उसकी ओर, उसके हृदय में जोकि **श्रुतामघम्**=श्रुत को ही जो अपना मघ=ऐश्वर्य समझता है। जो व्यक्ति बाह्य

सम्पत्ति की तुलना में इस ज्ञानरूप आन्तर सम्पत्ति को महत्त्व देता है, वह श्रुतामघ अपने हृदयाकाश में उस प्रभुरूपी सूर्य को उदित हुआ देखता है। यह सूर्य **वृषभम् अभि**=सुखों की वर्षा करनेवाले के हृदयाकाश में उदित होता है। जिसके जीवन का लक्ष्य केवल निजी सुख नहीं बन गया वह इस सूर्योदय का पात्र बनता है। फिर **नर्यापसम्**=(नर्य+अपस्) नर-हितकारी कर्मोंवाले के हृदय में यह सूर्य चमकता है। यह कोई ऐसा कार्य नहीं करता जो औरों का अहित करनेवाला हो। अन्त में यह सूर्य **अस्तारम्**=(अस्=फेंकना) काम, क्रोधादि वासनाओं की मैल को दूर फेंकनेवाले के हृदय में उदित होता है।

सूर्य के उदय होने पर अज्ञान नष्ट होकर ज्ञान मनुष्य का रक्षा-स्थान बनता है, अतः यह पुरुष 'श्रुतकक्ष' ज्ञानरूप रक्षा-स्थानवाला होता है। इससे बढ़कर और रक्षास्थान हो ही क्या सकता है! यह 'सु-कक्ष'=उत्तम रक्षास्थानवाला है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम 'श्रुतामघ' बनकर प्रभु की ज्योति को देखें और अज्ञानान्धकार से ऊपर उठें।

ऋषिः—**सुकक्षश्रुतकक्षौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

आज या फिर कभी

२ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

१२६. यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य। सर्वं तदिन्द्र ते वशे॥ २॥

गत मन्त्र में सूर्योदय का वर्णन था कि 'ज्ञान को ही धन समझनेवाले, लोगों पर सुखों की वर्षा करनेवाले, प्रत्येक कर्म को लोकहित को सामने रखकर करनेवाले, काम-क्रोधादि वासनाओं को परे फेंकनेवाले' के हृदयाकाश में प्रभु की ज्योति का उदय होता है। जो भी व्यक्ति इस प्रकार इन चार दिशाओं में प्रयत्नशील होगा उसके हृदय में यह ज्योति अवश्य उदित होगी, परन्तु एक सच्चा भक्त अनुभव करता है कि निरन्तर वासनाओं को परे फेंकने का प्रयत्न करता हुआ भी वह उन्हें जीत नहीं पाता। यह विजय तो प्रभुकृपा से ही होगी। ऐसा अनुभव करके वह कह उठता है कि **सर्वं तत्**=यह सब-कुछ **इन्द्र**=हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न प्रभो! **ते वशे**=आपके ही वश में है। जब तक सूर्य को बादलों ने ढका होता है तब तक सूर्य की ज्योति दीखती नहीं, इसी प्रकार सूर्य को ढकनेवाले बादलरूप वृत्रों की भाँति यहाँ वासनारूप वृत्र प्रभु-ज्योति को हमसे आवृत रखता है। इस वृत्र को हमें तो क्या मारना है! हे प्रभो! **वृत्रहन्**=वृत्र को मारनेवाले! इस वृत्र को आप ही समाप्त करेंगे। **यत् अद्य**=यदि आज समाप्त करें तो आपकी कृपा, **कत् च**=और यदि फिर कभी समाप्त करें तो आपकी कृपा। करना तो आपको ही है। **सूर्य**=हज़ारों सूर्यों की दीप्ति के समान चमकनेवाले प्रभो! आप कृपा करके **अभि**=मेरी ओर—मेरे हृदयाकाश में **उदगाः**=शीघ्र उदित होओ।

भक्त को चाहिए कि अपना पग बढ़ाता चले, अपने पुरुषार्थ में कमी न आने दे और प्रभु से आराधना करता चले। यही सच्चा समर्पण है। यही सच्चा ज्ञान है, इसी को अपनी शरण बनानेवाला 'श्रुतकक्ष' इस मन्त्र का ऋषि है। इससे उत्तम शरण हो ही नहीं सकती, अतः वह 'सु-कक्ष' है।

भावार्थ—हम वृत्र का नाश कर ज्ञानसूर्य के उदय के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हों और प्रभुकृपा में विश्वास रक्खें।

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु ही हमारे युवा मित्र हैं

१२७. य आनयत् परावतः सुनीती तुर्वशं यदुम्। इन्द्रः स नो युवा सखा॥ ३॥

सः=वह **इन्द्रः**=सब शक्तियों का ईश्वर, सब असुरों का संहारक इन्द्र **नः**=हमारा **सखा**=मित्र है। वह **युवा**=पाप से पृथक् करनेवाला (यु=अमिश्रण) और भद्र से मिलानेवाला (यु=मिश्रण) है। वह हमें असत् से सत् की ओर, तमस् से ज्योति की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर ले-चलता है। दुरितों से दूर कर भद्र को प्राप्त करानेवाला व कुटिल पाप से पृथक् कर सुपथ पर ले-चलनेवाला वही है। कौन-सा इन्द्र? **यः**=जो **परावतः**=बहुत दूर भटके गये, बहुत दूर हो गये को भी **आनयत्**=फिर सुमार्ग पर ले-आता है। जीव वस्तुतः कितना भटक गया है! कल्पना करके भी घबराहट होती है। वस्तुतः आत्मिक उन्नति के मार्ग पर चलना था। उसपर चलने की क्षमता के अभाव में बौद्धिक उन्नति का पथ था। उससे उतरकर मानस पवित्रता का मार्ग था। उससे भी उतरकर प्राणों की साधना थी, शरीर का ही पोषण था। हम तो इससे भी नीचे उतरकर धन जुटाने में ही लग गये और बहुत बार तो उससे भी उतरकर हमारे जीवन का लक्ष्य दूसरों को नीचा दिखाना ही हो गया। इस प्रकार सुदूर मार्ग-भ्रष्ट हमें वे प्रभु फिर से मार्ग पर ले-आते हैं। कैसे? **सुनीती**=उत्तम नीति के द्वारा। नीतिमार्ग में चार उपाय हैं—साम, दान, भेद और दण्ड। प्रभु साम=शान्ति से हमें सदा प्रेरणा देते हैं। प्रेरणा से कार्य न चलने पर, दान=जितने अंश में हम प्रेरणा पर चलते हैं, वह हमें उतना ऐश्वर्य प्राप्त कराके इस दाननीति से और भी सन्मार्ग पर लाने की व्यवस्था करते हैं। इसके भी असफल होने पर भेद=सांसारिक विषमता के द्वारा वे हमें प्रेरित करते हैं। अन्ततोगत्वा वे दण्ड के प्रयोग से हमें पापमार्ग पर बढ़ने के अयोग्य बना देते हैं।

परन्तु यह सुनीति किनके लिए बरती जाती है? जो **तुर्वशम्**=काम-क्रोधादि नाशक वृत्तियों को वश में करने की इच्छा करते हैं। (तुर्वी हिंसायाम्) केवल इच्छा ही नहीं, **यदुम्**=जो प्रयत्नशील भी होते हैं (यती प्रयत्ने)। जो व्यक्ति अपने उत्कर्ष की भावना से ही शून्य हैं और जो आत्मोत्कर्ष के लिए किञ्चिन्मात्र भी काम नहीं करते, वे प्रभु की सुनीति के प्रयोग के पात्र भी नहीं होते।

प्रभु अपने शिक्षणालय में प्रविष्ट जीव को वाज=शक्ति से भरत्=भर देते हैं और यह 'भरद्वाज' बन विघ्न-बाधाओं को पार-कर सन्मार्ग पर तीव्रता से बढ़ चलता है।

भावार्थ—हम कामादि को जीतने की इच्छा करें और उसके लिए प्रयत्नशील हों, जिससे वह प्रभु जो हमारे सच्चे मित्र हैं, हमें अशुभ से हटाकर शुभ से संयुक्त करें।

ऋषिः—**श्रुतकक्ष आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु से मिलकर

१२८. मा न इन्द्राभ्याऽऽ३दिशः सूरो अक्तुष्वा यमत्। त्वा युजा वनेम तत्॥ ४॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **नः**=हमें **अक्तुषु**=रात्रि के समान अज्ञानान्धकारों में यह वासना **मा**=मत **आयमत्**=काबू कर ले। मनुष्य का जीवन प्रायः अन्धकार में चलता है।

कभी-कभी उसके जीवन में प्रकाश की किरण (flash of light) चमक उठती है, परन्तु सामान्यत: अन्धकार ही रहता है। उसे अपने जीवन के उद्देश्य का ध्यान ही नहीं होता। 'क्या करने आया था और क्या करने में वह लगा हुआ है?' धन-सम्पत्ति के जोड़ने में और भोगों के भोगने में वह अहर्निश लिप्त रहता है। यही उसका रात्रि के समान अन्धकारमय जीवन है और इन रात्रियों में कामादि वासनाएँ उसे और अधिक काबू किये चली जाती हैं। वासनाओं से अभिभूत यह व्यक्ति अपनी दुर्गति का आभास होने पर, प्रभु से इस रूप में प्रार्थना करता है कि ये व्यसन हमें दबा न लें। ये वासनाएँ कैसी हैं?

१. **अभि आ दिश:**='यह कमा लिया है', अब यह कमाओ; उस शत्रु को मार लिया है, अब इसे मारो; यह कर लिया है, अब वह करो; इतना जुटा लिया है, अब इतना जुटाने की व्यवस्था करो;—इस प्रकार ये वासनाएँ हमें चारों ओर अपने आदेशों से दौड़ लगवा रही हैं। इस व्यक्ति को शान्ति नहीं, घर में रहने का सुख नहीं।

२. **सूर:**=(सु अतिशयितम् उरो यस्य) यह वासना बड़ी बलवान् है। न चाहते हुए भी हम उससे धकेले जा रहे हैं। चाहते हुए भी इसे हम क़ाबू में नहीं कर पाते। क़ाबू किये बिना कल्याण नहीं, परन्तु क़ाबू करना भी कठिन है। हाँ, **त्वा युजा वनेम तत्**=हे प्रभो! तेरे साथ युक्त होकर हम इसे समाप्त कर डालें। आपके सहायक होने पर इस वासना ने हमारा क्या ब़िगाड़ना? आपकी तो दृष्टि से ही यह भस्म हो जाती है। मुझे आपका ज्ञान हुआ, आपका मेरे हृदय में वास हुआ और यह वासना नष्ट हुई। एवं, आपका ज्ञान ही मेरी शरण है।

हे प्रभो! कृपा करो। आपकी कृपा ही मुझे वासना पर विजयी बनाएगी। श्रुत-विज्ञान ही मेरा कक्ष है, सुरक्षा स्थान है और आपकी मित्रता ही मुझे शक्तिशाली 'आङ्गिरस' बनानेवाली है।

भावार्थ—प्रभु के ज्ञान द्वारा मैं प्रभु को अपना मित्र बनाऊँ और इस मित्रता द्वारा वासना का विनाश करने में समर्थ बनूँ।

ऋषि:—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्र:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

कैसा धन?

१२९. एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम्। वर्षिष्ठमूतये भर॥ ५॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **रयिं आभर**=हमें धन प्राप्त कराइए। कैसा धन? १. **सानसिम्**=सम्भजनीय धन। धन को मैं अकेला ही न खा लूँ। मैं उसका पञ्चयज्ञों में विनियोग करके यज्ञशेष को खानेवाला बनूँ। **'केवलाघो भवति केवलादी'** अकेला खानेवाला पापी होता है—मैं इस तत्त्व को न भूलूँ। २. **सजित्वानम्**=उस धन को, जो मुझे सदा विजयशील बनाता है, जिस धन को पाकर मैं इन्द्रियों का दास नहीं बन जाता। ३. **सदासहम्**=जो धन सदा कामादि वासनाओं का अभिभव करनेवाला है। जिस धन से मैं लोभाभिभूत हो सदा मारा-मारा नहीं फिरता। ४. **वर्षिष्ठम्**=जो धन सदा अतिवृद्ध है और खूब बरसनेवाला है। धन की मात्रा भी मेरे पास पर्याप्त हो और मैं उसका खूब दान करनेवाला बनूँ। बस, ऐसा ही धन तो **ऊतये**=हमारी रक्षा के लिए होता है।

इन उल्लिखित गुणों से युक्त धन नाश का कारण न बनकर कल्याण का साधक होता है। इस स्थिति में मैं 'मधुच्छन्दा'=उत्तम इच्छाओंवाला, 'वैश्वामित्र'=सभी का मित्र होता हूँ।

भावार्थ—हम सदा औरों के साथ बाँटकर धन का उपभोग करें। बादल जल जुटाते-जुटाते काला होता जाता है, बरसता है तो सफेद हो जाता है। हम भी बरसने पर ही शुभ्र होंगे।

ऋषिः—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

महाधन और अल्पधन

१३०. इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे। युजं वृत्रेषु वज्रिणम्॥ ६॥

गत मन्त्र में धन का उल्लेख था। हम बाह्य धन को ही सर्वस्व समझ उसी के अर्जन में न जुट जाएँ, अतः इस मन्त्र में उस धन की आन्तरिक आत्मसम्पत्ति से तुलना कर उस धन को अल्पधन कहा गया है, जबकि यह आत्मसम्पत्ति 'महाधन' है। **वयम्**=हम **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **महाधने**=इस महाधन की प्राप्ति के लिए ही **हवामहे**=पुकारते हैं। पुरुष शरीर और आत्मा के मेल का ही नाम है। शरीर आत्मा का मानो घर है या वस्त्र है। जैसे घर की अपेक्षा घर में रहनेवाले का महत्त्व अधिक है, वस्त्र की तुलना में वस्त्र को धारण करनेवाला अधिक महान् है, उसी प्रकार आत्मा के साथ सम्बद्ध धन शरीर के लिए आवश्यक धन की तुलना में महान् है। हमें शरीर के लिए आवश्यक धन भी जुटाना चाहिए, क्योंकि शरीर-रक्षा भी नितान्त आवश्यक है, शरीर को नीरोग रखना भी महान् कर्त्तव्य है। इस बात के विचार से ही मन्त्र में इस बाह्य धन के लिए भी प्रार्थना की गयी है कि **इन्द्रम्**=उस सर्वैश्वर्यशाली प्रभु को **अर्भे**=अल्पधन के निमित्त **हवामहे**=हम पुकारते हैं। प्राकृतिक ऐश्वर्य ही अल्पधन है। उसके बिना संसार में जीवन-यात्रा सम्भव नहीं। प्रभु से हम दोनों धनों की याचना करते हैं। किस प्रभु से?

१. **युजम्**=जो हमारे साथ रहनेवाले हमारे मित्र हैं। १२८वें मन्त्र में **'त्वा युजा वनेम तत्'**—इस प्रभुरूपी साथी के साथ ही हमने कामविजय का निश्चय किया था। हृदय में आत्मा-परमात्मा दोनों का ही निवास है। २. **वृत्रेषु वज्रिणम्**=जो प्रभु वृत्रों पर वज्र गिरानेवाले हैं। हमारे ज्ञान पर आवरण डालनेवाला यह काम ही 'वृत्र' है। ये वासनाएँ हमें सत्य का स्वरूप देखने से वञ्चित किये रहती हैं। प्रभु का स्मरण होने पर ये नष्ट हो जातीं हैं—मानो प्रभु इनपर वज्रपात करके इन्हें समाप्त कर देते हैं।

इन वासनाओं के समाप्त हो जाने पर हम आत्मिक सम्पत्ति को प्रमुखता देते हैं। इस प्रमुखता देने का परिणाम होता है कि हमारी इच्छाएँ पवित्र बनी रहती हैं। हम 'मधुच्छन्दा' होते हैं और किसी से द्वेष न करने के कारण हम 'वैश्वामित्र' होते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन में बाह्य व आन्तर धनों को उनका उचित स्थान देनेवाले बनें।

ऋषिः—**त्रिशोकः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कुटिलता से दूर

१३१. अपिबत् कद्रुवः सुतमिन्द्रः सहस्रबाह्वे। तत्राददिष्ट पौंस्यम्॥ ७॥

जब मनुष्य अल्पधन, अर्थात् सांसारिक सम्पत्ति को महाधन का स्थान देकर उसे अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता है तब वह टेढ़े-मेढ़े सभी साधनों से (by hook or crook) इसे कमाने में लग जाता है। उसका मन यह धन का दास बन जाता है। इसका जीवन कुटिलता

से भर जाता है। 'कम-से-कम श्रम से किस प्रकार अधिक-से-अधिक धन कमा लूँ' यही सदा उसके चिन्तन का विषय बना रहता है। इस कार्य में वह सारी नैतिकता को तिलाञ्जलि दे देता है और इस प्रकार धनार्जन करता हुआ निधन=मृत्यु की ओर बढ़ रहा होता है। सर्प के समान कुटिल आचरणवाला बनकर वह सचमुच सर्प ही बन जाता है। लोभाविष्ट हो यह किन-किन कुटिलताओं को स्वीकार करता है, यह सोचकर ही अत्यन्त आश्चर्य होता है। यह आत्मिक शक्ति से शून्य हो वासनाओं का ही शिकार हो जाता है। यह इन्द्र जिस दिन **कद्रुवः**=सर्पिणी के **सुतम्**=पुत्र को, अर्थात् कुटिलता की वृत्ति को **अपिबत्**=पी जाता है, अर्थात् समाप्त कर देता है, उस दिन **इन्द्रः**=इन्द्र होता है, बाह्य ऐश्वर्य को महत्त्व न देकर आन्तर ऐश्वर्य को महत्त्व देनेवाला यह सचमुच 'इन्द्रः=परमैश्वर्यशाली बनता है। यहाँ 'कद्रुः' शब्द का प्रयोग है—(कत्+रु) 'बुरी तरह से रुलानेवाली।' यह कुटिलता की वृत्ति आरम्भ में चाहे कितना ही ऐश्वर्य प्राप्त कराती प्रतीत हो, परन्तु अन्त में रुलानेवाली ही है। इस तत्त्व को समझकर मनुष्य जब इसे समाप्त करता है तभी वह 'इन्द्र' बनता है। अब वह **'सहस्रबाह्वे'**=शतशः प्रयत्नों के लिए होता है। 'प्रयत्न न करना', 'कुटिलता से हथियाना' उसकी यह वृत्ति समाप्त हो जाती है, अब वह प्रयत्न का पक्षपाती होता है और **तत्र**=इस प्रयत्न में ही वह **पौंस्यम्**=शक्ति को **आददिष्ट**=धारण करता है। कुटिलता उसे पौरुष से दूर ले-जा रही थी, प्रयत्न असे पौरुष प्राप्त कराता है। प्रयत्न से पौरुष को प्राप्त कर हम अपने अन्दर दिव्यता को ला रहे होते हैं। इस दिव्यता से हमारा सारा सूक्ष्मशरीर—प्राणमयकोश, मनोमयकोश तथा विज्ञानमयकोश दीप्त हो उठता है, हम इन तीनों को दीप्त करके 'त्रिशोक' (शुच् दीप्तौ) बन जाते हैं। ऐसा बनना ही बुद्धिमत्ता है, मेधाविता है—अतः हम 'काण्व' मेधावीपुत्र कहलाते हैं।

भावार्थ—हम अन्त में रुलानेवाली कुटिलता से दूर होकर, प्रयत्न व पौरुष को अपनानेवाले 'इन्द्र' बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

हमें तो आत्मा को ही अपनाना है

१३२. वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्र नोनुमो वृषन्। विद्धी त्वा३स्य नो वसो॥ ८॥

सामान्यतः संसार के विषय ऐसे लुभावने हैं कि मनुष्य उनसे आकृष्ट होकर उनमें उलझ जाता है। धन ही उसको आराध्य देव बन जाता है और सभी साधनों से वह उसके सञ्चय में जुट जाता है। सांसारिक भोग आपातरमणीय हैं। ये विषय प्रारम्भ में अमृतोपम लगते हुए भी परिणाम में विषतुल्य होते हैं। हमारी सभी इन्द्रिय-शक्तियों को ये जीर्ण कर देते हैं। इस प्रकार इन सांसारिक विषयों के परिणाम को देखता व सोचता हुआ व्यक्ति कभी भी इनकी आकांक्षा नहीं कर सकता।

काम-क्रोध को वशीभूत करनेवाला 'वसिष्ठ' भी कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **वयम्**=हम सब **त्वायवः**=तुझे ही चाहनेवाले हैं। हे **वृषन्**=सुखों की वर्षा करनेवाले प्रभो! **अभि**=आपको लक्ष्य करके हम **प्रनोनुमः**=बारम्बार स्तुति करते हैं। आप परमैश्वर्यशाली हैं और सब सुखों की वर्षा करनेवाले हैं, अतः आपको पाकर किस वस्तु की कमी रह जाएगी? वे वस्तुएँ सान्त हैं, आप अनन्त हैं। सान्त के लिए अनन्त को छोड़ना बुद्धिमत्ता नहीं

हो सकती। ये सान्त भोग्य पदार्थ कितने भी मधुर व आकर्षक हों, परन्तु हमने तो निश्चय कर लिया है कि आपको ही पाना है। हे **वसो**=उत्तम निवास के साधक प्रभो! **नः**=हमारे **अस्य**=इस निश्चय को **तु**=तो **विद्धि**=आप समझ लीजिए। हमें आत्मा व परमात्मा के तत्त्व को ही जानना है—विषयों की हमें चाहना नहीं। इस चाह को वशीभूत करके ही मैं इस मन्त्र का ऋषि 'वसिष्ठ' बना हूँ और वसिष्ठ बनने के लिए ही 'मैत्रावरुणि'=प्राणापान की साधना करनेवाला हुआ हूँ।

भावार्थ—हमारा यह निश्चय हो कि हमें प्रभु को पाना है। उसके लिए हम वसिष्ठ बनें।

ऋषिः—**त्रिशोकः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

तीन दीप्तियाँ

१३३. आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्। येषामिन्द्रो युवा सखा॥ ९॥

इस मन्त्र का ऋषि 'त्रिशोक काण्व' है। शुच् दीप्तौ धातु से शोक शब्द बना है—इसका अर्थ है 'दीप्ति'। त्रिशोक उस व्यक्ति का नाम है जो 'तीन दीप्तियोंवाला' है। कण-कण करके शरीर, मन व बुद्धि तीनों को दीप्त बनानेवाला यह काण्व है—मेधावी है। इनको दीप्त बनाने में ही मेधाविता है। यह त्रिशोक उन व्यक्तियों में है **ये**=जो **घ**=निश्चय से **अग्निम्**=उस आगे ले-चलनेवाली प्रभुरूप ज्योति को **आ इन्धते**=सर्वतः दीप्त करते हैं। ये संसार में विचरण करते हुए प्रत्येक वस्तु में प्रभु की महिमा को देखने का प्रयत्न करते हैं। इनका मस्तिष्क ब्रह्मज्ञान से दीप्त हो उठता है। इनका मस्तिष्करूप द्युलोक विज्ञान के नक्षत्रों से और ब्रह्मज्ञान के सूर्य से जगमगा उठता है। इस प्रकार मस्तिष्क को दीप्त बनाकर ये त्रिशोक **बर्हिः**=(उद्बर्हण=eradication) हृदय से द्वेषादि मलों के विनाश को **आनुषक्**=निरन्तर **स्तृणन्ति**=विस्तृत करते हैं। ये हृदय को राग-द्वेष और मोह के मलों से रहित करके दीप्त कर लेते हैं। मन की दीप्ति त्रिशोक की दूसरी दीप्ति है। इनकी तीसरी दीप्ति का वर्णन इस प्रकार हुआ है कि ये त्रिशोक वे हैं **येषाम्**=जिनकी **इन्द्रः**=बल के कार्यों को करनेवाली देवता **युवा**=शुभ से संयुक्त और अशुभ से विपृक्त करनेवाली होती हुई **सखा**=मित्र है। इनका शरीर बल के कारण तेजस्वी है। यह तेजस्विता ही शरीर की दीप्ति है।

इस प्रकार त्रिशोक का मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से, मन प्रेम के प्रकाश से और शरीर शक्ति के तेज से शुचि=दीप्त बन रहा है। इसी से तो इसका नाम त्रिशोक हुआ है।

भावार्थ—हम उज्ज्वल मस्तिष्क, निर्मल हृदय व तेजस्वी शरीर को सिद्ध करनेवाले हों।

ऋषिः—**त्रिशोकः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

स्पृहणीय धन

१३४. भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः। वसु स्पार्हं तदा भर॥ १०॥

१. हे प्रभो! **विश्वाः द्विषः**=हमारे अन्दर सहसा प्रविष्ट हो जानेवाली सब द्वेष की भावनाओं को (विश्=to enter, द्वेषणे द्विट्) **अपभिन्धि**=हमसे दूर विदीर्ण कर दीजिए। हमारे पास ये कुत्सित भावनाएँ फटकने भी न पाएँ। मन की मलिनताएँ 'राग, द्वेष और मोह' ही तो हैं—हम इन मलिनताओं को दूर करके अपने मनों को निर्मल बनाने में समर्थ हों। हमारा

यह सतत प्रयत्न हो कि 'हम द्वेष से दूर रहें'। हम सदा सबके मङ्गल की ही कामना करें—**'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु'** यही हमारी कामना हो। इसी प्रकार तो हम अपने मनों को दीप्त रख सकेंगे।

२. **बाध: मृध: परिजहि**=उन्नति के मार्ग में बाधारूप और अन्त में मृत्यु के कारणभूत रोगों को भी हमसे दूर कीजिए। **'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्'**=धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सभी पुरुषार्थों का उत्तम मूल आरोग्य ही है, नीरोगता के अभाव में इन पुरुषार्थों की सिद्धि सम्भव नहीं होती। रोग इनकी प्राप्ति के मार्ग में बाधक होते हैं, अत: इन्हें 'बाध:' शब्द से स्मरण किया गया है। ये ही रोग असमय में मृत्यु का कारण हो जाने से 'मृध:'= murderers=हिंसक कहे गये हैं। हे प्रभो! हमारे शरीर इस प्रकार तेजस्वी हों कि हमें ये रोग अपना शिकार न बना सकें। हमें शरीर की वह दीप्ति प्राप्त हो, जिसमें ये रोग भस्म हो जाएँ।

३. **तत् स्पार्हं वसु आभर**=हे प्रभो! उस स्पृहणीय धन को हममें भर दीजिए। 'बाह्य धन' और 'आन्तर धन' ये दो शब्द सोना, चाँदी व ज्ञान के लिए प्रयुक्त होते हैं। मानव जीवन में दोनों धनों का स्थान है। शारीरिक आवश्यकताएँ बाह्य धन से पूरी होती हैं तो आत्मिक उन्नति ज्ञान की अपेक्षा रखती है। हमारा जीवन इस आन्तर धन से परिपूर्ण हो। बाह्य धन की तुलना में यह आन्तर धन स्पृहणीय है। हमारी शक्तियाँ बाह्य धन के जुटाने में ही समाप्त न हो जाएँ। हे प्रभो! आपकी कृपा से हमारा मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से दीप्त बने। हम ज्ञान की ही स्पृहावाले हों। शरीर, मन व बुद्धि तीनों को दीप्त करके हम इस मन्त्र के ऋषि त्रिशोक हों।

भावार्थ—ज्ञान ही हमारा स्पृहणीय धन हो।

पञ्चमी दशति:

ऋषि:—**कण्वो घौर:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

कहना-करना

१३५. इहेव शृण्व एषां कशा हस्तेषु यद्वदान्। नि यामं चित्रमृञ्जते॥ १ ॥

हम सब प्रभु से प्रार्थना करते हैं। कुछ की प्रार्थना सुनी जाती है, कुछ की नहीं। हमने गत मन्त्रों में तीन दीप्तियों के लिए प्रार्थना की थी। कुछ को ये प्राप्त हैं, कुछ को नहीं। यह क्यों? इस प्रश्न का उत्तर बड़े सुन्दर शब्दों में यहाँ इस प्रकार दिया गया है—**इह एव**=यहाँ ही **एषाम्**=इनकी बात **शृण्वे**=सुनी जाती है **यत्**=जब **कशा**=वाणी **हस्तेषु**=हाथों में **वदान्**=बोलती है, अर्थात् जब ये जैसा कहते हैं वैसा करते हैं, वचन के अनुसार क्रिया होने पर प्रार्थना सुनी जाती है, अन्यथा नहीं। **'यद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति'** इन शब्दों में हमारी वाणी और कर्म का समन्वय होना चाहिए, तभी प्रभु हमारी प्रार्थना सुनेंगे और हम इसी जीवन में उन्नत होकर लक्ष्य-स्थान पर पहुँच जाएँगे। एक टन उपदेश से एक औंस उदाहरण कहीं अधिक प्रभावशाली होता है। शास्त्रों में भी क्रियावान् को ही पण्डित माना गया है। **'शास्त्राण्यधीत्यपि भवन्ति मूर्खा:'**=शास्त्रों को पढ़कर भी मूर्ख होते ही हैं। 'कहना कुछ, करना कुछ' यही मूर्खता है।

एवं, जिनकी वाणी हाथों में बोलती है, अर्थात् जो क्रियाशील हैं, वे लोग ही **यामन्**=इस

जीवन-यात्रा के मार्ग को **चित्रम्**=बड़े अद्भुत प्रकार से, बड़ी सुन्दरता से **निऋञ्जते**=निश्चय से अलंकृत करते हैं। शास्त्रानुकूल आचरण से जीवन का सुन्दर बन जाना स्वाभाविक है।

कण-कण करके-थोड़ा-थोड़ा करके उसने इस जीवन को उत्कृष्ट बनाया है, अतः इसका नाम 'कण्व' हो गया है। यह कण्व घोरपुत्र=अति घोर, अर्थात् बहुत उत्कृष्ट जीवनवाला (घोर=noble) है।

भावार्थ-जो कहें, वह करें। हमारे आगम व प्रयोग में समानता हो। कथनी व करनी में समता ही उच्च जीवन का लक्षण है। जैसा बोलूँ, वैसा करूँ।

ऋषिः-**त्रिशोकः काण्वः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

क्या भेंट लेकर जाएँ?

१३६. इम उ त्वा वि चक्षते सखाय इन्द्र सोमिनः। पुष्टावन्तो यथा पशुम्॥ २॥

संसार में हम देखते हैं कि जब लोग गौ आदि पशुओं के समीप उनके दोहन के लिए जाते हैं तब उनके लिए घासादि लेकर जाते हैं। जब पशु के समीप भी बिना कुछ लिये नहीं जाते तब फिर उस महान् राजाधिराज के चरणों में भी बिना कुछ भेंट लिये जाना कैसे ठीक हो सकता है? विद्यार्थी दीक्षान्त के दिन आचार्य के चरणों में दक्षिणा लेकर उपस्थित होता है, हमें भी उस महान् आचार्य के चरणों में दक्षिणा रखनी है। 'यह दक्षिणा-यह भेंट-क्या हो' यही इस मन्त्र का विषय है। कहते हैं कि **यथा**=जैसे **पुष्टावन्तः**=(संभृतघासाः-सा०) पशु के पोषण के लिए साधनभूत घास आदि सामग्रीवाले होकर **पशुम्**=(विचक्षते)=पशु के दर्शन के लिए उसके समीप जाते हैं, इसी प्रकार **इमे उ**=ये ही **त्वा**=हे प्रभो! आपको **विचक्षते**=दर्शन के लिए प्राप्त होते हैं (come to pay a visit to you) जोकि **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **सखायः**=सखा हैं और **सोमिनः**=सोमवाले हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रभु के चरणों में हमारी भेंट यही है कि १. हम सखा बनें, २. हम सोमवाले बनें। सखा बनने का अभिप्राय यह है कि हम भी प्रभु के समान ख्यान=ज्ञानवाले बनने के लिए प्रयत्नशील हों। इसी ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश्य से हम सोम-(semen)-वाले भी बनें। यह सोम ही ज्ञानाग्नि का ईंधन होता है। इस सोम की रक्षा से ही हमारी ज्ञानाग्नि प्रज्वलित रह सकती है। इसी सोम-रक्षा को ही ब्रह्मचर्य व संयम कहते हैं, यह सोमरक्षा ही ब्रह्म=ज्ञान की चर=प्राप्ति करानेवाली है और उस ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा **ब्रह्म**=परमेश्वर की ओर **चर**=ले-जानेवाली है।

सोमरक्षा कर व्यक्ति शरीर से नीरोग व तेजस्वी होता है, मन से विशाल व निर्मल होता है। वीर्य का अपव्यय करनेवाले निस्तेज, चिड़चिड़े, द्वेषी व कुण्ठमति हो जाते हैं।

ये सखा और सोमी शरीर, मन व बुद्धि तीनों को दीप्त करके 'त्रिशोक' बनते हैं। कण-कण करके इन्होंने इस ज्ञान और शक्ति का सञ्चय किया है, अतः ये 'काण्व' कहलाते हैं।

भावार्थ-हम सखा व सोमी बनकर प्रभु के चरणों में उपस्थान के अधिकारी बनें।

ऋषिः-**वत्सः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

ज्ञान की ओर

१३७. समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः। समुद्रायेव सिन्धवः॥ ३॥

गत मन्त्र में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि मनुष्य को 'प्रभु के चरणों में ज्ञान की ही भेंट रखनी है' यही विषय इस मन्त्र में भी प्रतिपादित किया गया है। **इव**=जैसे **सिन्धवः**=बहनेवाली नदियाँ **समुद्राय**=समुद्र के लिए **संनमन्त**=झुकती हैं, अर्थात् समुद्र की ओर बहती चली जाती हैं, उसी प्रकार **विश्वाः**=इस संसार के अन्दर प्रविष्ट हुए-हुए और अब प्रभु की गोद में प्रवेश की इच्छावाले, **कृष्टयः**=(कृष्=उखाड़ना) हृदयस्थली से वासनारूप घास-फूँस को उखाड़ देने की इच्छावाले **विशः**=प्रजाजन **अस्य**=इस प्रभु के **मन्यवे**=ज्ञान के लिए, प्रभु से दिये गये वेद-ज्ञान के लिए **संनमन्त**=झुकते हैं, अर्थात् प्रयत्नशील होते हैं।

इस प्रलोभनों से भरे संसार में ज्ञानाग्नि में ही वासनाएँ भस्म हुआ करती हैं। वासनाओं को भस्म करके ज्ञान मनुष्य को पवित्र बनाता है। ज्ञान के प्रकाश में ही ठीक मार्ग दीखता है। यह ज्ञान हमारे ऐहिक सुख व शान्ति का साधन तो होगा ही—मृत्यु के बाद यही हमारी परामुक्ति का कारण बनेगा, अतः अभ्युदय व निःश्रेयस का साधन होने से ज्ञान ही धर्म है।

ज्ञान की इस महिमा को अनुभव करते हुए काण्व=कण्वपुत्र, अर्थात् मेधावी लोग इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए सतत यत्नशील होते हैं। ऐसे ही लोग प्रभु को प्रिय होते हैं, अतः वे 'वत्स' कहलाते हैं। वत्स का निर्वचन ऐसा भी किया जा सकता है कि 'वदतीति वत्सः'—मन्त्रों का उच्चारण करता है—उनका व्यक्त प्रवचन करता है। यह वेद का अध्येता ही ज्ञानी बनता है और प्रभु-चरणों में पहुँचने के योग्य होता है।

भावार्थ—हमारा लक्ष्य सदा ज्ञान की वृद्धि करते चलना हो।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सबसे महान् कार्य

१३८. देवानामिदवो महत्तदा वृणीमहे वयम्। वृष्णामस्मभ्यमूतये॥ ४॥

इस संसार में सबसे महान् कार्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर इस वेदमन्त्र में इन शब्दों में दिया गया है कि **देवानाम् इत् अवः महत्**=देवताओं का रक्षण सर्वमहान् कार्य है। इस शरीर में इन्द्रियाँ देव हैं, इनका अधिष्ठाता आत्मा महादेव है। इन इन्द्रियों की रक्षा करना ही मानव-जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य होना चाहिए। **'वयम् तत् आवृणीमहे'**=हम इसी कार्य का सदा वरण करते हैं। मकान की रक्षा, सम्पत्ति का ध्यान, स्वास्थ्य का ध्यान, गृहस्थ का पालन—ये सब आवश्यक बातें हैं, परन्तु सबसे बेड़ी बात यह है कि हम अपनी इन्द्रियों की रक्षा करें।

ये इन्द्रियाँ वास्तव में तो **वृष्णाम्**=सुखों की वर्षा करनेवाली हैं। इन सुखवर्षक देवों के रक्षण को हम वरते हैं। वही इन्द्रियाँ जोकि सुरक्षित होकर हमपर सुखों की वर्षा करनेवाली हैं, विषयों में फँसकर हमारे नाश का कारण बनती हैं। जिन ज्ञानेन्द्रियों से प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करके हमें मृत्यु को तैरना है और ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करके अमृत को पाना है—वही इन्द्रियाँ विषयासक्त होने पर अपवित्र नरक में डाल देती हैं, अतः हमारा यही महान् कर्त्तव्य है कि **अस्मभ्यम् ऊतये**=ये हमारी रक्षा के लिए हों। रक्षा की हुई इन्द्रियाँ हमारी सब अभिलाषाओं को सिद्ध करनेवाली होती हैं और असुरक्षित होने पर ये ही हमारे विनाश का कारण बन जाती हैं।

जो व्यक्ति इन्द्रिय-रक्षारूप तप को अपनाता है, वह ओजस्वी होकर पनपता है, इस पृथिवी पर प्रतिष्ठित होता है, उसका नाश नहीं होता। इसीलिए वह 'कु-सीदी'=पृथिवी पर प्रतिष्ठित होनेवाला कहलाता है। एवं, बुद्धिमत्ता इन देवों की रक्षा में ही है। यह कुसीदी काण्व=मेधावी है। हमें भी चाहिए कि देव-रक्षा द्वारा कुसीदी काण्व बनें।

भावार्थ—जितेन्द्रियता ही सर्वमहान् विजय है। हम इन्द्रियों (देवों) की रक्षा करेंगे तो ये इन्द्रियाँ हमारी रक्षा करेंगी।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान के चार परिणाम

१३९. सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते। कक्षीवन्तं य औशिजः॥ ५॥

इस मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि काण्व' है। यह मेधां अतति=निरन्तर मेधा की ओर चल रहा है। इसके सारे प्रयत्न ज्ञान-प्राप्ति के लिए हैं। कण-कण करके यह ज्ञान के संग्रह में लगा है, इसी से काण्व भी कहलाया है।

यह प्रभु को 'ब्रह्मणस्पति'=ज्ञान के पति के रूप में देखता है, और आराधना करता है कि **ब्रह्मणस्पते**=हे ज्ञान के पति प्रभो! आप मुझे **सोमानं स्वरणं कक्षीवन्तम्**=सोम, स्वरण व कक्षीवान् **कृणुहि**=बनाइए। आप मुझे ऐसा बनाइए कि **यः**=जो मैं **औशिजः**=औशिज बनूँ।

इस प्रकार मन्त्र में ज्ञान के चार परिणामों का उल्लेख है—

१. **सोमानाम्**=ज्ञान मनुष्य को सोम बनाता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य ज्ञानी बनता जाता है, त्यों-त्यों वह अधिक और अधिक सौम्य होता जाता है। **'विद्या ददाति विनयम्'**=विद्या विनय देती है। **ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति**=ज्ञान से मनुष्य नतदृष्टि बनता है।

सोम शब्द 'सू' धातु से बनकर 'उत्पादन' की भावना को भी व्यक्त करता है। ज्ञानी सदा उत्पादक कार्यों में—निर्माण के कार्यों में रुचिवाला होता है। इसे तोड़-फोड़ रुचिकर नहीं होती।

२. **स्वरणम्**='स्वर् to radiate'। यह ज्ञान-प्रकाशनवाला होता है। इससे चारों ओर ज्ञान का प्रकाश फैलता है। इसके समीप रहनेवाले भी इसके ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशमय हो जाते हैं।

३. **कक्षीवन्तम्**=यह ज्ञान मनुष्य को उत्तम कक्ष्यावाला बनाता है। कक्ष्या कमर में बाँधी जानेवाली रस्सी का नाम है। एवं, ज्ञानी कमर में उत्तम रज्जु को बाँधता है, अर्थात् सदा कमर कसे, पुरुषार्थ के लिए तैयार होता है। क्रियाशीलता ज्ञान का अवश्यम्भावी परिणाम है। ज्ञान शक्ति है और शक्ति क्रिया को पैदा करती है। **'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'** ब्रह्मज्ञानियों में क्रियाशील सदा श्रेष्ठ होता है।

४. **औशिजः**=यह ज्ञानी उशिक् का पुत्र होता है। उशिक् शब्द 'वश कान्तौ' धातु से बना है। यह सबका भला चाहनेवाला होता है। उशिक् का अर्थ मेधावी भी है। वस्तुतः सबका भला चाहना ही सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता है।

भावार्थ—हम ज्ञान प्राप्त करके विनीत, प्रकाश फैलानेवाले, क्रियाशील व सबके प्रिय बनें।

ऋषिः—श्रुतकक्ष आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

श्रुतकक्ष आङ्गिरस का जीवन

१४०. बोधन्मना इदस्तु नो वृत्रहा भूर्यासुतिः। शृणोतु शक्र आशिषम्॥ ६॥

इस मन्त्र का ऋषि 'श्रुतकक्ष'=ज्ञानरूपी शरणस्थानवाला 'आङ्गिरस'=रसमय अङ्गोंवाला, अर्थात् शक्तिशाली अङ्गोंवाला है। वह प्रार्थना करता है कि **नः**=हमारे लिए **शक्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **इत्**=निश्चय से **बोधन्मनाः**=हमारे मनों को सुबोध करनेवाला **अस्तु**=हो। हमारे मस्तिष्करूपी द्युलोक में ज्ञान का सूर्य चमके। यह चमकता हुआ ज्ञान का सूर्य **वृत्रहा**=वृत्र का हनन करनेवाला हो। हमारे हृदयान्तरिक्ष में कामादि वासनाएँ उत्पन्न होकर ज्ञान को आवृत कर देती हैं। ज्ञान को आवृत करने के कारण ही इन्हें 'वृत्र' नाम दिया गया है। जैसे आकाश में उदय होकर प्रचण्ड सूर्य अन्तरिक्षस्थ मेघों को छिन्न-भिन्न कर देता है, उसी प्रकार यह ज्ञानरूपी सूर्य वासनारूप वृत्र का विनाश करनेवाला होता है। एवं, जब हमारा विज्ञानमयकोश ज्ञान से जगमगाता है तब वासना-विनाश होने से हमारा मन निर्मल हो उठता है। इस नैर्मल्य के परिणामस्वरूप **भूर्यासुतिः**=हमारा प्राणमयकोश अत्यधिक जीवनी शक्तिवाला होता है (भूरि=बहुत, आसुतिः=enlivenment)। वासना ही शक्ति के अपव्यय का कारण हुआ करती है; वासना गयी और शक्ति का कोश पूर्ण हुआ।

शक्ति के मद में हम औरों को घृणा से देखते हुए कहीं अपशब्दों का प्रयोग न करने लग जाएँ, अतः मन्त्र में आराधना है कि वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **आशिषम्**=हमसे बोले जाते हुए शुभ शब्दों को ही **शृणोतु**=सुने, अर्थात् हमारी वाणी से कभी अशुभ शब्दों का उच्चारण न हो। 'आशीः' का अर्थ है—'the act of bestowing blessings on others'=औरों के लिए आशीर्वादात्मक शब्द बोलना, अर्थात् हम शक्ति प्राप्त करके शुभ शब्दों का प्रयोग करें। 'श्रुतकक्ष आङ्गिरस' बनने का यही मार्ग है।

भावार्थ—हमारा जीवन, 'ज्ञान, नैर्मल्य, शक्ति व शुभ वाणी' से अलंकृत हो।

ऋषिः—श्यावाश्व आत्रेयः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

विकास के अनुकूल सम्पत्ति

१४१. अद्या नो देव सवितः प्रजावत्सावीः सौभगम्। परा दुःष्वप्न्यं सुव॥ ७॥

इस मन्त्र का ऋषि 'श्यावाश्व आत्रेय है। 'श्यैङ् गतौ' धातु से श्याव शब्द बना है और अश्व का अर्थ घोड़ा है। इन्द्रियों को वैदिक साहित्य में अश्व से उपमा दी गयी है, अतः गतिशील इन्द्रियोंवाला व्यक्ति श्यावाश्व है। यह क्रियाशील व्यक्ति 'काम, क्रोध, लोभ' से परे रहता है, अतः यह 'अ-त्रि' व आत्रेय कहलाता है—'जिसमें तीन नहीं हैं'।

पिछले मन्त्र में शक्ति-सम्पन्न बनने का उल्लेख था। शक्ति प्राप्त करके वह 'श्रुतकक्ष आङ्गिरस' आज 'श्यावाश्व' बनता है। यह श्यावाश्व 'सौभग'=fortune सम्पत्ति प्राप्त करता है। 'यह सम्पत्ति उसके ह्रास का कारण न बन जाए' इस हेतु वह प्रभु से आराधना करता है कि **देव सवितः**=दानादि दिव्य गुणों से सम्पन्न प्रेरक देव! **नः**=हमारे लिए **अद्य**=आज ही **प्रजावत्**=(जनी प्रादुर्भावे) 'प्रकृष्ट प्रादुर्भाव'=उच्च विकास से सम्पन्न **सौभगम्**=सम्पत्ति **सावीः**=प्राप्त कराइए। धन से मैं विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमयकोशों की वृद्धि के लिए

अनुकूल साधनों को जुटाता हुआ अन्नमयकोश के स्वास्थ्य के लिए भी सामग्री का संग्रह करूँ। हे प्रभो! आप देव हैं, देनेवाले हैं। आप तो अपने लिए कुछ भी बचाते नहीं हैं, आपसे प्रेरणा प्राप्त करके मैं भी देनेवाला बनूँ।

हे प्रभो। इस प्रकार मुझे दानवृत्तिवाला बनाकर आप मुझसे **दुःष्वप्न्यम्**=बुरे स्वप्नों के कारणभूत पापों को **परासुव**=दूर कीजिए। यदि मैं धन को दान में विनियुक्त न करूँगा तो स्वभावतः विलास व पाप की ओर मेरा झुकाव हो जाएगा और ये पाप मुझे सुख की नींद न सोने देंगे। इनके कारण मैं दुःस्वप्नों को ही देखा करूँगा।

'दुःस्वप्न्यम्' का अर्थ 'बुरी तरह से सोनेवाली', 'अत्यन्त असंज्ञभूत' वृक्षादि योनि का कारण भी है। हम धन प्राप्त करके उन पापों में न फँस जाएँ, जो हमें वृक्षादि स्थावर योनि को प्राप्त कराने का कारण बनें।

भावार्थ—हमारा धन हमारे विकास के लिए हो, न कि विलास और परिणामतः विनाश के लिए।

ऋषिः—**प्रागाथः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पञ्चविध विकास

१४२. क्वा३स्य वृषभो युवा तुविग्रीवो अनानतः। ब्रह्मा कस्तं सपर्यति॥ ८॥

गत मन्त्र में ऐसी सम्पत्ति की आराधना थी जो विकास की साधिका है। इस मन्त्र में विकास का उल्लेख है। हमें उन्नति का ठीक-ठीक भाव ज्ञात नहीं। सामान्यतः अधिक धन-प्राप्ति को ही हम उन्नति समझते हैं। यह बात तथ्य से बहुत दूर है। उन्नत पुरुष का चित्रण प्रस्तुत मन्त्र में 'वृषभ, युवा, तुविग्रीव, अनानत, और ब्रह्मा' इन पाँच शब्दों में किया गया है। इनकी भावना इस प्रकार है—

१. **वृषभः**=इस शब्द का सामान्य अर्थ बैल होता है। बैल शक्ति का प्रतीक है। शेर अपने नेत्र, पंजो व दाढ़ों के कारण भले ही बैल को मार ले, परन्तु वह बैल की भाँति अस्सी मन(तीन टन) बोझ को नहीं खैंच सकता। यह घोड़े के लिए भी असम्भव है। एवं, शक्तिशाली शरीरवाला पुरुष 'वृषभ' है। इसकी शक्ति औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाली है—बैल की शक्ति भी औरों के लिए अन्न आदि के उत्पन्न करने में व्यय होती है। (वृष्=वर्षा करना)

२. **युवा**=यह शब्द 'यु' धातु से बना है। इसका अर्थ है (१) मिश्रण और (२) अमिश्रण, मिलना और अलग होना। **'सं मा भद्रेण पृङ्क्तं वि मा पाप्मना पृङ्क्तम्'**=भद्र से संपृक्त होना और अभद्र से पृथक् होना। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को शुभ कार्यों में युक्त करके अशुभ कार्यों से पृथक् करता है, वह युवा है। प्राणमयकोश के विकास का अभिप्राय यही है।

३. **तुविग्रीवः**=मनोमयकोश के विकास का संकेत 'तुविग्रीवः' शब्द कर रहा है। 'तुवि' का अर्थ है 'बहुत'। ग्रीवा का अर्थ है गरदन। तुविग्रीवः=बहुत गर्दनोंवाला। जो व्यक्ति अपने मन में सभी के लिए प्रेम धारण करता है—सभी में आत्मबुद्धि करता है—वह तुविग्रीव है। इस प्रकार मन को राग-द्वेष से शून्य बनाना ही मनोमयकोश का विकास है।

४. **अनानतः**=इस शब्द का अर्थ है 'नहीं दबा हुआ'। जो भी पुरुष अपने को ज्ञान-सम्पन्न बनाता है, उसमें खुशामद या दबकर कुछ करने की वृत्ति स्वतः समाप्त हो जाती है। यह

न दबता है, न किसी को दबाता है।

५. **ब्रह्मा**=बृहि वृद्धौ से बनकर ब्रह्मा शब्द "खूब बढ़े हुए का" वाचक है। **'यो वै भूमा तत्सुखम्'** बढ़े हुए होने के कारण इसका जीवन आनन्दमय होता है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'**-यह सारी वसुधा को अपना परिवार समझकर चलता है।

यह पञ्चविध विकास करनेवाला संसार में 'आश्चर्यवत्' ही कोई होता है। यही बात मन्त्र में **क्व स्य:**=कहाँ है वह? इन प्रश्नात्मक शब्दों से कही गयी है। **तम्**=इस व्यक्ति का तो **क:**=आनन्दस्वरूप प्रभु भी **सपर्यति**=आदर करते हैं।

भावार्थ—पञ्चविध विकास करके हम प्रभु के आदर-पात्र बनें।

ऋषि:—वत्स: **काण्व:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

विकास के लिए उचित वातावरण

१४३. उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥ ९॥

'विप्र:' शब्द सामान्यत: ब्राह्मण के लिए प्रयुक्त होता है। यह विकास की चरमावस्था की सूचना देता है। जो व्यक्ति अपने में ज्ञान को भरने में असमर्थ रहा, वह 'शुचा द्रवति' शोक से सन्तप्त होने के कारण 'शूद्र' कहलाया। विप्र:=वेदों के ज्ञान को अपने अन्दर वि=विशेषरूप से (प्रा=पूरणे) प्र=अपने अन्दर भरनेवाला ब्राह्मण यहाँ विप्र शब्द से कहा गया हैं। ऐसा ब्राह्मण **अजायत**=प्रादुर्भूत होता है। कहाँ? **गिरीणां उपह्वरे**=गिरियों के सान्निध्य में **च**=तथा **नदीनां सङ्गमे**=नदियों के सङ्गम में। कैसे? **धिया**=धी से।

यहाँ 'गिरीणां' और 'नदीनां' शब्दों के साथ-साथ प्रयोग से इनका अर्थ पर्वत व नदी करने का प्रलोभन होता है, परन्तु गिरि शब्द का अर्थ=आदरणीय, सम्माननीय venerable, respectable है। गिरि और गुरु शब्द इ और उ के भेद से भिन्न दिखते हुए भी एकार्थ-वाचक है। 'गृणन्ति इति गिरय: गुरवो वा'=उपदेश करने से ये गिरि या गुरु कहलाते हैं। **'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव', 'आचार्य देवो भव', 'अतिथि देवो भव'** इन वाक्यों में इन गिरियों का उल्लेख हो गया है।

पाँच वर्ष तक माता, फिर आठवें वर्ष तक पिता, आगे पच्चीसवें वर्ष तक आचार्य और फिर गृहस्थ में अतिथि आदरणीय गिरि (गुरु) होते हैं। इनके उपह्वरे (निकटे) निकट रहकर ही बालक ज्ञान का विकास करते-करते विप्र बन जाता है। माता-पिता को बालकों का पालन-पोषण भृत्यों पर न डालकर सदा स्वयं करना चाहिए। नौकरों से पाले जाकर वे क्या विप्र बनेंगे? विद्यार्थी के आचार्य के समीप रहने की भावना को अन्तेवासी शब्द सुव्यक्त कर रहा है। गृहस्थ सदा अतिथियों की सेवा करता हुआ उनका सान्निध्य प्राप्त करने का यत्न करे।

'नदीनाम्' में 'नदी' शब्द न लेकर 'नदि' शब्द लेना चाहिए। इसका अर्थ praise=स्तुति है। वह व्यक्ति जिसका जीवन ही स्तुतिमय हो गया है 'नदि' कहलाता है। इन ब्रह्मनिष्ठ, सदा प्रभु की स्तुति करनेवाले नदियों के **सङ्गमे**=सङ्ग में आकर मनुष्य 'विप्र' बनता है। जहाँ कहीं इन व्यक्तियों का प्रवचन हो, सत्सङ्ग हो, वहाँ एक सद्गृहस्थ को अवश्य सम्मिलित होने का यत्न करना चाहिए।

इन गिरियों के निकट व नदियों के सङ्गम में मनुष्य विप्र तो बनता है, परन्तु बनता तभी है यदि उसके पास धी हो। धी शब्द के चार अर्थ हैं (१) बुद्धि=Intellect, (२)

प्रवृत्ति=Propensity, (३) भक्ति, श्रद्धा=Devotion, (४) त्याग=Sacrifice। बुद्धि के अभाव में हम उनके उपदेशों को समझ ही न सकेंगे, अतः हम उनसे क्या लाभ लेंगे? बुद्धि होने पर भी यदि हमारी उन उपदेशों के सुनने की प्रवृत्ति न हो, तो हम बुद्धि का अन्य ही प्रयोग करते रहेंगे। बुद्धि और प्रवृत्ति के साथ भक्ति व श्रद्धा भी अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि एकदम तो लाभ होता नहीं, श्रद्धा के अभाव में देर तक उस मार्ग पर चलना सम्भव नहीं रहता और अन्त में त्याग की आवश्यकता तो स्पष्ट ही है। कुछ-न-कुछ आराम व सुख का त्याग गुरुशुश्रूषा व सत्सङ्ग में सम्मिलित होने के लिए करना ही पड़ता है।

एवं, धी से यदि हम माता-पिता, आचार्य, अतिथि व ब्रह्मनिष्ठ विद्वानों के सम्पर्क में आकर कण-कण करके ज्ञान का सञ्चय करेंगे तो इस मन्त्र के ऋषि 'काण्व' व कण्वपुत्र कहलाएँगे और प्रभु के प्रिय बनकर 'वत्स' होंगे।

भावार्थ—गुरुओं का सान्निध्य तथा ब्रह्मनिष्ठ विद्वानों का सङ्ग हमें बुद्धि द्वारा विप्र=अपने को ज्ञान से पूरण करनेवाला बनाए।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-स्तवन

१४४. प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः। नरं नृषाहं मंहिष्ठम्॥ १०॥

प्रस्तोत=खूब स्तुति करो। किसकी? १. **चर्षणीनां सम्राजम्**=(चर्षणयः=कर्षणः) कृषि-तुल्य उद्योग करनेवाले पुरुषों को दीप्त करनेवाले की, २. **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यवाले की, ३. **गीर्भिः नव्यम्**=सब वेदवाणियों से स्तुति किये जानेवाले प्रभु की, ४. **नरम्**=आगे ले-चलनेवाले प्रभु की, ५. **नृ-षाहम्**=(षह-मर्षणे to show mercy), उन्नतिशील पुरुषों पर कृपा-दृष्टि रखनेवाले की, ६. **मंहिष्ठम्**=सर्वाधिक दानशील की।

१. प्रभु अपनी वेदवाणी में जीव को उपदेश देते हैं कि **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व'**=जुआ न खेलकर, खेती कर। वस्तुतः श्रम में ही दीप्ति है। श्रमशील व्यक्ति ही प्रभु के प्रिय होते हैं। आलस्य हमें शैतान की प्रजा बनाता है।

२. श्रमशीलता होने पर हम उस ज्ञानरूप परमैश्वर्य को भी पाते हैं जो हमें प्राकृतिक भोग-पंक में फँसने से बचाकर प्रभु का सच्चा उपासक बनाता है।

३. इस ज्ञान का यह परिणाम होता है कि हम वेदवाणियों से उस प्रभु की महिमा का गायन करते हैं। **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'**=सारे वेद उस प्रभु की ही महिमा का गायन कर रहे हैं।

४. यह प्रभु-गुण-गायन **नरम्**=हमें आगे ले-चलता है—हमारे उत्थान का कारण बनता हैं, प्रभु के गुणों में रुचि उत्पन्न होकर हम दैवी सम्पत्ति को अपने अन्दर बढ़ानेवाले बनते हैं।

५. यह दैवी सम्पत्ति प्रथम तो इस रूप में प्रकट होती है कि हम अन्य मनुष्यों पर दया-दृष्टिवाले बनते हैं, मनुष्य की अल्पज्ञता व स्खलनशीलता का ध्यान रखते हुए तैश में नहीं आते।

६. इसी दैवी सम्पत्ति का दूसरा परिणाम यह है कि हम **मंहिष्ठ**=बनते हैं। **'देवो दानात्'**=देव होते ही देनेवाले हैं। यह स्तोता उस महान् दाता प्रभु का स्मरण करके देनेवाला बनता है और देव हो जाता है।

यह स्तोता 'इरिम्बिठि' था। इसका विठम्=हृदयान्तरिक्ष सदा इरि=गतिशील था। उसमें निरन्तर प्रभु-स्मरण की धारा बह रही थी। इसी सतत प्रभुस्मरण ने उसे शनैः-शनैः करके जीवन-मार्ग में उन्नत किया था, अतः कण-कण करके दिव्य गुणों का भण्डार बनने के कारण यह 'इरिम्बिठि काण्व' कहलाया।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हम अपने जीवन-पथ को प्रशस्त बनाते हुए 'देव' बनें।

अथ द्वितीयप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—श्रुतकक्ष आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अज्ञानान्धकार का नाश

१४५. अपादु शिप्र्यन्धसः सुदक्षस्य प्रहोषिणः। इन्दोरिन्द्रो यवाशिरः॥ १॥

शिप्री=ज्ञान के शिरस्त्राणवाले **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **अन्धसः**=अन्धकार का (अन्ध+अस्) **अपात् उ**=निश्चय से पान कर जाते हैं—नाश कर देते हैं। शिप्र शब्द शिरस्त्राण=Helmet का वाचक है, अतः शिप्री का अर्थ हुआ शिरस्त्राणवाले। वे इन्द्र ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले हैं। वे प्रभु हमें उत्कृष्ट ज्ञान देते हुए हमारे अज्ञानान्धकार को नष्ट कर देते हैं।

१. **सु-दक्षस्य**=उत्तम मार्ग से आगे बढ़नेवाले के (दक्ष=to go, to move)। जिस व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य उत्तम मार्ग से आगे बढ़ना है, उसका अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है। ध्येय व क्रिया की उत्तमता उसे पवित्र बनाती है और पवित्र हृदय में ही ज्ञान का प्रकाश होता है।

२. **प्र-होषिणः**=प्रकृष्ट त्याग करनेवाले के (हु=त्याग)। वस्तुतः त्यागयुक्त क्रियाएँ ही मनुष्य को निर्मल बनाती हैं। **'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्'**—दान मनुष्य को पवित्र करनेवाला है। यही पवित्रता हमें ज्ञान-प्राप्ति के योग्य बनाती है।

३. **इन्दोः**=इन्दु के। इन्दु शब्द सोम का वाचक है—semen, vitality=वीर्यशक्ति। जो व्यक्ति अपने को वीर्यशक्ति का पुञ्ज बनाता है, वह इन्दु है। प्रभु इसके अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हैं।

४. **यवाशिरः**=यवाशिर के। गो शब्द ज्ञानेन्द्रियों का वाचक है (गमयन्ति अर्थान्) और यव शब्द कर्मेन्द्रियों का (यूयन्ते कर्मसु)। 'आशृ' से बनकर आशिर् शब्द 'चारों ओर से हिंसा करनेवाले' को कह रहा है। यह कुमार्ग पर जानेवाली इन्द्रियों को काबू करता है। वस्तुतः उपस्थादि इन्द्रियों के संयम से ही तो यह 'इन्दु'=शक्ति का पुञ्ज बन पाया था।

वह नष्ट अज्ञानान्धकारवाला व्यक्ति 'श्रुतकक्ष'=ज्ञानरूप शरणवाला है, अतएव विषयों में आसक्त न होने के कारण 'आङ्गिरस'=शक्तिसम्पन्न है।

भावार्थ—हम उत्तम मार्ग से चलनेवाले, त्यागशील, शक्तिपुञ्ज और कर्मेन्द्रियों के वशकर्त्ता बनें, जिससे हमारा अज्ञानान्धकार पूर्णरूप से नष्ट हो जाए।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु बछड़ा हो, मैं गौ

१४६. इमा उ त्वा पुरूवसोऽभि प्र नोनुवुर्गिरः। गावो वत्सं न धेनवः॥ २॥

हे **पुरुवसो**=पालक और पूरक निवास देनेवाले प्रभो! **इमा**=ये **गिरः**=मेरी वाणियाँ **उ**=निश्चय से **त्वा**=आपको ही **अभिप्रनोनुवुः**=लक्ष्य बनाकर निरन्तर स्तुति करनेवाली हों। **न**=जैसेकि **धेनवः गावः**=नवप्रसूतिका गौएँ **वत्सम्**=बछड़े का ध्यान करनेवाली होती हैं।

प्रभु सभी को वास के उचित साधन प्राप्त कराते हैं। वे साधन उनका पालन व पूरण करनेवाले होते हैं। कुछ तो ज्ञान की कमी के कारण और कुछ मन को पूर्ण वश में न कर सकने के कारण हम उन पदार्थों का ठीक प्रयोग नहीं करते और परिणामतः हमारे उचित विकास में कुछ कमी आ जाती है। प्रभु पुरुवसु हैं। मैं सदा उस प्रभु का स्तवन करूँ, जिससे मेरा अज्ञानान्धकार दूर हो तथा मैं चित्तवृत्तियों को वश में कर सकूँ और इस प्रकार प्रभु से दिये गये उन पदार्थों का ठीक उपयोग करके उत्तम निवासवाला बनूँ। मेरा चित्त सदा उस प्रभु के लिए उसी प्रकार उत्कण्ठित रहे जिस प्रकार गौ बछड़े के लिए उत्सुक होती है। मेरी चित्तरूप नवसूतिका गौ के लिए प्रभु बछड़े के समान हों। ध्यान इधर-उधर न करती हुई गौ जैसे बछड़े की ओर ही चली आती है, उसी प्रकार मेरा मन इधर-उधर विषयों में भ्रान्त न होकर प्रभु की ओर ही लगा रहे।

चित्त को प्रभु में लगाने से बढ़कर बुद्धिमत्तापूर्ण कुछ और है भी नहीं। यह ठीक है कि यह सब-कुछ एक रात में होनेवाला नहीं। धीरे-धीरे अभ्यास से ही मन प्रभु में लगेगा। कण-कण करके हमें इस मार्ग पर आगे बढ़ना होगा। इस प्रकार थोड़ा-थोड़ा (कण-कण) करके निरन्तर आगे बढ़नेवाला 'कण्वपुत्र'=काण्व' इस मन्त्र का ऋषि है। यह सचमुच 'मेधाम् अतति'=ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ रहा है, अतः 'मेधातिथि' है।

भावार्थ—हम अपनी चित्तवृत्तियों को सदा प्रभु में अर्पित करें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

चन्द्रमा के घर में

१४७. अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे॥ ३॥

इस मन्त्र का ऋषि 'गोतम राहूगण' है—(गो=इन्द्रिय, तम=अत्यन्त प्रशस्त, रह=त्यागे, गण=संख्याने) यह अत्यन्त प्रशस्त-इन्द्रियोंवाला है और वह ऐसा इसलिए बन पाया है कि त्यागवृत्तिवालों में उसका स्थान गणना के योग्य है। यह त्याग की भावना मनुष्य के अन्दर तब आती है जब वह **अत्र**=इस मानव-जीवन में **ह**=निश्चय से **अपीच्यम्**=अत्यन्त सुन्दर व सुगुप्त **नाम**=यशप्रद प्रभूनाम का **गोः**=वेदवाणी द्वारा **अमन्वत**=मनन करता है। वेदवाणी के अध्ययन से जब वह अपराविद्या को प्राप्त करता है तब उसे इन प्राकृतिक वस्तुओं में उस प्रभु की अद्भुत रचनाशक्ति दीखने लगती है। एक-एक पदार्थ उसके लिए एक आश्चर्य (miracle) हो जाता है। स्वयं वेद-वाक्यों की रचना भी उसे अनुपम बुद्धि से की गयी प्रतीत होती है। **इत्था**=ऐसा अनुभव वह तब करता है जब वह **चन्द्रमसः**=मन के (चन्द्रमा मनसो

जातः, मन=moon) **गृहे**=गृह में, स्थान में—स्थित होता है, अर्थात् मनुष्य क्षणभर भी विषयों से उपराम होकर अपने अन्तर मानस में स्थित हुआ और उसे प्रभु की महिमा का ध्यान आया। विषयों में स्थित होने पर भोगवृत्ति बढ़ती है, मन में स्थित होने पर विज्ञानवृत्ति, अतः मनुष्य को चाहिए कि भोगवृत्ति का त्याग करके (रह=त्याग) अपने मन व इन्द्रियों को निर्मल बनाये और वेदवाणी के द्वारा इस जगत् में प्रभु की महिमा को देखे।

भावार्थ—मनीषी बनकर हम मन से उस प्रभु की महिमा को देखने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

रित् का जीवन

१४८. यदिन्द्रो अनयद्रितो महीरपो वृषन्तमः। तत्र पूषाभुवत् सचा॥ ४॥

रित्—'**रियति गच्छति इति रित्**' इस व्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि रित् का अर्थ है 'गतिशील'। इन **रितः**=गतिशील व्यक्तियों को **यत्**=यदा, जब **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली **वृषन्तमः**=शक्तिशाली व सब सुखों का वर्षक प्रभु **महीः अपः**=पूजा व प्रशंसा के योग्य कर्मों को **अनयत्**=प्राप्त कराता है, **तत्र**=तब वहाँ **पूषा**=पुष्टि **सचा**=साथ **भवत्**=होती है।

इस मन्त्रार्थ से स्पष्ट है कि प्रभु जो कुछ प्राप्त कराते हैं, वह रितों=गतिशीलों को ही प्राप्त कराते हैं। अकर्मण्य व आलसी को कुछ प्राप्त नहीं होता। यह ठीक है कि God helps those who help themselves, प्रभु उन्हीं की सहायता करता है, जो अपनी सहायता स्वयं करता है।

प्रभु कैसे हैं? वे प्रभु 'इन्द्रः'=परमैश्वर्यशाली हैं। उनके ऐश्वर्य की सीमा नहीं है। केवल ऐश्वर्यशाली नहीं, वे 'वृषन्तमः'=सब कामनाओं व सुखों के वर्षक हैं। वे हमारी किस कामना को पूरा नहीं कर सकते, परन्तु करते तभी हैं जब हम रित्=गतिशील बनते हैं।

कामना-पूरण का प्रकार—हमारी कामनाओं को क्या वे सीधा पूरा कर देते हैं? नहीं। वे हमें 'महीः अपः'=महनीय=प्रशंसा के योग्य उत्तम कर्मों को प्राप्त कराते हैं। हमारी प्रवृत्ति शुभ कर्मों की ओर हो जाती है और उन शुभ कर्मों के परिणामरूप ही हम उस परमैश्वर्य के अंश को पाया करते हैं। क्रियाशीलता से हमें पुष्टि भी प्राप्त होती है।

इस मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाजः बार्हस्पत्यः' है। भरद्वाज का अर्थ शक्तिशाली है। परमैश्वर्य का अभिप्राय ज्ञान से था, अतः भरद्वाज ज्ञान को प्राप्त कर बार्हस्पत्य होता है।

भावार्थ—हम 'रित्' बनें और प्रभु के प्रिय हों।

ऋषिः—बिन्दुः पूतदक्षो वा आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

बिन्दुः, पूतदक्षः, आङ्गिरसः

१४९. गौर्धयति मरुतां श्रवस्युर्माता मघोनाम्। युक्ता वह्नी रथानाम्॥ ५॥

ऋषि—'बिन्दु' शब्द सामान्यतः वीर्य के लिए प्रयुक्त होता है। जो व्यक्ति इस बिन्दु का धारण करके अपने को शक्ति का पुञ्ज बनाता है, वह भी 'बिन्दु' कहलाता है। इसने अपने दक्ष=बल को पूत=पवित्र किया है, इसी से यह उस शक्ति को धारण कर पाया है। एवं, यह 'पूतदक्ष' अङ्ग-अङ्ग में रसवाला 'आङ्गिरस' हुआ है। यह ऐसा इसलिए बन पाया है कि इसने

शक्ति को अपने अन्दर ही पीया है। वैदिक भाषा में यही इन्द्र का सोमपान है। सामान्य भाषा में इसे शक्ति का शरीर में खपाना कहते हैं। इस शक्ति को शरीर में ही खपाने का उपाय यह है कि मनुष्य अपने को ज्ञान-प्रधान बनाए।

सोमपान का उपाय—**गौः**=वेदवाणी ही **धयति**=पीती है। वेदाध्ययन से मनुष्य इस शक्ति को अपने अन्दर ही पी लेता है। यह शक्ति ज्ञानाग्नि का ईंधन बन जाती है और शक्ति का अपव्यय नहीं होता। जो ज्ञान-प्राप्ति में लीन हो जाता है, उसकी शक्ति का अपव्यय वासनापूर्ति में नहीं होता।

यश=यह वेदवाणी इस प्रकार हमारे लिए सोमपान करती हुई हमें 'मरुत्'=मितरावी=कम बोलनेवाला बनाती है और इन **मरुताम्**=कम बोलनेवालों को यह वेदवाणी **श्रवस्युः**=यश से संयुक्त करनेवाली होती है। शक्तिशाली कर्मवीर बनकर यशस्वी होता है।

इन्द्रत्व—यह वेदवाणी **मघोनाम्**=इन्द्रों की **माता**=निर्माण करनेवाली है। 'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य' (यास्क), बल के सब कर्म इन्द्र के हैं। वेदवाणी हमें शक्तिशाली कर्मों को करनेवाला बनाती है। इन्द्र ने सब असुरों का संहार कर दिया। वेदाध्ययन का हमारे जीवन पर यही परिणाम होता है कि हमारी आसुर-वृत्तियाँ समाप्त होती हैं। हम इन्द्रियों के दास न रहकर इन्द्रियों के स्वामी इन्द्र बन जाते हैं।

यात्रा की पूर्ति—अन्त में यह वेदवाणी **युक्ता**=शरीररूप रथ में जोती जाने पर (**शरीरं रथमेव तु**—उप०) **रथानाम्**=इन रथों को **वह्निः**=यथास्थान (at the destination) पहुँचानेवाली होती है, अर्थात् हमारी जीवन-यात्रा निर्विघ्न पूर्ण हो जाती है।

भावार्थ—वेदवाणी का अध्ययन शक्ति की रक्षा का मुख्य उपाय है। यह हमें मितभाषी, यशस्वी कर्मोंवाला, आसुर-वृत्तियों का संहार करनेवाला इन्द्र बना देती है और हमें जीवन-यात्रा को पूर्ण करने में समर्थ करती है।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आंगिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

यज्ञमय जीवन का प्रारम्भ

१५०. उप नो हरिभिः सुतं याहि मदानां पते। उप नो हरिभिः सुतम्॥ ६॥

नाना मद—इस संसार में मानव को कितने ही मद=हर्ष प्राप्त हैं। १. मनुष्य का शरीर स्वस्थ हो, तो उसे जो हर्ष प्राप्त होता है, उसे 'तन्दुरुस्ती हज़ार नियामत है' इस लोकोक्ति में प्रतिक्षिप्त हुआ देख सकते हैं। २. कोई इन्द्रिय किसी भी विषयपङ्क से लिप्त न हो तो उस समय इस निर्मल इन्द्रियवाले पुरुष के चेहरे पर विद्यमान सतत स्मित उसके हर्ष की सूचना देती है। ३. सत्य से पवित्र हुए-हुए मन में एक विशेष प्रकार का ही उल्लास होता है। ४. ज्ञान की वृद्धि के साथ दीप्त होता हुआ विज्ञानमयकोश एक अद्भुत आनन्द का कारण बनता है। ५. जिस समय हम अज्ञानियों से किये जा रहे अपमानों से क्षुब्ध नहीं होते, उस समय यह सहनशक्ति का बल हमें आनन्द की सीमा पर पहुँचा देता है। ६. इन सब आन्तरिक आनन्दों के साथ बाह्य धन व सम्पत्ति का भी आनन्द है जो मनुष्य को घृत-लवण-तण्डुलेन्धन की चिन्ता से मुक्त-सा किये रखता है।

मदों के पति—इन सब हर्षों के स्वामी प्रभु हैं। उन्हें सम्बोधित करते हैं कि **मदानां**

पते=हे मदों के स्वामिन्! आपकी कृपा से ही हम इस जीवन में इन हर्षों को प्राप्त कर पाते हैं। हम इन मदों को प्राप्त कर सकें, अत: **हरिभि:**=इन इन्द्रियरूप घोड़ों के उद्देश्य से आप **न:**=हमें **सुतम्**=शक्ति (सोम=सुत) **उपयाहि**=प्राप्त कराइए। भोजन से उत्पन्न वीर्यशक्ति का अपव्यय हम क्षणिक आनन्द के लिए न कर डालें। वीर्य का पान शरीर में होगा तो वह वीर्य अङ्ग-प्रत्यङ्ग को शक्तिशाली बनाएगा।

यज्ञों में—इस प्रकार जब हमारी इन्द्रियाँ इस सोमपान के द्वारा शक्तिशाली बनें तो हे प्रभो! आप **न:**=हमें **हरिभि:**=इन्द्रियों के द्वारा **सुतम्**=यज्ञ को **उपयाहि**=प्राप्त कराइए। शक्तिशाली बनी हुई हमारी इन्द्रियाँ यज्ञों में प्रवृत्त हों।

वस्तुत: मनुष्य का जीवन हर्ष से ओत-प्रोत तभी हो सकता है जबकि १. उसकी इन्द्रियाँ शक्तिशाली हों और २. शक्तिसम्पन्न इन्द्रियाँ यज्ञों में प्रवृत्त हो जाएँ।

ऐसा वही व्यक्ति हो सकता है जो 'श्रुतकक्ष'=ज्ञान को अपनी शरण बनाता है। इस ज्ञानरूप कवच को धारण करनेवाला 'सु-कक्ष'=उत्तम रक्षण स्थानवाला है। इस प्रकार इसकी इन्द्रियाँ आसुर भावनाओं से अनाक्रान्त रहकर इसे 'आङ्गिरस'=शक्तिसम्पन्न अङ्गोंवाला बनाती हैं। यही श्रुतकक्ष-सुकक्ष-आङ्गिरस इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम अपनी इन्द्रियों को वीर्य-रक्षा के द्वारा शक्तिशाली बनाएँ और उन सशक्त इन्द्रियों से यज्ञों में प्रवृत्त हों।

ऋषि:—श्रुतकक्ष: सुकक्षो वा आङ्गिरस:॥ देवता—इन्द्र:॥ छन्द:—गायत्री॥ स्वर:—षड्ज:॥

यज्ञान्त स्नान की ओर

१५१. इष्टा होत्रा असृक्षतेन्द्रं वृधन्तो अध्वरे। अच्छावभृथमोजसा॥७॥

उत्तम यज्ञ—'हमारी इन्द्रियाँ सशक्त बन यज्ञों में प्रवृत्त हों' यह पिछले मन्त्र का सार था। इस मन्त्र में कहते हैं कि 'यज्ञों में निरन्तर प्रवृत्त हुई-हुई वे इन्द्रियाँ आगे और आगे बढ़ती चलें और इसी जीवन में हमें यज्ञान्त स्नान करने के योग्य बनाएँ।' **इष्टा: होत्रा:**=वांछनीय यज्ञ **असृक्षत**=हमारे द्वारा निरन्तर किये जाएँ। कुछ यज्ञ ऐसे भी हैं जिन्हें हम अवांछनीय कह सकते हैं। अभिचार यज्ञ=किसी के विनाश के लिए की जानेवाली हीन क्रियाएँ, इसी कोटि में आएँगे। सशक्त, संयमी जीवनवाला पुरुष उत्तम यज्ञों को ही करता है।

इन्द्र-शक्ति का विकास—इन **अध्वरे**=हिंसारहित यज्ञों में ये लोग **इन्द्रं वृधन्त:**=अपने में इन्द्र-शक्ति का विकास करते हुए **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **अवभृथम्**=यज्ञान्त स्नान की **अच्छ**=ओर बढ़ते चलते हैं। हिंसारहित उत्तम यज्ञों से आत्मिक शक्ति का विकास होता है। इन यज्ञों का करनेवाला ओजस्वी बनता है। यह ओजस्विता इसे यज्ञमार्ग पर और अधिक आगे बढ़ने की योग्यता प्राप्त कराती है और इस प्रकार वह इन यज्ञों में ऐसी तीव्रता से आगे बढ़ता है कि इसी जन्म में उसके यज्ञान्त स्नान कर सकने की सम्भावना हो जाती है। जिस दिन वह यज्ञों को पूर्ण कर यज्ञमय बन जाएगा, उस दिन यह उस यज्ञरूप विष्णु की सचमुच यज्ञ के द्वारा उपासना करेगा। पातक=पाप जहाँ मनुष्य को 'पातयन्ति'=गिराते हैं, वहाँ यज्ञ मनुष्य को उपर उठाते हैं। पापों से शक्ति घटती है, पुण्य से उसकी अभिवृद्धि होती है।

एवं, यज्ञों से ओजस्वी बननेवाला पुरुष सचमुच 'आङ्गिरस' है—रसमय अङ्गोवाला है।

श्रुति-प्रतिपादित यज्ञों को अपनी शरण बनानेवाला यह श्रुतकक्ष व सुकक्ष है।

भावार्थ--हम इष्ट यज्ञों से आत्मिक शक्ति का विकास करें और उससे यज्ञों की चरम सीमा तक पहुँचने के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषि:—**वत्स: काण्व:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

सूर्य की भाँति

१५२. अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह। अहं सूर्यइवाजनि॥ ८॥

ज्ञान के बिना मनुष्य का कल्याण सम्भव नहीं, परन्तु ज्ञान-प्राप्ति बड़ा तीव्र तप व श्रम चाहती है, अत: मनुष्य कल्याण-प्राप्ति के किसी सरल मार्ग की खोज में रहता है। आधुनिक जगत् में सन्तों की वाणियों ने भक्ति के रूप में उसे वह सरल मार्ग प्राप्त करा ही दिया है, परन्तु क्या ज्ञानशून्य भक्ति से कभी कल्याण सम्भव हो सकता है? नहीं, और कभी नहीं। वेद स्पष्ट कह रहा है कि १. **'तमेव विदित्वाऽ तिमृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽ यनाय'** उस प्रभु के ज्ञान के बिना मृत्यु को लाँघने व मुक्त होने का अन्य कोई मार्ग नहीं है। २. प्रभु ने मनुष्य को सृष्टि के आरम्भ में 'वेद'=ज्ञान ही दिया था। दो वस्तुएँ इसलिए नहीं कि मनुष्य उनमें तुलना न करने लग जाए। ३. प्रभु ने हमारा नाम ही 'मनुष्य' इसलिए रक्खा था कि हम सदा अवबोध व ज्ञान-प्राप्तिरूप लक्ष्य को न भूलें। ४. वेद में प्रभु ने तीन काण्ड रक्खे हैं—ज्ञान, कर्म और उपासना ५. प्रभु ने ज्ञानप्राप्ति के लिए ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्म करने के लिए कर्मेन्द्रियाँ दी हैं। इनके अतिरिक्त उपासना के लिए कोई उपासनेन्द्रिय नहीं दी। वस्तुत: ज्ञानपूर्वक कर्म करने से ही उपासना हो जाती है, अत: अलग इन्द्रिय की आवश्यकता भी नहीं है। ६. मस्तिष्क-प्रयोग में श्रम है, हस्तप्रयोग में श्रम है। हृदय-गति तो स्वयं होती रहती है एवं ज्ञान और कर्म होने पर उपासना स्वत: हो जाती है। ७. चतुर्विध भक्तों में **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'**=ज्ञानीभक्त ही प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय है।

इस ज्ञान-प्राप्ति के लिए इस मन्त्र का ऋषि 'वत्स' प्रभु से उच्चारण (पुरस्तात् शुक्रं उच्चरत्) किये गये वेदमन्त्रों का उच्चारण करता है (वदतीति वत्स:), इसीलिए यह प्रभु का प्रिय होता है (वत्स:=प्रिय)। कण-कण करके ज्ञान का संग्रह करते चलने से यह 'काण्व' कहलाता है। यह वत्स कहता है कि **अहम्**=मैं **इत् हि**=सचमुच, निश्चय से **पितु:**=ज्ञानदाता उस परमपिता से **ऋतस्य**=सत्य की (सत्यज्ञान की) **मेधाम्**=बुद्धि को **परिजग्रह**=सर्वत: ग्रहण करता हूँ। सब सत्य ज्ञानों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता हूँ। इस प्रकार सत्य ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करके **अहम्**=मैं **सूर्य: इव**=सूर्य की भाँति **अजनि**=हो गया हूँ। अज्ञानान्धकार के दूर हो जानेपर ही मानव का कल्याण होता है। यह प्रकाश सब पाप-कालिमा को धो डालता है।

भावार्थ—सत्य ज्ञान को प्राप्त करके हम सूर्य की भाँति चमकें।

ऋषि:—**आजीगर्ति: शुन:शेप:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

शुन:शेप की प्रार्थना

१५३. रेवतीर्न: सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजा:। क्षुमन्तो याभिर्मदेम॥ ९॥

इस मन्त्र का ऋषि 'आजीगर्ति: शुन:शेप:' है। (शुनम्=सुखम्, शेपृ=to make) सुख के

साधनों को जुटानेवाला व्यक्ति शुन:शेप है। यह उत्तरोत्तर (अज=गति=to go, गर्त=गड्ढा) अवनति के मार्ग पर ही आगे बढ़ता है। १. काम करने से इसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। २. भोग-सामग्री बढ़ जाने से रोग शरीर में घर कर लेते हैं। ३. अभिमान वृद्धि से यह निर्धनों व सेवकों को मनुष्य ही नहीं समझता।

यह कहता है कि **इन्द्रे**=प्रभु के चरणों में **न:**=हमें **तुविवाजा:**=खूब अन्न प्राप्त हों। वे अन्न **रेवती:**=धनोंवाले **सन्तु**=हों और **सधमादे**=सन्तानों व परिवारजनों के साथ मौज लेने योग्य हों (सध=साथ, माद्=हर्ष), अर्थात् हमारे पास अन्न हो, धन हो, और सन्तान हों, जिससे उन सन्तानों के साथ हम अपने धन-धान्य का आनन्द लूटें।

यह फिर प्रार्थना करता है कि–**क्षुमन्त:**=उत्तम अन्नवाले (खूब खा सकने की शक्तिवाले) हम उन धन-धान्यों को प्राप्त करें **याभि:**=जिनसे हम **मदेम**=इस संसार का मज़ा ले-सकें।

वस्तुत: सामान्य मनुष्य की प्रार्थना का स्वरूप यही होता है कि धन हो, सन्तान हो, अन्न हो और मुझमें खाने की शक्ति हो। यह जीवन पापवाला प्रतीत न होता हुआ भी 'भोगमय' तो है ही, अत: ऐसे जीवन के बिताने पर प्रभु अगला जीवन हमें भोगयोनियों में ही दे देते हैं। एवं, यह जीवन गर्त की ओर ही ले-जाता है। इस जीवन में भी शक्तिक्षीणता, रोग और औरों की घृणा के पात्र होने पर हमें कई बार यह जीवन असार व ग़लत प्रतीत होने लगता है। उस समय हमारी प्रार्थना का स्वरूप परिवर्तित हो जाता है।

भावार्थ–सामान्य मनुष्य की प्रार्थना धन, सन्तान, अन्न और अन्न को पचाने की शक्ति के लिए होती है।

ऋषि:–शुन:शेपो वामदेवो वा॥ देवता–इन्द्र:॥ छन्द:–गायत्री॥ स्वर:–षड्ज:॥

वामदेव की प्रार्थना (सौम्यता व शक्ति)

१५४. सोम: पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम्। देवत्रा रथ्योर्हिता॥ १०॥

'हे प्रभो! यह सांसारिक भोगों का जीवन तो ठीक नहीं है' यही मेरे अनुभव का निचोड़ है। इस जीवन ने तो मुझे अभिमानी व क्षीणशक्ति ही बना दिया। आप कृपा करो कि मुझ में **सोम:**=सौम्यता **च**=और **पूषा**=पोषण, अर्थात् पुष्टि व शक्ति **चेततु:**=चेत उठें, जाग उठें। मैं विनीत बन जाऊँ और शक्ति-सम्पन्न हो जाऊँ। सांसारिक भोगों से मैं ऊपर उठूँ और अभिमान व निर्बलता के मूल को ही समाप्त कर दूँ। ये सोम और पूषा **विश्वासां सुक्षितीनाम्**=सब उत्तम मनुष्यों में **हिता:**=निहित होते हैं। सब उत्तम मनुष्यों का ये कल्याण करते हैं। इन्हें अपने में निहित कर मैं भी उत्तम मनुष्य बन जाऊँ। ये सोम और पूषा **देवत्रा हिता**=देवों में निहित होते हैं, इन्हें अपने में धारण कर मैं भी देव बन जाऊँ। **रथ्यो: हिता**=(रथी–रथ का अधिष्ठाता) ये सोम और पूषा उस दम्पती में निहित होते हैं जो रथी=शरीररूप रथ के अधिष्ठाता होते हैं। मैं भी उन्हीं-जैसा बनूँ।

कहाँ शुन:शेप की प्रार्थना धन, सन्तान, अन्न व भूख के लिए थी और कहाँ अब वह उन वस्तुओं के तत्त्व को पहचानकर सोम और पूषा का, विनीतता व शक्ति का अभिलाषी हो गया है। वह शुन:शेप न रहकर 'वाम-देव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बन गया है।

भावार्थ—हमारे जीवन का उद्देश्य भोगसामग्री जुटाना न होकर विनीतता व शक्ति का सम्पादन हो।

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—**आङ्गिरसः श्रुतकक्षः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-स्तवन से वासना का विनाश

१५५. पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत।
विश्वासाहं शतक्रतुं मंहिष्ठं चर्षणीनाम्॥ १॥

पिछले मन्त्र में सौम्यता व शक्ति की याचना थी। इस शक्ति का सम्पादन बिना सोम (semen)=वीर्य की रक्षा के सम्भव नहीं, और सोम का रक्षण प्रभु-स्तवन के बिना असम्भव है, इसीलिए मन्त्र में कहते हैं कि **इन्द्रम्**=उस सर्वैश्वर्यशाली प्रभु का **आ**=सर्वथा **अभिप्रगायत**=गान करो। उस प्रभु का जो **वः**=तुम्हारे **अन्धसः**=सोम की **पान्तम्**=रक्षा कर रहा है। अन्धस् शब्द ही सोम-रक्षा के महत्त्व का प्रतिपादन करता है कि यह 'आध्यायनीयं भवति' (यास्क), सब प्रकार से ध्यान करने योग्य होता है। हमारा सारा आहार-विहार इसी की रक्षा के दृष्टिकोण से होना चाहिए। हम उष्णवीर्य वस्तुओं को कभी न खाएँ और उत्तेजक व्यायामों को न करें। इनसे बढ़कर आवश्यक बात यह है कि हम प्रभु का स्तवन करें। हमारे हृदयों में प्रभु का वास होगा तो वासना का वहाँ उत्थान न होगा और परिणामतः हम अपनी शक्ति को सुरक्षित रख सकेंगे।

१. **विश्वासाहम्**=वे प्रभु सबका पराभव करनेवाले हैं। हम भी उस प्रभु के स्तवन से सोमरक्षा द्वारा शक्तिशाली बनकर सबका अभिभव करनेवाले बनेंगे, तब हम संसार के प्रलोभनों से अभिभूत न होंगे।

२. **शतक्रतुम्**=वे प्रभु अनन्त (शत=अनन्त) उत्तम कर्मोंवाले हैं। उस प्रभु का स्तवन करते हुए हम भी वीर्यवान् बन सदा उत्तम कर्मों में लगे रहेंगे।

३. **चर्षणीनां मंहिष्ठम्**=वे प्रभु मनुष्यों के लिए दातृतम हैं। 'प्रभु ने क्या नहीं दिया?' उसने जीवों के हित के लिए अपने को ही दे डाला है (आत्म-दा)। वीर्यवान् पुरुष भी विलास की ओर न जाने के कारण अपनी आवश्यकताओं को कम रखता है और अधिक-से-अधिक लोकहित करता है।

संक्षेप में प्रभु का स्तवन करनेवाला व्यक्ति १. सोमरक्षा के द्वारा शक्तिशाली बनता है। २. सब प्रलोभनों का अभिभव करने में समर्थ होता है। ३. सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगा रहता है। ४. अपनी आवश्यकताओं को कम रखता हुआ सदा दानशील होता है।

यह सांसारिक भोगों व ऐश्वर्य को महत्त्व न देकर ज्ञान को महत्त्व देता है। ज्ञान ही उसका शरण होता है। इसी से उसका नाम 'श्रुत-कक्ष' हो गया है। ज्ञान से उत्तम कोई शरण है ही नहीं, अतः वह 'सु-कक्ष' है। भोगमार्ग की ओर न जाने से वह 'आङ्गिरस'=शक्तिशाली है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से वासना को दूर रखकर हम अपनी शक्ति की रक्षा करें।

ऋषिः—मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु हर्यश्व हैं

१५६. प्र व इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत। सखायः सोमपाव्ने॥ २॥

'मैत्रावरुणि वसिष्ठ' इस मन्त्र का ऋषि है। मित्र और वरुण की, अर्थात् प्राणापान की साधना करके यह वशियों में श्रेष्ठ बना है। यह कहता है **सखायः**=समान ख्यान=ज्ञानवाले मित्रो! ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश्य से मिलकर चलनेवाले साथियो! **प्रगायत**=खूब गायन करो, दिन-रात स्तुति करो। सोते-जागते, खाते-पीते, उठते-बैठते उस प्रभु का चिन्तन करो। किस प्रभु का? १. **वः इन्द्राय**=तुम्हें परमैश्वर्य प्राप्त करानेवाले प्रभु का। उस प्रभु का स्तवन करो जिसकी स्तुति से ज्ञानरूप परमैश्वर्य का लाभ होता है। सत्यज्ञान की प्राप्ति—ऋतम्भरा प्रज्ञा का लाभ प्रभु की कृपा से ही होता है। २. उस प्रभु का गायन करो जो **वः**=तुम्हारे **हर्यश्वाय**=इन्द्रियरूप घोड़ों का प्रत्याहरण करनेवाले हैं। **'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः'** इन्द्रियों से विषय पर=प्रबल हैं—इन्द्रियों को आकृष्ट कर लेते हैं। इन्द्रियाँ ग्रह हैं तो विषय अतिग्रह हैं। वे इन्द्रियाँ जोकि विषयों से आकृष्ट हो जाती हैं, प्रभु-स्मरण होनेपर उनका पुनः प्रत्याहार हो जाता है। **हर**=वापस लानेवाले, **अश्व**=घोड़ों को। ३. उस प्रभु का स्मरण करो जो **सोमपाव्ने**=सोम की रक्षा करनेवाले हैं। प्रभु का स्मरण करने से इन्द्रियाँ विषयों की ओर नहीं जातीं। विषयों में लिप्त न होने से हमारी शक्ति सुरक्षित रहती है। स्तुति किये जाने पर हमारे हृदयाकाश में महादेव की प्रतिष्ठा होती है—कामदेव का विध्वंस होता है और इस प्रकार हमारा सोम विलास में व्यय नहीं होता।

उल्लिखित प्रकार से प्रभु-नाम-गायन का परिणाम निम्न रूप में होता है—

१. ज्ञानरूप परमैश्वर्य की प्राप्ति, २. इन्द्रियों का विषयों में न जाना, ३. परिणामतः सोम का शरीर में ही सुरक्षित रहना।

यह महत्त्वपूर्ण प्रभु-गायन इस रूप में चले कि **मादनम्**=हमारे जीवन में एक मस्ती (मद) लानेवाला हो। हम गायन में तन्मय व तल्लीन हो जाएँ।

भावार्थ—ज्ञान-सम्पादन करते हुए हम प्रभु के अनन्य उपासक बनें, भक्ति में हमें एक मस्ती का अनुभव हो।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सच्ची उपासना

१५७. वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः। कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते॥ ३॥

हे इन्द्र! **त्वा**=आपकी **जरन्ते**=स्तुति करते हैं। कौन?

१. **वयम् उ**=निश्चय से कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले (वेञ् तन्तुसन्ताने)। जो व्यक्ति "कुर्वन्नेवेह कर्माणि.........एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति" (यजु:० ४०।२) कर्मों को करते हुए ही जीने की इच्छा करते हैं।

२. **तत् इत् अर्थाः**=(तत् इत् अर्थो येषाम्)=सर्वव्यापक प्रभु ही जिनका लक्ष्य है (तनु विस्तारे)। प्रभु निःसीम हैं, उनकी हित-साधन की प्रक्रिया सीमित नहीं है। इसी प्रकार जो

व्यक्ति मनोवृत्ति को व्यापक बना, संकुचितता को समाप्त कर देते हैं, वे विस्तृत बनते हुए प्रभु की सच्ची उपासना कर रहे होते हैं। प्रभु ब्राह्मण व चाण्डाल गृह में एक समान सूर्य-किरणों को पहुँचाते हैं। हम भी व्यवहार में संकुचित न हों।

३. **इन्द्र**=वे प्रभु इन्द्र हैं। शक्ति के सब कार्यों को करनेवाले हैं, अतः हम भी इन्द्र बनें। शक्तिशाली कार्यों के करनेवाले हों। इन्द्र ने असुरों का संहार किया, हम भी काम, क्रोध, लोभ, मोहादि आसुर वृत्तियों का संहार करनेवाले बनें।

४. **त्वायन्तः**=तेरी ही कामनावाले हों, धनकामी न हों। जिसके जीवन का लक्ष्य धन जुटाना हो जाता है, वह प्रभु का उपासक नहीं बन सकता।

५. **सखायः**=जो तेरे सखा हैं—समान ख्यानवाले हैं। जैसे आप सर्वज्ञ हैं, इसी प्रकार जो सर्वज्ञ-कल्प बनने का प्रयत्न करते हैं, वे आपके सच्चे उपासक हैं।

६. **कण्वाः**=मेधावी लोग जो कण-कण करके विद्या का ग्रहण करते हैं, वे **उक्थेभिः**=स्तोत्रों के द्वारा **जरन्ते**=आपकी स्तुति करते हैं।

एवं, स्पष्ट है कि प्रभु की सच्ची भक्ति १. निरन्तर कर्म करने, २. हृदय को विशाल बनाने, ३. आसुर वृत्तियों का संहार करने, ४. धन को ही जीवन का उद्देश्य न बना लेने तथा ५. प्रभु के समान सर्वज्ञ-कल्प बनने का प्रयत्न करने में है। इन पाँचों बातों में भी अन्तिम बात के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए कहा गया है कि कण्व=मेधावी ही तेरी स्तुति करते हैं।

इस मन्त्र के ऋषि मेधातिथि=निरन्तर मेधा की ओर चलनेवाला=मेधाम् अतति तथा प्रियमेध (प्यारी है मेधा जिसको) हैं। इन ऋषियों के नामों से भी स्पष्ट है कि सर्वोत्तम भक्ति ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहने में ही है। इनमें मेधातिथि काण्व—कण-कण करके मेधा के सञ्चय में लगा है। प्रियमेध विषयों में अरुचि के कारण शक्तिसम्पन्न होकर सचमुच आङ्गिरस है।

भावार्थ—हम प्रभु के सर्वोत्तम ज्ञानी भक्त बनने के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—**श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सच्ची भक्ति में ही सच्चा आनन्द है

१५८. इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिरः। अर्कमर्चन्तु कारवः॥ ४॥

गत मन्त्र में जिस मार्ग पर चलने के लिए कहा गया है यह प्रेय=pleasant=आनन्दप्रद प्रतीत नहीं होता, कुछ नीरस-सा लगता है, परन्तु क्या यही वास्तविकता है? मन्त्र कहता है कि नहीं! **नः**=हमारी **गिरः**=वाणी **सुतम्**=भक्ति-भावना से उत्पादित (स्वनिर्मित) स्तुतिवाक्यों को **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **परिष्टोभन्तु**=प्रशंसा के रूप में उच्चारें, जो प्रभु **'मद्वने'**=हमारे लिए हर्ष को जीतनेवाले हैं अथवा हमारे लिए हर्ष का संविभाग करनेवाले हैं। वस्तुतः आनन्द की प्राप्ति प्रकृति की ओर न जाकर प्रभु की ओर जाने में ही है।

अकर्मण्य व्यक्ति कभी प्रभु का उपासक नहीं होता। मन्त्र स्पष्ट शब्दों में कहता है कि **अर्कम्**=उस उपासनीय प्रभु को **कारवः**=क्रियाशील लोग ही **अर्चन्तु**=पूजते हैं। 'कारु' शब्द सामान्य क्रियाशील व्यक्ति का वाचक नहीं है, यह 'शिल्पकारक', कलापूर्ण क्रियावाले का वाचक है। कुशलता से कर्म करनेवाला ही प्रभु का सच्चा उपासक है।

मन्त्र १५७ में सच्चे उपासक का प्रथम लक्षण यह दिया गया था कि वह कर्मतन्तु का सन्तान (विस्तार) करता है, उसे विच्छिन्न नहीं होने देता। यहाँ कहा गया है कि प्रभु की अर्चना करनेवाला उन कर्मों को कुशलता से करता है। एवं, दोनों का समन्वय करके हम कह सकते हैं कि 'निरन्तर कुशलता से कर्म करनेवाला ही प्रभु का सच्चा भक्त है'। ऐसे कर्म सत्यज्ञान का ही परिणाम होते हैं। वस्तुतः कर्म से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान कर्मों को पवित्र कर डालता है।

इस पवित्र ज्ञान को अपना शरण बनानेवाला 'श्रुत-कक्ष' इस मन्त्र का ऋषि है। इनसे बढ़कर उत्तम शरणवाला कौन होगा? यह 'सु-कक्ष' है। पवित्र जीवन के कारण यह शक्तिसम्पन्न 'आङ्गिरस' तो है ही।

भावार्थ—हम निरन्तर कुशल कर्मों के द्वारा प्रभु की वास्तविक आराधना करनेवाले बनें और परिणामतः उत्कृष्ट आनन्द का लाभ करें।

ऋषिः—इरिम्बिठिः **काण्वः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

उन्नत होता हुआ भी विनीत

१५९. अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि। एहीमस्य द्रवा पिब॥ ५॥

इस मन्त्र का ऋषि 'इरिम्बिठि काण्व' है। क्रतुमय है हृदय जिसका, कर्म-संकल्प से भरे हुए हृदयवाला यह इरिम्बिठि काण्व=कण्वपुत्र अत्यन्त मेधावी तो है ही। कर्म-संकल्प से रहित व्यक्ति कभी उन्नति के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता। यह क्रियाशीलता ही इस इरिम्बिठि की उन्नति का कारण बनती है। क्रमशः उन्नति-पथ पर बढ़ता हुआ यह समय आने पर उन्नति-शिखर पर आरूढ़ होता है। इस उन्नति-शिखर पर पहुँचकर भी यदि यह सोम=विनीत बना रहता है तो यह कह सकता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **अयं सोमः**=उन्नति होने पर भी विनीत बना हुआ यह मैं **ते**=तेरा ही हूँ। वस्तुतः जो व्यक्ति उन्नत होने पर गर्ववाला हो जाता है, वह अपने को ईश्वर (ईश्वरोऽ हम्) मानने लगता है, वह ईश्वर का भक्त नहीं रहता। यह गर्व ही अन्त में उसके पतन का कारण बनता है।

यह इरिम्बिठि प्रभु से कहता है कि **निपूतः**=मैंने अपने को नितरां पवित्र किया है, वस्त्रों व बाह्य शरीर के दृष्टिकोण से नहीं, अपितु **अधिबर्हिषि**=हृदय के दृष्टिकोण से। मैंने अपने हृदय से काम, क्रोध, लोभ आदि वासनाओं को दूर किया है और इस प्रकार अपने हृदय को निर्मल बनाया है, क्योंकि इसमें से वासनारूपी घास को उखाड़ दिया है, अतः यह सचमुच 'बर्हिः' कहलाने योग्य हुआ है। इस प्रकार पवित्र बनकर मैं सचमुच आपका ही हो गया हूँ।

एहि=आइए **ईम्**=निश्चय से आइए। **अस्य**=इस आपके भक्त के प्रति **द्रव**=अनुकम्पित हृदयवाले होओ और **पिब**=इसकी रक्षा कीजिए। पिब का सामान्य अर्थ पीना ही होता है, परन्तु यहाँ 'रक्षा करना' अर्थ अधिक सङ्गत है।

भावार्थ—हम विनीत व पवित्रहृदय बनें, जिससे प्रभु-रक्षा के पात्र हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मैं उस ग्वाले की उत्तम गौ बनूँ

१६०. सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवि॥ ६॥

पवित्र मधुर इच्छाओंवाला 'मधुच्छन्दा:'=सभी के प्रति अत्यन्त स्नेह की भावनावाला 'वैश्वामित्र:' इस मन्त्र का ऋषि है। यह कहता है कि हे प्रभो! **ऊतये**=अपनी रक्षा के लिए **द्यविद्यवि**=प्रतिदिन **जुहूमसि**=हम आपको पुकारते हैं। आप **सुरूपकृत्नुम्**=उत्तम रूपों के निर्माता हैं। आपके स्मरण व आराधना से शरीर नीरोग, मन विशाल और बुद्धि तीव्र होती है। शरीर, मन व बुद्धि तीनों ही सुरूप हो जाते हैं। इन सुरूप अङ्ग-प्रत्यङ्गों को प्राप्त करके हम **गोदुहे**=ग्वाले के रूपवाले आपके लिए **सुदुघाम् इव**=उत्तम दूही जानेवाली गौ के समान हो जाते हैं।

हम अपने मानव-जीवन की रक्षा इसी प्रकार कर सकते हैं कि शरीर, मन व बुद्धि को सुन्दर बनाएँ, परन्तु इन्हें सुन्दर बनाना प्रभु-कृपा से ही सम्भव है। इन्हें सुन्दर बनाकर मनुष्य सुदुघा गौ के समान बन जाता है, जिस गौ का ग्वाला प्रभु ही होता है।

वेद में 'गौ' मानव-जीवन के साथ जोड़-सी दी गयी है। वह हमारी माता बन गयी है। हमारी शारीरिक नीरोगता, मानस विशालता व बुद्धि-सूक्ष्मता का निर्माण करनेवाली यह गौ ही है। इस गौ के दुग्ध से प्रभु ने हमारे शरीर, मन व बुद्धि को सुन्दर बनाने की व्यवस्था की है। 'करनेवाले प्रभु ही हैं, मैं कौन?' इस भावना को जागृत् करनेवाला ही सुदुघा गौ के समान बना रहता है।

भावार्थ—प्रभु गोपाल हैं, हम उनकी उत्तम गौएँ बनें।

ऋषि:—**त्रिशोक: काण्व:**।। देवता—**इन्द्र:**।। छन्द:—**गायत्री**।। स्वर:—**षड्ज:**।।

प्रभु की आज्ञा में

१६१. अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये। तृम्पा व्यश्नुही मदम्॥ ७॥

इस मन्त्र का ऋषि 'त्रिशोक काण्व' है। इसका मस्तिष्क, मन व शरीर (त्रि) तीनों ही (शोक) दीप्त हैं (शुच् दीप्तौ)। इसने अपने जीवन को इस प्रकार चलाया है कि यह शारीरिक, मानस व बौद्धिक सभी प्रकार की उन्नतियाँ करने में समर्थ हुआ है। यह बुद्धिमत्ता से अपने जीवन को चलाने के कारण 'काण्व' है। यह प्रभु को अपना पूर्ण हितचिन्तक व हितसाधक मानता हुआ कहता है कि **वृषभ**=हे सब सुखों के वर्षक प्रभो! **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में **त्वा अभि**=तेरी ओर देखकर ही मैं सब कार्य करता हूँ। 'प्रभु ने किन-किन कार्यों के लिए स्वीकृति दी है, इस विषय का विचार करने पर यह स्पष्ट है कि प्रभु का प्रथम आदेश ज्ञान-प्राप्ति के लिए है। प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान ही दिया और मनुष्य का नाम भी 'ज्ञान-प्राप्त करनेवाला' ही रक्खा, अत: यह काण्व कहता है कि **पीतये**=मैं अपनी रक्षा के लिए **सुतम्**=ज्ञान को **सृजामि**=अपने में उत्पन्न करता हूँ। ज्ञान का नाम 'सुतम्' इसलिए है कि इसे विद्यार्थी को आचार्य से इसी प्रकार निकालना होता है जैसे हम गन्ने से रस प्राप्त करते हैं। आचार्य से इसे निकालने के उपाय **'प्रणिपातेन सेवया'** नम्रता व सेवा है। काण्व प्रभु के निर्देशानुसार सर्वप्रथम ज्ञान का सवन करता है। ज्ञान से उसका मस्तिष्क जगमगा जाता है।

यह काण्व अपने को प्रेरणा देता हुआ कहता है कि **तृम्प**=हे मेरे मन! तू सदा तृप्त रह। 'मन को सन्तुष्ट रखना' यही प्रभु की दूसरी आज्ञा है। इसी को सन्तोष कहते हैं कि 'प्रयत्न में कमी न रखना, फल के लिए ललचाना नहीं'। यही आस्तिकता है—प्रभु से की जा रही

व्यवस्था में कभी असन्तुष्ट न होना। इसका परिणाम यह होता है कि मन लोभादि आसुर वृत्तियों से रहित होकर निर्मल हो जाता है और चमक उठता है।

प्रभु के तीसरे निर्देश के अनुसार काण्व की आत्मप्रेरणा यह है कि **व्यश्नुही मदम्**=(मद= semen virile) तू अपनी वीर्य-शक्ति को शरीर में ही व्याप्त कर। इसे नष्ट न होने दे।

एवं, शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों को श्री-सम्पन्न बनाकर यह सचमुच 'त्रिशोक' बन जाता है।

भावार्थ--ज्ञानप्राप्ति के द्वारा मस्तिष्क को, सन्तोष की वृत्ति से मन को, और वीर्य को शरीर में व्याप्त कर हम शरीर को श्री-सम्पन्न बनाएँ।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

तू ईश ही बन जाएगा.

१६२. य इन्द्र चमसेष्वा सोमश्चमूषु ते सुतः। पिबेदस्य त्वमीशिषे॥ ८॥

इस मन्त्र का ऋषि 'कुसीदी काण्व' है। 'कुस संश्लेषणे' धातु से यह शब्द बना है। जो प्रभु से संश्लिष्ट होना चाहता है, प्रभु से मिलने की प्रबल इच्छा रखता है, वह कुसीदी है। प्रभु की ओर जाने के मार्ग को अपनाना ही बुद्धिमत्ता है, अतः यह काण्व=मेधावी तो है ही। इस मार्ग पर चलने से ही वास्तविक शान्ति उपलभ्य है। इन्द्रियों को वश में रखनेवाला 'इन्द्र' ही इस मार्ग पर चल सकता है। इस इन्द्र से प्रभु कहते हैं कि—हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के वशकर्तः! **यः सोमः**=जो यह सोम (वीर्यशक्ति) **सुतः**=उत्पन्न किया गया है वह **ते**=तेरे **चमसेषु**=चमसों के निमित्त तथा **चमूषु**=चमुओं के निमित्त ही उत्पन्न किया गया है।

'चमस' शब्द का अभिप्राय **'तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। तदासत ऋषयः सप्त साकम्।'** इस मन्त्र में स्पष्ट कर दिया गया है। यहाँ चमस का अभिप्राय मस्तिष्क से है और इसके तीर पर स्थित सात ऋषि **'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'** ये इन्द्रियाँ ही हैं। इन इन्द्रियों के बहुत्व के दृष्टिकोण से ही 'चमसेषु' शब्द में बहुवचन का प्रयोग है। इन ज्ञानेन्द्रियों के निमित्त वीर्यशक्ति का उत्पादन हुआ है। इन्हें सबल बनाने के लिए ही इस वीर्यशक्ति का विनियोग होना चाहिए।

इसी प्रकार यह शक्ति चमुओं के निमित्त उत्पन्न की गयी है। 'चमू' शब्द का अर्थ यास्क 'द्यावापृथिव्यौ' द्युलोक और पृथिवीलोक करते हैं। अध्यात्म में इनका अभिप्राय मस्तिष्क व स्थूल-शरीर है। वीर्यशक्ति दोनों को सबल बनानेवाली है।

एवं, यह स्पष्ट है कि यह सोम शरीर को नीरोग, इन्द्रियों को शक्तिशाली व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाने के लिए प्रभु से उत्पन्न किया गया है। यदि हम इसका ठीक उपयोग करेंगे तो हम अपने शरीर, इन्द्रियों व मस्तिष्क तीनों को ही ऐश्वर्यसम्पन्न बना पाएँगे। प्रभु कहते हैं कि तू **अस्य पिब इत्**=इस सोम का ही पान कर। इसे अपने शरीर में ही सुरक्षित करने के लिए प्रयत्नशील हो। यदि हम इस सोम का पान करेंगे तो प्रभु कहते हैं कि **त्वम् ईशिषे**=तू भी ईश हो जाएगा। तेरा भी सामर्थ्य ईश्वर-तुल्य हो जाएगा। वेदान्त के शब्दों में जगत् को बनाने के व्यापार को छोड़कर इसका ऐश्वर्य भी प्रभु-जैसा हो जाता है, तो क्या इतना ऊँचा उठनेवाली शक्ति का अपव्यय कहीं न्याय्य हो सकता है?

भावार्थ—प्रभुकृपा से सोम का रक्षण करते हुए हम स्वस्थ, निर्मल व दीप्त जीवनवाले बनें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

शुनःशेप आजीगर्ति (वासना-विनाश)

१६३. योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये॥ ९॥

जिस व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य बहुत ऊँचा आध्यात्मिक उत्थान नहीं है, अपितु जो सामान्यतः शुनः=सुख के शेप=निर्माण में ही लगा है और परिणामतः समय-समय पर गर्त की ओर अज=गतिवाला होता है, यह शुनःशेप आजीगर्ति भी अपने अनुभवों से अपने मार्ग को ग़लत समझकर कहता है कि—**सखायः**=हे मित्रो! **इन्द्रम्**=उस शत्रुओं को दूर भगानेवाले प्रभु को ही **हवामहे**=पुकारते हैं जोकि **योगेयोगे तवस्तरम्**=जब-जब उसके साथ सम्पर्क होता है उस-उस समय पर शक्ति को बढ़ानेवाला है (तवः=बल, तृ=बढ़ाना)। चाहे कोई व्यक्ति कितने भी अपवित्र मार्ग पर जा रहा हो, उसे अपने जीवन में, दुःख के समय ही सही, प्रभु का ध्यान आने पर शक्ति प्राप्त होती प्रतीत होती है। इस समय वह कल्पना तो कर ही सकता है कि सदा प्रभु के सम्पर्क में रहने पर वह कितना शक्तिशाली हो जाएगा।

भोगमार्ग पर चलनेवाला बार-बार असफल होने पर अन्त में प्रभु से कहता है कि **वाजेवाजे**=प्रत्येक संग्राम में—वासनाओं के साथ होनेवाले संघर्ष में हम प्रभु को ही पुकारते हैं। आप प्रभु ही इन वासनाओं का विनाश करेंगे और **ऊतये**=हमारी रक्षा के लिए होंगे।

'वासना-विजय का मुख्य साधन प्रभु-स्मरण ही है' यह बात तो मन्त्र से स्पष्ट ही है, साथ ही 'सखायः' शब्द यह भी संकेत कर रहा है कि वासना के विजिगीषुओं को चाहिए कि वे सखा बनें—ज्ञानमूलक मैत्री बढ़ाएँ (सखा=समान ख्यानवाले), परस्पर मिलकर ज्ञान की चर्चा करें। 'प्रभु-स्मरण और ज्ञान का वातावरण' ये दोनों बातें मिलकर वासनाओं को विनष्ट कर देंगी।

भावार्थ—जब हमपर वासनाओं का आक्रमण हो तब हम प्रभु-स्मरण करें। यह प्रभु-स्मरण वासनाओं को विनष्ट कर देगा।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सामुदायिक उपासना (Congregational Prayers)

१६४. आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत। सखायः स्तोमवाहसः॥ १०॥

इस मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दाः=मधुर इच्छाओंवाला वैश्वामित्रः=सभी के साथ स्नेह करनेवाला है। यह वासनाओं से आक्रान्त प्राणियों को दुःखमग्न होते देख, करुणान्वित होकर कहता है कि **सखायः**=हे मित्रो! **आ तु एत**=निश्चय से आओ, चारों ओर से यहाँ पहुँचो, जहाँ-जहाँ भी कोई कार्य में लगा है, वह इस सन्ध्याकाल में कार्य को समाप्त करके यहाँ आये। **निषीदत**=हे मित्रो! यहाँ बैठो और **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **अभिप्रगायत**=गायन करो। यह प्रभु-गायन ही तुम्हें इस वासना-संग्राम में विजयी बनाएगा। हे मित्रो! इसी से तुम सदा **स्तोमवाहसः**=स्तुतिसमूहों के धारण करनेवाले बनो। यह स्तुति सदा तुम्हारी रक्षा करेगी।

इस मन्त्र के अर्थ व ऋषि से यह बात सुव्यक्त है कि किसी का भी हित चाहनेवाला व्यक्ति उसे प्रभु-चिन्तन व ध्यान के लिए प्रेरित करेगा। वास्तव में यही कल्याण का मार्ग है। साथ ही इस मन्त्र में सामुदायिक प्रार्थना के महत्त्व का संकेत भी स्पष्ट उपलभ्य है। समुदाय में सब परस्पर एक-दूसरे को साहस बँधाते हुए आगे ले-चलनेवाले होते हैं। प्रत्येक घर में सब गृह-सभ्य एकत्र होकर ध्यान करते हैं तो वह गृह पवित्र बनता जाता है। समुदाय में कुछ लोक-लज्जा का अंश भी वासनाओं के मार्ग पर जाने में प्रतिबन्धक होता है।

भावार्थ—हम सदा एक होकर प्रभु का गायन करें और वासनाओं को दूर भगाने का सतत प्रयत्न करें।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—विश्वामित्रो गाथिनः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सोम का पान

१६५. इदं ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते। पिबा त्वा३स्य गिर्वणः॥ १॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि—हे **राधानाम्**=सिद्धियों के, सफलताओं के **पते**=रक्षक! **इदम्**=यह सोम **हि**=निश्चय से **ओजसा**=ओज के हेतु से **अनुसुतम्**=रस, रुधिर आदि क्रम से पैदा किया गया है। ओज धातु का अर्थ वृद्धि है। ओजस् वह शक्ति है जो वृद्धि का हेतु है। इस शक्ति से जीव को इस संसार में विविध कार्यों में सफलता पानी है। यह शक्ति ही उसे 'राधानां पतिः' बनाएगी। जीवन-यात्रा को भी वह इसी से सफलतापूर्वक समाप्त कर पाएगा। इसीलिए प्रभु भी उस जीव से, जो प्रभु के गुणगान में लगा हुआ है, कहते हैं कि हे **गिर्वणः**=वाणियों से मेरी स्तुति करनेवाले जीव! **पिब तु अस्य**=तू इस शक्ति का पान कर। 'प्रभु-स्तुति' उत्तम कार्य न हो यह बात नहीं है, परन्तु प्रभु का ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि वाणी से मेरा गुणगान करते रहने से यह कहीं उत्तम है कि जीव शक्ति की रक्षा के लिए यत्नशील हो।

सोम के पान के लिए आवश्यक है कि उसका शरीर में ही व्यय हो। यह शरीर को वज्रतुल्य व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाएगा। प्रभु की सच्ची स्तुति ज्ञानपूर्वक कर्म करना ही है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रभु ने ज्ञानेन्द्रियाँ दी हैं, कर्म के लिए कर्मेन्द्रियाँ। कोरी भक्ति का मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं। ज्ञान और कर्म में तत्पर पुरुष सोम का पान कर शक्तिशाली बनता है और यह शक्तिशालिता उसे 'विश्वामित्र'=सभी के साथ स्नेह करनेवाला बनाती है। यह विश्वामित्र ही प्रभु का सच्चा भक्त है, 'गाथिन'=प्रभु के गुणों का गान करनेवाला है।

भावार्थ—मनुष्य प्रभु के गुणों को ही न गिनाता रहे, अपितु ज्ञान और कर्म में लगकर सोमपान के लिए प्रयत्नशील होवे।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

यदि सोमपान करेंगे तो

१६६. महाँ इन्द्रः पुरश्च नो महित्वमस्तु वज्रिणे। द्यौर्न प्रथिना शवः॥ २॥

प्रभु कहते हैं कि हे जीव! तू सोमपान करेगा तो 'राधानां पतिः'=सफलता का स्वामी

तो बनेगा ही, इसके अतिरिक्त तू १. **महान्**=बड़ा बनेगा, पूजनीय होगा। वस्तुत: सफलता ही उसके आदर का कारण बनती है। 'Nothing succeeds like success'=सफलता ही सबसे बड़ी विजय है। सोमपान करनेवाला महान्-से-महान् कार्य में सफल होता है और आदर पाता है। २. **इन्द्रः**=तू इन्द्र होगा। सोम का पान करनेवाला इन्द्र बनता है। इन्द्र ने असुरों का संहार किया, यह भी सब आसुर वृत्तियों को समाप्त कर डालता है। ३. **नु परः च**=और अब आसुर वृत्तियों को समाप्त करके यह आत्मा नहीं 'पर-आत्मा'=परमात्मा-जैसा ही बन जाता है। इसकी शक्ति सामान्य मनुष्य की शक्ति से इतनी अधिक होती है कि यह मानव न रहकर अतिमानव हो जाता है। ४. इस **वज्रिणे**=वज्रतुल्य शरीरवाले के लिए **महित्वम् अस्तु**=लोगों में पूज्यता की भावना हो। यह व्यक्ति संसार में यश का लाभ करता है। सोमपान से इसका शरीर वज्रतुल्य हो जोता है। ५. इस सोमपान करनेवाले का **शवः**=बल **द्यौः न**=द्युलोक के समान **प्रथिना**=विस्तार से युक्त होता है। अथवा विस्तार में द्युलोक के समान इसका बल होता है। इसकी यह विशाल शक्ति ही उससे महान् कार्यों को करानेवाली होती है।

इसकी यह उदारता ही इसे अपवित्रता से दूर करके अत्यन्त मधुर इच्छाओंवाला 'मधुच्छन्दाः' बनाती है। किसी का नाममात्र बुरा चिन्तन न करने के कारण यह 'वैश्वामित्र' कहलाता है।

भावार्थ—मनुष्य सोमपान के द्वारा आत्मा से ऊपर उठकर परमात्मा-जैसा बनने का प्रयत्न करे।

ऋषि:—**कुसीदी काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अद्भुत ज्ञानधन

१६७. आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं सं गृभाय। महाहस्ती दक्षिणेन॥ ३॥

पिछले मन्त्र में आत्मा के परमात्मा-तुल्य बनने का उल्लेख था। इस मन्त्र का ऋषि 'कुसीदी' (कुस संश्लेषणे) उस प्रभु का आलिङ्गन करनेवाला है। उस प्रभु से मेल करके उसके अनन्त आनन्द में भागी बनने में ही बुद्धिमत्ता है। इसीलिए यह कुसीदी 'काण्व'=अत्यन्त मेधावी कहलाया है। यह 'कुसीदी काण्व' प्रभु से प्रार्थना करता है—

हे **इन्द्र**=ज्ञान के परमैश्वर्यवाले प्रभो! **नः**=हमें **क्षुमन्तम्**=शब्दोंवाले, **चित्रम्**=उत्तम ज्ञान देनेवाले, **ग्राभम्**=ग्राह्य पदार्थ (possession), अर्थात् वेदज्ञान को **तु**=निश्चय से **संगृभाय**=ग्रहण कराइए। 'तु' शब्द की ठीक भावना 'पक्षव्यावृत्ति' होती है। आप हमारी प्रवृत्ति को प्रकृति की ओर जाने व आसक्त होने से रोककर उस वेद-ज्ञान की ओर झुकाइए, जो हमें उत्तम ज्ञानधन का पोषण करनेवाली बनाएगी।

आप **महा-हस्ती** हैं। महान् गति=ज्ञानवाले हैं (हन्=गति=ज्ञान)। हस्त शब्द हन् धातु से बनता है। हन् का अर्थ हिंसा के अतिरिक्त ज्ञान भी है। उस प्रभु का ज्ञान महान्, अनन्त व पूजनीय है, अतः प्रभु 'महा-हस्ती' कहलाते हैं। हे प्रभो! आप **दक्षिणेन**=हमारी दक्षता=उन्नति के हेतु से हमें भी अपना महान् ज्ञान प्राप्त कराइए। इस महनीय ज्ञान को प्राप्त करके हम भी आपके सखा बनें। आपके साथ मेल करके हम इस मन्त्र के ऋषि 'कुसीदी' बनें। अज्ञानियों से दूर रहते हुए भी आप ज्ञानियों के समीप ही हैं। हम भी आपके इस सामीप्य को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम अद्भुत, सर्वज्ञानपूर्ण वैदिक सम्पत्ति के स्वामी बनें।

ऋषिः—**प्रियमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

यथार्थ ज्ञान के लिए

१६८. अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे। सूनुं सत्यस्य सत्पतिम्॥ ४॥

इस मन्त्र के ऋषि 'प्रियमेध' को धारण करनेवाली बुद्धि ही प्रिय है। ज्ञान-मार्ग पर चलने के कारण विषय-प्रवण न होने से यह 'आङ्गिरस'=शक्तिशाली है।

यह अपने को ही आत्मप्रेरणा (auto-suggestion) के रूप में इस प्रकार कहता है—**यथा विदे**=जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही समझने के लिए, अर्थात् प्रत्येक वस्तु के तत्त्वज्ञान के लिए **इन्द्रम्**=उस ज्ञानरूप परमैश्वर्य के निधिभूत प्रभु की **अर्च**=उपासना कर। वे प्रभु **गोपतिम्**=सब वेदवाणियों के पति हैं, **गिरा**=तू वेदवाणियों के ज्ञान के हेतु से इन्हीं के द्वारा **अभि प्र**=उस प्रभु की ओर प्रकर्षेण चल। सदा उस प्रभु के सम्पर्क में रहने का प्रयत्न कर।

वे प्रभु **सत्यस्य सूनुम्**=हृदयस्थ रूप से सदा सत्य की प्रेरणा (सू प्रेरणे) देनेवाले हैं। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में 'अग्नि' आदि ऋषियों को वे प्रभु हृदयस्थरूपेण वेदज्ञान दिया करते हैं। ऋषियों में प्रविष्ट उस वेदवाणी को ही समय-प्रवाह में हम भी प्राप्त करने के योग्य होते हैं। वे ऋषि श्रेष्ठ व अरिप्र=निर्दोष अन्तःकरणोंवाले थे, इसीलिए उन्होंने प्रभु के प्रकाश को देखा। हम भी सत्=श्रेष्ठ बनें और उस दिव्य प्रकाश को देखनेवाले हों। वे प्रभु **सत्पतिम्**=सयनों के पति=रक्षक हैं। हमारा कर्त्तव्य सयन बनना है, रक्षा का भार तो प्रभु पर है। प्रभु ज्ञान द्वारा हमारी रक्षा करते हैं।

भावार्थ—उस गोपति की अर्चना कर मनुष्य भी गोपति=वेदवाणियों का पति बने।

ऋषिः—**वामदेवो गोतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उन्नति के दो मूलमन्त्र

१६९. कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता॥ ५॥

वे प्रभु **चित्रः**=उत्तम संज्ञान देनेवाले **कया ऊती**=आनन्दमय रक्षण के हेतु से **सदावृधः**=सदा हमारा वर्धन करनेवाले **नः**=हमारे **सखा**=समान ज्ञानवाले मित्र **आभुवत्**=सब प्रकार से होते हैं और साथ ही **कया**=कुछ अद्भुत आनन्दप्रद **शचिष्ठया**=अत्यन्त शक्तिप्रद **वृता**=आवर्तन के द्वारा सदा हमारी वृद्धि करनेवाले होते हैं।

उन्नति दो बातों पर निर्भर करती है, प्रथम ज्ञान प्राप्त करना है। बिना ज्ञान-प्राप्ति के उन्नति सम्भव नहीं और दूसरी बात कर्त्तव्य कर्मों का नियमित आवर्तन है। वेद के शब्दों में सूर्य-चन्द्रमा की भाँति नियमित गति से हम आगे बढ़ते चलें—न रुकें, न सुस्त हों। इस नियमितता से शक्ति प्राप्त होती है। उन्नति के इन दोनों रहस्यों को समझकर यदि हमारा तदनुसार अनुष्ठान होगा तो हम सब दिव्य गुणों को प्राप्त करके इस मन्त्र के ऋषि 'वामदेव' होंगे और उत्तम इन्द्रियोंवाले होने के कारण 'गोतम' होंगे।

भावार्थ—हम ज्ञान और नियमितता को अपने जीवन का सूत्र बना लें।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्ष आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

दिव्यता का अवतरण

१७०. त्यमु वः सत्रासाहं विश्वासु गीर्ष्वायतम्। आ च्यावयस्यूतये॥ ६॥

इस मन्त्र का ऋषि ज्ञान को अपनी शरण बनानेवाला 'श्रुतकक्ष'- उत्तम शरणवाला 'सुकक्ष' शक्तिशाली 'आङ्गिरस' है। यह कहता है कि हे मनुष्य! जो सदा **वः**=तुम सबके **सत्रासाहम्**=शत्रुओं का पराभव करनेवाला है, और जो **विश्वासु गीर्षु**=सब वेदवाणियों के अन्दर **आयतम्**=फैला हुआ है, तुम **त्यम्**=उसे **उ**=ही **ऊतये**=रक्षा के लिए **आच्यावयसि**=अपने में अवतीर्ण करो।

यह मनुष्य की शक्ति से बाहर की बात है कि वह कामादि अत्यन्त प्रबल शत्रुओं का मुक़ाबला कर सके। उनसे रक्षा के लिए आवश्यक है कि वह अपने अन्दर प्रभु को, उसकी दिव्यता को अवतरित करे। प्रभु ही इन शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं। सारे वेदों में इस प्रभु की महिमा का भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन है। प्रभु की शक्ति को अपने अन्दर अवतीर्ण करना ही हमारा परम-ध्येय होना चाहिए।

भावार्थ—मैं अपने हृदय में कामारि (महादेव) की प्रतिष्ठा करूँ, जिससे काम वहाँ से भाग जाए।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मेधा की याचना

१७१. सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। सनिं मेधामयासिषम्॥ ७॥

जिस प्रभु को हृदय में प्रतिष्ठित करने का उल्लेख गत मन्त्र में हुआ है, वे प्रभु **सदसः पतिम्**=इस विशरण, गति और अवसाद-(समाप्ति)-वाले जगत् के पति हैं, **अद्भुतम्**=अभूतपूर्व हैं। न कोई उनके समान व अधिक हुआ, न है और न ही होगा। वे **इन्द्रस्य प्रियम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव के साथ प्रेम करनेवाले हैं। जीव प्रभु से प्रेम करे या न करे, प्रभु तो उसका भला चाहते ही हैं। **काम्यम्**=जीव को भी चाहिए कि वह प्रभु-प्राप्ति की कामना करे। प्रभु सचमुच चाहने योग्य हैं, प्रेम करने योग्य हैं।

उस प्रभु से प्रेम करके यदि मैं उसे आराधित कर पाता हूँ तो मैं उससे **सनिं मेधाम्**=संभजनीय, उत्तम सेवनीय बुद्धि को ही **अयासिषम्**=माँगता हूँ। प्रभु से खानपान, सन्तान व रुपया-पैसा ही माँगते रहने में बुद्धिमत्ता नहीं है।

मनुष्य के लिए सर्वश्रेयस्कर वस्तु मेधा ही है। इस मेधा की याचना करनेवाला, मेधा की ओर चलनेवाला इस मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि' है। इस बुद्धिमत्तापूर्ण चुनाव के कारण यह 'काण्व'=अत्यन्त मेधावी है।

भावार्थ—ब्रह्माण्ड के पति प्रभु से हम अन्य वस्तुओं की याचना न करके बुद्धि ही माँगें।

ऋषिः—वामदेवो गोतमः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ज्ञान के ही मार्ग पर

१७२. ये ते पन्था अधो दिवो येभिर्व्यश्वमैरयः। उत श्रोषन्तु नो भुवः॥ ८॥

हे प्रभो! **ये**=जो **ते**=तेरे **पन्था:**=मार्ग **दिवः अध उ**=ज्ञान पर ही आश्रित हैं **येभिः**=जिनसे आप **व्यश्वम्**=विशिष्ट अश्वोंवाले, अर्थात् पवित्र इन्द्रियरूप घोड़ोंवाले पुरुष को **ऐरयः**=गति करवाते हैं, **भुवः**=विचारशील लोग (भुव् अवकल्कने=चिन्तने; भुव्+क्विप्) **नः**=हमें **उत**=भी **श्रोषन्तु**=उन मार्गों को सुनाएँ, इन मार्गों का ज्ञान दें।

संसार में एक मार्ग श्रद्धामूलक है, दूसरा ज्ञानमूलक। जिस मार्ग का आधार केवल श्रद्धा पर है वह अन्ततोगत्वा मनुष्य के लिए हितकर नहीं हो सकता। मनुष्य उसमें गोते ही खाता रहता है, भटकता ही रहता है। वह लक्ष्य-स्थान पर नहीं पहुँच पाता।

मनुष्य को ज्ञानाश्रित मार्ग पर चलना चाहिए। इसपर चलकर ही मनुष्य प्रशस्त इन्द्रियोंवाला 'व्यश्व' बनता है। ज्ञानमूलक मार्ग पर चलने से अभय, सत्त्वशुद्धि आदि उत्तम गुणों से सम्पन्न होकर यह इस मन्त्र का ऋषि 'वामदेव' बनता है। अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बनने से यह गोतम कहलाता है।

मन्त्र की समाप्ति पर प्रार्थना है कि विचारशील लोग सदा हमें इस मार्ग का श्रवण कराते रहें। इन विचारशीलों के सत्सङ्ग से ही तो मनुष्य उत्तम मनवाला बनता है। विवेक का स्रोत इनके उपदेशों का श्रवण है, इसलिए उपनिषत् कहती है कि **'उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान् निबोधत'**=उठो, जागो, श्रेष्ठों के समीप पहुँचकर ज्ञान प्राप्त करो। संसार में ज्ञान के अभाव में केवल श्रद्धा या अन्धश्रद्धा ने बहुत हानि की है। ज्ञान के मार्ग पर चलना ही ठीक है। यही व्यश्व वा वामदेव बन सकने का रहस्य (secret) है।

भावार्थ—हम जीवन में ज्ञानमूलक मार्ग का अवलम्बन करें।

ऋषि:—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सात्त्विक भोजन

१७३. भद्रंभद्रं न आ भरेषमूर्जं शतक्रतो। यदिन्द्र मृडयासि नः॥ ९॥

पिछले मन्त्र में ज्ञानाश्रित मार्ग के अवलम्बन का उल्लेख हुआ है। ज्ञान बुद्धि से होता है और उसकी उत्तमता सात्त्विक भोजन पर निर्भर करती है, अत: इस मन्त्र में सात्त्विक भोजन का उल्लेख है। हे **शतक्रतो**=सैकड़ों प्रज्ञानोंवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! मैं भी सौ वर्ष तक उत्तम ज्ञानवाला बना रहूँ और ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाला बन सकूँ, इसके लिए आप **नः**=हमें **भद्रंभद्रम्**=अत्यन्त कल्याण व सुखकर **इषम्**=अन्न व **ऊर्जम्**=रस को, अर्थात् सात्त्विक खान-पान को **आभर**=सब ओर से प्राप्त कराइए। इस सात्त्विक भोजन पर ही बुद्धि की सात्त्विकता निर्भर है। **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'**=भोजन के शुद्ध होने पर सत्त्व, अर्थात् अन्त:करण भी शुद्ध होता है। मन्त्र की समाप्ति पर कहते हैं कि हे इन्द्र! **यत्**=यदि आप **नः**=हमें **मृडयासि**=सुखी करना चाहते हैं तो हमें शुद्ध बुद्धि के साधनभूत उत्तम अन्न और रसों की प्राप्ति कराइए।

इस मन्त्र का ऋषि ज्ञान को धारण करनेवाला 'श्रुतकक्ष', उत्तम शरणवाला 'सुकक्ष', शक्तिशाली 'आङ्गिरस' यह समझ लेता है कि वह द्रव्य अभक्ष्य है जो बुद्धि को लुप्त करता है। बुद्धि को सात्त्विक बनानेवाले भोजनों का ही सेवन करता हुआ यह सचमुच 'श्रुतकक्ष' बनता है।

भावार्थ—सात्त्विक आहार के सेवन से मनुष्य सात्त्विक बुद्धि का सम्पादन करे।

ऋषिः—बिन्दुः पूतदक्षो वा आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

उत्पन्न शक्ति की रक्षा

१७४. अस्ति सोमो अयं सुतः पिबन्त्यस्य मरुतः। उत स्वराजो अश्विना॥ १०॥

गत मन्त्र में सात्त्विक बुद्धि के लिए सात्त्विक आहार के सेवन का विधान है। इससे भी बढ़कर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उस भोजन से उत्पन्न शक्ति की रक्षा की जाए। यह सुरक्षित शक्ति ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनती है और बुद्धि को तीव्र करती है। इसी से इस मन्त्र का ऋषि शक्ति-रक्षा के महत्त्व को समझता हुआ अपने को शक्ति का पुञ्ज बनाकर 'बिन्दु' कहलाता है। बिन्दु का अभिप्राय शक्ति के बूँद व कण हैं। यह शक्ति के एक भी कण को नष्ट नहीं होने देता। इसी उद्देश्य से यह अपनी शक्ति को पवित्र विचारों से पवित्र ही बनाये रखता है और 'पूतदक्ष' कहलाता है। शक्ति की रक्षा से यह शक्तिशाली बनकर 'आङ्गिरस' है। यह कहता है कि सात्त्विक भोजन से **अयम्**=यह **सोमः**=वीर्यशक्ति **सुतः अस्ति**=उत्पन्न हो गयी है। अब हमें इसकी रक्षा करनी है। इसकी रक्षा का उपाय एक ही है कि इसको शरीर में ही खपा दिया जाए। वैदिक भाषा में इसे ही 'सोम का पान' कहते हैं। **अस्य पिबन्ति**=इसका पान किया करते हैं **मरुतः**=मरुत् **उत्**=और **स्वराजः**=स्वराट् तथा **अश्विना**= अश्वी लोग।

१. **मरुतः**=मरुत् शब्द प्राणों के लिए प्रयुक्त होता है। यहाँ उन मनुष्यों को 'मरुतः' शब्द से स्मरण किया है जो प्राणों की साधना में लगे हैं। प्राणायाम वस्तुतः शक्ति-संयम का मुख्य साधन है। यह मनुष्य को ऊर्ध्वरेतस् बनने में सहायक होता है। शक्ति की ऊर्ध्वगति होकर ही वह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनती है और बुद्धि को तीव्र करती है।

२. **स्वराजः**=अपने जीवन को बड़ा नियमित बनानेवाला। सूर्य और चन्द्रमा की भाँति यदि हमारी सब प्राकृतिक क्रियाएँ बड़ी नियमित चलती हैं तो ये शक्ति-संयम में सहायक होती हैं।

३. **अश्विना**=(न श्व अस्य अस्ति) जो कल का जप नहीं करता, अर्थात् जो सतत क्रियाशील है। वस्तुतः क्रियाशीलता वासना को अपने से दूर रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

एवं, शक्ति के संयम के तीन साधन हैं—१. प्राणों की साधना, २. दिनचर्या की नियमितता और ३. कार्य-सातत्य (समारम्भ)।

भावार्थ—मनुष्य शक्ति का संयम करके अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करे।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—इन्द्रमातरो देवजामयः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

शक्ति-रक्षा के तीन उपाय

१७५. ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते। वन्वानासः सुवीर्यम्॥ १॥

इस मन्त्र की ऋषिका **इन्द्रजामयः देवमातरः** हैं—इन्द्र को जन्म देनेवाली तथा अपने अन्दर दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली। इस नाम से एक भावना सुव्यक्त है कि जिसे प्रभु

के दर्शन करने हों उसे अपने अन्दर दिव्य गुणों की वृद्धि करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। दिव्य गुणों की वृद्धि करके ही हम अपने को प्रभु-दर्शन का पात्र बनाते हैं। इन दिव्य गुणों का विकास शरीर में 'सुवीर्य' की रक्षा से सम्भव है, इस **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्य को **वन्वानासः**=विजय करने के हेतु से ये (इन्द्रजामयः देवमातरः) **ईंखयन्ती**=सदा गतिशील होती हुई जीवन-यात्रा में आगे बढ़ती हैं। गतिशीलता वीर्यरक्षा का सर्वप्रथम साधन है। गतिशील होती हुई ये ऋषिकाएँ **अपस्युवः**=सदा व्यापक कर्मों को (अपस्) अपने साथ जोड़नेवाली हैं (युवः)। स्वार्थ के कर्मों में लगा रहकर भी मनुष्य वासनाओं से पूरी तरह ऊपर नहीं उठ सकता। इसके लिए कुछ ऊँचे लक्ष्य का होना भी आवश्यक है, अतः ये 'लोकसंग्रह' रूप कर्मों को अपने जीवन में सम्बद्ध करती हैं। यह जीवन का ऊँचा लक्ष्य इन्हें भोग के निचले पृष्ठ पर उतरने से बचाता है, परन्तु यह लक्ष्य बन जाना भी सुगम नहीं इसके लिए ये ऋषिकाएँ **जातम्**=सदा से प्रसिद्ध उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की **उपासते**=उपासना करती हैं। यह प्रभु-उपासना उनके जीवन में विशाल मनोवृत्ति को जन्म देती है। 'हम सभी उस प्रभु के ही पुत्र हैं—हम सब आपस में भाई-भाई हैं'—ऐसे विचार मनुष्य के मन को छोटा नहीं होने देते और उपासक को परार्थकर्म में संलग्न किये रखते हैं। ये सुकर्मों में लगे रहकर सुवीर्य का विजय करते हैं तथा इस विजय से दिव्य गुणों का आधार बनते हैं और अन्त में प्रभु-दर्शन के अधिकारी होते हैं।

भावार्थ—हम सुवीर्य का विजय करें। इसके लिए हम गतिशील हों, परार्थ के उत्तम कर्मों में अपने को लगाये रक्खें और उस प्रभु की उपासना करें।

ऋषिः—**गोधाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उन्नत व विनीत

१७६. न कि देवा इनीमसि न क्या योपयामसि। मन्त्रश्रुत्यं चरामसि॥ २॥

इस मन्त्र की ऋषिका 'गोधा' है। **गां वेदवाचं धारयति इति गोधा**=यह वेदवाणी का धारण करती है। मन्त्र की समाप्ति पर यह भावना स्पष्ट शब्दों में व्यक्त हो गयी है—**मन्त्रश्रुत्यं चरामसि**=मन्त्रों का श्रवण करते हैं, अर्थात् नियमपूर्वक वेद का अध्ययन करते हैं और उन मन्त्रों में सुनी बातों का **चरामसि**=पालन करते हैं, उस श्रवण के अनुसार अपना आचरण बनाते हैं।

यह गोधा मन्त्रश्रुत बातों का अनुष्ठान करती हुई कभी गर्व न करते हुए कहती है कि हे **देवाः**=संसार की सब प्राकृतिक शक्तियो! आदित्य, चन्द्र, अनल, द्यौः, भूमि, जल, हृदय, यम, दिन-रात और दोनों सन्ध्याकाल तथा धर्म! आप सबको साक्षी करके कहती हूँ कि मैं **नकि इनीमसि**=वेद-प्रतिपादित नियमों की पूर्ण प्रभु तो नहीं हो गयी हूँ। (इन्=to be lord or master) परन्तु **न कि आयोपयामसि**=मैंने इन्हें अपने जीवन से बिल्कुल लुप्त भी नहीं होने दिया है (योपयति=to destroy)।

मनुष्य प्रथम स्थान प्राप्त न करे तो कोई बात नहीं, परन्तु पढ़े ही नहीं, यह तो ठीक नहीं। कवि का यह कथन ठीक है कि सयनों के मार्ग पर पूर्ण आक्रमण करना सम्भव नहीं तो भी उसपर चलना तो चाहिए न?

भावार्थ—मनुष्य-जीवन भी गोधा की भाँति धार्मिक व विनीत हो।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रकाश में, दृढ़ता से

१७७. दोषो आगाद् बृहद्गाय द्युमद्गामन्नाथर्वण। स्तुहि देवं सवितारम्॥ ३॥

मन्त्रश्रुत बातों पर हम आचरण करते रहें? इसके लिए आवश्यक है कि हम सदा सावधान रहें। **भूत्यै जागरणम्**=यह वेदवचन स्पष्ट कर रहा है कि 'विभूतिमय जीवन के लिए जागना आवश्यक है।' **अभूत्यै स्वप्नम्**=सोये और विभूति से पृथक् हुए। मन्त्र में कहा है कि **दोषा उ आगात्**=अब रात्रि आ गयी। **बृहत् गाय**=प्रभु का खूब गायन करो। यह प्रभु का स्मरण हमें वासनाओं से बचाएगा। हममें वासनाओं से लड़ने की शक्ति नहीं है। प्रभु-स्मरण से हमारे हृदयों में प्रकाश होगा। उस प्रकाश में हमारा कर्त्तव्य-पथ हमें स्पष्ट दीखेगा।

मन्त्र के शब्दों में हम **द्युमत् गामन्**=प्रकाशमय मार्गवाले होंगे। इतना ही नहीं, प्रभु के सम्पर्क में प्रभु से शक्ति प्राप्त करके हम **आथर्वण**=अपने मार्ग से डाँवाँडोल न होनेवाले (न थर्वति=चरति) होंगे। इसलिए रात्रि में सोने से पूर्व प्रभु का स्मरण अवश्य करें। वेद कहता है कि उस **देवम्**=सब दिव्य गुणों के भण्डार **सवितारम्**=सबको सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाले प्रभु की **स्तुहि**=स्तुति करो।

प्रभु के दिव्य गुणों का चिन्तन ही वस्तुतः स्तोता को उन दिव्य गुणों के धारण करने की प्रेरणा देता है। अपने जीवन को उत्तम बनाने के लिए यह स्तोता सदा प्रभु का ध्यान करता है। ध्यान करने के कारण ही 'दध्यङ्' कहलाता है। यह प्रभु का ध्यान ही इसे आथर्वण=अडिग बना देता है।

भावार्थ—हम प्रभु की स्तुति करते हुए, सदा प्रकाश को देखें और दृढ़ता से मार्ग का आक्रमण करें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उषा का उपदेश

१७८. एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः। स्तुषे वामश्विना बृहत्॥ ४॥

उ=निश्चय से **एषा**=अब यह **उषा**=उषाकाल है। पिछले मन्त्र में रात्रि के आने का उल्लेख है। उस रात्रिकाल के प्रारम्भ में प्रभु-गायन का विधान था। उस गायन के पश्चात् अब यह उषाकाल आता है। यह सचमुच उषा (उष दाहे) सब मालिन्य को जला डालनेवाला है। इस शान्त समय में सामान्यतः अशुभ भावनाओं का उदय नहीं होता। इस समय ने मानो सब अशुभ को जला डाला है। यह 'अपूर्व्या' है—इसमें किसी भी प्रकार के पूरण (प्रा=पूरणे) की आवश्यकता नहीं। यह समय अधिक-से-अधिक पूर्ण है, इसी से यह **अ-पूर्व्या**=न पूरण करने योग्य है। **वि उच्छति**=यह अन्धकार को विशेषरूप से दूर भगा देती है। **प्रिया दिवः**=यह प्रकाश की प्यारी है। उषाकाल होता है और अन्धकार नष्ट हो प्रकाश हो जाता है।

यह उषाकाल जीव को भी उपदेश देता प्रतीत होता है कि १. तू राग-द्वेषादि सब मलों को जला डाल (उष्), २. अपने को अधिक-से-अधिक पूर्ण बना, ३. अन्धकार को दूर भगा दे, ४. प्रकाश का प्यारा बन, सदा ज्ञान की रुचिवाला हो।

यह इतना सुन्दर उषःकाल उन्हीं के लिए हुआ करता है जिनके जीवन में सारी रात्रि प्राणापानों के द्वारा प्रभु का जप होता रहा है। रात्रि के प्रारम्भ में यदि एक व्यक्ति उस गायन की प्रक्रिया में ही निद्रा में चला गया था तो सारी रात्रि प्राणापानों के द्वारा यह जप चलता है। इस मन्त्र का ऋषि प्राणापानों को सम्बोधन करता हुआ कहता है कि **अश्विना**=हे प्राणापानो! **वाम्**=आपके इस **बृहत्**=वृद्धि के कारणभूत महान् कार्य की **स्तुषे**=मैं स्तुति करता हूँ। प्राणापान 'अश्विना' कहलाते हैं, क्योंकि 'न श्वः' पता नहीं ये अगले दिन हैं या नहीं तथा (अशूङ् व्याप्तौ) सदा कर्म में व्याप्त रहते हैं। रात्रि में सबके सो जाने पर भी ये स्तोता के प्रभुस्तवनरूप कार्य को चालू रखते हैं और इस प्रकार प्रभु-दर्शन में सहायक होते हैं। रात्रिभर स्तुति चलेगी तो सदा उषःकाल में हमारे लिए सु-प्रभात होगा। इस सुप्रभात में मेधावी पुरुष कण-कण करके उत्तम भावनाओं को अपने में भरता है और इस मन्त्र का ऋषि 'प्रस्कण्वः काण्वः' होता है।

भावार्थ—हम उषःकाल से बोध लेकर अपने जीवन को निर्मल, पूर्ण, अन्धकारशून्य व प्रकाशमय बनाने का निश्चय करें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दध्यङ् की प्रक्षेपण क्रिया

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र
१७९. इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः। जघान नवतीर्नव॥ ५॥

जीवात्मा के लिए 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग तब होता है जब वह इन्द्रियों का स्वामी हो, न कि दास। उषःकाल में जागकर जो अपने को निर्मल व पूर्ण बनाने में लगा है, क्या वह इन्द्र न बनेगा? यह इन्द्र **वृत्राणि**=ज्ञान को आवृत करनेवाले काम, क्रोध व लोभ को **जघान**=समाप्त करता है, इसीलिए यह इन्द्र **नवतीः**=(नव् गतौ) निरन्तर गतिशील अत्यन्त चञ्चल इन **नव**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा चार अन्तःकरणों (मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार) इन नौ को **जघान**=मारता है। 'मन को मारना' इस मुहावरे का अर्थ इसे काबू करना ही होता है। वस्तुतः इन मन आदि को मारे बिना मनुष्य के लिए जीना कठिन है। मन न मरेगा तो मनुष्य मरेगा, मन को मार लिया तो जीवन को ठीक कर लिया।

इन्द्र यह कैसे कर पाता है? **दधीचः अस्थभिः**=(दध्यङ्=ध्याता) ध्यान करनेवाले की प्रक्षेपण (असु क्षेपणे) क्रियाओं से। जो मनुष्य सदा प्रातः-सायं ध्यान का अभ्यास करता है, और सब विषयों को चित्त से परे फेंकने का प्रयत्न करता है, वह इस मन को कुछ देर के लिए निर्विषय (**ध्यानं निर्विषयं मनः**) बनाने के अभ्यास से **अप्रतिष्कुतः**=नहीं दिया जाता है आह्वान (Challenge) जिसको (अ-प्रति-कु-तः, कु शब्दे), ऐसा अद्वितीय शक्तिशाली योद्धा बन जाता है। कामादि वृत्र अब इसपर आधिपत्य नहीं जमा पाते। इसने उनके सब क़िलों को जीत लिया है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ही इनके गढ़ थे। इन सबको इस इन्द्र ने जीत लिया है। इनको इसने ऐसा कुचल दिया है कि अब ये सिर उठा ही न सकें।

इस प्रकार अपनी इन्द्रियों को पवित्र बनाकर यह 'गो-तम' कहलाया है—प्रशस्त इन्द्रियोंवाला। वस्तुतः काम, क्रोध, लोभ का विजेता सर्वमहान् त्यागी है। इसने भोगों को त्यागकर त्यागियों में अपनी गणना कराई है, इसी से यह राहू-(छोड़ना)-गण कहलाया है।

भावार्थ—दध्यङ् की प्रक्षेपणादि क्रियाओं से हम 'गोतम राहूगण' बनें।

ऋषि:—मधुछन्दा वैश्वामित्र:॥ देवता—इन्द्र:॥ छन्द:—गायत्री॥ स्वर:—षड्ज:॥

गतिशील बन

१८०. इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः। महाँ अभिष्टिरोजसा॥ ६॥

इस मन्त्र का ऋषि 'मधुछन्दा वैश्वामित्र' है—उत्तम इच्छाओंवाला—सबके साथ स्नेह करनेवाला। यह ऐसा बन सके, अतः प्रभु इससे कहते हैं—**इन्द्र**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनकर अपने 'इन्द्र' नाम को चरितार्थ करनेवाले हे जीव! तू **इहि**=गतिशील बन, सदा क्रियामय जीवनवाला बन। क्रिया तेरे लिए स्वाभाविक हो जाए। इस क्रियामय जीवन के परिणामस्वरूप ही तू **अन्धसः**=सोम के—वीर्य के **मत्सि**=मद—हर्ष को प्राप्त करनेवाला बन। आध्यायनीय—सर्वथा ध्यान देने योग्य होने के कारण सोम का नाम अन्धस् है। इस सोम के शरीर में रक्षण से एक अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है। क्रियाशीलता इस सोम की रक्षा में सहायक होती है। क्रियाशील मनुष्य पर वासनाओं का आक्रमण होता ही नहीं और उसका सोम वासनाग्नि से प्रतप्त होकर शरीर से पृथक् नहीं होता। यह मधुछन्दा मधुर, सात्त्विक भोजनों का सेवन करके शरीर में सोम का उत्पादन करता है और **विश्वेभिः सोमपर्वभिः**=सोम का शरीर में सब प्रकार से पूरण करने से **महान्**=महनीय बनता है—महत्ता को प्राप्त करता है। विश्व शब्द का अर्थ 'सब' भी है और विश्व की भावना शरीर में ही व्याप्त हो जाना—प्रविष्ट हो जाना भी है। सात्त्विक सोम वासनाग्नि से प्रतप्त नहीं होता तो शरीर में ही व्याप्त हो जाता है। पृ=धातु पूरण=भरना अर्थ की वाचक है। इस प्रकार जब सोम का शरीर में भरण होता है तब यह सोम मनुष्य को महान् बनाता है। वीर्य-रक्षा करनेवाला पुरुष ही कोई महान् कार्य कर पाता है। यह वीर्य उसे अनथक श्रम करने की शक्ति देता है।

एवं, शक्तिशाली बनकर **ओजसा**=अपने ओज से यह मधुच्छन्दा **अभिष्टिः**=बुराई पर आक्रमण करनेवाला होता है (अभिष्टि:=to attack)। उत्तम कार्यों में शक्ति का विनियोग करके यह महान् बनता है। इसकी शक्ति औरों की रक्षा करनेवाली होती है।

भावार्थ—हम गतिशीलता के द्वारा शक्ति का शरीर में ही भरण करें और महान् बनें।

ऋषि:—वामदेवो गोतम:॥ देवता—इन्द्र:॥ छन्द:—गायत्री॥ स्वर:—षड्ज:॥

प्रभु के ऐश्वर्य को प्राप्त कर

१८१. आ तू न इन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्धमा गहि। महान्महीभिरूतिभिः॥ ७॥

सोम की रक्षा के द्वारा जीवात्मा सचमुच 'इन्द्र' बनता है। इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनकर ही वह सोम की रक्षा कर पाता है। ज्ञान के आवरणभूत कामादि वासनाओं का संहार करके यह 'वृत्रहन्' बना है। कामादि ही वृत्र हैं—ये ज्ञान को आवृत कर देते हैं। इन्द्र इस वृत्र का विनाश करनेवाला है। इस जीव से प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्र! **वृत्रहन्**=हे वृत्रहन्! तू **तु**=निश्चय से **आ नः**=सर्वथा हमारा है। वह विलास की ओर न जाकर वीर्य-रक्षा के लिए सतत प्रयत्नशील हुआ है, अतः प्रभु का तो यह है ही। यह प्रकृति की ओर नहीं झुका। इससे प्रभु कहते हैं कि **अस्माकम् अर्धम्**=हमारे ऐश्वर्य को **आगहि**=तू सर्वथा प्राप्त हो। 'ऋधु वृद्धौ' धातु से बनकर 'अर्ध' शब्द ऋद्धि, समृद्धि व ऐश्वर्य का वाचक है।

जो व्यक्ति अपने को प्राकृतिक भोगों के प्रति नहीं दे डालता, वह दिव्य ऐश्वर्य को तो

प्राप्त करता ही है—उसके अन्दर दिव्यता (Divinity) का अवतरण होता है। इस दिव्यता के अवतरण से ही वह 'वामदेव'=उत्तम दिव्य गुणोंवाला कहलाता है और प्रशस्त इन्द्रियोंवाला होने से वह 'गोतम' होता है।

इस मन्त्र के ऋषि 'वामदेव गोतम' से प्रभु कहते हैं कि **महीभिः ऊतिभिः**=महनीय रक्षणों के द्वारा ही तू **महान्=बड़ा** बना है। जब जीव प्रलोभनों से प्रलुब्ध न होकर वासनाओं को विनष्ट कर डालता है, तभी वह महान् बनता है, तभी वह प्रभु का होता है और प्रभु के ऐश्वर्यांश को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम इन्द्र बनें—जितेन्द्रिय हों और वासनाओं के आक्रमण से अपनी रक्षा कर महान् बनें।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

कब चमकता है?

२ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
१८२. ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत् समवर्तयत्। इन्द्रश्चर्मेव रोदसी॥ ८॥

यत्=जब **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जितेन्द्रिय जीव **चर्म इव**=चमड़े की भाँति **उभे रोदसी**=द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों को **समवर्तयत्**=ओढ़ लेता है (संवर्त=to wrap up) **तत्**=तभी **अस्य**=इसकी **ओजः**=(ओज=Vigour, Vitality, Virility, Splendour) ज्योति **तित्विषे**=चमकती है।

किसी भी वस्तु का ओढ़ना रक्षा के उद्देश्य से होता है। वस्त्रों में से वर्षा का पानी सुगमता से अन्दर प्रविष्ट होकर हमें गीला कर सकता है, परन्तु चर्म का आवरण ऐसा नहीं। यहाँ भी ओढ़ने योग्य दोनों वस्तुएँ चर्म की भाँति ही हमें सुरक्षित रखनेवाली हैं।

रोदसी का अर्थ 'द्यावापृथिव्यौ' है, परन्तु अध्यात्म में वे बुद्धि व शरीर के वाचक होते हैं। शरीर तो पार्थिव है ही, 'मूर्ध्नो द्यौः', यह पुरुषसूक्त का वचन मस्तिष्क व द्युलोक के सम्बन्ध की सूचना दे रहा है।

इन बुद्धि व शरीर के ओढ़ने का अभिप्राय इन्हें ही अपना रक्षक बनाने से है। मनुष्य शरीर को सदा स्वस्थ रखने का ध्यान करे और बुद्धि को सात्त्विक व तीव्र बनाने का सतत उद्योग करे तो वह इन दोनों को अपना रक्षक बनाता है। रक्षा किया हुआ स्वास्थ्य व ज्ञान मनुष्य की रक्षा करता है—जो इनका हनन करता है, वह इनके हनन से अपना ही हनन कर रहा होता है।

केवल शारीरिक उन्नति व स्वास्थ्य ही मानव का उद्देश्य नहीं। हम स्वस्थ रहकर ओक वृक्ष की भाँति बड़े लम्बे-चौड़े होकर तीन सौ वर्ष भी जी लिये तो यह मानव-जीवन की सफलता नहीं है। इसके विपरीत हमने केवल ज्ञान-प्राप्ति की ओर ध्यान दिया और हम एक अद्भुत बुद्धि-दैत्य (Intellectual giant) बन गये तो यह भी स्वास्थ्य के अभाव में व्यर्थ-सा ही होगा। मन्त्र ने इसी भावना को 'उभे' शब्द से घोषित किया है। हमें स्वास्थ्य व बुद्धि दोनों का सम्पादन करना है। ब्रह्म और क्षत्र दोनों को श्रीसम्पन्न बनाना ही आदर्श है। अकेला पहलवान का शरीर व अकेली ऋषि की आत्मा मनुष्य को पूर्ण नहीं बनाती।

स्वास्थ्य व ज्ञान—शरीर व बुद्धि—ब्रह्म व क्षत्र—दोनों का समविकास होने पर ही मनुष्य की शोभा होती है। इन दोनों का कण-कण करके संग्रह करनेवाला 'काण्व' ही प्रभु का 'वत्स'=प्रिय होता है।

भावार्थ—ब्रह्म व क्षत्र को अपनी ढाल बनाकर हम संसार में चमकनेवाले बनें।

ऋषिः—**शुनःशेपः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मस्तिष्करूपी नौका

१८३. अयमु ते समतसि कपोतइव गर्भधिम्। वचस्तच्चिन्न ओहसे॥ ९॥

इस मन्त्र का ऋषि 'शुनःशेप'=सुख का निर्माण करनेवाला, अनुभव से प्रकृति की ओर झुकाव को श्रेयस्कर न समझकर कहता है कि **अयम् उ ते**=यह मैं निश्चय से अब तेरा हूँ। शरीर के लिए आवश्यक प्राकृतिक भोगों को स्वीकार करके भी मैं उन भोगों में फँस नहीं गया हूँ, वे मेरे जीवन का ध्येय नहीं बन गये हैं।

मैं आपका हूँ, परिणामतः आप भी मुझे **समतसि**=प्राप्त होते हैं। जीव प्रभु का मित्र बनता है तो प्रभु जीव के मित्र होते ही हैं। मैं तेरा और तू मेरा। इस स्थिति मे मैं इस उदधि के समान गर्भ जिसमें धारण किये जाते हैं उस **गर्भधिम्**=जन्म-मरण के आवर्तोंवाले संसार-समुद्र को उस व्यक्ति की भाँति पार कर लेता हूँ जिसने कि **क-पोतः**=मस्तिष्क को अपनी नाव बनाया है। **कम्**=शिरः, **पोतः**=नौका, यह संसार-समुद्र बिना ज्ञान के क्या कभी तैरा जा सकता है? प्रलोभनरूप आवर्त इतने सुदुस्तर होते हैं कि मनुष्य उनमें डूब ही जाता है। सिवाय ज्ञान के इस संसार-समुद्र को तैरने का अन्य मार्ग नहीं है, परन्तु इस ज्ञान को भी वे प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। शुनःशेप कहता है कि हे प्रभो! आप ही **तत् वाचः**=उस ज्ञान देनेवाली वेदवाणी को **चित्**=निश्चय से **नः**=हमें **ओहसे**=प्राप्त कराते हैं (ओहः=bringing)। सृष्टि के प्रारम्भ में दी गयी इस वेदवाणी से ही हम उस सत्य ज्ञान को प्राप्त करते हैं, जो हमारे विवेक-चक्षुओं को खोलकर हमें प्रलोभनों में नहीं फँसने देता।

भावार्थ—हम ज्ञान को नाव बनाकर भवसागर को तैर जाएँ।

ऋषिः—**वातायन उलः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

परिस्थिति का प्रभाव

१८४. वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे। प्र न आयूँषि तारिषत्॥ १०॥

गत मन्त्र में ज्ञानरूप नौका से भवसागर को तैरने का उल्लेख है, परन्तु इस ज्ञान की ओर कोई विरल धीर ही प्रवृत्त होता है। इसका कारण क्या है? गर्भावस्था में तो यह जीव निश्चय कर रहा था कि 'इस बार गर्भ से निकलकर प्रभु का स्मरण करूँगा, प्रलोभनों में नहीं फसूँगा', परन्तु बाहर आते ही, संसार की हवा लगते ही उसके सारे संकल्प समाप्त हो जाते हैं, वह उन सबको भूल जाता है। बड़ा होने पर भी उसे जैसा वातावरण (atmosphere) प्राप्त होता है, वैसा ही उसका जीवन बन जाता है, अतः प्रभु से इस मन्त्र का ऋषि प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आप ऐसी कृपा करो कि **वातः आवातु**=हमारे लिए तो ऐसी हवा बहे जो **भेषजम्**=सब अहितों के लिए औषध-तुल्य हो। औषध जैसे रोग को समाप्त करती है, इसी प्रकार वह बुराइयों को दूर करनेवाली हो। **शम्भु मयोभु नो हृदे**=वह हवा हमें मानस शान्ति और शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त करानेवाली हो। परिस्थितिवश ही मनुष्य अशान्त चित्तवृत्तिवाला तथा अस्वस्थ भी बन जाया करता है। क्लबवालों के सङ्ग में पड़कर वह स्वस्थ व शान्तचित्त थोड़े ही बनेगा? अच्छा सङ्ग मिल गया तो वह पापों में भी न फँसेगा, शान्त भी होगा और

स्वस्थ भी। इन सब बातों के द्वारा वे प्रभु **नः आयूंषि**=हमारे जीवनों को **प्रतारिषत्**=सब व्यसनों से पार कर देते हैं। प्रलोभनों को जीतकर हम अपने जीवनों को बड़ा सुन्दर बना लेते हैं।

ये सब बातें होती तभी हैं, जब हम 'वातायन'=(वातेन अयते) वातावरण के अनुसार ही चलनेवाले **उलः**=(उल=to go) उसी वातावरण में क्रिया करनेवाले बनने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मनुष्य को उत्तम परिस्थिति प्राप्त हो और वे गतिशील बनें।

पञ्चमी दशतिः

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कौन हिंसित नहीं होता?

१८५. यं रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्यमा। न किः स दभ्यते जनः॥ १॥

सः जनः=वह विकासशील मनुष्य **न किः**=नहीं **दभ्यते**=हिंसित होता **यम्**=जिसकी **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले **वरुणः मित्रः अर्यमा**=वरुण, मित्र और अर्यमा **रक्षन्ति**=रक्षा करते हैं।

'जनः' शब्द मनुष्य के लिए उस समय प्रयुक्त होता है, जब (जनी प्रादुर्भावे) प्रादुर्भाव व विकास का संकेत करना हो। जो मनुष्य अपना विकास करता है वह कण-कण करके अपने अन्दर उत्तमता का संग्रह करता है, अतः वह कण्व कहलाता है। यह कण्व ही मेधावी है, क्योंकि यह धैर्य और अध्यवसायपूर्वक अपने जीवन को उत्तम बनाने में लगा है। यह अपने अन्दर जिन भावनाओं को मूर्त्तरूप देने का प्रयत्न करता है, उनका संकेत निम्न शब्दों से हो रहा है—

१. **वरुणः**='वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः'=वरुण अर्थात् श्रेष्ठ। श्रेष्ठ वह है जो अपने आन्तर शत्रुओं को जीतकर अपने जीवन को निर्मल बनाता है। बाह्य शत्रुओं के विजय की अपेक्षा इन आन्तर शत्रुओं को जीतना कहीं अधिक महत्त्व रखता है। इन्हें जीतकर हम त्रिभुवन को जीत लेते हैं।

२. **मित्रः**=यह (प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु व पाप से अपने को बचाता है। अथवा (मिद्=स्नेह करना) प्राणिमात्र के प्रति स्नेह की भावना को अपने अन्दर उपजाता है। श्रेष्ठ बनने के लिए द्वेष से दूर होना नितान्त आवश्यक है। यह यथासम्भव औरों को भी मृत्यु व पाप से बचाने के लिए यत्नशील होता है।

३. **अर्यमा**='अर्यमेति तमाहुः यो ददाति' इस ब्राह्मणवाक्य के अनुसार अर्यमा का अर्थ है दाता। यह देने की भावना को अपने अन्दर उपजाता है। वस्तुतः दान (दा=देना) ही मानव जीवन को शुद्ध (दा=शोधने) बनाता है तथा उसके बन्धनों को काटता है (दा=काटना)।

४. उपर्युक्त तीनों शब्दों का विशेषण मन्त्र में 'प्रचेतसः'='प्रकृष्ट ज्ञानी' दिया गया है। उन सब बातों के साथ 'उत्कृष्ट ज्ञान' होना भी आवश्यक है। वस्तुतः उत्कृष्ट ज्ञान के बिना उनका होना सम्भव भी नहीं।

इन सब बातों को जब कण्व अपने जीवन में लाता है तब वह कभी हिंसित नहीं होता, उल्लिखित दिव्य गुण उसकी रक्षा कर रहे होते हैं। वह 'कण्व घौर' बन जाता है।

भावार्थ—मनुष्य अपने जीवनों को ज्ञान, जितेन्द्रियता, निर्द्वेषता व दानशीलता से अलंकृत करने के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—**वत्सः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वरिवस्या=उपासना

१८६. गव्यो षु णो यथा पुराश्वयोत रथया। वरिवस्या महोनाम्॥ २॥

इस मन्त्र का ऋषि वत्स है, यह काण्व है। कण-कण करके उसमता का संग्रह करने के कारण यह वत्स=प्रभु का प्रिय बना है। प्रभु इस वत्स से कहते हैं कि तू **नः**=हमारी **सु वरिवस्या उ**=उत्तम प्रकार से पूजा कर ही, अर्थात् कल्याण-मार्ग यही है कि तू इस मन्त्र में प्रतिपादित प्रकार से मेरी (प्रभु की) उपासना कर—

१. **गव्या**=उत्तम गौओं की इच्छा से। 'गमयन्ति अर्थान्' इस व्युत्पत्ति से गो शब्द ज्ञानेन्द्रियों का वाचक है और उससे इच्छा अर्थ में 'क्यच् प्रत्यय' आया है। तू अपनी ज्ञानेन्द्रियों को उत्तम बनाने का प्रयत्न कर। **यथा पुरा**=जैसे पहले सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि ऋषियों की ज्ञानेन्द्रियाँ निर्मल थीं, उसी प्रकार तू भी इन्हें निर्मल बना।

२. **अश्वया**='अश्नुते' व्याप्नोति=कर्म में व्याप्त होने से कर्मेन्द्रियों को अश्व कहते हैं। इन कर्मेन्द्रियों को भी तू उत्तम बनाने के लिए प्रयत्नशील हो। ज्ञानपूर्वक कर्म होने पर वे पवित्र होंगी ही।

३. **रथया**=इस शरीररूप रथ को **उत**=भी तू उत्तम बनाने की इच्छावाला हो। वीरता व भद्रता इसी में है कि हमें प्रभु से जैसा सुन्दर शरीर प्राप्त हुआ है, इसे वैसा ही लौटानेवाले बनें।

४. **महोनाम्**=तेजस्विताओं की प्राप्ति के द्वारा तू मेरी उपासना कर। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**=निर्बल मनुष्य प्रभु का उपासक नहीं है। तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु व सहस्रूप सब कोशों की शक्तियों को सिद्ध करनेवाला ही प्रभु का सच्चा उपासक है।

भावार्थ—वास्तविक उपासना तो ज्ञानेन्द्रियों व शरीररूप रथ को उत्तम बनाने की प्रबल कामना तथा तेजस्विता की उपलब्धि में ही है।

ऋषिः—**वत्सः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

स्वाध्याय का लाभ

१८७. इमास्त इन्द्र पृश्नयो घृतं दुहत आशिरम्। एनामृतस्य पिप्युषीः॥ ३॥

पिछले मन्त्र में प्रभु ने वत्स से कहा था कि तू मेरी उपासना ज्ञानसम्पादन द्वारा ही करेगा। अब वत्स प्रभु से कहता है—हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **इमा**=ये **ते**=तेरी **पृश्नयः**=प्रकाश को स्पर्श करनेवाली वेदवाणियाँ **आशिरम्**=(आ+शृ) सब प्रकार के मलों को नष्ट करनेवाली **घृतम्**=दीप्ति को **दुहते**=हममें खूब भरती हैं तथा ये वेदवाणियाँ **एनाम्**=इस गृहपत्नी को **ऋतस्य**=नियमितता के द्वारा **पिप्युषीः**=(प्यायी=वृद्धौ) वृद्धिशील बनाती हैं।

इस मन्त्र में वेदवाणियों को 'पृश्नि' कहा है। एक-एक वेदमन्त्र प्रकाश से परिपूर्ण है। अधिक-से-अधिक संक्षिप्त और अधिक-से-अधिक अर्थ से परिपूर्ण। इतना अर्थगौरव संसार के सारे साहित्य में कहीं भी उपलभ्य नहीं है। ये वेदवाणियाँ वत्स को—इनके व्यक्त उच्चारण करनेवाले को 'घृतम्' (घृ दीप्तौ) उस ज्ञान की दीप्ति से भर देती हैं, जो 'आशिर' है—सब

मलों को दूर कर देनेवाला है। स्वाध्याय ही हमारे ज्ञान को बढ़ाता हुआ हमारे मलों को क्षीण करता चलता है। ज्ञान-मलों को भस्म करनेवाली अग्नि ही तो है। यह पवित्र करने का सर्वोत्तम साधन है। स्वाध्याय का दूसरा लाभ यह है कि इससे मनुष्य के जीवन में नियमितता (ऋत) आ जाती है। वह प्रत्येक कार्य को यथासमय व यथास्थान पर करता है। यहाँ इस लाभ का वर्णन करते हुए 'एनाम्' इस स्त्रीलिङ्गी शब्द का प्रयोग हुआ है। वस्तुत: घर में गृहपत्नी की नियमितता सभी को नियमित बनानेवाली होती है। जिस घर में नियमितता होगी वह फूले-फलेगा इसमें तो सन्देह ही नहीं है।

भावार्थ—हम स्वाध्याय से निर्मल दीप्ति प्राप्त करके नियमित जीवनवाले बनें।

ऋषि:—श्रुतकक्ष:॥ देवता—इन्द्र:॥ छन्द:—गायत्री॥ स्वर:—षड्ज:॥

स्वाध्याय का लाभ

१८८. अया धिया च गव्यया पुरुणामन्पुरुष्टुत। यत् सोमेसोम आभुव: ॥ ४ ॥

स्वाध्याय करनेवाला यह वत्स ज्ञान (श्रुत) को ही अपनी शरण (कक्ष) बनाता है, अत: 'श्रुतकक्ष' नामवाला हो जाता है। यह प्रभु से कहता है कि **अया**=(अनया) इस **धिया**=बुद्धि से **च**=और **अया गव्यया**=इस ज्ञानेन्द्रियों के समूह से हे **पुरुणामन् पुरुष्टुत**=प्रभो! यह तो निश्चित ही है **यत्**=कि **सोमेसोमे**=प्रत्येक विनीत बने पुरुष में **आभुव:**=आप प्रकट हुआ करते हैं।

स्वाध्याय के दो लाभ गत मन्त्र में उल्लिखित हुए थे। स्वाध्याय का तीसरा लाभ यह है कि मनुष्य की बुद्धि व ज्ञानेन्द्रियों का सुन्दर विकास होता है। बुद्धि व ज्ञानेन्द्रियों का विकास होने पर यह संसार में एक महती शक्ति को कार्य करते हुए अनुभव करता है। यह उसी के नाम का खूब जप करता है और उसी का निरन्तर स्तवन करता है। उसका जप व स्तवन, पुरु है (पृ पालनपूरणयो:)—इसका पालन व पूरण करनेवाला है, इसे अभिमान आदि दुर्भावनाओं का शिकार होने से बचाता है और इसकी न्यूनताओं को दूर करता है।

जितना-जितना इसका जीवन पूर्ण होता जाता है उतना-उतना ही यह सोम बनता चलता है। एवं, स्वाध्याय का चौथा लाभ यह है कि मनुष्य में संसार की सञ्चालक रहस्यमयी शक्ति का चिन्तन होता है, वह उसका स्तवन व जप करता है। पाँचवाँ लाभ यह होता है कि यह उत्तरोत्तर विनीत बनता जाता है। इस सोमे-सोमे=विनीत और विनीत ही श्रुतकक्ष में **आभुव:**=प्रभु का प्रकाश होता है—यह श्रुतकक्ष प्रभु का साक्षात्कार कर पाता है। यह मानव-जीवन का चरम उत्थान है—इसी में इस जीवन की सार्थकता व सफलता है। यहाँ यह जीवन समाप्त होकर मानव को मुक्त कर देता है।

भावार्थ—स्वाध्याय से हम बुद्धि व ज्ञानेन्द्रियों का विकास करें, संसार की सञ्चालक शक्ति के नामों का जप व स्तुति करनेवाले बनें, सोम बनकर प्रभु का दर्शन करें।

सूचना—*सोम शब्द के दोनों ही अर्थ हैं—स+उमा=ऊँचे अध्यात्म ज्ञानवाला तथा सौम्य=विनीत।*

ऋषि:—मधुच्छन्दा:॥ देवता—इन्द्र:॥ छन्द:—गायत्री॥ स्वर:—षड्ज:॥

तीन मधुर अभिलाषाएँ

१८९. पावका न: सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसु: ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छन्दा'=मधुर इच्छाओंवाला प्रार्थना करता है कि **नः**=हमारे लिए **सरस्वती**=प्रवाह से चलनेवाला ज्ञान **पावका**=पवित्र करनेवाला हो। यह ज्ञान की देवी हमारे लिए **वाजेभिः**=मनोमय, प्राणमय व अन्नमयकोशों के बलों से **वाजिनीवती**=बलों को देनेवाली, शक्तिशाली बनानेवाली हो तथा **धियावसुः**=ज्ञानरूप धन का धनी यह व्यक्ति **यज्ञं वष्टु**=यज्ञमय कर्म की कामना करे।

मधुच्छन्दा की तीन मधुर अभिलाषाएँ इस प्रकार हैं—

१. **ज्ञान मेरे जीवन को निर्मल बनाए**—वस्तुतः ज्ञान ही हमारे जीवन को पवित्र करता है। जिस प्रकार अग्नि में पड़कर सोना निखर जाता है, इसी प्रकार ज्ञानाग्नि में तपकर मानव निखरकर निर्मल हो जाता है।

२. **यह ज्ञान मुझे शक्तिशाली बनाए**—विज्ञानमयकोश का बल हमारे निचले सभी कोशों को बलयुक्त करेगा, क्योंकि सभी कोशों में चल रही क्रियाओं को उसे ही पवित्र करना है।

३. पवित्र और शक्तिशाली बनकर **मैं सदा यज्ञिय जीवनवाला बनूँ।** मेरे जीवन से कुछ-न-कुछ लोकहित का कार्य सदा चलता रहे। मैं अपने में ही रमा न रह जाऊँ, दूसरों के दुःखों में भी प्रवेश कर सकूँ।

भावार्थ—मुझे पवित्रता, शक्ति तथा यज्ञमय जीवन प्राप्त हो।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कौन भला कर सकता है?

१९०. क इमं नाहुषीष्वा इन्द्रं सोमस्य तर्पयात्। स नो वसून्या भरात्॥ ६॥

इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है=सुन्दर, दिव्य गुणोंवाला। दिव्य गुणोंवाला बनने के लिए ही उसने यह तत्त्व अपनाया है कि वह वीर्यरक्षा व ब्रह्मचर्य के द्वारा आत्मिक शक्ति का विकास करे। मानव प्रजाओं को 'नाहुषी' कहते हैं, क्योंकि ये अन्य प्राणियों की अपेक्षा आपस में अधिक सम्बद्ध हैं (नह बन्धने)। सन्तान माता-पिता पर देर तक आश्रित रहती है। व्यक्ति समाज पर आश्रित है। एक राष्ट्र अन्य की अपेक्षा करता है एवं, मानव प्रजाएँ 'नाहुषी' कहलाती हैं। वामदेव कहता है कि **नाहुषीषु**=इन मानव प्रजाओं में **कः**=कौन व्यक्ति **इन्द्रम्**=इन्द्र को—आत्मा को **सोमस्य आतर्पयात्**=सोम के द्वारा पूर्ण तृप्त करता है। सोम वीर्य-शक्ति का नाम है। आत्मिक शक्ति का तर्पण इसी से होता है। वैदिक साहित्य में सोमपान से इन्द्र के शक्तिशाली बनाने का भी यही अभिप्राय है। सोमपान के बिना इन्द्र असुरों को जीत नहीं सकता। वीर्यरक्षा हमारी सब बुरी भावनाओं को समाप्त कर देती है। सोमरक्षा से आत्मिक शक्तियों का विकास होता है और **सः**=इन आत्मिक शक्तियों के विकास करनेवाला ही **नः**=हमें **वसूनि आभरात्**=कुछ उत्तम वस्तु प्राप्त करा सकता है। जिसका जीवन संयमी है, वही लोकहित के कार्यों के करने में रुचि व सामर्थ्यवाला हो पाता है। संसार के सभी बड़े-बड़े सुधारक ब्रह्मचारी हुए। जिन्होंने जितनी मात्रा में इसके महत्त्व को समझ जीवन में परिणत किया, वे उतने ही लोकहित के कार्य कर पाये।

भावार्थ—मनुष्य सोमपान के द्वारा आत्मिक शक्ति का विकास करे और लोकहित में प्रवृत्त हो।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मेरे हृदयान्तरिक्ष में

१९१. आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम्। एदं बर्हिः सदो मम॥ ७॥

'इरिम्बिठि' शब्द की भावना 'क्रतुमय हृदयवाले' की है (ईर=गतौ, बिठं=हृदयान्तरिक्ष)। यह इरिम्बिठि प्रभु से प्रार्थना करता है कि **आयाहि**=आइए। **इदम्**=इस **मम**=मेरे **बर्हिः**=हृदयान्तरिक्ष में **आसदः**=विराजमान होओ। 'बर्हिः' उस हृदय का वाचक है जिसमें से वासनाओं का बहुत कुछ उद्बर्हण कर दिया गया है, अतः इरिम्बिठि प्रयत्नशील है, यह तो स्पष्ट ही है। अपने प्रयत्न के पश्चात् ही यह परमात्मा से प्रार्थना का अधिकारी बनता है। '**न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः**' यह उक्ति ठीक ही कह रही है कि देवों की मित्रता तो श्रम के उपरान्त ही प्राप्त होती है। इसी श्रम के विषय में प्रभु इरिम्बिठि से कहते हैं कि **ते**=तेरे लिए **हि**=निश्चय से **सुषुम**=हमने सोम के सवन की व्यवस्था की है। हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **इमं सोमं पिब**=तू इस सोम का पान कर। सोम के पान के लिए आवश्यक है उसका जीवन क्रियामय हो, अतः उसका नाम ही 'इरिम्बिठि' रख दिया है। सोमरक्षा के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है और क्रियाशीलता में सोमरक्षा सहायक होती है।

यह सुरक्षित सोम इरिम्बिठि को प्रभु के आवाहन का अधिकारी बनाता है। सोमरक्षा के लिए क्रियाशील बनने में ही काण्वता=बुद्धिमत्ता है। यह इरिम्बिठि 'काण्व' है।

इसकी प्रार्थना का प्रारम्भ 'प्रभो! आइए' इन शब्दों से होता है और समाप्ति 'मेरे हृदय में विराजिए' इन शब्दों पर है। मध्य में प्रभु ने इसे सोमरक्षा के लिए आदेश दिया है। जीव पुरुषार्थ करेगा तो परम-पुरुषार्थ मोक्ष को अवश्य प्राप्त करेगा।

भावार्थ—हम सोमपान द्वारा हृदय को प्रभु के आसीन होने योग्य बनाएँ।

ऋषिः—वारुणिः सत्यधृतिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

जीवन के तीन सिद्धान्त

१९२. महि त्रीणामवरस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः। दुराधर्षं वरुणस्य॥ ८॥

इस मन्त्र का द्रष्टा 'सत्यधृति वारुणि' है। अपने जीवन में तीन सत्यों को धारण करने के कारण यह सत्यधृति है और श्रेष्ठ जीवनवाला होने के कारण 'वारुणि' है।

यह प्रार्थना करता है कि **त्रीणाम्**=तीन का **अवः अस्तु**=रक्षण मुझे प्राप्त हो, अर्थात् निम्न तीन सिद्धान्तों को मैं अपने जीवन में सदा सुरक्षित कर पाऊँ।

प्रथम सत्य—मित्रस्य महि=मुझे मित्र का महनीय रक्षण प्राप्त हो। 'ञिमिदा स्नेहने' धातु से बनकर मित्र शब्द स्नेह का वाचक है। स्नेह का सिद्धान्त मेरे जीवन का प्रथम नियम बने। इस प्रकार मेरा जीवन 'महि'=महनीय—प्रशंसनीय हो, सयन के जीवन से माधुर्य का प्रवाह ही बहता है।

द्वितीय सत्य—अर्यम्णः द्युक्षम्=मुझे अर्यमा का रक्षण प्राप्त हो। 'अर्यमा इति तमाहुर्यो ददाति'—अर्यमा देनेवाले को कहते हैं। जीवन का सिद्धान्त देना हो। पञ्चयज्ञ मुझे देनेवाला ही तो बनाते हैं। यह दान मुझे 'द्यु-क्ष'=द्युलोक में—स्वर्ग में निवास करनेवाला बनाता है। यज्ञ

के अभाव में हमारा यह लोक भी नरक-सा हो जाता है।

तृतीय सत्य—दुराधर्षं वरुणस्य=वरुण का धर्षणशून्य रक्षण मुझे प्राप्त हो। वरुण पाशी है, संयम=बन्धनवाला है। मेरा जीवन आत्मसंयमवाला हो। संयमवाला होने पर यह धर्षणशून्य हो जाएगा। मेरे इस जीवन का कोई पराभाव न कर सकेगा।

भावार्थ—स्नेह, दान व संयम—ये तीन मेरे जीवन के सूत्र हों।

ऋषि:—वत्स:॥ देवता—इन्द्र:॥ छन्द:—गायत्री॥ स्वर:—षड्ज:॥

तेरे-जैसे का अनुगामी बनूँ

१९३. त्वावतः पुरूवसो वयमिन्द्र प्रणेतः। स्मसि स्थातर्हरीणाम्॥ ९॥

इस मन्त्र का ऋषि 'वत्स'=प्रभु का प्यारा है अथवा ऋग्वेद के अनुसार 'वशी अश्व्य:' है—इन्द्रियरूप अश्वों को वश में करनेवाला।

यह प्रभु से कहता है—हे **परूवसो**=पालक व पूरक निवास देनेवाले! **इन्द्र**=परमैश्वर्यवाले! **प्रणेतः**=प्रकर्ष की ओर ले-चलनेवाले, प्रकृष्ट नेतृत्व देनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **त्वावतः**=तेरे-जैसे के **स्मसि**=हों, तेरे पीछे चलनेवाले बनें और **हरीणाम्**=इन्द्रियरूप घोड़ों के **स्थातः स्मसि**=अधिष्ठाता बनें।

प्रभु ने हमें इस शरीर में निवास दिया है, उसका दिया हुआ निवास सुपालित व पूरणवाला है। हम अज्ञान से वस्तुओं व इन्द्रियों का अवाञ्छनीय प्रयोग करके अपने जीवन को असुरक्षित व अपूर्ण बना लेते हैं। प्रभु के उपासक बनेंगे तो हम आसुर वृत्तियों से कभी आक्रान्त न होंगे तथा हमारा जीवन न्यूनताओं से रहित होगा। प्रभु वास्तव में इन्द्र=परमैश्वर्यवाले हैं। प्रभु का नेतृत्व हमें प्रकर्ष की ओर और प्रकृति का नेतृत्व सदा अपकर्ष की ओर ले-जाता है।

यद्यपि प्रभु की सर्वव्यापकता व निराकारता मुझे प्रभुदर्शन से वञ्चित कर देती है और उस साक्षात्कार के अभाव में मैं प्रभु का अनुगामी नहीं हो पाता—चकरा-सा जाता हूँ; तो भी **त्वावतः**—प्रभु-जैसों का—प्रभु-भक्तों का अनुगामी तो बन ही सकता हूँ।

प्रभु-जैसों का अनुगामी जितेन्द्रिय बनता है, अन्यथा इन्द्रियनिर्जित हो जाता है। जितेन्द्रिय प्रभु का प्यारा बनता है, अतः 'वत्स' कहलाता है और इन्द्रियों को वश में करने के कारण भी 'वशी' है, उत्तम इन्द्रियरूप घोड़ोंवाला होने के कारण 'अश्व्य' है।

भावार्थ—प्रभु-जैसों का अनुगमन करता हुआ मैं अपनी इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनूँ।

अथ तृतीयप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—**प्रगाथः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु के तीन उपदेश

१९४. उत्त्वा मन्दन्तु सोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः। अव ब्रह्मद्विषो जहि॥ १॥

प्रभु 'प्रगाथ काण्व' से कहते हैं कि यदि तुझे सचमुच प्रकृष्ट गायन करनेवाला बनना है, यदि तुझे सचमुच काण्व=मेधावी बनना है तो तू निम्न तीन बातों का ध्यान कर। मेरा सच्चा गायन व कीर्तन यही होगा कि तू मेरे इन आदेशों को अपने जीवन का अङ्ग बनाये—इसी में बुद्धिमत्ता है, यही तेरी क्रियात्मक भक्ति होगी।

पहली बात यह कि **त्वा**=तुझे **सोमः**=सोम के कण—शक्ति के बिन्दु **उत् मन्दन्तु**=उत्कृष्ट हर्ष प्राप्त करानेवाले हों। शक्ति के अभाव में मनुष्य का जीवन बड़ा हीन-(depressed)-सा बना रहता है। शक्ति के ये कण सुरक्षित होकर जीवन में एक अद्भुत मस्ती देनेवाले होते हैं। निःशक्त का जीवन निरानन्द व चिड़चिड़ा होता है।

प्रभु का दूसरा उपदेश यह है कि हे **अद्रिवः**=(अ+दृ=not to be torn away) चट्टान के समान दृढ़ (as firm as rock) जीव! तू **राधः कृणुष्व**=सिद्धि का सम्पादन कर। समय-समय पर होनेवाली असफलताएँ तुझे व्याकुल न कर दें, तेरा धैर्य स्थिर रहे और तू अध्यवसाय के द्वारा सफलता को प्राप्त करनेवाला बन।

प्रभु का तीसरा कथन यह है कि **ब्रह्मद्विषः**=ज्ञान के साथ अप्रीति की भावनाओं को तू **अवजहि**=अपने से दूर करके नष्ट कर दे। ज्ञान तेरे लिए सदा रुचिकर हो, ज्ञान का तुझे व्यसन ही लग जाए। यह व्यसन तुझे संसार में अन्य व्यसनों से बचानेवाला सिद्ध होगा।

भावार्थ—मनुष्य का जीवन सोमपान के द्वारा उत्कृष्ट मदवाला हो। वह सदा दृढ़तापूर्वक सफलता की ओर बढ़े तथा ज्ञान की रुचिवाला बने।

ऋषिः—**विश्वामित्रो गाथिनः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान+रस के साथ निरभिमानिता

१९५. गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे। इन्द्र त्वादातमिद्यशः॥ २॥

इस मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्रो गाथिन' है। सभी के साथ स्नेह करनेवाला, प्रभु का स्तोता—गायन करनेवाला। वस्तुतः जो प्रभु का गायन करना चाहता है, उसे सबके साथ स्नेह करनेवाला होना ही चाहिए। सबके साथ स्नेह वही कर सकता है जो सबमें 'एकत्व' का दर्शन करे। **'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते'**=सब प्राणियों को आत्मा में और आत्मा को सब प्राणियों में देखनेवाला ही घृणा से ऊपर उठ पाता है। उसे ज्ञान की रक्षा के लिए प्रार्थना करता हुआ ऋषि कहता है कि

हे **गिर्वण:**=(गीर्भि: वननीय:) वेदवाणियों से सेवन करने योग्य प्रभो! आप **न:**=हमारे **सुतम्**=ज्ञान की **पाहि**=रक्षा कीजिए। ज्ञान को 'सुतम्' इसलिए कहते हैं कि जैसे किसी फल से उपकरणों द्वारा रस का सवन होता है, उसी प्रकार 'प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा' द्वारा ज्ञानियों से ज्ञान का सवन किया जाता है। यह ज्ञान ही विश्वामित्र को 'विश्व का मित्र=स्नेही' बनाता है। वही सभी को आत्मबुद्धि से (आत्मौपम्येन) देखता है। यह विश्वामित्र प्रभु से कहता है कि आप **मधो: धाराभि:**=मधु की धाराओं से **अज्यसे**=प्रकट होते हैं, अर्थात् आपका दर्शन उसी को होता है जिसके जीवन से माधुर्य की धारा का प्रवाह होता है। वास्तव में सच्चे ज्ञान का प्रकाश होता ही रस के रूप में है। अन्दर ज्ञान हो तो जीवन के व्यवहार में माधुर्य होना अनिवार्य है । प्रभु का स्वरूप भी यही है 'अन्दर ज्ञान, बाहर रस।' वे प्रभु 'विशुद्धाचित्त' हैं, **'रसो वै स:'**-(तै०) वे रस भी हैं। जीव भी ज्ञान व रसवाला बनकर प्रभु का ही छोटा रूप (ममैवांश:=After his image) बन जाता है और वास्तव में इस दिन ही वह प्रभु का सच्चा दर्शन कर पाता है।

इन व्यक्तियों को सामान्य जनता आश्चर्य व आदर से देखती है। इन लोगों की कीर्ति-सुरभि चारों ओर फैलने लगती है, परन्तु यह भी कितने आश्चर्य की बात है कि यह विश्वामित्र यही कहता है कि **इन्द्र**=हे सर्वैश्वर्यवाले प्रभो! **यश:**=यह यश भी तो **इत्**=सचमुच **त्वा दातम्**=तेरे द्वारा ही दिया गया है, या **त्वा दातम्**=तेरा ही यश उज्ज्वल हो रहा है, इसमें मेरा क्या? यह यश तो तेरा ही है। यह विभूति भी सब विभूतियों की भाँति आपके ही तेज का अंश है, एवं यह विश्वामित्र निराभिमान बना रहता है।

भावार्थ—मेरा जीवन ज्ञान से पूर्ण हो, मेरे व्यवहार में माधुर्य हो और मन में अभिमानशून्यता हो।

ऋषि:—वामदेव:॥ देवता—इन्द्र:॥ छन्द:—गायत्री॥ स्वर:—षड्ज:॥

हमने ही नहीं वरा? (कितना दुर्भाग्य)

१९६. सदा व इन्द्रश्चर्कृषदा उपो नु स सपर्यन्। न देवो वृत: शूर इन्द्र: ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है उत्तम, दिव्य गुणोंवाला। यह अपने साथियों से अपने को ही प्रेरणा देता हुआ कहता है कि **स: इन्द्र:**=वह परमात्मा तो **व:**=आप सबको (वामदेव भी उनमें सम्मिलित है) **सपर्यन्**=आदर व प्रेम देता हुआ **सदा**=हमेशा **उप उ नु**=निश्चय से अपने समीप **आचर्कृषत्**=सर्वथा आकृष्ट कर रहा है। हम जब-जब विषय-वासनाओं में भटकते हैं, उस-उस समय वह-वह पदार्थ भी प्राप्त तो हमें प्रभु से ही होता है; परन्तु साथ ही प्रभु हमें कह रहे होते हैं कि इस ऐश्वर्य की चमक में मत फँस। 'इन्द्र' तो मैं ही हूँ, वास्तविक ऐश्वर्य तो तुझे मेरे समीप आने पर ही मिलेगा। जिस मार्ग पर तू चल पड़ा है वह प्रेय है—रमणीय है, परन्तु उसकी यह रमणीयता केवल ऊपर-ऊपर की है—अन्त में यह तुझे परिताप प्राप्त कराएगा। तू इधर आ, मेरी ओर आने में ही तेरा अन्तिम 'श्रेय' है। इधर आने पर तुझे मोक्ष व स्थायी शान्ति का लाभ होगा। इस प्रकार वे प्रभु हमें सदा भोगों को प्राप्त कराते हुए भी प्रेरणा दे रहे हैं और अपनी ओर आकृष्ट कर रहे हैं।

परन्तु वामदेव कहते हैं कि यह कितना दुर्भाग्य है कि हमने उस **शूर:**=सब वासनाओं व कष्टों की इतिश्री कर डालनेवाले (शृ हिंसायाम्) **इन्द्र:**=परमैश्वर्यशाली **देव:**=सम्पूर्ण

दिव्य गुणों के निधान उस प्रभु को **न वृतः**=नहीं वरा। उस प्रभु को वरते तो हमें सन्तप्त करनेवाली वासनाएँ कभी की नष्ट हो गयी होतीं, हमने वास्तविक ऐश्वर्य को पाया होता और हम दैवी सम्पत्ति के स्वामी बन गये होते! कितने महान् लाभ से हम वञ्चित रह गये। क्यों न अब भी हम चेतें—प्रभु की प्रेरणा को सुनें और उसी के वरण का निश्चय करें। हम माया में न उलझ मायावी की शरण में चलें। उसी दिन हम उत्तम दिव्य गुणोंवाले बन सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु तो हमें सदा बुलाते हैं, हम ही नहीं सुनते। कितना दुर्भाग्य है? प्रभु का वरण कर हम सौभाग्यशाली बनें।

ऋषिः—श्रुतकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मैं शिखर पर कब पहुँचूँगा?

१९७. आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः। न त्वामिन्द्राति रिच्यते॥ ४॥

इस मन्त्र के ऋषि 'श्रुतकक्ष' से, जिसने ज्ञान को ही शरण बनाने का निश्चय किया है, प्रभु कहते हैं—**त्वा इन्दवः आविशन्तु**=तुझमें सोमकण उसी प्रकार सब ओर प्रविष्ट हो जाएँ **इव**=जैसे **सिन्धवः समुद्रम्**=नदियाँ समुद्र में प्रवेश कर जाती हैं। समुद्र में प्रविष्ट होकर नदियाँ अब और नीचे की ओर प्रवाहित नहीं होतीं, अपितु अब नदियों का जल सूर्य की उष्णता से वाष्पीभूत होकर ऊपर उठता है। इसी प्रकार तुझमें प्रविष्ट होकर ये सोमकण भी प्राणों की उष्णता से ऊर्ध्वगतिवाले हों और तू 'ऊर्ध्वरेतस्'=उत्तर मार्ग से जानेवाला—उत्तरायण से चलनेवाला बन। यही मोक्ष का मार्ग है और यही ज्ञानाग्नि को दीप्त करने का साधन है।

हम सोमकणों की रक्षा करेंगे तो ये रक्षित सोमकण हमारी रक्षा करेंगे, हमारी ज्ञानाग्नि दीप्त होगी और अन्त में हम मोक्षलाभ भी करेंगे। शारीरिक क्षेत्र में भी हमें इतनी शक्ति प्राप्त होगी कि हम संसार को हिलाने में समर्थ हो जाएँगे। **'हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा। कुवित् सोमस्यापामिति'**=हम कह सकेंगे कि मैंने खूब सोमपान किया है, अब तो मैं पृथिवी को भी उठाकर जहाँ कहो वहाँ रख दूँ। उस दिन मेरे अन्दर अद्भुत शक्ति होगी, परन्तु यह शक्ति क्या मुझे मदवाला कर देगी? नहीं, सोमजनित यह शक्ति मुझे और अधिक सौम्य बना देगी। तब मैं नम्रता से अपना उत्थान करता हुआ उन्नति के शिखर पर पहुँच जाऊँगा। प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्य को प्राप्त जीव! आज **त्वाम् न अतिरिच्यते**=तुझे कोई लांघ नहीं सकता, कोई तुझसे अधिक नहीं हो सकता। तेरा जीवन सभी को लाँघ गया है—ex-cel=आगे निकल गया है, अतएव तू उत्तम (Excellent) बन गया है।

भावार्थ—मैं ब्रह्मचर्य द्वारा, सोमपान करता हुआ, शिखर पर पहुँचूँ और प्रभु के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त करूँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सब प्रभु के स्तवन में लगे हैं

१९८. इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ५॥

वेद चार होते हुए भी त्रिविध मन्त्रोंवाले हैं। मन्त्र या ऋग्रूप हैं, या यजुः अथवा साम। ऋग्–मन्त्र पदार्थों के गुणों का वर्णन करते हैं। ये मन्त्र 'अर्क' शब्द से भी कहे जाते हैं।

इनमें पदार्थों के गुणों का वर्णन होता है, साथ ही ये मन्त्र पदार्थों के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए इनके निर्माता प्रभु का भी ध्यान कराते हैं, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **अर्किणः**=ऋङ्मन्त्रों के ज्ञाता विद्वान् अथवा पदार्थों के गुणों के विवेचन में लगे हुए वैज्ञानिक इन **अर्केभिः**=ऋङ्मन्त्रों से **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की **अनूषत**=स्तुति करते हैं। ये वैज्ञानिक प्रत्येक पदार्थ की रचना में रचयिता के कौशल को देखते हैं और उसके प्रति नतमस्तक होते हैं।

साम मन्त्रों से प्रभु का गायन करनेवाले 'गाथी' कहलाते हैं। ये **गाथिनः**=प्रभु का गायन करनेवाले **बृहत्**=(बृहता) बृहत् सामों के द्वारा **इन्द्रम् इत्**=उस प्रभु को ही **अनूषत**=स्तुत करते हैं। ये अध्यात्मविद्यावित् लोग उस प्रभु की महिमा के प्रसार को अनुभव करते हुए उस प्रभु का हृदय में स्मरण करते हैं और उनकी वाणी प्रभु की महिमा का गायन करती है।

यजुर्मन्त्र गद्यरूप में हैं, अतः उन्हें यहाँ 'वाणी' शब्द से कहा गया है। यजुर्मन्त्र मुख्यरूप से मनुष्य के कर्त्तव्यभूत यज्ञों का प्रतिपादन करते हैं, परन्तु उस प्रभु के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन भी जीव का एक कर्त्तव्य है। प्रभु-स्मरण उसके अन्दर बन्धुत्व की भावना को जन्म देता है जो उसके जीवन को सभी के प्रति स्नेहमय कर देती है। एवं, ये **वाणीः**=यजुरूप वाणियाँ भी **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अनूषत**=प्रशंसित करती हैं।

एवं, ऋग्, यजुः, सामरूप सभी मन्त्रों से प्रभु की स्तुति करता हुआ इस मन्त्र का ऋषि सदा पवित्र इच्छाओंवाला बना रहता है, अतः 'मधुच्छन्दा' कहलाता है और सभी के प्रति स्नेह की भावनावाला होने के कारण 'वैश्वामित्र' होता है। यह तो एक ही बात देखता है कि क्या वैज्ञानिक, क्या अध्यात्मवेत्ता, क्या समाजशास्त्री सभी उस प्रभु के प्रति नतमस्तक हो रहे हैं।

भावार्थ—हम सदा उस प्रभु का गायन करते हुए 'मधुच्छन्दा वैश्वामित्र' बनें।

टिप्पणी—*प्रकृति के नियमों का पालन न करेंगे तो स्वास्थ्य खोएँगे। जीव के नियमों का पालन न करेंगे तो शान्ति खोएँगे। प्रभु की उपासना न करेंगे तो कुछ खोएँगे नहीं, अपना मोक्ष नहीं होगा। प्रकृति दण्ड देती है, जीव दण्ड देता है। प्रभु अपनी उदारता से दण्ड नहीं देते। मोक्ष पाने का यत्न हमने स्वयं ही नहीं किया।*

ऋषिः—श्रुतकक्ष आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु को प्राप्त करने के लिए

१ २ ३ १ २   ३ १ २ ३ २ ३ २   ३ १ २   ३ १ २
१९९. इन्द्र इषे ददातु न ऋभुक्षणमृभुं रयिम्। वाजी ददातु वाजिनम्॥ ६॥

इस मन्त्र का ऋषि 'श्रुतकक्ष आङ्गिरस' है। ज्ञान को शरण बनानेवाला, अर्थात् खूब ज्ञानी, तथा अङ्ग-अङ्ग में रसवाला=शक्ति-सम्पन्न। वस्तुतः ज्ञान और शक्ति का विकास करनेवाला व्यक्ति ही प्रभु को पाने का अधिकारी बनता है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमें **इषे** (इष गतौ)=प्रभु के ज्ञान व प्रभु की ओर जाने के लिए और अन्त में प्रभु को पाने के लिए **ऋभुक्षणम्**=महान् **ऋभुम्**=(ऋतेन भाति) सत्य से दीप्त **रयिम्**=ज्ञानरूप सम्पत्ति को **ददातु**=दे। वेदवाणी महान् है, वह सब सत्य ज्ञानों से दीप्त है। प्रभु मुझे उस वेदवाणी को प्राप्त कराएँ, जिससे मैं प्रभु को पा सकूँ।

ज्ञान के साथ शक्ति का भी उतना ही महत्त्व है। प्रभु ज्ञान के पुञ्ज हैं, 'विशुद्धाचित्' (Pure knowledge) हैं और साथ ही शक्ति के पुञ्ज हैं—'**तेजोऽसि**', अतः यह ऋषि

प्रार्थना करता है कि **वाजी**=शक्ति का भण्डार प्रभु **वाजिनम्**=शक्ति-सम्पन्न **रयिम्**=धन **ददातु**=दे।

'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्' इस यजुर्वाक्य के अनुसार 'श्रुतकक्ष आङ्गिरस' ज्ञान (ब्रह्म) व बल (क्षत्रम्) दोनों को शोभासम्पन्न बनाता है और चाहता है कि उसकी सम्पत्ति ज्ञान व बल के रूप में ही हो। यही सम्पत्ति उपादेय है। ज्ञान और शक्ति का सम्पादन करके ही हम प्रभु को प्राप्त करते हैं। अकेला ज्ञान व अकेली शक्ति लङ्गड़े व अन्धे की भाँति हैं। दोनों का मेल ही पूर्णता को पैदा करता है। पूर्णता होने पर हम पूर्ण प्रभु के सखा बनते हैं। सखित्व के लिए समानशीलता आवश्यक है।

भावार्थ—मैं 'श्रुतकक्ष आङ्गिरस' (ज्ञानी व शक्तिसम्पन्न) बनूँ, जिससे प्रभु को पा सकूँ।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्र का लक्षण

२००. इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभी षदप चुच्यवत्। स हि स्थिरो विचर्षणिः॥ ७॥

इस मन्त्र का ऋषि 'गृत्समद शौनक' है। 'गृणाति इति गृत्सः, माद्यतीति मदः, शुनति इति शुनः, स एव शुनकः' इन व्युत्पत्तियों से प्रभु की स्तुति करनेवाला 'गृत्स' है, यह सदा प्रसन्न रहता है, अतः 'मद' है, क्रियाशील होने से 'शुनक' है। इससे प्रभु कहते हैं कि **अङ्ग**=हे प्रिय! **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय ही **महद्भयम्**=इस महान् भयरूप संसार का **अभीषत्**=अभिभव करता है। अभिभव ही नहीं, **अपचुच्यवत्**=संसार को अपने से पृथक् करता है। जीते जी जीवन्मुक्त हो जाने से वह संसार से दबता नहीं, अपितु संसार को दबा लेता है—पराभूत कर देता है। यह संसार उसे आसक्त नहीं कर पाता। देह छोड़ने के उपरान्त वह परामुक्ति को प्राप्त करके एक अनन्त-से काल के लिए आवागमन के चक्र से छूट जाता है। यही वस्तुतः मानव-जीवन का उद्देश्य है। इस उद्देश्य को पाने के लिए इन्द्र=इन्द्रियों का अधिष्ठाता—जितेन्द्रिय होना आवश्यक है। यह जितेन्द्रिय ही प्रभु को प्रिय होता है। प्रभु ने मन्त्र में इसे 'अङ्ग' इस प्रकार सम्बोधित किया है। 'अङ्ग' इस सम्बोधन में क्रियाशीलता की भावना है (अगि गतौ)। अकर्मण्य व्यक्ति उस प्रभु को प्रिय हो ही कैसे सकता है, जिसका स्वभाव ही क्रिया है **'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'**। यह क्रियाशीलता उसे जितेन्द्रिय बनने में भी सहायक होती है।

सः=वह मोक्ष को पानेवाला इन्द्र **हि**=निश्चय से **स्थिरः**=स्थिर होता है—डाँवाँडोल न होकर स्थितप्रज्ञ होता है। इसकी बुद्धि वासनाओं से आन्दोलित न होकर 'अविकम्प' बनी रहती है। यह **विचर्षणिः**=विशेष दृष्टिकोण को अपनानेवाला होता है। उसे प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य के निर्माता का आभास मिलता है। विचर्षणि के अतिरिक्त यह कर्षणि=विशेष कर्म करनेवाला होता है। यह कर्म के महत्त्व को समझता है कि इस कर्म ने ही उसे जितेन्द्रिय बना देवों का प्रिय बनाया है। एवं, स्थिरता, विशेष दृष्टिकोण व कर्म—ये वे साधन हैं जो इन्द्र को इन्द्र बनाते हैं और इन्द्र बनकर वह मोक्ष व ब्रह्मनिर्वाणरूप लक्ष्य का लाभ करता है।

भावार्थ—मोक्ष ही मेरा जीवन-लक्ष्य हो, उसके लिए मैं स्थिरमति, विशेष गम्भीर दृष्टिवाला व सदा श्रमशील बनूँ।

सूचना—*इस मन्त्र में संसार को 'महद्भय' कहा है। धन-नाश, स्वास्थ्य-नाश व कीर्ति-नाश*

भी भय है। 'अयशोभय भयेषु'—कीर्तिनाश तो बहुत ही बड़ा भय है, परन्तु इससे बढ़कर भय क्या कि मुझे फिर से इस नौ मास के एकान्त कारागृह में बन्द होना पड़ेगा। गीता में इसे **'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'** इस श्लोक में महद् भय कहा गया है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञानी भक्त

२०१. इमा उ त्वा सुतेसुते नक्षन्ते गिर्वणो गिरः। गावो वत्सं न धेनवः॥ ८॥

इस मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' है। यह अपने अन्दर शक्ति भरता है (भरत्+वाज) और ज्ञानियों का भी ज्ञानी—बृहस्पति=ब्रह्मणस्पति बनने का प्रयत्न करता है। मन्त्र में 'सुते-सुते' शब्द शक्ति व ज्ञान दोनों का ही उल्लेख करता है। शक्ति का भी रस-रुधिरादि क्रमेण सवन होता है और ज्ञान का भी विद्यार्थी आचार्य से प्रणिपात, परिप्रश्न व सेवा द्वारा सवन किया करता है। इस ज्ञान का सवन करने के कारण ही यह यहाँ गिर्वन्=वेदवाणियों का सवन करनेवाला कहलाया है। इन वेदवाणियों के सवन से इसका ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता चलता है। प्रत्येक पदार्थ को यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने लगता है। प्रत्येक पदार्थ की रचना में इसे अद्भुत सौन्दर्य प्रतीत होने लगता है और यह उस सौन्दर्य के अदृश्य निर्माता के प्रति नतमस्तक हो वाणियों से उसका गायन करने लगता है।

यह 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' कहता है कि **सुते-सुते**=ज्यों-ज्यों मेरा ज्ञान बढ़ता है त्यों-त्यों मुझ **गिर्वणः**=वेदवाणियों का सवन करनेवाले की **इमाः गिरः**=ये वाणियाँ **उ**=निश्चय से **त्वा**=तुझे ही **नक्षन्ते**=प्राप्त होती हैं—तेरा ही गुणगान करती हैं। मेरी वाणियाँ तेरे प्रति उसी प्रकार प्रेम के प्रवाहवाली होती हैं **न**=जैसेकि **धेनवः गावः**=नवसूतिका गौवें **वत्सम्**=बछड़े के प्रति। नवसूतिका गौ का बछड़े के प्रति सहज प्रेम होता है, प्रभु के प्रति मेरा प्रेम भी स्वाभाविक हो उठता है। मुझे प्रभु के गायन में ही आनन्द आने लगता है। क्या सूर्य, क्या चन्द्र व क्या नक्षत्र—मुझे सभी प्रभु का गायन करते प्रतीत होते हैं। आकाश में उमड़ते मेघों में मुझे प्रभु की महिमा का स्मरण होता है। निरन्तर बहती नदियाँ मुझे प्रभु की याद दिलाती हैं। अपने शरीर में अङ्ग-प्रत्यङ्ग की रचना मुझे प्रभु के प्रति नतमस्तक करती है और मेरी वाणी से उस प्रभु के नामों का उच्चारण होने लगता है। यह ज्ञानी भक्त ही प्रभु का अनन्य भक्त कहलाता है—यह प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय होता है।

भावार्थ—हम प्रभु के 'ज्ञानी-भक्त' बनने के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'इन्द्रा-पूषणा' का स्मरण—भक्त की लक्षणत्रयी

२०२. इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये। हुवेम वाजसातये॥ ९॥

पिछले मन्त्र में वर्णित भक्त प्रभु को सदा दो ही रूपों में स्मरण करता है। वे प्रभु 'इन्द्र हैं—परमैश्वर्यशाली हैं—ज्ञानधन से परिपूर्ण हैं। ज्ञानियों को भी ज्ञान देनेवाले होने से 'देव-सम्राट्' हैं। जहाँ सूर्यादि को प्रकाश देते हैं, वहाँ 'अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा:' आदि ऋषियों के हृदय में भी ज्ञानसूर्य उदय होता है। प्रभु का दूसरा रूप 'पूषा' का है। वे प्रभु ही सबका

पोषण करनेवाले हैं, अतः **वयम्**=हम सब **नु**=अब–कुछ समझदार बनने पर **इन्द्रापूषणा**=ज्ञानरूप परमैश्वर्य के कोश व शक्ति के भण्डार प्रभु को **हुवेम**=पुकारते हैं, इसलिए पुकारते हैं कि यह प्रभु-स्तुति हमारा लक्ष्य भी 'ज्ञान व शक्ति' ही बना दे। सदा ज्ञान व शक्ति की वृद्धि में लगे हुए हम **सख्याय**=उस प्रभु की मित्रता के लिए समर्थ हों। समान ख्यानवाला बनना इसलिए आवश्यक है कि ऐसा बने बिना हमारी उत्तम स्थिति व कल्याण सम्भव नहीं है, अतः **स्वस्तये**=सु अस्तये=उत्तम जीवन के लिए हम प्रभु का 'इन्द्रापूषणा' शब्दों से स्मरण करते हैं। ज्ञान व शक्ति को बढ़ाकर अपने जीवन को उत्तम बनाते हैं। प्रभु का स्मरण मुझे अन्य व्यसनों से बचाकर शक्तिशाली बनाता है, अतः **वाजसातये**=शक्तिशाली बनने के लिए (वाज=शक्ति, साति=प्राप्ति) हम 'इन्द्रापूषणा', का स्मरण करते हैं। एवं, प्रभु स्मरण के तीन लाभ हैं–१. हमारे मस्तिष्क में ज्ञान-सूर्य का उदय होकर हमें प्रभु के समान ख्याति, प्रभु का सख्य प्राप्त होता है, २. हमारा जीवन सब व्यसनों से शून्य व मन वासनाशून्य होकर हमें 'स्वस्ति'=उत्तम स्थिति प्राप्त होती है, ३. निर्व्यसनता हमारी शक्तियों को जीर्ण न होने देकर हमारे शरीरों को सबल बनाती है। हम बल-प्राप्ति के लिए समर्थ होते हैं।

भावार्थ–ज्ञानी भक्त का मस्तिष्क ज्ञानपूर्ण होता है, मन निर्व्यसन होकर उत्तम स्थितिवाला होता है तथा शरीर वर्चस्वी बन नीरोग होता है।

ऋषिः–**वामदेवो गोतमः**॥ देवता–**इन्द्रः**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

वह सर्व महान् है

२०३. न कि इन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति वृत्रहन्। न क्येवं यथा त्वम्॥ १०॥

वामदेव गोतम जितना-जितना संयमी और ज्ञानी बनता चलता है, उतना-उतना वह प्रभु का अधिक और अधिक भक्त होता जाता है। उसका अन्तिम उद्गार यही होता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **त्वत्**=तुझसे **उत्तरम्**=उत्कृष्ट **न कि**=कुछ भी नहीं है। हे **वृत्रहन्**=सब वृत्र-वासनाओं को समाप्त करनेवाले प्रभो! तुझसे **ज्यायः**=बढ़ा हुआ **न अस्ति**=कोई नहीं है। ज्ञान की दृष्टि से आप 'इन्द्र' हैं–ज्ञान के सूर्य हैं–आपकी ज्ञान-ज्योति से ही ऋषि-मुनियों के हृदय द्योतित हुआ करते हैं। नैर्मल्य के दृष्टिकोण से आप काम को भस्म करनेवाले हैं–वासना के विनाशक हैं। आप महान् हैं–अपने न माननेवालों को भी निवास देनेवाले हैं (**अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति**)। हे प्रभो! आपसे उत्कृष्ट व अधिक बढ़े हुए की तो कथा ही क्या **एवं न कि**=ऐसा भी तो कोई नहीं **यथा त्वम्**=जैसे आप हैं। आपकी बराबरीवाला भी कोई नहीं। आप अ-द्वितीय हैं। आपकी महिमा का कोई अन्त नहीं। जितना-जितना सोचता हूँ, उतनी-उतनी आपकी उस महिमा के आनन्त्य में डूबता जाता हूँ। बस, मैं अपने को आपमें डुबाकर (निमग्न करके) आप-जैसा ही सुन्दर, दिव्य गुणोंवाला बन जाऊँ।

इस प्रकार कामना करनेवाला यह भरद्वाज 'वामदेव' बन जाता है। सुन्दर, दिव्य गुणों को अपने अन्दर उपजाता है। इसकी एक-एक इन्द्रिय निर्मल हो उठती है और यह गोतम=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला हो जाता है। यह सदा उस प्रभु का स्मरण करता है–उसे 'सर्वमहान्' के रूप में देखता है। उसका ध्यान करते-करते स्वयं भी उसका छोटा रूप बन जाता है।

भावार्थ–प्रभु को सर्वमहान् रूप में देखते-देखते हम भी महान् बन पाएँ।

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः।। देवता—इन्द्रः।। छन्दः—गायत्री।। स्वरः—षड्जः।।

प्रभु कब उत्साहित करते हैं?

२०४. तरणिं वो जनानां त्रदं वाजस्य गोमतः। समानमु प्र शंसिषम्॥ १॥

इस मन्त्र का ऋषि 'त्रिशोक काण्व' है—वह बुद्धिमान् जिसने अपने शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों को दीप्त किया है। यह 'त्रिशोक' कहता है कि मैं **उ**=निश्चय से **प्रशंसिषम्**=उस प्रभु की कीर्ति का गायन करता हूँ जो **वः जनानाम्**=तुम सब मनुष्यों के **तरणिम्**=तैरानेवाले हैं, अर्थात् जो प्रभु हम सबको इस वासनामय संसार-समुद्र से पार करते हैं। प्रभु के नाम-स्मरण से ही मनुष्य संसार के प्रलोभनों को जीत पाता है। विषय-वासनाओं को जीतकर मनुष्य वाजी=शक्तिशाली बनता है और इस शक्तिरूप ईंधन से ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर ज्ञान-सम्पन्न बन पाता है। वे प्रभु इस **वाजस्य**=शक्ति के पुञ्ज **गोमतः**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाले अथवा वेदवाणियों का उत्तम मन्थन करनेवाले व्यक्ति को **त्र-दम्**=त्राण देनेवाले हैं।

प्रभु की रक्षा का पात्र वही व्यक्ति बनता है जो मन को निर्व्यसन बनाकर शरीर को शक्तिशाली बनाता है और इस प्रकार शक्ति के संयम द्वारा सबल शरीरवाला होकर मस्तिष्क को वेदज्ञान से परिपूर्ण करता है। यही 'त्रिशोक' है—इसके मन, मस्तिष्क व शरीर तीनों ही उज्ज्वल हैं।

वे प्रभु 'समानम्' हैं—सम्=सम्यक् उत्तम प्रकार से आन (आनयति, सोत्साहान् करोति) उत्साहित करनेवाले हैं। त्रिशोक कहता है कि मैं इस **समानम्**=सदा सम्यक् उत्साहित करनेवाले प्रभु का ही गुणस्तवन करता हूँ, जिससे मेरी लक्ष्य-दृष्टि स्थिर रहे और जैसे वे प्रभु '**त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी**'=तीन ज्योतियों से समवेत हैं—कभी उनसे पृथक् नहीं होते, उसी प्रकार मैं भी शरीर की नीरोगता व सबलता से, मन के नैर्मल्य से तथा बुद्धि की तीव्रता से तीन ज्योतियों का अपने में समावेश करनेवाला बनूँ तभी तो मेरा त्रिशोक नाम सार्थक होगा।

भावार्थ—मैं त्रिशोक बनकर प्रभु के उत्साह का भाजन बनूँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः।। देवता—इन्द्रः।। छन्दः—गायत्री।। स्वरः—षड्जः।।

मधुच्छन्दा की तीन प्रतिज्ञाएँ

२०५. असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत। सजोषा वृषभं पतिम्॥ २॥

इस मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दा=अत्यन्त मधुर इच्छओंवाला निम्न तीन व्रत लेता है—

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **ते गिरः**=तेरी वाणियों को **असृग्रम्**=सृजन-क्रिया का रूप देता हूँ, अर्थात् वेदोक्त कर्मों को करता हूँ। आपने वेद में जो-जो आदेश दिये हैं उन्हें मैं क्रिया में अनूदित करता हूँ। वेद पढ़ता हूँ, समझता हूँ, उसे क्रियान्वित करता हूँ।

२. मेरी ये सब क्रियाएँ मुझे **त्वाम् प्रति**=तेरे प्रति **उदहासत**=प्राप्त कराती हैं। मैं इन क्रियाओं को निष्कामता के साथ करता हूँ और सांसारिक फलों की कामना से ऊपर उठने के कारण वे मुझे आप तक पहुँचानेवाली होती हैं।

३. इन क्रियाओं को करते हुए मैं **वृषभम्**=सब सुखों के वर्षक **पतिम्**=पालन करनेवाले

आपको **स-जोषा**=उन क्रियाओं के साथ प्रीतिपूर्वक सेवन करता हूँ। खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते मैं आपको नहीं भूलता, अर्थात् मेरी क्रियाएँ आपके स्मरण के साथ चलती हैं।

भावार्थ—मधुच्छन्दा के उपर्युक्त तीन व्रतों को सभी को स्वीकार करना चाहिए।

ऋषिः—**वत्सः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उत्तम-मार्ग

२०६. सुनीथो घा स मर्त्यो यं मरुतो यमर्यमा। मित्रास्पान्त्यद्रुहः॥ ३॥

इस मन्त्र का ऋषि 'वत्स' है—जो अपने जीवन से वेदवाणी को कहता है (वदति इति), अर्थात् जिसकी जीवन-क्रियाएँ वेदानुकूल हैं, अतएव वह प्रभु का वत्स=प्रिय है।

यह वत्स कहता है कि **घ**=निश्चय से **सः मर्त्यः**=वह मनुष्य **सु-नीथः**=उत्तम नयन (मार्ग) से चलनेवाला है १. **यम्**=जिसे **मरुतः**=प्राण **पान्ति**=रक्षित करते हैं, अर्थात् प्राणायाम द्वारा प्राणों की साधना करके जो अपने को रोगों व वासनाओं से बचाता है—वह मनुष्य सुनीथ है। २. **यम्**=जिसे **अर्यमा**=(अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) दान की भावना सुरक्षित करती है। दान की भावना से मनुष्य व्यसनों से बचकर अपने जीवन को शुद्ध बना पाता है। ३. **यम्**=जिसे **मित्राः**=स्नेह की देवता रक्षित करती है। प्राणिमात्र के प्रति स्नेह की भावनावाला होने के कारण यह व्यक्ति राग-द्वेष से ऊपर उठता है।

'प्राणों की साधना, देने की वृत्ति और स्नेह की भावना' ये तीनों ही मनुष्य को गिरने नहीं देतीं, दूसरे शब्दों में ये तीनों मिलकर 'जीवन का मार्ग' हैं। इन वृत्तियों को अपनानेवाला व्यक्ति **अद्रुहः**=कभी हिंसित नहीं होता। हिंसित क्यों हो? यह तो प्रभु का 'वत्स'=प्यारा है।

भावार्थ—मरुत्, अर्यमा और मित्र के मार्ग पर चलकर मैं प्रभु का 'वत्स' बनूँ।

ऋषिः—**त्रिशोकः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

त्रिशोक का स्पृहणीय धन

२०७. यद्वीडाविन्द्र यत्स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम्। वसु स्पार्हं तदा भर॥ ४॥

'त्रिशोक' ऋषि वह है जिसके 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों दीप्त हैं। यह प्रार्थना करता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **यत्**=जो **वसु**=धन **वीडौ**=दृढ़ शरीरवाले पुरुष में है **यत्**=जो धन **स्थिरे**=स्थिर मनोवृत्तिवाले पुरुष के पास है, **यत्**=जो धन **पर्शाने**=विचारशील पुरुष में **पराभृतम्**=रक्खा गया है, **तत्**=वह **स्पार्हं वसु**=स्पृहनीय धन **आभर**=मुझे भी प्राप्त कराइए।

१. अश्मा व वज्रतुल्य शरीरवाले व्यक्ति में 'स्वास्थ्य' रूप धन का निवास है। यह उचित व्यायाम व भोजन के द्वारा अपने शरीर को नीरोग बना पाया है, स्वास्थ्य की कान्ति इसके चेहरे पर झलकती है।

२. स्थिर मनोवृत्तिवाले पुरुष में 'अनासक्ति' व व्यसनाभावरूप नैर्मल्य का धन है। इस निर्मलता व मनःप्रसाद ने इसके चेहरे को भी प्रसादमय कर दिया है। इसके चेहरे पर मानस शान्ति झलकती हुई उसे उज्ज्वल बनाती है।

३. विचारशील पुरुष वस्तुओं का ठीक विवेचन करता हुआ उसमें उलझता नहीं। इसकी देदीप्यमान ज्ञान-ज्योति में सब मालिन्य भस्म हो जाता है। इस ज्ञान से इसका

भूतात्मा पवित्र हो उठता है और यह उज्ज्वल जीवनवाला बन जाता है।

ये ही तीन धन या दीप्तियाँ हैं जिनका सम्पादन करके साधक 'त्रिशोक' बन जाता है।

भावार्थ—हम त्रिविध धन व दीप्ति पाकर 'त्रिशोक' बनें।

ऋषिः—**सुकक्ष आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

आशीर्वाद=साफल्य का महत्त्व

२०८. श्रुतं वो वृत्रहन्तमं प्र शर्धं चर्षणीनाम्। आशिषे राधसे महे॥ ५॥

मन्त्र का ऋषि 'सुकक्ष आङ्गिरस'=ज्ञानरूप उत्तम शरण स्थानवाला, वीर्यवान्, रसमय अङ्गोंवाला सुकक्ष कहता है कि १. **आशिषे**=शुभ आशीर्वादों (blessings, benedictions) के लिए २. **राधसे**=(राध्=संसिद्धि) सफलता के लिए और ३. **महे**=महत्त्व की प्राप्ति के लिए **श्रुतम्**=उस प्रभु का सदा श्रवण करो, जोकि **वः**=तुम्हारे **वृत्रहन्तमम्**=ज्ञान को आवृत करनेवाली वासनाओं का विनाश करनेवाला है और **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों का **प्रशर्धम्**=उत्कृष्ट बल है।

मन्त्रार्थ से स्पष्ट है कि मनुष्य के दो कर्त्तव्य हैं १. प्रभु के गुण-स्तवन को सुनना और २. सदा कर्मशील बनकर 'चर्षणि' नाम को सार्थक करना। यदि मनुष्य प्रभु के गुणों का श्रवण करता है तो प्रभु उसकी वासनाओं को विनष्ट करते हैं और जब मनुष्य श्रमशील होता है तो यह श्रम उसकी शक्ति को बढ़ाता है। श्रम करनेवाले के प्रभु भी सहायक होते हैं और श्रमशीलता वासनाओं से बचने में सहायक होती है।

जब मनुष्य प्रभु का सेवक व श्रमशील बनता है तब उसे सदा शुभ आशीर्वाद प्राप्त होते हैं, वह संसार में कभी असफल नहीं होता अपितु महत्त्व प्राप्त करता है। 'प्रभु स्मरण के साथ कार्यों में लगे रहना' कारण बनता है और आशीर्वाद, साफल्य व महत्त्व उसके कार्य होते हैं।

भावार्थ—हम उन विरल व्यक्तियों में होने का प्रयत्न करें जो क्रियाशीलता द्वारा सदा प्रभु-स्तवन में लगे हैं।

ऋषिः—**वामदेवो गोतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सत्सङ्ग व सदाचरण

२०९. अरं त इन्द्र श्रवसे गमेम शूर त्वावतः। अरं शक्र परेमणि॥ ६॥

इस मन्त्र का ऋषि 'वामदेव गोतम' है—सुन्दर दिव्य गुणोंवाला, प्रशस्त इन्द्रियोंवाला अथवा उत्तम वेदवाणियोंवाला। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **शूर**=(शॄ हिंसायाम्) सब वासनाओं का हिंसन करनेवाले प्रभो! हम **ते**=आपके **श्रवसे**=ज्ञान के श्रवण के लिए **त्वावतः**=आप-जैसे ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के समीप **अरं गमेम**=खूब प्राप्त हों और **शक्र**=हे सर्वशक्तिमन् प्रभो! **परेमणि**=उत्कृष्ट मार्ग पर (एमन्=course, way) **अरं गमेम**=खूब चलें।

उल्लिखित मन्त्रार्थ में सत्सङ्ग को कारण बताया गया है, सदाचरण को उसका कार्य। हमें सदा उन लोगों का सङ्ग करना जो **त्वावतः**=प्रभु-जैसे हों। ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तियों के सङ्ग

से हमारी बुद्धि सुन्दर बनती है और हम उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करनेवाले बनते हैं। वेद के शब्दों में हमारा सङ्ग 'ज्ञानी ब्राह्मणों, रक्षा में तत्पर क्षत्रियों व दानी वैश्यों से हो, इस प्रकार उत्कृष्ट सङ्ग को पाकर हम अपने ज्ञान को तो बढ़ाएँ ही, साथ ही हम सदा उत्कृष्ट मार्ग पर चलनेवाले बनें। प्रभुकृपा से हम सत्सङ्ग को प्राप्त कर सदाचारी हों।

भावार्थ—सत्सङ्ग हमारे जीवन के मार्ग को उत्कृष्ट बनाए।

ऋषिः—**विश्वामित्रो गाथिनः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

चतुर्भद्र

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २

२१०. धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्। इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः॥ ७॥

प्रभु इन्द्र हैं—परमैश्वर्यशाली हैं। कौन-सा ऐश्वर्य प्रभु के कोश में नहीं है। ऐश्वर्यशाली होते हुए वे **प्रातः**=हैं—सब ऐश्वर्य से हमारा पूरण करनेवाले हैं (प्रा पूरणे)। हे प्रभो! आप **नः**=हमें **जुषस्व**=प्रेम दीजिए (जुष्=प्रीति)। हम योग्य बनकर आपके प्रेम के पात्र बनें। मन्त्र के पूर्वार्ध के चार शब्दों द्वारा उसी योग्यता का संकेत हुआ है—

१. **धानावन्तम्**=ध्यानी व्यक्ति को आपका प्रेम प्राप्त होता है। वस्तुतः हमें अपने जीवन के प्रथम प्रयाण में ध्यानवाला बनना है। जो कुछ माता-पिता व आचार्य कहें उसे बड़े ध्यान से सुनना है। यदि हम आचार्य-मुख से निकलते शब्दों को बड़े ध्यान से सुनेंगे, उन्हें पीते चलेंगे तो हमारा ज्ञान कितना बढ़ जाएगा? तब हम आचार्यों के प्रिय तो होंगे ही, प्रभु का प्रेम भी हमें प्राप्त होगा। जीवन-यात्रा के प्रथम प्रयाण का आदर्श-वाक्य 'ध्यान' है।

२. **करम्भिणम्**='करेण भ्रियते इति करम्भः'='जो हाथ से किया जाता है'—इस व्युत्पत्ति से करम्भ शब्द दान का वाचक है। गृहस्थ में हमें सदा कुछ देनेवाला बनना है। गृहस्थ को सदा पञ्चयज्ञों का करनेवाला बनना है। '**अपञ्चयज्ञो मलिम्लुचः**'=पञ्चयज्ञ न करनेवाला गृहस्थ 'चोर' है। यज्ञ की चरम सीमा दान है। दान देनेवाला गृहस्थ अपने जीवन को निर्व्यसन बनाकर प्रभु का प्रिय होता है।

३. **अपूपवन्तम्**='इन्द्रियम् अपूपः'—ऐ० २.२४ के अनुसार अपूपशब्द इन्द्रिय-वाचक है। प्रशस्त इन्द्रियोंवाला पुरुष 'अपूपवान्' है। शतशः प्रयत्न करने पर भी गृहस्थ में इन्द्रियाँ कुछ राग-द्वेष में पड़ गयी थीं। वानप्रस्थ तीव्र तपस्या के द्वारा उस स्नेह की चिक्कणता को दूर करने के लिए प्रयत्नशील होता है और अपनी इन्द्रियों को राग-द्वेष के मल से पृथक् कर डालता है। यह अपूपवान् वानप्रस्थ प्रभु का प्रिय होता है।

४. **उक्थिनम्**=आचार्य ऋ० १.५.८ में उक्थ का अर्थ करते हैं—'परिभाषितुमर्हाणि वेदस्थानि सर्वाणि स्तोत्राणि'=वेदमन्त्रों में प्रतिपादित प्रभु के स्तोत्र। इन स्तोत्रोंवाला व्यक्ति प्रभु का प्रिय होता है। ब्रह्मचारी को पठन की चिन्ता, गृहस्थ को कुटुम्ब के पालन की और वानप्रस्थ को भी कुल के पालन की, परन्तु संन्यासी तो प्राणिमात्र के प्रति प्रेमवाला होता है। ऐसा ही व्यक्ति 'गाथिनः'=प्रभु का सच्चा स्तोता होता है। यह सदा प्रभु का स्मरण करता हुआ प्रभु-स्तोत्रों का गायन करनेवाला 'उक्थी' है—और प्रभु को सर्वाधिक प्रिय है।

भावार्थ—ध्यान, दान, प्रशस्तेन्द्रियता और प्रभु-स्मरण—इन चतुर्भद्रों को अपनाकर हम प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषि:—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

नमुचि-संहार

२११. अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः। विश्वा यदजय स्पृधः॥ ८॥

इस मन्त्र के ऋषि 'काण्वायन' अर्थात् कण्वों की बिरादरी के 'गोषूक्ति और अश्वसूक्ति' हैं, जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ उत्तम कथन करनेवाली हैं। इसकी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से उत्तम ही व्यापार चलते हैं। इसने कण-कण करके उत्तमता का साधन किया है।

इस गोषूक्ति व अश्वसूक्ति पुरुष से प्रभु कहते हैं कि **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता ऐश्वर्यशाली जीव! तूने **अपाम्**=कर्मों की **फेनेन**=(स्फायी वृद्धौ) वृद्धि के द्वारा **नमुचेः**=अहंकार के **शिरः**=सिर को **उदवर्तयः**=उलट डाला है। **यत्**=जबकि तूने **विश्वा स्पृधः**=अन्दर घुस आनेवाली और हमारा पराभव करने की इच्छावाली सब वृत्तियों को **अजयः**=जीत लिया है।

'इन्द्र' नाम से जीव का सम्बोधन तभी होता है जब यह इन्द्रियों का विजेता बनकर वास्तविक ऐश्वर्य को पाता है। जब यह कर्मों में लगा रहता है तब वासनाओं का शिकार नहीं होता। सब वासनाओं को जीत लेने पर विजय के अहंकार की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है, जो बड़ों-बड़ों का भी पीछा नहीं छोड़ती, जिसे Last infirmity of the noble mind कहा जाता है, यह उस 'न-मुचि' अन्त तक पीछा न छोड़नेवाली अहंकार-वृत्ति के सिर को भी कुचल देता है। सौन्दर्य तो यही है कि सारी "दैवी सम्पत्ति" होने पर 'नातिमानिता'=गर्व न हो। दैवी सम्पत्ति की यही तो चरम सीमा है। यह अभिमान की वृत्ति तभी कुचली जाती है जब हम निरन्तर कर्मों में लगे रहें। वस्तुतः कर्मशीलता ही हमें इस वृत्ति से बचाकर विनीत बनाती है।

भावार्थ—कर्मतन्तु के विस्तार के द्वारा हम विनय को अंकुरित करें।

ऋषि:—**वामदेवो गोतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु जीव के प्रति

२१२. इमे त इन्द्र सोमाः सुतासो ये च सोत्वाः। तेषां मत्स्व प्रभूवसो॥ ९॥

इस मन्त्र का ऋषि 'वामदेव गोतम' है—सुन्दर दिव्य गुणोंवाला तथा प्रशस्तेन्द्रिय। इससे प्रभु कहते हैं कि **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **इमे**=ये **सोमाः**=शक्ति के कण **ये**=जो **सुतासः**=पैदा किये गये हैं **च**=और जो **सोत्वा**=आगे उत्पन्न किये जाएँगे ये सब **ते**=तेरे लिए हैं। वीर्यशक्ति अत्यन्त मूल्यवान् वस्तु है, उसे प्रभु जीव के लिए उत्पन्न करने की व्यवस्था करते हैं। यदि जीव उसका अपव्यय कर देता है तो वह प्रभु का प्यारा कैसे हो सकता है?

प्रभु कहते हैं कि **प्रभूवसो**=(प्रभुश्च वसुश्च) इन्द्रियों पर प्रभुत्व पानेवाले और निवास को उत्तम बनानेवाले जीव! **तेषां मत्स्व**=उन वीर्य-कणों की रक्षा के द्वारा तू आनन्द प्राप्त कर। संसार की छोटी-छोटी घटनाओं से मानव-जीवन विकल हो उठता है, परन्तु संयमी के जीवन में सांसारिक कष्टों में भी आनन्द की धारा विच्छिन्न नहीं होती।

भावार्थ—हम इस बात को सदा स्मरण रक्खें कि वीर्यशक्ति आध्यात्मिक विकास के लिए उत्पन्न की गयी है। सन्तान-निर्माण इसका गौण उद्देश्य है।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

जीव प्रभु के प्रति

२१३. तुभ्यं सुतासः सोमाः स्तीर्णं बर्हिर्विभावसो। स्तोतृभ्य इन्द्र मृडय॥ १०॥

गत मन्त्र में प्रभु ने जीव से कहा था कि ये सोमकण मैंने तेरे लिए उत्पन्न किये हैं, तूने इनका ठीक उपयोग करके 'वामदेव गोतम' बनना है। सुन्दर दिव्यगुणों को उत्पन्न करने में और इन्द्रियों को प्रशस्त बनाने में इनका उपयोग करना है। जीव कितने उत्तम शब्दों में इसका उत्तर देता है कि ये **सुतासः सोमाः**=उत्पन्न सोमकण **तुभ्यम्**=तेरे लिए विनियुक्त किये गये हैं, अर्थात् इनका अपव्यय करना तो दूर रहा, तेरी प्राप्ति के लिए इनका प्रयोग किया है। इससे बढ़कर उत्तम इनका विनियोग हो ही क्या सकता है? जड़ जगत् की यह सर्वोत्तम वस्तु है, इससे मैंने चेतन जगत् की सर्वोत्तम वस्तु आपको पाने का प्रयत्न किया है। हे **विभावसो**=ज्ञानधन प्रभो! आपके स्वागत के लिए ही मैंने **बर्हिः**=निर्मल हृदय को **स्तीर्णम्**=बिछाया है। 'बर्हि' उस हृदयान्तरिक्ष का नाम है जिसमें से सब वासनारूप झाड़-झंखाड़ को उखाड़कर परे फेंक दिया गया है। वस्तुतः सोमकणों की रक्षा का यह भी परिणाम है कि हृदय वासनामुक्त हो जाता है। इस वीर्यरक्षा से हम उस ज्ञानधन प्रभु से ज्ञान प्राप्त करनेवाले भी बनते हैं। एवं, वीर्यरक्षा के तीन लाभ होते हैं १. प्रभु की प्राप्ति २. हृदय की वासना-शून्यता तथा ३. ज्ञान की प्राप्ति।

वीर्यरक्षा के द्वारा इन तीनों परिणामों को अपने जीवन में प्रकट करनेवाले व्यक्ति ही प्रभु के सच्चे स्तोता हैं। वे प्रार्थना करते हैं—हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली, अज्ञानान्धकार के नाशक प्रभो! हम **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **मृडय**=सुख दीजिए।

ये स्तोता ज्ञान को अपनी शरण बनाने के कारण 'श्रुतकक्ष' हैं। ये प्रभु को 'विभावसु' के रूप में देखते हैं। सर्वोत्तम शरण ज्ञान ही है, अतः ये 'सुकक्ष' हैं, भोगमार्ग की ओर न जाने से ये शक्ति-सम्पन्न अङ्गोंवाले 'आङ्गिरस' हैं।

भावार्थ—हम वीर्यरक्षा के द्वारा ज्ञान व नैर्मल्य को प्राप्त करके प्रभु को पानेवाले बनें।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु को अपने में सींच लो

२१४. आ व इन्द्रं कृविं यथा वाजयन्तः शतक्रतुम्। मंहिष्ठं सिञ्च इन्दुभिः॥ १॥

इस मन्त्र का ऋषि 'शुनःशेप आजीगर्ति' है। 'शुनम्=सुखम्, शेप=बनाना 'to make', इस व्युत्पत्ति से सुख का निर्माण करनेवाला 'शुनःशेप है'। 'अज=गतौ, गर्त=A throne' इस निर्वचन के अनुसार 'स्वर्ग के सिंहासन की ओर जानेवाला', अर्थात् निःश्रेयस को सिद्ध करनेवाला 'आजीगर्ति' है। एवं, अभ्युदय और निःश्रेयसरूप धर्म के दोनों परिणामों को प्राप्त करनेवाला यह 'शुनःशेप आजीगर्ति' पूर्ण धर्म को अपने अन्दर साधता है। इस पूर्ण धर्म का प्रतिपादन यह इन शब्दों में करता है—

वः=तुम सबको **इन्द्रम्**=परमैश्वर्य देनेवाले **शतक्रतुम्**=सैकड़ों (अनन्त) प्रज्ञानोंवाले

मंहिष्ठम्=दातृतम उस प्रभु को **वावृधन्तः**=उपासना करते हुए अथवा अपने को शक्तिशाली बनाने के हेतु से (हेतु में 'शतृ') **इन्दुभिः**=सोमबिन्दुओं के द्वारा, उनके रक्षण के द्वारा **आसिञ्च**=अपने में सर्वथा इस प्रकार सींच लो **यथा**=जैसे **कृविम्**=कुएँ को खेत अपने में सींच लेता है।

प्रभु को अपने में सींच लेना—प्रभु की सर्वव्यापकता व संरक्षकता आदि भावनाओं से अपने जीवन को ओत-प्रोत कर लेना ही पूर्ण धर्म है। प्रभु की दिव्यता को अपने में भरेंगे तो १. **इन्द्रम्**=हमें परमैश्वर्य प्राप्त होगा, २. **शतक्रतुम्**=हमारा ज्ञान शतगुणित वृद्धि को प्राप्त करेगा ३. **मंहिष्ठम्**=हमें सब उत्तम आवश्यक पदार्थ प्राप्त होंगे। कुएँ के साथ सम्बद्ध खेत सदा लहलहाता है। प्रभु के साथ सम्बद्ध जीव भी उसी प्रकार शक्ति, ज्ञान व सब दिव्य भावनाओं से लहलहा उठता है। 'यह जीवन-क्षेत्र उस कुएँ से दूर हुआ और सूखा'। इसे न सूखने देने का एक ही उपाय है कि मैं कुएँ के समीप रहूँ। प्रभु का सान्निध्य ही जीवन के सौन्दर्य का कारण है। इस प्रभु का सान्निध्य 'इन्दुओं'=सोम-बिन्दुओं के द्वारा होता है। इस सोमपान का ही नाम 'ब्रह्मचर्य' है—'ब्रह्म की ओर चलना।' यही ब्रह्म के सान्निध्य का मूलकारण है। जड़ जगत् की सर्वोत्तम वस्तु सोम है, यह चेतन जगत् की सर्वोत्तम वस्तु 'परमात्मा' से हमारा मेल करा देती है और हमारा जीवन लहलहा उठता है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरण से अपने जीवन को ओत-प्रोत कर लें।

ऋषिः—**श्रुतकक्ष आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शतवाज इष्

२१५. अतश्चिदिन्द्र न उपा याहि शतवाजया। इषा सहस्रवाजया॥ २॥

पिछले मन्त्र में अपने को प्रभु की भावना से भर लेने का उल्लेख था। 'जब हम अपने को प्रभु की भावना से सींच लेते हैं तब हमारा जीवन कैसा बनता है' इस बात का वर्णन इस मन्त्र में है। मन्त्र का ऋषि 'श्रुतकक्ष आङ्गिरस'=ज्ञान को ही अपनी शरण बनानेवाला, शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति कहता है कि—

अतः चित्='तुझे अपनी इन्द्रियों में सींचने के इस मार्ग से' ही **इन्द्र**=हे ऐश्वर्यशाली प्रभो! तू **नः**=हमें **उपायाहि**=प्राप्त हो। प्रभु के समीप पहुँचने का मार्ग यही है कि हम १. अपने को प्रभु की भावना से ओत-प्रोत कर लें, और २. इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनें। प्रभु कहते हैं कि हे जीव! तू हमें प्राप्त होगा **इषा**=इष् के द्वारा। इष् का अभिप्राय है ज्ञान, गमन व प्राप्ति। तू मेरा ज्ञान प्राप्त कर, ज्ञान प्राप्त करके मेरी ओर चल और मुझे प्राप्त कर। कौन-सी इष् से? जो **शतवाजया सहस्रवाजया**=सैकड़ों व सहस्रों त्यागोंवाली है। प्रभु का ज्ञान त्याग की अपेक्षा करता है, इसकी ओर गमन के लिए और अधिक त्याग अपेक्षित है और उसकी प्राप्ति तो सहस्रों त्यागों के होने पर ही होती है।

'आयुः, प्राणं, प्रजां, पशुं, कीर्तिं, द्रविणं, ब्रह्मवर्चसम्'—इन सबको प्रभु को लौटा देने पर ही 'व्रजत ब्रह्मलोकम्=ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। प्रभु की प्राप्ति के लिए त्याग-ही-त्याग करना होता है। हम अपने अन्दर प्रभु को सींच लेते हैं, तभी प्रभु को पाते हैं। प्रकृति के त्याग व प्रभु की ओर गमन में ही शक्ति का रहस्य निहित है। 'वाज' का अर्थ शक्ति भी होता है, अतः यह हमरी शक्ति=इष् को शतशः सहस्रशः बढ़ा देती है। हम शक्ति-सम्पन्न बनकर

प्रभु के और प्रिय हो जाते हैं 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' यह आत्मा निर्बल को तो प्राप्त ही नहीं होती। शक्ति-सम्पन्न होकर यह लोकहित में प्रवृत्त होता है और अज्ञान, अन्याय व अभाव को दूर करने के लिए यत्नशील होता है। यही भावना अगले मन्त्र में ध्वनित हो रही है।

भावार्थ—हम त्याग व शक्ति के तत्त्वों को अपनाकर प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**त्रिशोकः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पर्दे को दूर करना (घूँघट के पट खोल रे)

२१६. आ बुन्दं वृत्रहा ददे जातः पृच्छाद्वि मातरम्। क उग्राः के ह शृण्विरे ॥ ३ ॥

गत मन्त्र में 'इषा' शब्द 'ज्ञान' का संकेत कर चुका है। 'शतवाजया' शब्द 'शक्ति' का। इस मन्त्र में 'वृत्रहा' शब्द ज्ञान को आवृत करनेवाले राग-द्वेषादि वृत्रों के विनाश की सूचना दे रहा है। इस प्रकार ज्ञान से मस्तिष्क को, नैर्मल्य से मन को तथा शक्ति से शरीर को चमकानेवाला यह 'त्रिशोक' तीन दीप्तियोंवाला 'काण्व' मेधावी पुरुष **जातः**=आचार्यकुल से दूसरा जन्म लेने पर (तं जातं द्रष्टुं अभि संयन्ति देवाः), अर्थात् आचार्य की भट्टी में परिपक्व होकर संसार में आने पर स्वयं **वृत्रहा**=सब वासनाओं का विनाश करनेवाला बनकर **बुन्दम्**=तीर को **आददे**=हाथ में ग्रहण करता है। यह **मातरम् विपृच्छात्**=माता के हिंसक को पूछता है। पता करता है कि कौन हिंसक है। **के उग्राः**=कौन उग्र हैं—तेज स्वभाव के हैं **के ह आशृण्विरे**=कौन निश्चय से चारों ओर अपनी उग्रता के कारण ख्यात (notorious) हैं। उन्हें जानकर यह उन्हें समाप्त करने के प्रयत्न में लग जाता है।

मनुष्य का उद्देश्य मज़े से खाते-पीते जीवन बिताना नहीं है। उसे अन्याय के विरुद्ध संग्राम करते हुए अन्याय को दूर करने में ही जीवन-यापन करना चाहिए।

भावार्थ—हमारा जीवन अन्याय के विरुद्ध एक 'दीर्घ संग्राम' हो।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु बृबदुक्थ हैं

२१७. बृबदुक्थं हवामहे सृप्रकरस्नमूतये। साधः कृण्वन्तमवसे ॥ ४ ॥

निरुक्त ६।१।४ में 'बृबदुक्थ' शब्द का अर्थ 'महदुक्थो वक्तव्यमस्मा उक्थमिति बृबदुक्थो' इन शब्दों में 'महान् स्तुतिवाला अथवा कहने योग्य स्तुतिवाला' किया है। वस्तुतः मनुष्य को प्रभु के ही स्तोत्रों का उच्चारण करना चाहिए। उसके बनाये हुए संसार के और घट-घट में उसकी रचना के सौन्दर्य को देखकर उसकी महिमा का कीर्तन करना ही 'मेधातिथि काण्व' का काम है। जो व्यक्ति समझदार है, वह प्रभु का ही कीर्तन करता है। प्रभु **सृप्रकरस्नम्**=हैं। सर्पणशील भुजाओंवाले तथा कर्मों से वेष्टित भुजाओंवाले हैं—सदा स्वाभाविकरूप से क्रिया में लगे हैं। प्रभु का स्तोता भी प्रभु का अनुकरण करते हुए क्रियाशील हाथोंवाला बनता है। वह सदा लोकहित में लगा रहता है। किस लिए? **ऊतये**=रक्षा के लिए। वस्तुतः क्रियाशीलता ही हमें वासनाओं का शिकार होने से बचाती है। यदि इस प्रकार प्रभु-कीर्तन के साथ जीवनभर कर्म की प्रक्रिया चलती है तो प्रभु हमें सफलता, सिद्धि व मोक्ष प्राप्त कराते हैं।

मन्त्र में कहते हैं—**साधः**=सिद्धि को, मोक्ष को **कृण्वन्तम्**=करते हुए उस प्रभु को हम **हवामहे**=पुकारते हैं, जिससे **अवसे**=हम भी उस प्रभु के भाग का—दिव्यता के अंश का अपने में दोहन कर सकें (अव्=भागदुघे)।

एवं, वह जीवन जो प्रभु-कीर्तन के साथ क्रियामय बनता है, अवश्य सफल होता है। इसी प्रकार का जीवन बिताना ही बुद्धिमत्ता है।

इस मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि' बुद्धिमत्ता के मार्ग पर चल रहा है। यह एक दिन में ऐसा नहीं बन गया है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए इसका पूरा नाम 'मेधातिथि काण्व' है—कण-कण करके यह अपने में दिव्यता का संग्रह करनेवाला है। यह जीवन ही सुन्दर जीवन है।

भावार्थ—प्रभु-कीर्तन व क्रियाशीलता से हम अपने में दिव्यता का सम्पादन करें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सरलता के मार्ग से

२१८. ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयति विद्वान्। अर्यमा देवैः सजोषाः॥ ५॥

इस द्वन्द्वात्मक संसार में मनुष्य दो प्रकार के मार्गों से चल रहे हैं। एक मार्ग सरलता का मार्ग है और दूसरा कुटिलता का। कैवल्योपनिषत् के अनुसार **'सर्वं जिह्मं मृत्युपदं, आर्जवं ब्रह्मणः पदम्'**=कुटिलता मृत्यु का मार्ग है, और सरलता मोक्ष का। इस सरल मार्ग का संकेत ही प्रस्तुत मन्त्र में उपलभ्य है। गत मन्त्र में मेधातिथि ब्रह्म के कीर्तन से जीवन-यापन कर रहे थे। जो व्यक्ति ब्रह्मस्मरण के साथ क्रियाशील बनता है वह सरल मार्ग से ही गति करता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **नः**=हमें **वरुणः मित्रः अर्यमा**=वरुण, मित्र और अर्यमा **ऋजुनीती**=सरल मार्ग से **नयति**=ले-चलते हैं। वस्तुतः सरलता का मार्ग यह है कि वरुण, मित्र व अर्यमा के सिद्धान्त को जीवन का सूत्र बनाना। वरुण=पाशी व व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधने की देवता है। यही सब वैयक्तिक उन्नतियों का मूलाधार है। मित्र स्नेह की देवता है—'प्राणिमात्र से स्नेह करना—सभी में एकत्व देखना'। यह विश्वप्रेम आध्यात्मिक उन्नति का आधार है। अर्यमा दान की देवता है। हमारा जीवन दानशील हो। एवं वरुण, मित्र व अर्यमा ये तीन देव ही त्रिविध उन्नति का मूल बनकर हमारे जीवन को दिव्य बनाते हैं।

इन तीनों का विशेषण **विद्वान्** दिया गया है। विद्वान् का अर्थ है 'समझदार'। हमें व्रतों का ग्रहण समझदारी के साथ करना है। मूर्खता से हम शरीर को पीड़ित करते हुए व्रत लेते हैं और हानि उठाते हैं। मूर्खता से अपात्र में दान देकर हम तामस् दानी बनते हैं, और मूर्खता से स्नेह करते हुए हम ममत्व में फँसते हैं। हमारे तीनों देवता विद्वान् हों—अर्थात् हम तीनों सिद्धान्तों को समझदारी से जीवन में स्थान दें।

ये जीवन के तीनों सिद्धान्त **देवैः सजोषाः**=दिव्य गुणों के साथ समानरूप से प्रीति करते हुए हमारे कल्याण के साधक होते हैं। हम केवल व्रती न बनें, केवल दानी न बनें और केवल प्रेम करनेवाले न बनें। हमारे जीवन में तीनों सिद्धान्त सम्मिलित रूप से चलें। ऐसा होने पर ही हम इस मन्त्र के ऋषि 'गोतम'—प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बनेंगे तभी हम 'राहू-गण' त्यागशीलों में गिनती के योग्य समझे जाएँगे।

भावार्थ—हमारा जीवन व्रतमय, प्रेममय और त्यागमय हो।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सूर्य की भाँति

२१९. दूरादिहेव यत्सतोऽ रुणप्सुरशिश्वितत्। वि भानुं विश्वथातनत्॥ ६॥

इन्द्र इस मन्त्र का देवता है। इन्द्र नाम सूर्य का भी है और इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव का भी। सूर्य **अरुणप्सुः**=तेज को खानेवाला (प्सा भक्षणे), अर्थात् अत्यन्त तेजस्वी है। उदय होने पर सब तारों के व ज्योतिष्पिण्डों के तेज को मानो वह खा जाता है। **यत्**=यह सूर्य **दूरात् इह इव**=दूर से भी यहाँ की भाँति **सतः**=सब सत्तावाले पदार्थों को **अशिश्वितत्**=श्वेत कर देता है—चमका देता है। यह सूर्य अपनी **भानुम्**=किरणों को—प्रकाश को **विश्वधा**=चारों ओर **वि अतनत्**=फैला देता है। १. सूर्य यहाँ से १५ करोड़ किलोमीटर दूर है, परन्तु दूरी का ध्यान न करता हुआ **इह इव**=यहाँ की ही भाँति—मानो समीप ही हो इस प्रकार वह प्रकाश प्राप्त कराता है। इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को भी अपने प्रकाश-विस्तार के महान् कार्य में कभी किसी को अपने से दूर नहीं मानना। वह लोकहित के कार्य में सभी को अपना परिवार ही समझे। '**अयुतोऽहम्**'='मैं अपृथक् हूँ' यह उसकी भावना हो। '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' सारी पृथिवी उसका कुटुम्ब हो। २. **सतः**=सूर्य विद्यमान पदार्थमात्र को चमका देता है। इसी प्रकार इसके सत्सङ्ग में सभी का अव्याहत प्रवेश हो, तथाकथित दलित व अछूत न आ सकें, ऐसी बात न हो। यह सभी को ज्ञान देना अपना कर्त्तव्य समझे। ३. सूर्य अपने प्रकाश को सीधी किरणों के रूप में, तिरछी किरणों के रूप में, मृदुरूप में व प्रखररूप में सब प्रकार से फैलाता है, उसकी सब किरणें प्राणशक्ति देनेवाली होती हैं, इसी प्रकार यह इन्द्र भी सीधे शब्दों में व दृष्टान्तों के द्वारा, कभी मृदु शब्दों में और कभी तेजस्वी शब्दों में ज्ञान को फैलाने का कार्य किया करता है।

परन्तु यह सब-कुछ वह कर तभी सकेगा यदि वह 'अरुणप्सु' बनेगा। तेज का—तेजस्वी ज्ञान का—भक्षण करनेवाला बनेगा। 'ब्रह्मचर्य' की मूल भावना ज्ञान का भक्षण ही है। ग्रन्थों को निगलकर मनन करनेवाले व्यक्ति 'अरुणप्सु' बना करते हैं। ये अरुणप्सु ही सूर्य की भाँति प्रकाश फैलानेवाले होते हैं। ये स्वयं ब्रह्मातिथि ज्ञान की ओर चलनेवाले होते हैं तभी औरों को ज्ञान दे पाते हैं। कण-कण करके इन्होंने ज्ञान का संचय किया है, अतः ये 'काण्व' हैं। ये अपने ज्ञानकणों को औरों को भी प्राप्त करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम अरुणप्सु बनें और अपने ज्ञान के अरुण प्रकाश को चारों ओर फैलाएँ।

ऋषिः—विश्वामित्रो गाथिनो जमदग्निर्वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

घृत व मधु से सेचन

२२०. आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्। मध्वा रजांसि सुक्रतू॥ ७॥

नः=हमारे **गव्यूतिम्**=(गो-यूतिम्) गौओं के प्रचारण क्षेत्र को, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञान-प्राप्ति के विषय को **मित्रावरुणा**=हे प्राणापानो! **घृतैः**=ज्ञान-दीप्तियों और नैर्मल्य से **आ उक्षतम्**=खूब सींच दो। हे **सुक्रतू**=उत्तम कर्मोंवाले प्राणापानो! **रजांसि**=हमारी कर्मेन्द्रियों को **मध्वा**=मधु से सींच डालो।

मनुष्य की इस जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए प्रभु ने पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ दी हैं, संसार में

पाँच ही विषय हैं—संसार पञ्चभौतिक ही तो है। कर्म भी दार्शनिकों से पञ्चविध माना गया है, अतः कर्मेन्द्रियों की संख्या भी पाँच है। इन ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का स्वास्थ्य प्राणापान के स्वास्थ्य पर निर्भर है। प्राणापान ठीक हों तो ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान से दीप्त व निर्मल रहती हैं और कर्मेन्द्रियों में माधुर्य बना रहता है। ज्ञानेन्द्रियों में घृत का सेचन और कर्मेन्द्रियों में माधुर्य का सेचन प्राणापान से ही होता है। मित्रावरुण हमारे ज्ञान व कर्मों को क्रमशः दीप्त व मधुर बनाएँगे। वरुण अपान है, वह सब दोषों को दूर करके हमारे ज्ञान को निर्मल करेगा और मित्र प्राण है, यह हमारे कर्मों को शक्तिशाली बनाता हुआ उनमें स्नेह का संचार करेगा।

संक्षेप में, प्राणापान की साधना से हम दीप्त ज्ञानवाले बनकर इस मन्त्र के ऋषि **'जमदग्नि'**=प्रज्वलित ज्ञानाग्निवाले बनेंगे तथा यही साधना हमें मधुर कर्मोंवाला बनाकर इस मन्त्र का ऋषि **'विश्वामित्र'**=सभी के साथ स्नेह करनेवाला बनाएगी। ये दोनों बातें मिलकर हमें **'गाथिन'**=प्रभु का सच्चा स्तोता बना रही होंगी। प्रभु का ठीक गायन यही है कि हम दीप्त ज्ञानवाले और मधुर कर्मोंवाले बनें।

भावार्थ—हम प्राणायाम द्वारा प्राणों को वश में करें, इस प्रकार बुद्धि को तीव्र करें और कर्मों को पवित्र व मधुर बनाएँ।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु की ओर

२ ३ २ ३२ ३ २३ १ २ ३१ २ ३ १ २ ३ १ २र
२२१. उदु त्ये सूनवो गिरः काष्ठा यज्ञेष्वत्नत। वाश्रा अभिज्ञु यातवे ॥ ८ ॥

त्ये=वे—गत मन्त्र की भावना के अनुसार प्राणापान की साधना करनेवाले **उत्** उ=प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठकर **यातवे**=प्रभु की ओर जाने के लिए यत्नशील होते हैं। आत्मा चतुष्पात् है। तीन पग चल चुकने पर, चौथे पग में हम प्रभु को पा लेते हैं। संसार के भोगों में उलझ जानेपर मनुष्य इन पगों को नहीं उठा पाता।

बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम भोगों में न फँसकर आगे और आगे बढ़ने का ध्यान करें। ऐसा करनेवाला ही समझदार है—'प्रस्कण्व'=मेधावी है। यह प्रस्कण्व ही इस मन्त्र का ऋषि है। कण-कण करके मेधा का संचय करने के कारण यह काण्व है। इससे उठाये जानेवाले तीन पग इस प्रकार हैं—

१. यह प्रस्कण्व **गिरः**=वेदवाणियों को **सूनवः**=उत्पन्न करनेवाले होते हैं। प्रस्कण्व अपने को ज्ञान से परिपूर्ण कर लेता है तो उससे ज्ञानमय वाणियों का प्रवाह फूटने लगता है। यही ज्ञानकाण्ड का स्वीकार है।

२. **काष्ठाः यज्ञेषु अत्नत**=ये प्रस्कण्व सदा यज्ञों में समिधाओं का विस्तार करते हैं। इनका जीवन यज्ञमय होता है। **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**=यज्ञ ही सर्वोत्तम कर्म है। इनका मस्तिष्क ज्ञानकाण्ड का स्वीकार करता है तो इनके हाथ कर्मकाण्ड का। उत्तम कर्मों में व्याप्त रहकर ये अपने जीवन को विषयों का शिकार होने से बचा लेते हैं।

३. इसके बाद ये प्रस्कण्व **अभिज्ञु**=अभिगतजानु होकर—नमस् के आसन पर बैठकर **वाश्राः**=अपनी प्रार्थनाओं को उस प्रभु के प्रति उच्चारित करते हैं (वाश्=शब्द=voice)। इनका हृदय भक्ति-भावना से ओत-प्रोत होता है और ये अपने स्तुति-वचनों से प्रभु-महिमा के गीत गाते हैं। यह प्रभु-सम्पर्क उन्हें शक्तिशाली बनाता है और ये संसार के उथल-पुथल

में कभी क्षुब्ध नहीं होते। यही उपासनाकाण्ड के स्वीकार का परिणाम है।

एवं, प्रस्कण्व उस प्रभु की प्राप्ति के लिए आगे और आगे बढ़ता हुआ 'ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड व उपासनाकाण्ड' रूप तीन पगों को रखता है। चौथे पग में तो प्रभु को पा ही लेता है।

भावार्थ—हमारा जीवन ज्ञानमय, कर्ममय व भक्तिमय हो।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कहीं हम केवल कूड़ा तो जमा नहीं कर रहे?

२२२. इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढमस्य पाँसुले॥ १॥

इस मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि काण्व' **इदं त्रेधा पदम्**=गत मन्त्र में वर्णित तीन प्रकार से पग **निदधे**=रखता है। ये तीन पग मस्तिष्क में ज्ञानकाण्ड को भरना, भुजाओं में कर्मकाण्ड को भरना और अभिगतजानु होकर हृदय में उपासना की भावना को भरना थे। यदि यह ऐसा न करके केवल ज्ञान को अपना ध्येय बनाता तो इसकी यह उन्नति अधूरी होती। इसी प्रकार केवल कर्म व केवल उपासना को अपनानेवाले व्यक्ति भी अपूर्ण विकासवाले होते हैं। ठीक विकास तो उसी का हुआ जिसने कि शरीर, मन व बुद्धि अथवा कर्म, श्रद्धा व ज्ञान तीनों को अपना ध्येय बनाया। वस्तुतः इसी ने **विचक्रमे**=विशेष पुरुषार्थ किया—व्यापक उन्नति की। इस व्यापक उन्नति को करने के कारण यह **विष्णुः**=(विषॢ=व्याप्तौ) विष्णु नामवाला हुआ।

इस संसार में मनुष्य जब केवल ज्ञान को अपनाता है तो वैज्ञानिकों की भाँति ऐसे अस्त्र बनाता है, जो संसार का विनाश कर दें। यह कूड़े के ढेर को ही तो जुटाना है। जो व्यक्ति केवल कर्मकाण्ड का उपासक बन यज्ञों को ही महत्त्व देता है, वह अभिचार यज्ञों को करने में लगता है। ये भी तो यज्ञों का मल ही हैं। केवल श्रद्धा व उपासना के मार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति परमेश्वर के नाम पर दूसरे का खून करते हैं। इन्होंने भी प्रेम को न अपनाकर द्वेष को अपनाया, इस प्रकार इनके भी भाग में कूड़े का ही जमा करना रहा। वस्तुतः इस **पांसुले**=धूल को ही अपनानेवाले लोगों से भरे संसार में **अस्य**=इस व्यापक उन्नति करनेवाले विष्णु ने ही **सम् ऊढम्**=प्रभु की आज्ञा को सम्यक् शिरोधार्य किया और जीवन-यात्रा का ठीक निर्वहण किया। वस्तुतः यही मेधया अतति=बुद्धिमत्ता से चला, अतः इसका नाम मेधातिथि है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—इस संसार में हम धूल जमा करनेवाले ही न बने रहें।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—**मेधातिथिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु दे रहे हैं, पी तो सही

२२३. अतीहि मन्युषाविणं सुषुवांसमुपेरय। अस्य रातौ सुतं पिब॥ १॥

गत मन्त्र में तीन पगों के रखने का उल्लेख था। उन पगों को रखते हुए कितने ही विघ्न उपस्थित होते हैं, कितनी ही बार असफलता का मुख देखना पड़ता है। यदि इस व्यक्ति को कोई उत्साहित न कर निरन्तर निरुत्साहित करेगा, तब यह कभी भी संसार में सफल न हो सकेगा, इसीलिए मन्त्र में कहते हैं कि **मन्युषाविणम्**=(मन्यु=शोक) शोक, दुःख व निराशा

के बीजों को बोनेवाले व्यक्ति को **अति-इहि**=लाँघ जा। ऐसे व्यक्तियों के समीप मत उठ-बैठ। **सुषुवांसम्**=सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाले के **उप**=समीप **ईरय**=गति कर। संसार में निरुत्साहित करनेवाले व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर किसी ने सफलता प्राप्त नहीं की, इसलिए उत्साह बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि हमारा सम्पर्क निराशावादियों से न होकर सदा आशावादियों से रहे। आशावाद में भरे हुए मनुष्य को चाहिए कि **अस्य**=प्रभु की **रातौ**=देनों के होने पर **सुतम्**=शक्ति व ज्ञान का **पिब**=पान करे। प्रभु तुझे ज्ञान दे रहे हैं, तू उस ज्ञान को पी। प्रभु ने आहार से वीर्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया से शक्ति दी है—तू उसे अपने में सुरक्षित कर। मनुष्य निरुत्साहित न हो, ज्ञान का संचय करता चले और शक्ति को अपने में भरता चले तो वह उल्लिखित तीनों पगों को रखने में अवश्य समर्थ होगा।

भावार्थ—आशावादियों के सम्पर्क में चलो, ज्ञान व शक्ति का संचय करो। यही मेधातिथि का मार्ग है।

ऋषिः—**वामदेवो गोतमः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

यही वचन उसे बढ़ानेवाला है

२२४. कदु प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते। तदिद्ध्यस्य वर्धनम्॥ २॥

'वामदेव गोतम'=सुन्दर दिव्य गुणों और प्रशस्त इन्द्रियोंवाला इस मन्त्र का ऋषि कहता है कि देव के लिए **वचः**=स्तुतिवचन **शस्यते**=कहा जाता है। हम प्रभु की स्तुति करते हैं। किस प्रभु की? १. **प्रचेतसे**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले प्रभु की। **'तन्निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'** ज्ञान की पराकाष्ठा ही तो प्रभु है। २. **महे**=वह प्रभु महान् हैं। ऊँचे-से-ऊँचा मनुष्य भी ९९ बार क्षमा करके सौवीं बार दण्ड ही देता है, परन्तु प्रभु तो **'अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति'**=अपने न माननेवालों का भी पालन करते हैं। वहाँ राग-द्वेष का काम नहीं। ३. **देवाय**=प्रभु दिव्य गुणों से युक्त हैं। उनके सभी कर्म भी दिव्य हैं। देवमनोवृत्ति देने की ही होती है। प्रभु ने तो अपने को भी दिया हुआ है (य आत्मदा)। वे जीवहित के लिए ही सृष्टि का निर्माण करते हैं।

इस प्रभु के लिए स्तुतिवचन उच्चारण करनेवाले के लिए ये वचन **कत् उ**=निश्चय से सुखों का विस्तार करनेवाले होते हैं (कं तनोति इति कत्), क्योंकि इनसे उसका जीवन ऊँचा उठता है। **तत् इत् हि**=यह वचन निश्चय से **अस्य**=इस स्तोता का **वर्धनम्**=बढ़ानेवाला होता है। उसके सामने ये स्तुतिवचन लक्ष्य दृष्टि को पैदा करते हैं और उसे अपनी गति में तीव्रता लाने के लिए प्रेरणा देते हैं। इस स्तोता को ध्यान आता है कि मुझे भी ज्ञानी, महान् व देव बनना है। एवं, यह स्तोता प्रभु-स्तवन करता हुआ तीनों पगों को उत्साहपूर्वक रखता है और उन्नत होते-होते 'वामदेव गोतम' बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु के आदर्श को सामने रखकर मैं भी प्रचेताः, महान् व देव बनूँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अगोरयि न बनें

२२५. उक्थं च न शस्यमानं नागोरयिरा चिकेत। न गायत्रं गीयमानम्॥ ३॥

ऋग्वेद के मन्त्र प्रकृति के पदार्थों का ज्ञान देते हैं। ऋचा का अर्थ (ऋच् स्तुतौ) पदार्थों

के गुण-धर्मों का वर्णन करना है। प्रकृति के पदार्थों का वर्णन करती हुई ये ऋचाएँ जब उन प्राकृतिक पदार्थों में प्रभु के माहात्म्य का दर्शन करने लगती हैं तब ये 'उक्थ' कहलाती हैं।

प्रस्तुत मन्त्र में शंस का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, परन्तु 'शस्यमानं' क्रिया के द्वारा उसका संकेत हो रहा है। यजुर्मन्त्र जीवों के कर्त्तव्यों का मुख्यरूप से वर्णन करते हैं, परन्तु उन कर्त्तव्यों के अन्दर भी जब हम जीवों की परस्पर सम्बद्धता (Interlinking) देखते हैं तो प्रभु का अद्भुत रचना-कौशल हमें प्रभु की ओर प्रेरित करता है और ये यजुर्मन्त्र 'शंस'=प्रभु की महिमा का शंसन करनेवाले हो जाते हैं।

साम के मन्त्र उपासनापरक हैं। जब जीव भक्ति के उत्कर्ष में उसका गायन करने लगता है तब वे 'गायत्र' कहलाते हैं। गायन करनेवाले का ये त्राण करते हैं।

इन **उक्थम्**=उक्थों को और **शस्यमानम्**=शंसों को **चन**=भी **अगोरयिः**=जो ज्ञान-धन से रहित है वह **न अचिकेत**=नहीं समझता है। उक्थों व शंसों के द्वारा स्तवन ज्ञानी ही कर पाता है। अज्ञानी ने पदार्थों की रचना में कर्त्ता की कुशलता को क्या देखना? और जीवों की परस्पर सम्बद्धता के सौन्दर्य को भी क्या समझना?

यह अगोरयि **गीयमानम्**=गाये जाते हुए **गायत्रम्**=गायत्र को भी **न अचिकेत**=नहीं समझता है। ज्ञानी पुरुष ही प्रभु की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, दयालुता आदि गुणों के प्रकर्ष से प्रभावित हो प्रभु की महिमा का गायन करता है।

हम भी 'गोरयि'=ज्ञान के धनवाले बनकर प्रभु के उक्थों, शंसों व गायत्रों का उच्चारण करें, जिससे वे हमारे वर्धन का कारण बनें।

यह ज्ञानी सदा ज्ञान के मार्ग पर चलता हुआ कण-कण का संचय करके ही तो ऐसा बना है, अतः (मेधाम् अतति) 'मेधातिथि काण्व' है। ज्ञान व बुद्धि का प्यारा होने से यह 'प्रियमेध' है। व्यसनों में न फँसने के कारण 'आङ्गिरस' है।

भावार्थ—हम ज्ञानधनी बनकर प्रभु के ज्ञानी-भक्त बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रो गाथिनः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सभी का मित्र

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २
२२६. इन्द्र उक्थेभिर्मन्दिष्ठो वाजानां च वाजपतिः। हरिवान्त्सुतानां सखा॥ ४॥

इन्द्रः=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव १. **उक्थेभिः**=स्तोत्रों से **मन्दिष्ठः**=उत्कृष्ट आनन्द लेनेवाला होता है। उसे प्रभु की स्तुति में आनन्द आता है। **वाजानां च वाजपतिः**=ज्ञान, शक्ति व त्याग का वह पति बनता है। उसका मस्तिष्क ज्ञान से, भुजा शक्ति से और मन त्याग की भावना से भरा होता है। वह तीनों ही पगों को उठाता है। वह विष्णु है।

इस प्रकार अपने जीवन को उत्तम बनाकर यह **हरिवान्**=औरों के दुःखों का हरण करनेवाला होता है (हृ=हरण=दूर करना)। दुःखहरण की प्रक्रिया में वह **सुतानां सखा**=उत्पन्न प्राणिमात्र का मित्र होता है। यह 'किसी एक समाज का हित करे' ऐसी भावना इसके अन्दर नहीं होती।

यह 'विश्वामित्र' है—सारे संसार के साथ स्नेह करनेवाला है। प्राणिमात्र के साथ स्नेह करना ही सच्ची प्रभुभक्ति है, अतः यही 'गाथिनः' प्रभु के गुणों का गान करनेवाला, प्रभु

को प्राणों के तुल्य प्रिय होता है।

एवं, इस 'विश्वामित्र गाथिन' का निजू जीवन—स्तोत्रों में आनन्द लेना तथा ज्ञान, शक्ति व त्याग की साधना करना है और सामाजिक जीवन—औरों के दुःख हरना व सभी से प्रेम रखना है।

भावार्थ—हम सब प्रभु-कीर्तन में आनन्द लें, ज्ञान, शक्ति व त्याग की साधना करें, औरों के दुःखों का हरण करें व सभी से प्रेम से बरतें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु इन्द्र से कहते हैं—क्रोध न करना

२२७. आ याह्युप नः सुतं वाजेभिर्मा हृणीयथाः। महाँइव युवजानिः॥ ५॥

आयाहि=प्रभु इन्द्र से कहते हैं कि तू अपने जीवन की साधना के लिए शान्त, एकान्त पर्वतो की कन्दराओं की ओर न जा, अपितु उन कन्दराओं में साधना करके **नः**=हमारे **सुतम्**=उत्पादित इस अशान्त व अज्ञान से पीड़ित जगत् के **उप**=समीप आ। इन्हें उपदेशामृत से शान्ति का लाभ करा। मनुष्य का आदर्श संसार से भागकर शान्ति-लाभ करना नहीं है, अशान्त संसार में शान्त बने रहना है।

संसार में उपदेशामृत वर्षण के लिए **वाजेभिः**=ज्ञान, शक्ति व त्याग की भावना से भरपूर होकर आना। ज्ञान न होने पर तू औरों को उपदेश ही क्या देगा? शक्ति के अभाव में तू प्रचार-कार्य न कर पाएगा। इन दोनों से बढ़कर त्याग की भावना की आवश्यकता है। इसके बिना संसार में कभी भी कोई लोकहित का कार्य नहीं हुआ।

मा हृणीयथाः=क्रोध न करना। लोकहित का कार्य करते हुए तुझे विचित्र अनुभव होंगे। जिनका तू भला कर रहा है वे तुझपर क्रोध करेंगे, गाली देंगे, परन्तु तुझे उनपर क्रोध नहीं करना।

एक विकृत मनवाला, अपने को स्वामी व बड़ा समझनेवाला युवक अपनी युवति पत्नी पर व्यर्थ में क्रोध करता है, परन्तु **महान्**=एक महान्=ऊँचे घरानेवाला कुलीन, महामना—उदार मनवाला **युवजानिः**=युवति पत्नीवाला **इव**=जैसे कभी क्रोध नहीं करता, इसी प्रकार तुझे भी क्रोध नहीं करना। अनुभवशून्य यह सारा संसार तेरी युवति जाया के ही समान है—उसे सिखाना, उसपर क्रोध न करना। तू पति है—रक्षक है न कि स्वामी। तू Husband=घर को बाँधनेवाला, अर्थात् घर के अन्दर टूट-फूट पैदा न होने देनेवाला है, नकि घर को तोड़नेवाला, अतः इस प्रजा पर क्रोध न करना।

यही मेधातिथि काण्व=समझदार व्यक्ति का मार्ग है। यही व्यक्ति प्रियमेध=ज्ञान के साथ प्रेम करनेवाला है और आङ्गिरस=शक्तिशाली बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु के आदेश के अनुसार परिव्राजक बन लोकहित में प्रवृत्त हों।

नोट—*यहाँ भ्रमवश 'अनमेल विवाह' की गन्ध प्रतीत होती है। वह इसलिए कि 'महान्' का अर्थ 'बड़ी उम्रवाला' करने की परिपाटी है, परन्तु महान् का अर्थ—'उदारमना' उच्च विचारोंवाला व कुलीन, बड़े घरानेवाला करना ही ठीक है। उपमा से प्रभु ने कितना सुन्दर उपदेश दिया है कि कुलीन, उदारमना व्यक्ति अपनी युवा पत्नियों पर क्रोध नहीं किया करते।*

जब सखा बने तब क्रोध का क्या काम?

ऋषिः—कौत्सो दुर्मित्रः सुमित्रो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्राणायाम के तीन लाभ

२२८. कदा वसो स्तोत्रं हर्यत आ अव श्मशा रुधद्वाः। दीर्घं सुतं वाताप्याय॥ ६॥

इस मन्त्र का ऋषि 'दुर्मित्र कौत्स' है। 'कुथ हिंसायाम्' धातु से कौत्स शब्द बना है, यह 'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर' इन छह शत्रुओं का संहार करता है, अतः कौत्स है। 'दुर्मित्र' की भावना यही है कि यह पापों व अपमृत्युओं से अपनी रक्षा करता है। काम-क्रोधादि का संहार करके ही तो वह ऐसा कर पाता है। इस दुर्मित्र कौत्स से प्रभु कहते हैं कि—१. **वसो**=हे उत्तम निवासवाले जीव! तेरे जीवन में **कदा**=कब **स्तोत्रम्**=प्रभु का स्तवन **हर्यते**=तेरी अन्तिम गति व तेरे काम्य प्रभु के लिए होगा, अर्थात् वह दिन कब आएगा जब तू काम-क्रोधादि में न उलझकर, उत्तम जीवनवाला बनकर मेरा स्तवन कर रहा होगा, जो मैं तेरी अन्तिम गति हूँ और तुझसे काम्य हूँ। मुझे प्राप्त कर, तू सभी कुछ प्राप्त कर लेता है। २. **कदा**=कब **श्मशा**=शरीर में जाल की तरह बिछी हुई ये नसें **आ**=सर्वथा **वाः**=वीर्यशक्ति को **अवरुधत्**=अपने में रोकेंगी? श्मशा शब्द यास्क ने कुल्या का पर्याय माना है। कुल्या नहर है, नस-नाड़ियाँ भी शरीर की कुल्याएँ हैं। इनके अन्दर बहनेवाले रुधिर में वीर्य उसी प्रकार व्याप्त होता है, जैसे दूध में घृत। मन में जब किसी प्रकार के कुविचारों का मन्थन चलता है तब यह वीर्य रुधिर से उसी प्रकार अलग हो जाता है, जिस प्रकार दूध से घृत (दही से मक्खन)। इस वीर्य के अलग होने पर रुधिर उतना ही अशक्त हो जाता है, जितना सपरेटा। न तो मनुष्य पूर्णरूपेण स्वस्थ रह पाता है और न ही उसका मस्तिष्क कोई गम्भीर अध्ययन कर पाता है। ३. अब प्रभु जीव से कहते हैं **दीर्घं सुतम्**=अन्धकार का विदारण करनेवाला (दॄ विदारणे) ज्ञान तुझे **कदा**=कब प्राप्त होगा। ज्ञान ही वासनान्धकार को विलीन करनेवाला होता है।

एवं, प्रभु हमसे तीन बातें चाहते हैं १. हमारा झुकाव प्रकृति के भोगों की ओर न हो, हम प्रभु-स्तवन करनेवाले बनें, २. हम वीर्य का संयम करें और ३. हम अपने अन्दर ज्ञान-सूर्य का उदय करें। ये तीनों बातें कैसे होंगी?' इसके लिए मन्त्र के अन्तिम सम्बोधन में संकेत उपलभ्य है। **वाताप्याय**=हे वात को—अपने प्राणों को—आप्यायित=वृद्ध करनेवाले जीव! इस सम्बोधन के द्वारा प्रभु कह रहे हैं कि प्राणों की साधना करो—प्राणायाम करने पर मन्त्रनिर्दिष्ट तीनों ही बातें तुम्हारे जीवन में आ जाएँगी। निरुद्ध वीर्यशक्ति शरीर को नीरोग बनाएगी, मन को प्रभु-प्रवण और मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञान-सूर्य से दीप्त।

भावार्थ—हम प्राणायाम द्वारा शरीर को नीरोग, मन को पवित्र व ज्ञान को दीप्त बनाएँ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

आचार्य-शिष्य का सम्बन्ध

२२९. ब्राह्मणादिन्द्र राधसः पिबा सोममृतूँरनु। तवेदं सख्यमस्तृतम्॥ ७॥

गत मन्त्र की समाप्ति पर 'दीर्घं सुतम्'=अज्ञानान्धकार के नाशक ज्ञान का उल्लेख हुआ

है, 'यह ज्ञान कैसे प्राप्त होगा' इस बात का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में है। जीव का ज्ञान नैमित्तिक है। प्रभु का ज्ञान स्वाभाविक है—सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु श्रेष्ठ, निर्दोष हृदयोंवाले 'अग्नि, वायु आदित्य, अङ्गिरा' ऋषियों को वेदज्ञान देते हैं। इस वेदज्ञान को अग्नि आदि से अन्य ऋषि प्राप्त करते हैं—उनसे अगले, और वे अगलों को ज्ञान देते हैं। इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा से ज्ञान प्राप्त होता है। १. गुरु कैसे होने चाहिए? २. शिष्य का क्या कर्त्तव्य है? ३. और ज्ञान-प्राप्ति का क्या नियम है? इन विषयों का प्रस्तुत मन्त्र में विचार है।

गुरु—गुरु के गुणों का उल्लेख करनेवाले शब्द **ब्राह्मणात्** और **राधसः** हैं। १. **ब्राह्मणात्**=ब्राह्मण से, ब्रह्मवेत्ता से। जिसने अपरा विद्या के अध्ययन के अनन्तर पराविद्या भी पढ़ी हो उस आचार्य से विद्यार्थी को ज्ञान प्राप्त करना है। आचार्य को ज्ञान का समुद्र होना चाहिए। सभी विद्याओं का पारङ्गत आचार्य ही विद्यार्थी की श्रद्धा का आधार हो सकता है। वही स्वयं अग्निरूप होता हुआ विद्यार्थी में ज्ञानाग्नि को समिद्ध कर सकता है। २. **राधसः**=(राध=सिद्धि) सिद्धि को प्राप्त गुरु से। गुरु साधना को बहुत कुछ पूर्ण करके मन को वश में कर चुके हों, तभी वे विद्यार्थियों के आचार का निर्माण कर सकते हैं। एवं, आचार्य का मस्तिष्क ज्ञान से दीप्त हो और मन वशीभूत होने से निर्मल हो।

शिष्य—ऐसे आचार्य से हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **सोमं पिब**=ज्ञान का पान कर। १. जो शिष्य इन्द्र=इन्द्रियों का अधिष्ठाता न होगा, वह ज्ञान को ठीक प्रकार से प्राप्त न कर सकेगा। ज्ञान तभी प्राप्त होता है, जब वह केवल विद्या का ही अर्थी हो। २. शिष्य के लिए दूसरा नियम यह है कि वह नियमपूर्वक विद्या का अध्ययन करे। मन्त्र में 'ब्राह्मणात्' यह पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग इस नियमपूर्वक विद्याग्रहण का संकेत करता है। नियमपूर्वक विद्याग्रहण में ही 'आख्यातोपयोगे' सूत्र से पञ्चमी विभक्ति आती है। यह भावना स्पष्ट शब्दों में भी **ऋतून् अनु**=शब्दों से व्यक्त हुई है। ऋतुएँ जैसे नियमित गति से आगे और आगे चल रही हैं उसी प्रकार विद्यार्थी को नियमित गति से अध्ययन करना चाहिए। 'ऋतु' शब्द नियमित गति का प्रतीक है। नियमित गति के बिना अध्ययन हो ही नहीं पाता।

अविच्छिन्नता से—हे शिष्य **तव**=तेरा **इदम्**=यह **सख्यम्**=आचार्य के साथ ज्ञान-प्राप्ति के लिए हुआ-हुआ सम्बन्ध **अस्तृतम्**=अविच्छिन्न हो। तू सदा आचार्य के समीप रहकर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाला हो। तू 'अन्तेवासी' बन।

इस प्रकार विद्वान् एवं धार्मिक आचार्य के समीप रहकर नियम से ज्ञान प्राप्त करनेवाला जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी इस मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि'=निरन्तर ज्ञान की ओर चलनेवाला बनता है। कण-कण करके ज्ञान प्राप्त कर यह 'काण्व' बन जाता है।

भावार्थ—आचार्य और विद्यार्थी का अविच्छिन्न सम्बन्ध ज्ञान की ज्योति को जगानेवाला हो।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्र व उपेन्द्र शब्द

२३०. व॒यं घा॑ ते॒ अपि॑ स्मसि स्तो॒तार॑ इन्द्र गिर्वणः। त्वं नो॑ जिन्व सोमपाः॥ ८॥

प्रभु इन्द्र हैं तो जीव उपेन्द्र है। उपेन्द्र इन्द्र से कहता है कि **वयम्**=(वेञ् तन्तुसन्ताने)

कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले हम **घ**=निश्चय से **ते**=तेरे **अपि**=ही **स्मसि**=हैं, अर्थात् कर्मों को करते हुए हम तेरा भी स्मरण करते हैं। तेरे स्मरण के साथ अपने कार्यों को करते हुए हम तेरे **स्तोतारः**=स्तुति करनेवाले हैं। हे **इन्द्र**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभो! आप **गिर्वणः**=वेदवाणियों से स्तवन करने योग्य हैं। इस प्रकार जीव प्रभु से संकेतरूप में कहता है कि मैंने अपने जीवन में यथासम्भव कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड व ज्ञानकाण्ड को ही स्थान दिया है।

अब प्रभु जीव से कहते हैं कि **त्वम्**=तू **नः**=हमें **सोमपाः**=सोम का पान करनेवाला बनकर **जिन्व**=प्रीणत कर। जो सुचरितों से पिता को प्रीणत करे पुत्र तो वही है, अत: यहाँ भी हम अपने पिता उस प्रभु को अपने उत्तम कार्यों से ही प्रसन्न कर सकते हैं। यहाँ उन सब उत्तम कर्मों का संकेत 'सोमपा:' शब्द से हुआ है। ये कार्य क्रमश: १. सोम=Semen=Vitality की रक्षा करना, २. सौम्यता का धारण करना, ३. और मस्तिष्क को सोम=ज्ञान से परिपूर्ण करना है। सोम शब्द के तीनों अर्थ हैं—१. वीर्य २. सौम्यता और ३. ज्ञान। प्राणमयकोश में वीर्य का, मनोमयकोश में सौम्यता का और विज्ञानमयकोश में ज्ञान का पान करके प्रभु को प्रीणत करता हुआ जीव सचमुच उपेन्द्र बन जाता है।

भावार्थ—हम सोमपान द्वारा प्रभु को प्रीणत करें।

ऋषि:—**विश्वामित्रो गाथिनोऽभीपाद् उदलो वा**।। देवता—**इन्द्रः**।। छन्द:—**गायत्री**।। स्वर:—**षड्जः**।।

शक्ति का संचार करना

२३१. एन्द्र पृक्षु कासु चिन्नृम्णं तनूषु धेहि नः। सत्राजिदुग्र पौंस्यम्॥ ९॥

प्रभु जीव से कह रहे हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **आ**=अपने चारों ओर **पृक्षु**=तेरे सम्पर्क में आनेवाले (पृची सम्पर्के) **कासुचित्**=जो कोई भी हों, उनमें बिना रूप-रङ्ग का भेद किये, बिना किसी जाति के भेद के **नः तनूषु**=हमारे सभी शरीरों में **नृम्णम्**=बल को **धेहि**=रख। मैं सब भूतों में समानरूप से निवास कर रहा हूँ। सभी शरीर मेरे ही रूप हैं, यह समझ सभी को बल व उत्साहयुक्त करने का ध्यान करना और सभी के अन्दर आशावाद का संचार करना। तू लोगों के अन्दर उस शक्ति का संचार करना जो **पौंस्यम्**=पुरुषार्थ व पवित्रता को उत्पन्न करनेवाली हो, जो उन्हें पुमान् न कि नपुंसक बनाती है और (पूञ् पवने)—उन्हें पवित्र बनाती है। प्रभु इन्द्र की केवल वैयक्तिक उन्नति से प्रसन्न नहीं होते, वे चाहते हैं कि जीव सोमपान द्वारा वैयक्तिक साधना करके लोकसंग्रह भी करे। संसार में आशावाद का संचार करे, लोगों को सत्कर्मों में प्रेरित करे।

परन्तु ऐसा वह कर कब पाएगा? तभी जबकि वह स्वयं **सत्राजित्**=सदा अपनी इन्द्रियों पर विजय पानेवाला होगा और **उग्र**=बड़ी उदात्तवृत्तिवाला (noble) होगा। स्वयं जितेन्द्रिय न होने पर वह अपने आप भी उत्साह-सम्पन्न न होगा, औरों को क्या उत्साहित करेगा? और यदि उसकी वृत्ति उदात्त न होगी तो वह सभी में प्रेम के साथ न विचर सकेगा।

सभी में प्रेम के साथ विचरनेवाला, यह उग्र सत्राजित् 'विश्वामित्र' है=सभी के साथ स्नेही। यह प्रभु का सच्चा उपासक है 'गाथिन:'। यह लोकहित के लिए सभी के प्रति जाता है—(अभिपद्यते), अत: 'अभीपाद्' है, तुच्छ भेदभावों से ऊपर उठकर (उत्) अपने को उत्कृष्ट गुणों से अलंकृत करनेवाला है, (अल् भूषणे) इसका नाम 'उदल' है।

भावार्थ—हम प्रभु के निर्देशानुसार लोगों में उत्साह का संचार करनेवाले बनें।

ऋषि:—श्रुतकक्ष आङ्गिरस:॥ देवता—इन्द्र:॥ छन्द:—गायत्री॥ स्वर:—षड्ज:॥

यह तेरी सफलता है (स्थितप्रज्ञ)

२३२. एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिर:। एवा ते राध्यं मन:॥ १०॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि यदि तू १. सोमपान करता है और २. सोमपान करके शक्तिशाली बनता है, मन में सौम्यता को धारण करता है और मस्तिष्क में ज्ञान को भरता है तथा ३. इस प्रकार वैयक्तिक उन्नति करके लोकसंग्रह के लिए लोगों में उत्साह भरता है तो **एव हि**=निश्चय से तू **वीरयु: असि**=वीरता के साथ मेलवाला है, अर्थात् वीर है **एव शूर:**=इसी प्रकार तू बुराइयों का संहार करनेवाला है, **उत**=और **स्थिर:**=स्थिर मनोवृत्तिवाला, अर्थात् स्थितप्रज्ञ है तथा **एव**=इसी प्रकार **ते**=तेरा **मन:**=मन **राध्यम्**=सदा सिद्ध करने योग्य है।

इस प्रकार प्रभु ने 'स्थितप्रज्ञ' का लक्षण दिया है जो स्वयं उन्नत होकर लोकों को उत्साहित करने में लगा रहता है।

यही व्यक्ति 'श्रुतकक्ष आङ्गिरस' है—ज्ञान की शरण में रहनेवाला, शक्तिशाली।

भावार्थ—हम वीर, शूर, स्थिर व सिद्ध मनवाले बनें।

नोट—*मन्त्र संख्या २३० के उत्तरार्ध से यदि मन्त्रों का व्याख्यान प्रभु का जीव के प्रति कथन के रूप में करें तो प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ बड़ा सङ्गत हो जाता है, परन्तु यदि उन्हें परमात्मापरक लगाया जाए तो प्रस्तुत मन्त्र व्यर्थ-सा प्रतीत होता है। 'इसी प्रकार तेरा मन राध्य=सिद्धि के योग्य है', यह वाक्य जीव के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है, परमात्मा के लिए नहीं।*

पञ्चमी दशति:

ऋषि:—वसिष्ठो मैत्रावरुणि:॥ देवता—इन्द्र:॥ छन्द:—बृहती॥ स्वर:—मध्यम:॥

स्वर्ग का दर्शन

२३३. अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धाइव धेनव:।
ईशानमस्य जगत: स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुष:॥ १॥

हे **शूर**=सब बुराइयों का संहार करनेवाले प्रभो! **त्वा अभि**=तेरी ओर आते हुए तेरी **नोनुम:**=खूब स्तुति करते हैं। जब मन खाली हो तो उसे प्रभु की नामस्मरणरूपी बल्ली पर चढ़ाओ व उतारो तब वह मन कभी तुम्हारा संहार न कर पाएगा। उस समय यह मन हमारा उत्तम मित्र होगा और हमारे मोक्ष का साधन बनेगा। प्रभु-नाम-स्मरण में व्याप्त मन हमारा मित्र है—खाली मन हमारा शत्रु है।

अदुग्धा: धेनव: इव=जो गौवें दुग्धदोह नहीं हो चुकीं, उनके समान। 'धेनु' नवसूतिका गौ है—जिसका यौवन प्रारम्भ हुआ है। उस धेनु के समान यौवन के प्रारम्भ में ही हम आपके स्तोता बनें। यदि यौवन में प्रभु-स्मरण से पृथक् न होंगे तो यौवन से भी पृथक् न होंगे।

आप **अस्य**=इस **जगत:**=जङ्गम जगत् के **ईशानम्**=ईशान हैं। हे **इन्द्र**=सर्वैश्वर्यवाले प्रभो! आप **तस्थुष:**=स्थावर जगत् के भी **ईशानम्**=ईशान हैं। उस स्वामी आपका हम ध्यान

करें। आपके ध्यान से ही हम भी संसार के दास न बनकर संसार के ईश होंगे। वस्तुतः इस प्रकार आप हमें दास के स्थान में स्वामी बनाकर **स्वर्दृशम्**=स्वर्ग का दर्शन कराते हैं। आपकी उपासना हमारे स्वर्ग का साधन बनती है। हम वसिष्ठ=उत्तम निवासवाले व वशियों में श्रेष्ठ बनते हैं। प्रभु की उपासना हमें सभी के साथ मित्रतावाली व राग-द्वेष से शून्य 'मैत्रावरुणि' बनाती है।

भावार्थ—हम यौवन में ही प्रभु के उपासक बनें। 'कर्म-उपासना-कर्म'-यह हमारे जीवन का क्रम हो। हमारे कर्मों के विच्छेद उपासनाओं से भरे हों।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त

२३४. त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः॥ २॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **वाजस्य सातौ**=शक्ति, त्याग व ज्ञान की प्रगति के निमित्त **त्वाम् इत् हि**=निश्चय से आपको ही **हवामहे**=पुकारते हैं। आपके उपासक बनने पर ही हमारे शरीर शक्ति-सम्पन्न, मन त्याग की भावना से परिपूर्ण तथा मस्तिष्क ज्ञानाग्नि से दीप्त होते हैं, आपकी कृपा से ही सब-कुछ होना है, परन्तु आपकी कृपा को वे ही प्राप्त करते हैं जो **कारवः**=क्रियाशील होते हैं। बिना क्रियाशीलता के कोई आपकी कृपा का पात्र नहीं बन पाता। 'कारु' उस व्यक्ति को कहते हैं जो बड़े कलापूर्ण ढङ्ग से क्रिया करता है। क्रिया को कुशलता से करना ही योग है, अतः योगी बनकर जो सदा क्रिया में लगा रहता है, वह प्रभु की प्रार्थना का अधिकारी होता है।

हे इन्द्र! **वृत्रेषु**=ज्ञान को आवृत करनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि शत्रुओं के प्रबल होने पर हम **त्वाम्**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं, क्योंकि आप **सत्पतिम्**=सयनों का पालन करनेवाले हैं, परन्तु हम कब आपको पुकारते हैं? जबकि **नरः**=हम 'ना' बनते हैं। 'ना' शब्द 'नृ नये' से बनता है और उस व्यक्ति का वाचक है जो अपने को सदा आगे और आगे प्राप्त कराने में लगा है। दूसरे शब्दों में जो स्वयं पुरुषार्थी है, वही उस प्रभु को पुकारने का अधिकार रखता है।

हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको **अर्वतः**=प्रयत्नों की (अर्व् गतौ) अथवा (अर्व=to kill) शत्रुओं के संहार की **काष्ठासु**=चरम सीमाओं पर पुकारते हैं। जब हम अपना पुरुषार्थ कर चुकते हैं और हममें और अधिक शक्ति शेष नहीं रहती, उसी समय हम आपकी सहायता की याचना करते हैं।

इस प्रकार इस मन्त्र में १. 'कारवः'=कलापूर्ण ढङ्ग से क्रिया करनेवाले, २. 'नर'=अपने को आगे और आगे प्राप्त करानेवाले तथा ३. अर्वतः 'काष्ठासु'=प्रयत्नों की चरम सीमा पर, इन तीन शब्दों से इस बात पर बल दिया गया है कि प्रार्थना के साथ पूर्ण पुरुषार्थ की आवश्यकता है। पुरुषार्थ करनेवाला यह व्यक्ति 'भरद्वाज'=अपने में शक्ति को भरनेवाला बनता है और ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करके बार्हस्पत्य होता है।

भावार्थ—हम सदा पुरुषार्थमय जीवन बिताते हुए प्रभु की प्रार्थना के अधिकारी बनें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

पापशून्य, पर्याप्त, प्रमोदमय धन

२३५. अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति॥ ३॥

गत मन्त्र में उपासक 'ज्ञान, शक्ति व त्याग' के लिए तथा वासनाओं पर विजय-प्राप्ति के लिए प्रभु को पुकारते हैं। वस्तुतः इस संसार में वह प्रभु ही हमें सिद्धि प्राप्त करानेवाले हैं। इस मन्त्र का ऋषि 'प्रस्कण्व'=अत्यन्त मेधावी अपने सब साथियों से यह रहस्य की बात कहता है कि **वः**=आप सबको **सुराधसम्**=उत्तम सफलता प्राप्त करानेवाले **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अभि**=जब-जब कार्यों से अवकाश मिले तब, अर्थात् चारों ओर से प्रभु की ओर आकर **प्र-अर्च**=खूब अर्चना करो। इस अर्चना से आपको **यथाविदे**=यथार्थ-ज्ञान प्राप्त होगा। वस्तुतः ज्ञान का स्रोत अन्दर से ही उमड़ता है। बाह्य ज्ञान उस अन्तःस्रोत को क्रियाशील बनाने में सहायक होता है, अतः उस प्रभु की अर्चना हमें यथार्थ ज्ञान प्राप्त कराएगी। **यः**=वे प्रभु **जरितृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **मघवा**=(मा-अघ) पापशून्य धनवाले हैं, **पुरूवसुः**=पालन और पूरण के लिए पर्याप्त धन देनेवाले हैं और **सहस्रेण इव**=आमोद के साथ सहस् **शिक्षति**=देते हैं। संक्षेप में प्रभु अपने भक्तों को पापशून्य, पालन-पूरण के लिए पर्याप्त, प्रमोदमय धन प्राप्त कराते हैं। प्रभु भक्तों को कभी खाने-पीने का कष्ट होता हो, ऐसी बात है नहीं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम अर्चना करनेवाले बनें, जिससे हमारा जीवन सफल, यथार्थज्ञानवाला, पापशून्य तथा पर्याप्त प्रमोदमय सम्पत्ति-सम्पन्न बने।

ऋषिः—**नोधा गोतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

गौएँ जिस प्रकार बछड़ों को

२३६. तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे॥ ४॥

इस मन्त्र का ऋषि 'नोधा गोतम'=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला है और नवधा=नवीन प्रकार से अपना धारण करनेवाला है। सामान्य प्रकार तो अपने मुख में आहुति देते हुए विचरनेवाले असुरों का है, विशेष प्रकार वह है जिसमें 'दूसरों को खिलाने द्वारा अपने को खिलाना'। यही वह नवीन धारण का प्रकार है, जिसके कारण इस मन्त्र का ऋषि 'नवधा' कहलाया है। नवधा की इन्द्रियाँ विषयाक्रान्त न होने से प्रशस्त बनी रहती हैं, अतः यह गोतम है। यह गोतम कहता है कि हममें धारण की यह नवीन वृत्ति बनी रहे—हम किसी को पराया समझें ही नहीं—अतः **तं इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **गीर्भिः**=वेदवाणियों से **नवामहे**=स्तुत करते हैं जो **वः दस्मम्**=तुम्हारे (दसु उपक्षये) शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं, **ऋतीषहम्**='काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर' नामक आक्रान्ताओं का पराभव करनेवाले हैं और साथ ही **वसोः अन्धसः मन्दानम्**=निवास के लिए पर्याप्त अन्न से तृप्त करनेवाले हैं (मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः)।

प्रभु-स्मरण से अन्तःकरण की पवित्रता प्राप्त होती है। पवित्र अन्तःकरणवाला व्यक्ति छल-बल से धनादि का संग्रह नहीं करता, परन्तु वह भूखा भी नहीं मरता। प्रभु उसे निवास के लिए पर्याप्त सात्त्विक अन्न प्राप्त कराते हैं, अतः यह भक्त उत्तम बुद्धिवाला बनकर और भी उत्तम मार्ग का आक्रमण करता है और सदा उस प्रभु का स्मरण करता है। **न**=जैसेकि **धेनवः**=नवसूतिका गौवें **स्वसरेषु**=गृहों पर स्थित **वत्सम् अभि**=बछड़े की ओर ध्यान रखती हैं, इसी प्रकार यह गोतम भी सांसारिक कार्यों को करता हुआ सदा प्रभु का स्मरण करता है। यह स्मरण ही उसे पथभ्रष्ट नहीं होने देता, अपितु उसे उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचानेवाला होता है। उस **'सा काष्ठा सा परागतिः'**=प्रभुरूप उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचकर वह अनुभव करता है कि प्रभु ही 'दस्मम्'=दर्शनीय (Beautiful) हैं। संसार में जहाँ-जहाँ सौन्दर्य है, वहाँ प्रभु के ही तेज का अंश उस सौन्दर्य का मूल है। वह प्रभु 'दस्मम्'=अद्भुत (wonderful) हैं, उसकी महिमा का पूरा-पूरा चिन्तन सम्भव नहीं।

भावार्थ—उस अचिन्त्यमहिम प्रभु के स्मरण द्वारा हम वासना-जगत् से ऊपर उठें।

ऋषिः—**कलिः प्रगाथः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु विदद्वसु हैं

२३७. तरोभिर्वो विदद्वसुमिन्द्रं सबाध ऊतये।
बृहद्गायन्तः सुतसोमे अध्वरे हुवे भरं न कारिणम्॥ ५॥

इस मन्त्र का ऋषि 'कलिः प्रगाथः' है। कलि का शब्दार्थ है—संग्रह (Collect) करनेवाला। यह संसार के सभी घटनाचक्रों में उत्तम वस्तुओं का ही संकलन करता है। यही प्रभु का सच्चा गायन करनेवाला है। यह अपने साथियों से कहता है कि मैं उस **इन्द्रम्**= परमैश्वर्यशाली प्रभु को **हुवे**=पुकारता हूँ जो **वः**=आप सबको **तरोभिः**=वेगों के द्वारा, स्फूर्ति के साथ किये जानेवाले कार्यों के द्वारा **विदद्वसुम्**=उत्तम धन व रत्नों को प्राप्त करानेवाला है। मैं उस प्रभु को पुकारता हूँ जो **भरम्**=मेरा भरण करनेवाले हैं **न**=और (न=च) **कारिणम्**=मुझसे पुरुषार्थ करानेवाले हैं। वस्तुतः **सबाधः**=(बाध्=आलोडन) इस संसार-समुद्र का आलोडन करनेवाले व्यक्ति **ऊतये**=रक्षा के लिए **सुतसोमे अध्वरे**=जिसमें शक्ति उत्पन्न की गयी है, उस हिंसाशून्य जीवन में **बृहद् गायन्तः**=उस प्रभु का खूब गान करनेवाले होते हैं। परमेश्वर का सच्चा उपासक १. अपने जीवन में शक्ति का सम्पादन करता है २. किसी की हिंसा नहीं करता, ३. संसार-समुद्र का मन्थन करनेवाला होता है, अर्थात् आलसी नहीं होता। ४. अनुकूल-प्रतिकूल सभी घटनाओं में अविचलित हो प्रभु का गायन करता है।

मन्त्र का ऋषि कलि इस तत्त्व को समझ चुका है कि प्रभु हमें सब आवश्यक उत्तमोत्तम पदार्थ प्राप्त कराते हैं, वे विदद्वसु हैं, परन्तु कब? जब हम १. **तरोभिः**=वेगों से युक्त हों, हमें आलस्य छू भी न गया हो। २. **सबाधः**=हम संसार-समुद्र का आलोडन करें, व्याकुल हो किनारे पर न बैठे रह जाएँ, ३. **कारिणम्**=प्रभु की प्रेरणानुसार कर्म करते चलें। वे प्रभु कारी हों, मैं कर्त्ता बनूँ।

भावार्थ—क्रियाशील बनकर मैं प्रभु-प्राप्ति का अधिकारी होऊँ।

ऋषिः—वसिष्ठो मैत्रावरुणिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

मैं प्रभु को झुकाता हूँ (आत्मा का सारथि—बुद्धि)

२३८. तरणिरित् सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा।
आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव सुद्रुवम्॥ ६॥

गत मन्त्र का केन्द्रीभूत विचार यह था कि १. मनुष्य आलस्य को परे फेंककर वेग से कार्य में जुटे, २. संसार-समुद्र का मन्थन करे और ३. उस 'कारी' प्रभु के निर्देशानुसार कार्य करनेवाला बने। जो व्यक्ति इस प्रकार कार्य में लगा रहता है, वह वासनाओं को तैर जाता है। यह **तरणिः**=वासनाओं को तैरनेवाला **इत्**=सचमुच **वाजम्**=शक्ति, त्याग व ज्ञान का **सिषासति**=सम्यक् सेवन करता है। वासनाओं को तैरे बिना शक्ति, त्याग व ज्ञान को प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु ऐसा वह तभी कर पाता है जब वह **पुरन्ध्या युजा**=पालक और पूरक बुद्धि से संयुक्त होता है। (पृ पालनपूरणयोः से पुरं, धी=बुद्धि)। आत्मा रथी है तो बुद्धि सारथि है। बुद्धि के बिना यह शरीररूप रथ रथी=आत्मा को उद्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुँचा सकता। एवं, तरणि=आत्मा पुरन्धी से युक्त हो वाज का सेवन कर पाता है और यही तरणि **वः इन्द्रम्**=हम सबके लिए उस परमैश्वर्यशाली **पुरुहूतम्**=बहुतों-से पुकारे जाने योग्य प्रभु को **गिरा**=वेदवाणियों के द्वारा **आनमे**=अपने प्रति नत=झुकाववाला=कृपादृष्टिवाला बनाता है। **इव**=जिस प्रकार **तष्टा**=बढ़ई=कारु **सुद्रुवम् नेमिम्**=उत्तम लकड़ीवाली नेमि को झुकाता है।

यहाँ प्रभु को अपनी ओर झुकाववाला करने के दो साधनों का संकेत है—१. **गिरा**=वेदवाणी के द्वारा तथा २. **तष्टेव**=बढ़ई की भाँति उत्पादक कार्य में लगे रहने के द्वारा। ज्ञान और कर्म हमें प्रभु की कृपा के पात्र बनाते हैं।

प्रभु को यहाँ 'सुद्रुवम् नेमिम्' का रूपक दिया है। उत्तम लकड़ीवाली नेमि सदा झुकने को तैयार है। प्रभु सदा कृपा के लिए उद्यत हैं। प्रभु इस संसार-चक्र की नेमि के समान हैं भी, वे ही इन पिण्डों को विच्छिन्न नहीं होने देते।

एवं जीव का कर्त्तव्य यही है कि वह वासनाओं को जीतकर 'वसिष्ठ' बने। वासना-विजय के लिए प्राणापान की साधना करनेवाला, 'मैत्रावरुणि' बने। यह मैत्रावरुणि वसिष्ठ ही तरणि है। यही प्रभु की कृपा का पात्र होता है।

भावार्थ—मैं तरणि बनूँ, पालक व पूरक बुद्धि से युक्त बनूँ, बढ़ई की भाँति उत्पादक कार्यों में लगा रहूँ और प्रभु को अपने प्रति कृपालु बनाऊँ।

ऋषिः—मेधातिथिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

कृपालु प्रभु का उपदेश

२३९. पिबा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः।
आपिर्नो बोधि सधमाद्ये वृधे३ऽस्माँ अवन्तु ते धियः॥ ७॥

गत मन्त्र में वसिष्ठ प्रभु को अपने प्रति कृपालु बनाता है। प्रभु कृपालु होकर अपने प्रिय

जीव से कहते हैं **पिब नः सुतस्य**=तू मेरे द्वारा उत्पादित सोम—वीर्यशक्ति का अपने अन्दर पान कर और इसके द्वारा अपनी ज्ञानाग्नि को समिद्ध करके **सुतस्य**=उत्पादित ज्ञान का पान कर। इस सोम का पान तू इसलिए कर कि यह १. **रसिनः**=तेरे जीवन को रसमय बनाएगा—तेरी वाणी से उच्चारित शब्दों में माधुर्य होगा तथा २. **गोमतः**=(गावः=इन्द्रियाणि, मतुप्=प्रशंसायाम्) यह तुझे प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बनाएगा। यह सोम का पान तेरे चरित्र में उत्तमता तथा व्यवहार में मधुरता उत्पन्न करेगा। इस प्रकार हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **मत्स्व**=जीवन को आनन्दमय बना। जीवन का वास्तविक आनन्द माधुर्य व इन्द्रिय-नैर्मल्य में ही है।

प्रभु के इस उपदेश को सुनकर 'मेधातिथि'=निरन्तर मेधा की ओर चलने की कामना करनेवाला यह जीव प्रभु से कहता है—

१. **आपिः नः**=आप ही हमारे बन्धु हो। आपने हमें अपने अन्दर व्याप्त किया हुआ है, तभी आप हमारे हृदयों में व्याप्त हो रहे हो। २. **बोधि**=आप हमें बोध दीजिए, इसलिए कि (क) **सधमाद्ये**=हम आपके साथ (सह) रहने में हर्ष का अनुभव करें, (ख) **वृधे**=हम सदा वृद्धि व उन्नति के मार्ग का आक्रमण करनेवाले बनें। हे परम उदात्त मित्र! **अस्मान्**=हमें **ते**=आपकी **धियः**=दी हुई बुद्धियाँ **अवन्तु**=संसार-समुद्र में डूबने से बचाएँ। हम आपके निर्देशों के अनुसार चलते हुए अपना कल्याण सिद्ध करनेवाले हों।

भावार्थ—मैं सोम=शक्ति व ज्ञान के पान से अपने जीवन को मधुर व प्रशस्तेन्द्रिय बनाऊँ। ज्ञान-रुचिवाला बनकर प्रभु के सम्पर्क में आनन्द का अनुभव करूँ और सदा उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता चलूँ।

ऋषिः—**भर्गः प्रागाथः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

धन के तीन विनियोग

२४०. त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये।
उद्वावृषस्व मघवन् गविष्टय उदिन्द्राश्वमिष्टये॥ ८॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **चेरवे**=निरन्तर चरण-शील—क्रियाशील मेरे लिए **एहि**=आइए। प्रभु उस व्यक्ति को प्राप्त होते हैं जो क्रियाशील है। अकर्मण्य व्यक्ति कभी भी प्रभु का प्रिय नहीं होता। हे प्रभो! मुझ श्रमशील को आप प्राप्त होओ और **भगं विदाः**=ऐश्वर्य प्राप्त कराइए। (विद् provide)। यह ऐश्वर्य आप मुझे क्यों प्राप्त कराएँ? **वसुत्तये**=धन देने के लिए। (वसु+दा+ति)। धन का सर्वोत्तम विनियोग 'दान' है। मनुष्य दान से अपनी पापवृत्तियों को नष्ट करके अपना परिमार्जन कर लेता है। २. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशाली प्रभो! आपसे प्राप्त कराया हुआ धन निष्पाप है (मा+अघ)। उस धन को आप **उत् वृषस्व**=मुझपर खूब बरसाइए, जिससे **गविष्टये**=मेरा ज्ञानेन्द्रियों का यज्ञ खूब चले। (गावो ज्ञानेन्द्रियाणि, इष्टि=यज्ञ)। धन का दूसरा उत्तम विनियोग यही है कि मैं उससे ज्ञान के साधनों को जुटाने में लग जाऊँ। ज्ञानयज्ञ में धन का व्यय सात्त्विक व्यय है। ३. हे **इन्द्र**=(उत् वृषस्व) अवश्य मुझपर बरसिए, जिससे **अश्वम् इष्टये**=मेरा कर्मेद्रियों का यज्ञ ठीक चले। अश्व=कर्मों में व्याप्त होनेवाली इन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानयज्ञ चले, तो कर्मेन्द्रियों से कर्मयज्ञ चलता रहे। पहले स्वाध्याय के साधनों को जुटाना था, अब कर्मयज्ञ

के लिए सामग्री को जुटाना है। धन का इससे सुन्दर विनियोग नहीं है कि १. दान किया जाए, २. उसका ज्ञानयज्ञ में विनियोग किया जाए ३. अग्निहोत्रादि कर्मयज्ञ किये जाएँ।

धन के इन तीन विनियोगों को करनेवाला व्यक्ति ही 'धन्य' है। वही सुकृति व पुण्यवान् है। जिसने धन का ठीक विनियोग किया वही 'भर्ग'=ठीक परिपाकवाला, शुद्ध चमकते हुए जीवनवाला बना। धन का दास न बनकर यह प्रभु का सच्चा गायन करनेवाला 'प्रागाथ' कहलाया है।

भावार्थ—मैं प्रभु-कृपा से धन प्राप्त करूँ और उसे दान, ज्ञानयज्ञ व कर्मयज्ञ में विनियुक्त करूँ।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

कामी का भी सोमपान, प्राणों की आराधना

२४१. न हि वश्चरमं च न वसिष्ठः परिमंसते।
अस्माकमद्य मरुतः सुते सचा विश्वे पिबन्तु कामिनः॥ ९॥

शरीर में प्राण मुख्यरूप से 'प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान' इन पाँच भेदों में तथा 'नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त व धनञ्जय' इन पाँच गौण भेदोंसहित कितने ही उपभेदों में विभक्त होकर कार्य कर रहा है। ये प्राण के ४९ भेद ही 'मरुतः' कहलाते हैं। इन्हें वशीभूत करके चित्तवृत्तियों के दमन द्वारा जो व्यक्ति इन्द्रियों को शान्त करता है, वह 'वसिष्ठ' कहलाता है। प्राणापानों की साधना के कारण ही यह 'मैत्रावरुणि' है। (मित्रावरुणौ=प्राणापानौ)।

प्राणापान का संयम वशी बनने का सर्वोत्तम प्रकार है। वसिष्ठ किसी गौण प्राणभेद की भी उपेक्षा नहीं करता। यह वशी कहता है कि **मरुतः**=हे मरुतो! **वसिष्ठः**=मैं वसिष्ठ **वः**=आपके **चरमं च न**=अन्तिम प्राणभेद को भी **परि**=छोड़कर **न हि मंसते**=आराधना नहीं करता हूँ। मैं मुख्य, गौण व गौणतर भेदों में विभक्त सभी प्राणों की स्तुति करता हूँ। इन प्राणों के वश में करने का ही यह परिणाम है कि **अद्य**=आज **विश्वे कामिनः**=नाना प्रकार के भोगों की कामना करनेवाले ये **अस्माकम्**=हमारे सब प्राण **सचा**=मिलकर **सुते**=(सुतं का द्विवचन) सोम व ज्ञान का **पिबन्तु**=पान करें। 'सुतम्' शब्द सोम=[vitality] का भी वाचक है तथा ज्ञान का भी। जब तक मनुष्य प्राणों की साधना नहीं करता तब तक उसकी प्राणशक्ति उसके भोगों के भोगने में व्यय होती है और ज्योंहि उसने इन प्राणों की साधना कर ली त्योंहि ये कामी न रहकर सोम व ज्ञान का पान करनेवाला इन्द्र बन जाता है। कितना महान् परिवर्तन उसके जीवन में आ जाता है!

भावार्थ—मैं कामी न रहकर सोमपान करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**प्रगाथो घौरः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

केवल उस प्रभु का शंसन

२४२. मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत॥ १०॥

गत मन्त्र की भावना के अनुसार प्राणों की साधना करके व्यक्ति जहाँ अपने शरीर को

स्वस्थ बनाता है, वहाँ अपने मन को निर्मल बनाता है और बुद्धि को तीव्र। ऐसा जीवन बनाकर यह जिस निर्णय पर पहुँचता है, उसकी घोषणा इस रूप में करता है—**सखायः**=हे मित्रो! **अन्यत्**=प्रभु को छोड़ किसी अन्य का **मा चित्**=मत **विशंसत**=शंसन करो। केवल प्रभु के ही उपासक बनों। केवल प्रभु के उपासक बनने का परिणाम यह होगा कि **मा**=मत **रिषण्यत**=हिंसित होओ। मनुष्य प्रभु को छोड़ प्रकृति व जीवों का उपासक बनकर सांसारिक दृष्टिकोण से कुछ आगे बढ़ा हुआ प्रतीत होता है, परन्तु उसे वास्तविक शान्ति कभी प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए इस मन्त्र का ऋषि 'प्रगाथ'=प्रभु का प्रकृष्ट गायन करनेवाला घौर=उदात्त स्वभाववाला काण्वः=अत्यन्त मेधावी कहता है कि **इन्द्रम् इत्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **स्तोत**=स्तुत करो **वृषणम्**=उस प्रभु को जो सब प्रकार के सुखों की वर्षा करनेवाले हैं। प्रभु परमैश्वर्यशाली होने के साथ बरसनेवाले भी हैं, अतः **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में **सचा**=मिलकर **मुहुः**=फिर-फिर **उक्था च**=स्तोत्रों का **शंसत**=शंसन करो। घरों में प्रातः-सायं अवश्य ऐसा समय होना चाहिए जब घर में सभी मिलकर प्रभु का स्तवन करें। इस प्रकार का सम्मिलित स्तवन सारे वायुमण्डल को उत्कृष्ट बनाता है। हममें प्रभु की शक्ति का संचार होता है। हमारा जीवन प्रभुमय होकर वासनाजाल से ऊपर उठता है और परिणामतः ऊँचा बनता है।

भावार्थ—हम केवल प्रभु के ही उपासक बनें।

अथ तृतीयप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—**आङ्गिरसः पुरुहन्मा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

न कर्मों से, न यज्ञों से

२४३. न किष्टं कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम्।
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्णुमोजसा॥ १॥

पुरुहन्मा आङ्गिरस=पालक व पूरक हिंसा व गतिवाला, अर्थात् जिसकी तोड़-फोड़ व निर्माण दोनों ही पालन व पूरण के दृष्टिकोण से होते हैं, वह आङ्गिरस=अङ्ग-अङ्ग में शक्ति से परिपूर्ण व्यक्ति कहता है कि **यः**=जो प्रभु **सदावृधम् चकार**=सदा हमारी वृद्धि करनेवाले हैं, **तम्**=उसे **कर्मणा**=भिन्न-भिन्न कामनाओं से किये जानेवाले कर्मों से **न किः नशत्**=कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता। कर्मों से व यज्ञों से प्राप्त होनेवाला स्वर्ग क्षीण होनेवाला है। ब्रह्मलोक 'सदावृध' लोक है। उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को मनुष्य **न यज्ञैः**=यज्ञों से भी प्राप्त नहीं करता। इन यज्ञों के द्वारा भी मनुष्य नाना वस्तुओं व लोकों की कामना करता है और परिणामतः उन्हीं को पाता है न कि प्रभु को। उस प्रभु को, जोकि **विश्वगूर्तम्**=सारे ब्रह्माण्ड का उद्यमन-धारण करनेवाले हैं, **ऋभ्वसम्**=(ऋभु असम्) 'उरुभाति'=खूब देदीप्यमान व सब मलिनताओं को दूर फेंकनेवाले हैं, **अधृष्टम्**=काम-क्रोधादि से जिनका धर्षण कभी नहीं होता और **ओजसा धृष्णुम्**=ओज के कारण सभी हीन भावनाओं का धर्षण करनेवाले हैं।

इस प्रभु को नहीं पा सकता है जो प्रभु की भाँति विश्व का धारण करनेवाला बनता

है। **'सर्वभूतहिते रतः'**=सब प्राणियों के हित में लगा होता है, ज्ञान से चमकता है और वासनाओं को ज्ञानाग्नि में भस्म कर देता है, कभी कामादि से आक्रान्त नहीं होता और ओज से सभी शत्रुओं का पराभव करता है। कर्मों और यज्ञों से प्रभु को पाना सम्भव नहीं। 'नास्त्यकृतः कृतेन'=वे अकृत प्रभु कृत=कर्मों से कैसे प्राप्य हो सकते हैं। **'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः'**=प्रभु को प्राप्त कराने के लिए इन यज्ञरूप अदृढ़ प्लवों में शक्ति नहीं, ये तो स्वर्गादि उत्तम लोकों को ही प्राप्त करा सकते हैं।

भावार्थ—मैं निष्कामता से कर्म व यज्ञ करता हुआ प्रभु को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

वह महान् चिकित्सक

२४४. य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः।
सन्धाता सन्धिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विहुतं पुनः॥ २ ॥

निष्काम कर्मों से हम उस प्रभु को पाते हैं **यः**=जो **अभिश्रिषः ऋते चित्**=सन्धान द्रव्य के बिना ही, **जत्रुभ्यः आतृदः पुरा**=ग्रीवास्थि (Coller bone) पूरा-पूरा कट जाने से पहले, अर्थात् यदि गला ही अलग न हो गया हो तो, **सन्धिं सन्धाता**=जोड़ों को फिर जोड़ देनेवाला है। संसार में इस प्रकार वे व्यक्ति भी जिनको डॉक्टर असाध्य रोगी ठहरा देते हैं ठीक होते देखे जाते हैं। ये सब बातें प्रभु की अनिर्वचनीय महिमा को प्रकट करती हैं। आयुर्वेद में अन्तिम औषध 'भगवन्नाम-स्मरण' है। भगवान् के नाम-स्मरण से मनोवृत्ति में अन्तर आकर अन्दर की सोमशक्ति रोगों को दूर कर देती है। बिलकुल लटक गयी हड्डियों के जोड़ भी फिर से जुड़ जाते हैं। वे प्रभु सचमुच **मघवा**=पवित्र ऐश्वर्यवाले हैं **पुरूवसुः**=पालक और पूरक निवास देनेवाले हैं। **विहुतम्**=कटे हुए को **पुनः निष्कर्ता**=फिर संस्कृत कर देनेवाले हैं। संसार में होनेवाली ये अद्भुत घटनाएँ हमें प्रभु का स्मरण करातीं हैं। शरीर में सारे-के-सारे सन्धिबन्ध बिना चिपकानेवाले पदार्थों के बँधे हैं। उन बन्धनों को देखकर ही उस अद्भुत कृतिवाले प्रभु के प्रति हम नतमस्तक हो जाते हैं।

सचमुच 'मेधातिथि'=ज्ञान-मार्ग पर निरन्तर चलनेवाला व्यक्ति शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की रचना में उस मेध्य=पवित्र प्रभु-माहात्म्य को देखता है और उसकी ओर चलनेवाला बनकर 'मेध्यातिथि' हो जाता है। मेधातिथि से आज वह मेध्यातिथि बना है।

भावार्थ—हम प्रभु की महिमा को समझें और उसके उपासक बनें।

***सूचना**—'पुरा जत्रुभ्य आतृदः'='गला ही न कट गया हो' ये शब्द वेद के वास्तविकतावाद (Realism) को कितनी उत्तमता से सूचित कर रहे हैं। कुछ मूल बचा हो तो प्रभुकृपा से रोगी ठीक हो जाता है।*

ऋषिः—**मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

ज्योतिर्मय रथ में

२४५. आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये।
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये॥ ३ ॥

मेधातिथि पुरुष मेध्यातिथि बनता है। उसकी सभी चित्तवृत्तियाँ कोई भी कार्य करती हुई उस प्रभु का ध्यान करती हैं। उसकी ये चित्तवृत्तियाँ **ब्रह्मयुजः**=उसे ब्रह्म से मिलानेवाली होती हैं। सदा ब्रह्म की ओर लगी होने से ये **केशिनः**=प्रकाशवाली होती हैं। **हिरण्यये रथे**=इस ज्योतिर्मय शरीररूप रथ में **युक्ताः**=युक्त **शतं सहस्रम्**=सैकड़ों व हजारों अथवा सदा प्रसन्नता से युक्त सैकड़ों चित्तवृत्तियाँ **त्वा**=तुझे **आ**=सर्वथा **सोमपीतये**=शक्ति व ज्ञान के पान के लिए **आवहन्तु**=प्राप्त कराएँ।

हमारी चित्तवृत्तियाँ जब संसार के विषयों में उलझ जाती हैं तब क्षणिक आनन्द के पश्चात् विषादमय हो जाती हैं, परन्तु यदि संसार में विचरती हुई ये प्रभु को नहीं भूलतीं तो ये सदा प्रसादमय बनी रहती हैं। बड़ी-से-बड़ी सांसारिक विपत्तियों में भी ये अपने हास्य व विकास को नहीं छोड़तीं। इसी से मन्त्र में इन्हें 'सहस्रम्' (स-हस)=हास्यसहित कहा गया है। प्रभु से दूर न होने के कारण ही ये सदा प्रकाश में रहती हैं—ऐसे व्यक्ति को कभी अपना कर्त्तव्य-पथ अन्धकारमय प्रतीत नहीं होता। उसका शरीररूप रथ ज्योतिर्मय रहता है। अन्त में ये ही चित्तवृत्तियाँ हमें प्रभु से मिलानेवाली—हमारा प्रभु से सायुज्य करनेवाली होती हैं, अतः 'ब्रह्मयुजः' कहलाती हैं, क्योंकि ऐसा मनुष्य सदा अपने शरीर की सर्वोत्तम वस्तु सोम को उस महान् सोम=ब्रह्म की प्राप्ति के लिए विनियुक्त करता है और अपनी ज्ञानाग्नि को प्रदीप्त करके यह निरन्तर ज्ञानरूप सोम के पान में आनन्द का अनुभव करता है।

चित्तवृत्तियों को **'हरयः'** शब्द से कहा गया है—क्योंकि ये हमें उन-उन विषयों में हर ले-जाती हैं, परन्तु हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तुझे तो ये सोमपान ही कराएँ।

भावार्थ—हमारी चित्तवृत्तियाँ 'हरयः' के स्थान पर 'ब्रह्मयुजः' हो जाएँ। विषयों के स्थान में ब्रह्म की ओर जानेवाली हों।

ऋषिः—विश्वामित्रो गाथिनः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

मृगतृष्णा में न फँसें

२४६. आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः।
मा त्वा के चिन्नि येमुरिन्न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि॥ ४॥

चित्तवृत्तियों का ही उल्लेख करते हुए प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **मन्द्रैः**=सदा प्रसन्नता से परिपूर्ण—प्रसादगुणयुक्त **मयूररोमभिः**=(मिनन्ति हिंसन्ति दुर्विचारान्, रोमाणि=शब्दाः, रु शब्दे) दुर्विचारनाशक, प्रभुवाचक ओम् आदि शब्दोंवाली **हरिभिः**=चित्तवृत्तियों से **आयाहि**=मुझे प्राप्त हो। प्रसन्न चित्तवाले की बुद्धि पर्यवस्थित होती है और स्थितप्रज्ञ ही प्रभु को पाने में समर्थ होता है। मनुष्य प्रसन्न रहे और योग के शब्दों में **तस्य वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तदर्थभावनम्**=प्रभु के वाचक प्रणव=ओम् का जप करे। सब क्रियाओं को प्रसन्नता से करते हुए प्रभु को न भूले। बस, यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

विषय इसीलिए विषय हैं कि ये विशेषरूप से (षिञ् बन्धने) बाँध लेते हैं। यहाँ इन्हें **पाशिनः**=पाशवाले, पाशों से जकड़ लेनेवाला कहा गया है। ये जाल में बाँधकर तेरा घात (जल=घातने) करनेवाले **केचित्**=कोई भी विषय **त्वा मत् इत् नियेमु**=तुझे मत रोक ले। प्रभु की ओर जाते हुए मनुष्य को मध्य में रोकनेवाले ये विषय हैं। ये इतने चमकीले हैं कि

हमारी आँखें इनसे आकृष्ट हो ही जाती हैं और ये हमारे मन को लुब्ध कर लेते हैं। प्रभु जीव से कहते हैं कि तू **धन्वा इव**=मरुभूमि की भाँति **तान् अति इहि**=उन्हें पार कर जा, लाँघ कर आगे निकल जा। वस्तुत: ये विषय मरुभूमि की भाँति हैं। जब रेत के कणों पर सूर्य की किरणें पड़ती हैं तब वे कण चमकते हैं तथा जल प्रतीत होते हैं। एक मूढ़ हरिण प्यास बुझाने के लिए उधर दौड़ता है, परन्तु वहाँ पानी थोड़े ही होता है? कुछ दूरी पर आगे फिर दीखता है, वह आगे दौड़ता है, पर वहाँ भी क्या उसकी प्यास बुझ पाती है? फिर आगे दौड़ता है और इसी प्रकार थककर समाप्त हो जाता है। यही मनुष्यरूपी मृग की विषयों में गति होती है। उनसे उसकी प्यास बुझती नहीं। उसकी भूख आगे और आगे बढ़ती है। सौ, हज़ार, दस हज़ार, लाख, करोड़, अरब का क्रम चलता है और इस चक्कर में ही चकराकर उसका अन्त हो जाता है। वह वास्तविक शान्ति नहीं पाता। विषयों के प्रेम से ऊपर उठकर हम शान्ति व प्रभु को पा सकते हैं।

विषय-प्रेम से ऊपर उठने की साधना यही है कि हम अपने प्रेम को व्यापक बनाकर 'विश्वामित्र' बन जाएँ। 'विश्वामित्र' विषयमित्र नहीं रहता। यही प्रभु का सच्चा स्तोता 'गाथिन:' कहलाता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम इस तत्त्व को समझें कि विषय मरुस्थल हैं—वहाँ हमारी प्यास नहीं बुझ सकती।

ऋषि:- **गोतमो राहूगण:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**बृहती**॥ स्वर:—**मध्यम:**॥

अनासक्ति (Detachment) के दो तत्त्व

२४७. त्वमङ्ग प्र शंसिषो देव: शविष्ठ मर्त्यम्।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वच: ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का ऋषि 'गोतम'=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला 'राहूगण:'=त्यागियों में गिनती करने योग्य है। इससे प्रभु कहते हैं कि हे **अङ्ग**=क्रियाशील अतएव प्रिय! **त्वम्**=तू **मर्त्यम्**=मरणधर्मा पुरुष की **प्रशंसिष:**=प्रशंसा ही करना, निन्दा नहीं। 'अङ्ग' इस सम्बोधन में यह संकेत स्पष्ट है कि जो सदा क्रिया में लगे होते हैं उनकी वृत्ति दूसरों के दोष देखने की नहीं होती। ऐसे ही व्यक्ति प्रभु के प्रिय होते हैं। अकर्मण्य व आलसी पुरुष ही सदा दूसरों के दोष देखा करते हैं और परिणामस्वरूप कभी प्रभु के प्रेम के पात्र नहीं हो पाते।

कमी को न देखकर प्रशंसात्मक बात को देखनेवाला बनकर ही मनुष्य **देव:**=देव बनता है। तू दोष-दर्शन को छोड़कर अच्छाइयों को देखनेवाला बन। हे **शविष्ठ**=तू अत्यन्त शक्तिशाली है। कमज़ोर लोग ही दोष देखा करते हैं। दोष देखना—१. मनुष्य को प्रभु-प्रेम से वंचित करता है, २. यह उसे देव न बनाकर दानव बना देता है और ३. इससे उसकी शक्ति क्षीण होती है, अत: हमें चाहिए कि हम प्रशंसात्मक शब्दों का ही सदा उच्चारण करते हुए १. प्रभु के प्यारे बनें, २. देव बनें और ३. शक्तिशाली बनें।

यह व्यक्ति प्रभु से कहता है कि हे **मघवन्**=पापशून्य ऐश्वर्यवाले प्रभो! **त्वदन्य:**=आपसे भिन्न **मर्डिता**=मेरे जीवन को सुखी बनानेवाला **न अस्ति**=नहीं है। संसार का अनुभव प्रत्येक मनुष्य को अन्त में इसी परिणाम पर पहुँचाता है कि प्रभु के अतिरिक्त कोई अन्त तक साथ देनेवाला नहीं है, अत: गोतम निश्चय करता है कि **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यवाले प्रभो! **ते वच: ब्रवीमि**=मैं आपके ही स्तुतिवचनों का उच्चारण करता हूँ।

एवं, अनासक्ति के योग पर चलनेवाला व्यक्ति सामाजिक जीवन में किसी की निन्दा नहीं करता और आध्यात्मिक जीवन में केवल प्रभु का आश्रय लेता है—उसी को परागति मानता है।

भावार्थ—मैं परनिन्दा से परे (दूर) रहूँ, प्रभु को ही परमाश्रय समझूँ।

ऋषिः—**नृमेधपुरुमेधौ आङ्गिरसौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

विजय पताका फहराते हुए

२४८. त्वमिन्द्र यशा अस्यृजीषी शवसस्पतिः।

त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत् पुर्वनुत्तश्चर्षणीधृतिः॥ ६॥

जो व्यक्ति अनासक्तभाव से कर्त्तव्यों को करता हुआ आगे बढ़ता चलेगा, वह अवश्य अपनी यात्रा में सफल होगा। प्रभु कहते हैं कि **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **त्वम्**=तू **यशाः असि**=यशस्वी है। तू अपनी यात्रा को पूर्ण करके विजय-पताका को फहरा पाया है। यात्रा की निर्विघ्न पूर्ति का सर्वप्रथम रहस्य यही है कि १. तू इन्द्र बना है, इन्द्रियों का अधिष्ठाता बना है। इन्द्रियाँ शरीररूप रथ के घोड़े हैं। जो व्यक्ति घोड़ों को काबू कर पाएगा वही उन्हें निर्दिष्ट स्थान की ओर ले-जाएगा।

२. **ऋजीषी**=तू ऋजीषी है। ऋजीषी शब्द के तीन अर्थ हैं—(क) पकड़ना, (ख) परे धकेलना, (ग) आगे बढ़ना। इन्द्र ऋजीषी है। यह यात्रा में बाधक बननेवालों को पकड़ता है, उन्हें परे धकेलता है और आगे बढ़ता है। कोई भी विघ्न इसकी यात्रा को रोक नहीं पाता।

३. **शवसः पतिः**=यह शक्ति का पति है। शक्तिशाली होने से यह थककर बीच में ही रुक नहीं जाता, ४. **त्वम्**=तू **अप्रतीनि**=अनन्त शक्तिवाले (of matchless strength) **वृत्राणि**=मार्ग रोकनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को **एकः इत्**=अकेला ही, औरों के भरोसे न बैठकर **हंसि**=नष्ट कर डालता है। ये काम-क्रोध जीव के मार्ग-निरोधक शत्रु हैं। जो इन्द्र होता है, वह इन्हें नष्ट कर डालता है।

५. **पुरु अनुत्तः**=इस यात्रा में वह अपने रथ का 'पालन व पूरण' करता है। इस रथ को वह अतिभोजन, अतिजागरण, अतिस्वप्नादि की दलदल में फँसने से बचाता है और स्वयं कभी शत्रुओं से विषय-गर्त में नहीं धकेला जाता।

६. **चर्षणीधृतिः**=इन्द्र इस यात्रा को पूरा कर पाया, इसका अन्तिम रहस्य यह है कि यह 'मनुष्यों का धारण करनेवाला' बना। **'सर्वभूतहिते रतः'** प्रभु का भक्ततम माना जाता है। लोकसेवा की वृत्ति उसे विषय-स्वार्थ में गिरने से बचाती है। 'चर्षणीधृति' का एक और भी अर्थ है। (चर्षणी=कर्षणी) ये कृषि व उत्पादक काम के सिद्धान्त को दृढ़ता से धारण करता है तथा 'चर्षणयः द्रष्टारः' यह द्रष्टा बनने का प्रयत्न करता है। खेलनेवाला उतनी अच्छी प्रकार खेल को नहीं देख पाता जितना कि 'खेल का द्रष्टा'। द्रष्टा बननेवाला संसार को ठीक रूप में देखता है और ठीक रूप में देखनेवाला फँसता नहीं। इसी का परिणाम होता है कि यात्रा निर्विघ्न पूर्ण हो जाती है।

इस मन्त्र के ऋषि 'नृमेधपुरुमेधौ आङ्गिरसौ' हैं। इस मन्त्र का ऋषि आङ्गिरस तो है ही—(शवसस्पतिः), नृमेध भी—मनुष्यों से मेल करनेवाला है (मेधृ सङ्गमे)। बिना इस मेल

के उसके लिए अपना भी पालन व पूरण सम्भव न होता, औरों का तो वह करता ही क्या? अत: यह 'पुरुमेध' है।

भावार्थ—हमें इस जीवन में यह लक्ष्य रखना चाहिए कि विजय-पताका फहराते हुए यात्रा को अवश्य पूर्ण करना है।

ऋषि:—मेध्यातिथि:॥ देवता—इन्द्र:॥ छन्द:—बृहती॥ स्वर:—मध्यम:॥

चतुर्दिक्-विजय

२४९. इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे।
इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये॥७॥

१. **देवतातये**=देवत्व की वृद्धि के लिए **इन्द्रम् इत्**=उस ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभु को ही **हवामहे**=पुकारते हैं। हमारे जीवनों में सबसे पहला संग्राम—प्रकाश (ज्ञान) व अन्धकार का चलता है। 'हमारे अन्दर (दिव्=to shine) प्रकाश की वृद्धि हो और उत्तरोत्तर अन्धकार कम और कम होता जाए' इसके लिए हम प्रभु को पुकारते हैं। इस प्रथम युद्ध का क्षेत्र मानव-मस्तिष्क है। यहाँ देवत्व की विजय हो। '**विद्वांसो हि देवा:**'=देव विद्वान् हैं। हम विद्वान् बनें। प्रभुकृपा से हमारे मस्तिष्क में ज्योति का प्रादुर्भाव हो।

२. मानस क्षेत्र में **प्रयति**=चल रहे **अध्वरे**=हिंसा की भावना से शून्य यज्ञों के निमित्त **इन्द्रम्**=उस राग-द्वेषादि आसुर भावनाओं को भगा देनेवाले प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु का स्मरण होने पर हमारा मन उसी प्रकार द्वेष का आधार नहीं बनता जैसे मस्तिष्क अन्धकार का। मस्तिष्क में प्रकाश ने अन्धकार पर विजय पायी थी, यहाँ मानस क्षेत्र में प्रेम द्वेष पर विजय पाता है।

३. इसके बाद शरीर-क्षेत्र में रोगों व वीर्यशक्ति में चलनेवाले **समीके**=समर में **वनिन:**=प्रशस्त विजय चाहनेवाले हम **इन्द्रम्**=रोगों को दूर करनेवाले, शक्तिपुञ्ज प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु के स्मरण से विषय-वृत्ति के भाग जाने पर सुरक्षित वीर्य-शक्ति वस्तुत: सब रोगों को दूर कर देती है। इस क्षेत्र में भी हम विजयी होकर नीरोग बनते हैं।

४. अन्त में **धनस्य सातये**=धन की सम्प्राप्ति के लिए भी **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का ही स्मरण करते हैं। धन के लिए प्रभु को पुकारने की इतनी आवश्यकता न थी, परन्तु यहाँ प्रभु को पुकारने का प्रयोजन यह है कि मनुष्य धन में उलझकर उसे टेढ़े-मेढ़े सभी रास्तों से कमाने लगता है। प्रभु का स्मरण उसे 'सुपथा'=उत्तम मार्ग से ले-चलता है, अत: जो व्यक्ति मेधातिथि=समझदार बनकर मेध्यातिथि प्रभु की ओर निरन्तर चलनेवाला बनता है, वह कभी अन्याय्य मार्ग से धन का संग्रह नहीं करता। एवं, इस धनार्जन के क्षेत्र में भी वह विजयी ही बनता है—पराजित नहीं होता।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम उल्लिखित चारों संग्रामों में विजयशील बनें।

ऋषि:—मेध्यातिथि:॥ देवता—इन्द्र:॥ छन्द:—बृहती॥ स्वर:—मध्यम:॥

भक्त की परिभाषा (Definition), भक्ति-रसायन का सेवन

२५०. इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम।
पावकवर्णा: शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत॥८॥

मस्तिष्क, मन, शरीर व संसार (धन) के चारों क्षेत्रों में विजय प्राप्त करनेवाला व्यक्ति प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **पुरूवसो**=पालक व पूरक निवास देनेवाले प्रभो! **इमा या: मम गिर:**=ये जो मेरी वाणियाँ हैं, वे **उ**=निश्चय से **त्वा वर्धन्तु**=आपका वर्धन करें। मैं सदा आपके स्तुतिवचनों का उच्चारण करूँ। मेरे मुख से निकलनेवाला प्रत्येक शब्द आपकी महिमा का प्रतिपादक हो। मेरे श्वासोच्छ्वास के साथ आपका जप चले।

मेरा जीवन आपकी भक्तिरूप रसायन का सेवन करनेवाला हो। जो व्यक्ति इस रसायन का सेवन करता है, उसके जीवन में निम्न परिवर्तन दीखते हैं—

१. **पावकवर्णा:**=ये भक्त अग्नि के समान वर्णवाले होते हैं। शरीर का स्वास्थ्य व मन की शान्ति इन्हें अग्नि के समान चमका देती है।

२. **शुचय:**=प्रभु के भक्त धन के प्रति कभी आसक्त नहीं होते और इसी का परिणाम है कि वे धन की दृष्टि से सदा पवित्र होते हैं। वे किसी का ऋण न चुकाएँ, इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनके मन में धन का लोभ नहीं होता, इसी का बहुत कुछ परिणाम है कि वे राग-द्वेष से ऊपर उठे होते हैं।

३. **विपश्चित:**=ये भक्त विशेष सूक्ष्मता से देखते हुए चिन्तनशील होते हैं।

जिन व्यक्तियों के जीवन में उल्लिखित परिणाम दीखते हैं, वे ही वस्तुत: **स्तोमै:**=स्तुतियों से **अभि अनूषत**=प्रभु का स्तवन करते हैं। भक्त होगा तो उसका जीवन 'पावकवर्ण, शुचि व विपश्चित्' का जीवन होगा ही।

इसी व्यक्ति के लिए कहा जा सकेगा कि वह मेधातिथि है, समझदारी से चल रहा है और मेध्यातिथि है—प्रभु के मार्ग पर चल रहा है।

भावार्थ—मैं शरीर में पावकवर्ण, मन में शुचि व मस्तिष्क में विपश्चित् बनूँ।

ऋषि:—**मेध्यातिथि:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**बृहती**॥ स्वर:—**मध्यम:**॥

भक्त का सामाजिक जीवन

२५१. उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथाइव ॥ ९ ॥

गत मन्त्र में भक्त के निजी जीवन की तीन विशेषताओं का उल्लेख हुआ था। प्रस्तुत मन्त्र में उसके सामाजिक जीवन का चित्रण करते हैं। १. **त्ये स्तोमास:**=वे स्तुति के पुञ्जरूप भक्तलोग **उ**=निश्चय से **मधुमत्तमा: गिर:**=अत्यन्त मधुरवाणियों का **उदीरते**=उच्चारण करते हैं। इनके मुख से कभी कटु शब्दों का उच्चारण नहीं होता। स्तोम शब्द का अर्थ स्तुति होता है, परन्तु भक्ति-रसायन का सेवन करनेवाला यह व्यक्ति सदा स्तुतिरूप शब्दों का उच्चारण करने से 'स्तुति का पुञ्ज' बन गया है। २. **सत्राजित:**=क्रोध का ये सदा संयम करनेवाले हैं। ये अपने में दूसरों के प्रति क्रोध को उत्पन्न नहीं होने देते। ३. **धनसा**=(सन्=संविभाग) वे दीन-दु:खियों के लिए धन का संविभाग करनेवाले होते हैं। ४. **अ-क्षित-ऊतय:**=इसके यहाँ शरणागत की रक्षा का कभी नाश नहीं होता। ये अपने प्राण देकर भी शरण में आये हुए की रक्षा करते हैं। ५. **वाजयन्त:**=उल्लिखित सब कार्यों को करते हुए ये प्रभु की अर्चना

करते हैं, जिससे इन कार्यों का उन्हें गर्व न हो जाए।

इस प्रकार पवित्र व विनीत जीवन बिताते हुए ये **रथा: इव**=रममाणा: इव=प्रसन्नता का जीवन बिताते हैं, और रहंमाणा:—बड़ी तीव्र गति से अपनी जीवन-यात्रा के पथ पर बढ़ते हैं। ये ही वस्तुत: मेधातिथि व मेध्यातिथि हैं।

भावार्थ—मैं भी प्रभु का सच्चा भक्त बनूँ, मुझसे माधुर्य का प्रवाह बहे।

ऋषि:—**देवातिथि: काण्व:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**बृहती**॥ स्वर:—**मध्यम:**॥

मित्रता ही नहीं, शरण में

२५२. यथा गौरो अपा कृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम्।
आपित्वे न: प्रपित्वे तूयमा गहि कण्वेषु सु सचा पिब॥ १०॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि तू आनन्द प्राप्त करने के लिए उसी प्रकार प्रकृति व प्राकृतिक पदार्थों में भटकता रहा है **यथा गौर:**=(गुरी उद्यमने) जिस प्रकार उद्योगशील मृग **तृष्यन्**=प्यास से पीड़ित होता हुआ **अव इरिणम्**=सुदूर मरुभूमि को **एति**=प्राप्त होता है। मृग को दूर पानी प्रतीत होता है, उसे पाने के लिए वह उस सुदूर मरुभूमि की ओर दौड़ता है, परन्तु उसके पहुँचने पर वह जल का दृश्य तो **अपाकृतम्**=और दूरी पर दीखने लगता है, आगे दौड़ने पर वह और दूर हो जाता है। इसी प्रकार प्यास बुझाने की आशा में वह इस अपाकृत इरिण की ओर और भागता चला जाता है—न वह पानी पाता है, न उसकी प्यास बुझ पाती है। इसी प्रकार मनुष्य भी अपनी आनन्द की प्यास को बुझाने के लिए धन की ओर चलता है। वह भी उसे कभी इच्छानुकूल नहीं मिल पाता, उत्तरोत्तर धन की प्यास बढ़ती चलती है। मनुष्य भी इसे जुटाता-जुटाता समाप्त हो जाता है और मृग की भाँति प्यासा ही रहता है।

इस जीव से प्रभु कहते हैं कि तू **तूयम्**=शीघ्र ही **न:**=हमारी **आपित्वे**=मित्रता में ही नहीं, **प्रपित्वे**=हमारे प्रति समर्पण में **आगहि**=आ जा। प्रकृति में आनन्द नहीं है, वह तो आनन्दरूप स्नेह के लिए रेतीले प्रदेश के समान है। उसे छोड़कर तू मेरी ओर आ, मेरी मित्रता को स्वीकार कर, मेरे प्रति अपना अर्पण कर डाल। मेरी मित्रता में तू अपने आनन्द की प्यास को बुझा पाएगा। मेरे प्रति अपना अर्पण कर देने पर तू सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त हो जाएगा। तेरा चिन्तामुक्त (निश्चिन्त) जीवन तेरे वास्तविक उल्लास का कारण बनेगा।

बुद्धिमत्ता इसी में है कि तू भी **कण्वेषु**=बुद्धिमानों में गिना जानेवाला हो। मेरी मित्रता व शरण में आकर **सचा**=मेरे साथ **सुपिब**=उत्तमता से आनन्दरस का पान कर।

जो व्यक्ति इस प्रकार करता है वह उस महान् देव का अतिथि होता है। प्रभु उसे आनन्दरस का पान कराते हैं। इसी से वह 'देवातिथि' कहलाता है।

भावार्थ—मैं प्रकृति के पीछे न भागकर प्रभु के प्रति अपना समर्पण कर डालूँ और उस महान् देव का अतिथि बनूँ।

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—**भर्गः प्रगाथः**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु के पीछे न कि धन के

२५३. शग्ध्यू३षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः।
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि॥ १॥

प्रभु ने जीव से कहा था कि 'कहाँ भटकता है, मेरी मित्रता को स्वीकार कर, मेरी शरण में आ'। 'प्रकृति में आनन्द नहीं', अपने इस अनुभव के आधार पर जीव प्रभु से कहता है कि **शग्धि**=आप शक्तिशाली हो। आप सब-कुछ कर सकते हो, मेरा कल्याण करने में भी आप ही समर्थ हो। **उ**=और हे **सुशचीपते**=सब उत्तम शक्तियों व कर्मों के स्वामिन् प्रभो! हे **इन्द्र**=सब ऐश्वर्यों के स्वामिन्! आप **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब रक्षणों से युक्त हो। आपकी शरण में आ जाने पर आपसे सुरक्षित होकर मैं शक्तिशाली व उत्तम ऐश्वर्यवाला बनता हूँ। हमने तो आज यह निश्चय कर लिया है कि **भगं न**=हम धन के पीछे नहीं जाएँगे।

भग=धन का देवता अन्धा है, ऐश्वर्य-मदमत्त को धर्माधर्म का ज्ञान नहीं होता। लक्ष्मी का वाहन उल्लू है, वस्तुतः धनी आदमी कभी ठीक दृष्टिकोण से सोच नहीं पाता। धन शरीर, दृष्टि व ज्ञान सभी को विकृत कर देता है।

हि=निश्चय से हम तो हे प्रभो! **त्वा अनुचरामसि**=आपका अनुगमन करते हैं। आप १. **यशसम्**=यशस्वी हैं—आपका अनुगमन करके मेरा जीवन भी यशोन्वित होता है। मैं पापपूर्ण कर्मों से कोसों दूर रहता हूँ। २. **वसुविदम्**=आप निवास के लिए आवश्यक धन प्राप्त करानेवाले हैं। आपका अनुयायी बनकर मनुष्य भूखा थोड़े ही मरता है। ३. हे **शूर**='शॄ हिंसायाम्' आप जीव की शत्रुभूत अशुभवृत्तियों को समाप्त कर देनेवाले हैं।

धन के पीछे जाने से जहाँ वासनाओं का शिकार बनकर मैं अपने को क्षीणशक्ति कर लेता था, वहाँ आज आपकी शरण में आकर मैं वासनाओं का संहार करके अपने को तेजस्वी बना पाता हूँ और सचमुच इस मन्त्र का ऋषि 'भर्ग'—तेजस्वी बनता हूँ। वस्तुतः ऐसा बनना ही आपका गायन करनेवाला बनना है, अतः मैं 'प्रगाथः' होता हूँ।

भावार्थ—हम धन के पीछे न भागकर प्रभु के अनुयायी बनें।

ऋषिः—**रेभः काश्यपः पश्यन्मुनिः**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

दैवासुर सम्पद्-विभाग

२५४. या इन्द्र भुज आभरः स्वर्वां असुरेभ्यः।
स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः॥ २॥

'भुज पालने' धातु से भुज शब्द बना है। जो पदार्थ मानव के पालन के लिए आवश्यक हैं अथवा मनुष्य को जिनका अवश्य पालन करना है, वे भुज हैं। ये ही पुरुषार्थ कहलाते हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—यह इनका क्रम है। इनका सामान्य अभिप्राय यह है कि धर्मपूर्वक धन कमाकर, संसार के उचित कामों को ही स्वीकार करना मोक्ष का मार्ग है। दैवी वृत्तिवाले

मनुष्य इस तत्त्व को कभी नहीं भूलते कि १. धर्मपूर्वक ही अर्थ कमाना है और २. जीवन का उद्देश्य काम को न बनाकर मोक्ष को रखना है। इसके विपरीत आसुरी सम्पत्तिवाले लोग धर्म और मोक्ष को भूल जाते हैं, वे चतुर्भुज नहीं रहते, उनके दो ही 'भुज' रह जाते हैं—'अर्थ और काम'। प्रभु का स्तोता 'रेभः' कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **याः भुजः**=जिन पुरुषार्थों को आपने **असुरेभ्यः**=अपने ही स्वार्थ में लगे हुए, प्राण-पोषण में तत्पर असुरों से **आभरः**=(आहरः) हर लिया है, हे **मघवन्**=पापलवशून्य ऐश्वर्यवाले प्रभो! **अस्य**=इन पुरुषार्थों से **इत्**=निश्चयपूर्वक **स्तोतारम्**=अपने उपासक को **वर्धय**=बढ़ाइए और **ये च**=जो **वृक्तबर्हिषः**=उच्छिन्न वासनाओंवाले, निर्मल हृदय पुरुष **त्वे**=आपकी शरण में आये हैं, उन्हें भी इन पुरुषार्थों से बढ़ाइए।

असुर लोग जिन अर्थ, काम के विषय में अत्यन्त जागरूक हैं, दैवी सम्पत्तिवाले उन्हें जीवन में गौण स्थान देते हैं, इसके विपरीत जिन धर्म और मोक्ष के विषय में ये जागरूक हैं, वहाँ असुर लोग सोये हुए हैं, उन्हें इनका ध्यान भी नहीं है। धर्म और मोक्ष ही महत्त्वपूर्ण हैं, ऐसी इस रेभ की दृष्टि है।

'रेभः काश्यप'—'पश्यन् मुनि' इस मन्त्र का ऋषि है। यह 'स्वर्वान्'=स्वर्गलोकवाला होता है। इसके विपरीत अर्थ और काम को महत्त्व देना नरकरूप परिणामवाला है 'पतन्ति नरकेऽशुचौ'=कामासक्त, अपवित्र नरक में पड़ते हैं।

भावार्थ—मैं धर्म और मोक्ष को महत्त्व देता हुआ स्वर्ग में रहूँ। अर्थ व काम को महत्त्व देकर नरक का भागी न बनूँ।

ऋषिः—जमदग्निर्भार्गवः॥ देवता—आदित्यः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

पञ्चाङ्गपूर्ण जीवन

२५५. प्र मित्राय प्रार्यम्णो सचथ्यमृतावसो।
वरूथ्ये३ वरुणो छन्द्यं वचः स्तोत्रं राजसु गायत॥ ३॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि **ऋतावसो**=हे ऋत के धनी! **मित्राय अर्यम्णो**=मित्र और अर्यमा के लिए **वरूथ्ये वरुणो**=वरूथ्य और वरुण के विषय में तथा **राजसु**=राजा के विषय में **सचथ्यम्**=समवेत हो जानेवाले तथा **छन्द्यम्**=प्रबल इच्छा पैदा करनेवाले **वचः**=स्तुतिवचन का **प्रगायत**=खूब गायन करो। ऋत का अर्थ है ठीक। जो ठीक स्थान में व ठीक समय पर हो वह 'ऋत' है। जो व्यक्ति प्रत्येक क्रिया को ठीक स्थान व ठीक समय पर करने पर बल देता है, वह ऋतावसु=ऋत का धनी है। इसे निम्न पाँच व्यक्तियों को अपने जीवन का आदर्श बनाना चाहिए—

१. **मित्राय**=जो मित्र है—स्नेह करनेवाला है, जो अपने जीवन में किसी के साथ कटु व्यवहार नहीं करता, सबके साथ स्नेहपूर्वक ही चलता है। २. **अर्यम्णो**='अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति'=जो देनेवाला है, जो दान देता है, सदा पञ्च यज्ञ करके यज्ञशेष ही खाता है। ३. **वरूथ्ये**=जो धन के विषय में उत्तम है। (वरूथ=wealth)—अर्थात् धनी होकर धन का विनियोग सदा उत्तम कर्मों में ही करता है। धन के कारण उसमें शराब, व्यभिचारादि दुर्गुणों का प्रवेश नहीं हो गया है। ४. **वरुणो**=जो वरुण है—पाशी है—जो सैकड़ों व्रतों के पाशों में अपने को जकड़े रखता है। ५. **राजसु**=जिसका जीवन बड़ा नियन्त्रित (well regulated) है,

जिसकी प्रत्येक क्रिया सूर्य और चन्द्रमा की भाँति नियमित चाल से चलती है।

हमारे जीवन के आदर्श उल्लिखित पाँच व्यक्ति हों, हम इनके लिए स्तुतिरूप वचनों को बोलें, परन्तु इनके गुणों का गान केवल शाब्दिक न हो। वे गुण-वचन **सचथ्य** हों—हममें समवेत होनेवाले हों, अर्थात् वे गुण हमारे जीवन के अङ्ग बन जाएँ।

इस प्रकार जो व्यक्ति उल्लिखित पुरुषों के गुणों को अपने जीवन का अङ्ग बनाता है वह 'जमदग्नि' है, उसकी अग्नि पाचनशक्ति से पूर्ण है। उसने सुन-सुनाकर वहीं पल्ला नहीं झाड़ दिया, उसे अपचन नहीं हुई। वह एक के बाद एक गुण को अपने जीवन का अङ्ग बनाता चला है। इस प्रकार अपने जीवन का परिपाक करने से वह भार्गव है। (भ्रस्ज् पाके)

भावार्थ—हम स्नेह, दान, धन का उत्तम विनियोग, व्रतबन्धन व नियमितता इन पाँच गुणों से अपने जीवनों को विभूषित करें।

ऋषिः—**मेधातिथिः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

प्रभु की स्तुति—प्रभु का उपदेश

२५६. अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः।
समीचीनास ऋभवः समस्वरन् रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम्॥ ४॥

जो व्यक्ति 'मेधातिथि'=निरन्तर मेधा से गति करनेवाले होते हैं, वे हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **पूर्व्यम्**=औरों में ऐश्वर्य भरनेवालों में उत्तम (पुर्व पूरणे) **त्वा**=आपको **स्तोमेभिः**=स्तुतिसमूहों से **अभि**=दोनों ओर (प्राकृतिक दृश्यों में बाहर, और शरीर की रचना में अन्दर) **समस्वरन्**=स्तुत करते हैं (स्वृ-शब्दे)। ऐसा वे क्यों करते हैं? **पूर्वपीतये**=अपना पूरण और अपनी रक्षा के लिए। आपकी स्तुति के द्वारा आपके सम्पर्क में आने से स्तोता में भी आपकी शक्ति का प्रवाह बहता है और शक्तिसम्पन्न होकर वह अपनी रक्षा कर पाता है (पुर्व पूरणे, पा रक्षणे)। वस्तुतः प्रभु की स्तुति कौन करते हैं?

१. **आयवः**=(इण् गतौ)=गतिशील—सदा कर्मशील व्यक्ति, जो प्रभु के **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'** उपदेश को क्रियान्वित करते हैं—कभी अकर्मण्य नहीं होते।

२. **समीचीनासः**=(सम् अञ्च्) जिनकी गति तोड़-फोड़ के लिए न होकर निर्माण के लिए होती है, सम्यक् गति के कारण ये अभिपूजित होते हैं। उन्हें यश की कामना तो नहीं सताती, परन्तु उत्तम गति के कारण यश की प्राप्ति होती ही है।

३. **ऋभवः**=ऋतेन भान्ति—ये ऋत से दीप्त होते हैं। क्रियाशीलता से इनका शरीर नीरोग तथा सत्य से उनका मन निर्मल हुआ है और अब ४. **रुद्राः**=(रुत् र)—ज्ञान का ग्रहण करने से उन्होंने अपने विज्ञानमयकोश को दीप्त किया है। वस्तुतः प्रभु की सच्ची स्तुति ये ही लोग करते हैं और ये ज्ञानी लोग उस **पूर्व्यम्**=सबका पूरण करनेवाले प्रभु का **गृणन्तः**=उपदेश करते हैं (गृणाति उपदिशति)।

इस मन्त्र में 'अभि' शब्द दोनों ओर अन्दर और बाहर इन अर्थों का संकेत कर रहा है। प्राकृतिक दृश्यों में भी ये सौन्दर्य के निर्माता उस प्रभु की महिमा को देखते हैं। शरीर के अन्दर भी अङ्ग-प्रत्यङ्ग की रचना में ये उस प्रभु की रचना को देखते हैं। एवं, अन्दर-बाहर दोनों ओर प्रभु के माहात्म्य को देखने के कारण ये उसी में तन्मय रहते हैं, उसी की स्तुति

करते हैं और उसी का उपदेश देते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक हों, प्रभु के ही उपदेष्टा हों।

ऋषिः—**नृमेधपुरुमेधौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

उपदेश का स्वरूप (प्रभु-उपासना क्यों?)

२५७. प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत।
वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा ॥ ५ ॥

पिछले मन्त्र में समाप्ति पर कहा गया था कि **रुद्राः गृणन्त**=ये ज्ञान देनेवाले प्रभु का उपदेश करते हैं। इस मन्त्र में उस उपदेश का ही स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। वे कहते हैं कि हे **मरुतः**=सांसारिक वस्तुओं के पीछे मरनेवालो! इनके लिए इतना उत्कण्ठित क्यों होना? सारा सांसारिक ऐश्वर्य तो प्रभु से प्राप्त होता है। इस सबके स्वामी तो वे प्रभु ही हैं, अतः **वः इन्द्राय**=तुम सबको ऐश्वर्य देनेवाले उस प्रभु के लिए ही **ब्रह्म**=वेदमन्त्रों के द्वारा **प्र अर्चत**=खूब स्तुति करो। प्रभु का स्तवन तुम्हारा कल्याण-ही-कल्याण करेगा। २. **बृहते**=उस प्रभु के लिए तुम अर्चना करो जोकि वृद्धि के लिए हैं, केवल ऐश्वर्य की दृष्टि से ही नहीं, सभी दृष्टिकोणों से तुम्हारी वृद्धि होगी (बृहि वृद्धौ), तुममें सत्य, यश व श्री का निवास होगा। तुम सभी प्रकार से फूलो-फलोगे। ३. यह प्रभु का स्तोता ऐश्वर्य व समृद्धि को ही प्राप्त करता हो ऐसी बात नहीं है। यह **वृत्रं हनति**=ज्ञान को आवृत करनेवाली वासनाओं को, जिन्हें वृत्र कहते हैं, नष्ट कर डालता है। अकेले हमारे लिए वासनाओं से लड़ना कठिन हो जाता है। प्रभु से मिलकर हम उन्हें सरलता से जीत पाते हैं। प्रभु के साहाय्य से वृत्र को नष्ट करके यह उपासक **वृत्रहा**=वृत्र का नाशक कहलाता है। ४. वृत्र-नाश का यह परिणाम होता है कि यह **शतक्रतुः**=सौ-के-सौ वर्ष उत्तम प्रज्ञानों व कर्मोंवाला बनकर जीता है। प्रभु के सम्पर्क में आने से अन्दर से ज्ञान का स्रोत तो उमड़ता ही है, हृदय संकल्पों से भरा रहता है और हाथ सदा उत्तम कर्मों में लगे रहते हैं। अन्त में ५. यह उपासक **शतपर्वणा वज्रेण**=सैकड़ों पर्वोंवाले वज्र से युक्त होता है। 'वज्र' शब्द 'वज गतौ' से बनकर गतिशीलता का वाचक है। मानव जीवन में एक-एक वर्ष के बाद दूसरा-दूसरा वर्ष आकर १०० पर्वों का आना होता है। उपासक के ये सौ-के-सौ पर्व क्रियाशीलता में बीतते हैं। यह 'शतपर्व वज्र', सदा क्रिया में लगे रहना—उपासक का लक्षण और पहचान है। जिस प्रकार प्रभु स्वाभाविक क्रियावाले हैं, इसी प्रकार यह उपासक भी स्वाभाविक क्रियावाला है। यह सदा **'सर्वभूतहिते रतः'** रहता है और इसी से नृ-मेध=(मनुष्यों से सङ्गमवाला) कहलाता है। इसका सङ्ग उनका पालन व पूरण करता है, अतः यह 'पुरुमेध' है। इस उपासना का ही यह परिणाम है कि सदा स्वास्थ्यजनक क्रिया में लगे रहने के कारण यह 'आङ्गिरस'=रसमय अङ्गोंवाला रहता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से १. ऐश्वर्य मिलेगा, २. वृद्धि होगी, ३. वासनाओं पर विजय होगी ४. हम आजीवन उत्तम ज्ञान, संकल्प व क्रियायुक्त बनेंगे और ५. सर्वभूतहित साधक क्रिया हमारा स्वभाव बन जाएगी।

ऋषिः—नृमेधपुरुमेधावाङ्गिरसौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

सच्ची उपासना की पहचान

२५८. बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम्।
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि॥ ६॥

गत मन्त्र में कहा था कि प्रभु की वेदमन्त्रों से स्तुति करो—तुम्हें ऐश्वर्य प्राप्त होगा, तुम्हारी वृद्धि होगी, तुम वासनाओं को नष्ट कर पाओगे और शतक्रतु बनोगे। इस मन्त्र में उसी बात को विलोम प्रकार से कहते हैं कि यदि तुम्हारी वृद्धि होती है, तुम वासनाओं का विनाश कर पाते हो, और तुम्हारे अन्दर एक ज्योति उत्पन्न होती है तब समझ लो कि तुम्हारा स्तवन ठीक है, अन्यथा नहीं। **मरुतः**=विषयों के प्रति लालायित होनेवाले पुरुषो! उस **इन्द्राय**=परमैश्वर्य के दाता प्रभु के लिए **गायत**=गायन करो, जो गायन **बृहत्**=तुम्हारी वृद्धि का कारण है। **वृत्रहन्तमम्**=वासनाओं का अधिक-से-अधिक विनाश करनेवाला है और **येन**=जिससे **ज्योतिः**=प्रकाश को (ज्ञान को) **अजनयन्**=उत्पन्न करते हैं। **देवम्**=जो प्रकाशमय है तथा **देवाय**=आत्मा को **जागृवि**=जगानेवाला है। कौन उत्पन्न करते हैं? **ऋतावृधः**=ऋत के द्वारा, नियमितता के द्वारा अपना वर्धन करनेवाले।

स्तवन से जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है वह ज्ञान प्रकाशमय होता है। उसमें आत्मा को अपना कर्त्तव्य-पथ स्पष्ट दीखता है। इस ज्ञान से—जीवात्मा सदा जागता रहता है। यह ज्ञानी ज्ञान के कारण विषयों की माया-ममता को देखकर उनमें फँसता नहीं।

स्तवन से प्राप्य इस ज्ञान को पाते वे हैं जो ऋतावृध्—ऋत से—नियमित गति से आगे बढ़ते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के सच्चे स्तोता बनें और वृद्धि, वासना-विनाश व विज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

पिता जिस प्रकार पुत्रों के लिए

२५९. इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥ ७॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **नः**=हममें **क्रतुम्**=ज्ञान व संकल्प को **आभर**=सर्वथा भर दीजिए। उसी प्रकार **यथा**=जैसे **पिता पुत्रेभ्यः**=पिता पुत्रों के लिए। हे **पुरुहूत**=पालन व पूरण करनेवाले प्रभो! **अस्मिन् यामनि**=इस जीवन-यात्रा के मार्ग में **नः शिक्ष**=हमें उत्तम प्रेरणा दीजिए और उस प्रेरणा के अनुसार चलने के लिए समर्थ बनाइए (शक्+सन्)। आपकी कृपा से **जीवाः**=जीते-जी, इस जीवनकाल में ही हम **ज्योतिः**=ज्ञान के प्रकाश को **अशीमहि**=प्राप्त करें।

पिता का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने सन्तानों के मस्तिष्क में ज्ञान भरने की व्यवस्था करे। वह इस बात का ध्यान करे कि उनके हृदय उत्तम संकल्पों से पूर्ण हों तथा उनके हाथ सदा उत्तम कर्मों में लगे रहें। इस प्रकार उनके मस्तिष्क, हृदय व हाथों में क्रतु का निवास

हो। प्रभु हम सबके पिता हैं, अतः परमपिता से भी हम यही प्रार्थना करते हैं कि वे हमारे मस्तिष्कों को ज्योतिर्मय करें, हृदयों को संकल्पपूर्ण करें और हमारे हाथों में कर्म सामर्थ्य प्रदान करें।

पिता समय-समय पर सन्तानों को उत्तम प्रेरणा व कर्मशक्ति प्राप्त कराते रहते हैं। प्रभु से भी हमारी यही आराधना है कि वे हमें इस जीवन-यात्रा में सदा प्रेरणा प्राप्त कराते रहें और हमें शक्ति दें कि हम उस प्रेरणा को क्रिया में अनूदित कर सकें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम ज्योति प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**रेभः काश्यपः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

हमें अपने से दूर मत कीजिए

२६०. मा न इन्द्र परा वृणग्भवा नः सधमाद्ये।
त्वं न ऊती त्वमिन्न आप्यं मा न इन्द्र परावृणक्॥ ८॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **नः**=हमें **परावृणक्**=अपने से दूर (वृजी वर्जने) **मा**=मत कीजिए, आप **नः**=हमारे **सधमाद्ये भव**=(सह मद्) साथ आनन्द के लिए होओ। **त्वम्**=आप ही **नः**=हमारी **ऊती**=रक्षा के लिए होते हैं। **त्वम् इत्**=आप ही **नः**=हमारे **आप्यम्**=प्राप्य, पहुँचने योग्य अन्तिम लक्ष्य हैं। **इन्द्र**=प्रभो! **नः**=हमें **मा**=मत **परावृणक्**=परे कीजिए।

जिस समय जीव प्रभु से दूर हो जाता है, उस समय वह असुरों की भाँति केवल स्वार्थ की वृत्तिवाला होता है। आपस का बन्धुत्व उसे प्रतीत नहीं होता। प्रभु के समीप निवास का परिणाम यह होता है कि वह सभी प्राणियों के साथ अपना बन्धुत्व अनुभव करता है और अकेले खाने व पीने में उसे पाप प्रतीत होने लगता है—अकेला तो वह मुक्त होना भी पसन्द नहीं करता।

वस्तुतः औरों को बन्धु समझ, केवलादी न बनना और परमेश्वर को ही अन्तिम ध्येय समझना—ये दोनों बातें बड़े उच्च ज्ञान की अपेक्षा करती हैं, अतः इन दोनों बातों को काश्यप (पश्यक) वस्तुओं को ठीक रूप में देखनेवाला ज्ञानी ही अपने जीवन में ला सकता है। यह काश्यप परमेश्वर का सच्चा स्तोता भी है—स्तोता के लिए वैदिक शब्द 'रेभः' है। यह 'रेभ काश्यप' ही इस मन्त्र का ऋषि है। ऐहलौकिक जीवन में इसका लक्ष्य 'सधमाद्य'=मिलकर आनन्द प्राप्त करना है। यह यज्ञों के द्वारा सम्पत्ति का औरों के साथ विभाग करके सेवन करता है। अपने आध्यात्मिक जीवन में यह प्रभु को ही अपना लक्ष्य बनाता है (सा काष्ठा, सा परागतिः)।

भावार्थ—मैं अकेला खानेवाला न बनूँ, खाने में आसक्त न हो जाऊँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

पवित्र चश्मों में स्नान

२६१. वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परि स्तोतार आसते॥ ९॥

हे प्रभो! **स्तोतारः**=स्तोता लोग **घ**=निश्चय से **त्वा**=आपके **परि आसते**=आस-पास ही रहते हैं, आपसे दूर नहीं जाते। हे **वृत्रहन्**=वृत्रों के नाशक! आपके समीप रहने से वे स्तोता भी वृत्रों को समाप्त करने में समर्थ होते हैं। आपके समीप रहनेवालों को ये वृत्र—वासनाएँ पीड़ित नहीं करतीं। ये लोग **पवित्रस्य**=परम पवित्र आपके **प्रस्रवणेषु**=सहस्रधार स्रोतों के अन्दर स्नान कर रहे होते हैं। जैसे '**स्विन्नः स्नातो मलादिव**' जल से स्नान करनेवाला व्यक्ति पसीना आदि मलों से रहित हो जाता है, उसी प्रकार आपमें स्नान करके यह स्तोता मन व बुद्धि के मलों से रहित हो जाता है।

आपके पवित्र चश्मों में स्नान करनेवाले व्यक्तियों के लक्षण निम्न हैं—

१. **वयम्**=(वेञ् तन्तुसन्ताने) ये लोग कभी भी कर्मतन्तु का विच्छेद नहीं होने देते। इन्हें यह नहीं भूलता कि ये आत्मा हैं—(अत् सातत्यगमने) सतत गमन ही उनका स्वरूप है। उनके लिए प्रभु का आदेश '**कुर्वन्नेवेह कर्माणि**' कर्म करते हुए ही जीने का है।

२. **सुतावन्तः**=(सुतं=ज्ञानम्) ये उत्तम ज्ञानवाले होते हैं। ये प्रकृति के तत्त्वों को समझने का प्रयत्न करते हैं—और जीवों की प्रकृति का अध्ययन करते हैं। इन दोनों में ही इन्हें प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है।

३. **आपः न**=ये जलों की भाँति होते हैं। जल पवित्र करनेवाला है। इनके सम्पर्क में आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति भी पवित्रता का अनुभव करता है। ये जलों की भाँति ही शान्त होते हैं और स्वाभाविक रूप से क्रिया करनेवाले होते हैं।

४. **वृक्तबर्हिषः**=(वृजी वर्जने) दूर किया है उखाड़ने योग्य वासनाओं को जिन्होंने। जैसे किसान खेत से घास-फूँस को उखाड़कर खेत को स्वच्छ कर डालता है, उसी प्रकार ये लोग मन की मलिनता को दूर कर उसे पवित्र कर डालते हैं। इसी पवित्र स्थान पर वे प्रभु को देखने का प्रयत्न करते हैं। इसमें बुद्धिमत्ता नहीं कि हम प्रभु को बाहर बैठा दें। मूर्त्तिपूजक यही ग़लती करता है। यदि हमारे जीवनों में उल्लिखित चार बातें नहीं हैं तो वस्तुतः हम प्रभु के पवित्र प्रस्रवणों में स्नान नहीं कर रहे।

भावार्थ—हमारे जीवनों में क्रियाशीलता हो, उत्तम ज्ञान हो, शान्ति हो और मन का नैर्मल्य हो।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

ओज, नृम्ण, द्युम्न, पौंस्य

२६२. यदिन्द्र नाहुषीष्वा ओजो नृम्णं च कृष्टिषु।
यद्वा पञ्च क्षितीनां द्युम्नमा भर सत्रा विश्वानि पौंस्या॥ १०॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली तथा बल के सब कार्यों को करनेवाले प्रभो! **यत्**=जो **ओजः**=बल **च**=और **नृम्णम्**=धन **नाहुषीषु**=(नह बन्धने)=आपस में मिलकर चलनेवाले **कृष्टिषु**=उत्पादक श्रमवाले मनुष्यों में होता है, उसे **आभर**=सब प्रकार से हममें भर दीजिए। **यत् वा**=और **पञ्च क्षितीनाम्**=पाँचों भूमियों—कोशों की **द्युम्नम्**=ज्योति को **आभर**=हममें पूर्ण कर दीजिए। **विश्वानि**=सब **सत्रा पौंस्या**=सत्य पुरुषार्थों को हमें प्राप्त कराइए।

'कृष्टि' शब्द वेद में मनुष्य का वाचक है और यह संकेत कर रहा है कि मनुष्य को

कृषिप्रधान—श्रमशील जीवनवाला होना चाहिए। साथ ही उसे केवल अपने लिए न जीकर अपने जीवन को औरों के जीवनों के साथ सम्बद्ध करना चाहिए। इसी उद्देश्य से यहाँ 'नाहुषी' विशेषण दिया गया है। पशु, पक्षी सब अपने लिए ही जीते हैं, मनुष्य को सबके साथ मिलकर चलना ही ठीक है। जो औरों के लिए जीता है, वस्तुतः वही जीता है।

जो व्यक्ति श्रमशील जीवन बिताता है वह ओज प्राप्त करता है। क्रिया नीरोगता व शक्ति देती है। क्रिया के अभाव में मनुष्य को बीमारियाँ व अशक्ति आ घेरती हैं। क्रियाशीलता उसे जीवन के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराती है। वस्तुतः यह कृष्टि ब्रह्मचर्याश्रम में ओज प्राप्त करता है, तो गृहस्थ में धन।

वानप्रस्थ बनने पर यह अपने पाँचों कोशों को ज्योति से भरने का ध्यान करता है, क्योंकि ऐसा करके ही वह अपने संन्यासाश्रम में सफलता से सत्य पुरुषार्थों को सिद्ध कर पाएगा। इस प्रकार यह मन्त्र मानव-जीवन के चारों आश्रमों के चार केन्द्रीभूत लक्ष्यों को क्रमशः 'ओज, नृम्ण, द्युम्न व पौंस्य' इन शब्दों से प्रकट कर रहा है।

अपने अन्दर ओज=वाज=शक्ति भरने से यह 'भरद्वाज' बनता है और ज्योति भरने से यह 'बार्हस्पत्य' कहलाता है। इस ओज व द्युम्न से यह क्रमशः 'नृम्ण' व 'पौंस्य' को सिद्ध करता है। अपने ओज से प्राप्त धन 'नृम्ण' है, ज्ञानपूर्वक किया हुआ पुरुषार्थ 'सत्य पौंस्य' है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारी जीवन-यात्रा के चारों लक्ष्य ठीक प्रकार पूर्ण हों।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—**मेधातिथिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

परलोक भी, इहलोक भी

२६३. सत्यमित्था वृषेदसि वृषजूतिर्नोऽविता।
वृषा ह्युग्र शृण्विषे परावति वृषो अर्वावति श्रुतः॥ १॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि यदि तू सचमुच अपना जीवन पूर्वमन्त्र के चार शब्दों के अनुसार बिताता है तो **इत्था**=इस प्रकार **इत्**=निश्चय से **सत्यम्**=सचमुच **वृषा असि**=तू शक्तिशाली व धर्मयुक्त है (वृष=धर्म)। **वृषजूतिः**=ऐसा बनने पर तू शक्तिशाली व धर्मयुक्त क्रियाओंवाला कहलाएगा (जूति=क्रिया)। ऐसा करने पर ही तू **नः**=हमारे **अविता**=अंश का दोहन करनेवाला होगा (अव्=भागदुघे), अर्थात् तेरे लिए यह कहा जा सकेगा कि तू अपने अन्दर दिव्यता का अवतरण कर रहा है। हे **उग्र**=उदात्त—उत्कृष्ट स्वभाववाले जीव! **हि**=ऐसा करने पर ही तू **परावति**=दूर क्षेत्र में, अर्थात् परलोक व अध्यात्म के क्षेत्र में **वृषा**=शक्तिशाली **श्रुतः**=प्रसिद्ध होगा और ऐसा करने पर ही **अर्वावति**=समीप के, ऐहलौकिक क्षेत्र में भी **वृषः**=शक्तिशाली व धर्मयुक्त **शृण्विषे**=प्रसिद्ध होगा।

गत मन्त्र की चार बातों को अपने जीवन का लक्ष्य बनानेवाला व्यक्ति सचमुच शक्तिशाली व धार्मिक बनता है, उसकी प्रत्येक क्रिया धर्मानुकूल होती है। वह निरन्तर प्रभु की ओर बढ़ रहा होता है। उसे अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इस मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति ही समझदार है—मेधातिथि=यह निरन्तर मेधा के साथ चलनेवाला है

(मेधया अतति)।

भावार्थ—हम भी ओज व द्युम्न आदि को जीवन का ध्येय बनाकर अपने में दिव्यता का अवतरण करें।

ऋषिः—रेभः **काश्यपः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

अपरा प्रकृति में भी, परा प्रकृति में भी

२६४. यच्छक्रासि परावति यदर्वावति वृत्रहन्।
अतस्त्वा गीर्भिर्द्युगदिन्द्र केशिभिः सुतावाँ आ विवासति॥ २॥

इस मन्त्र का ऋषि 'रेभः काश्यपः' है। यह 'काश्यप' इसलिए है कि 'पश्यति' यह कण-कण में प्रभु की महिमा को देखता है। सूर्य, चन्द्र, तारे और सब लोकलोकान्तरों में यह उस प्रभु के कर्तृत्व को अनुभव करता है। उस प्रभु की अपार शक्ति को देखता हुआ यह उसका स्तोता 'रेभ' बनता है और कहता है कि हे **शक्र**=सर्वशक्तिमन्! **इन्द्र**=सर्वैश्वर्यशाली प्रभो! **यत्**=क्योंकि आप **परावति**=अपनी परा-प्रकृति में, अर्थात् जीव के अन्दर भी विद्यमान हैं और **यत्**=क्योंकि **अर्वावति**=अपरा-प्रकृति, अर्थात् इन पृथिवी आदि पञ्चभूतों की उपादानकारणभूत प्रकृति में भी आपकी महिमा दृष्टिगोचर होती है, **अतः**=इसलिए **गीर्भिः**=वेदवाणियों से **त्वा**=आपकी **आ**=सर्वथा **विवासति**=परिचर्या करता है। कौन? **सुतावान्**=जो उत्तम ज्ञानवाला है (सुत=ज्ञान, मतुप्=प्रशंसायाम्), अतएव **द्युगत्**=दिव्यता की ओर (द्युलोक की ओर) चल रहा है।

जो लोग खाने, पीने और सोने की दुनिया में ही विचरते हैं, वे पृथिवीलोक पर हैं। जो यश की इच्छा (ambition) से दुःखों की परवाह न करते हुए कुछ क्रूर कर्म भी कर जाते हैं, वे अन्तरिक्षलोक में विचरते हैं, और जो शान्त मनोवृत्ति से, यश की इच्छा से ऊपर उठकर अपने चारों ओर माधुर्य का प्रवाह बहाते हुए जीवन-यात्रा करते हैं, वे व्यक्ति द्युलोक में विचरनेवाले हैं। ये ही लोग वस्तुतः प्रभु के सच्चे उपासक हैं। ये सात्त्विक व्यक्ति नित्यसत्त्वस्थ होते हुए शरीर को छोड़ते ही सत्यस्वरूप प्रभु को प्राप्त करते हैं। ये द्युलोक के सूर्य की भाँति चमकते हैं। इनका ध्येय न तो आराम और न ही अर्थ व यश होता है। इनका लक्ष्य तो प्रभु का ज्ञान, दर्शन व प्राप्ति ही होता है, इसलिए ये प्रकृति का प्रयोग करते हुए भी उसमें आसक्त नहीं होते, नाना व्यक्तियों का विषम व्यवहार भी इन्हें व्यथित नहीं करता।

परन्तु प्रश्न यह है कि यह उच्च ज्ञान इन्हें प्राप्त कैसे होता है? इसका उत्तर मन्त्र में **'केशिभिः'** शब्द से दिया गया है। 'केशिनो द्युस्थाना देवताः' (नि०)=केशी द्युलोक की देवता है। वस्तुतः ये दिव्यता व प्रकाश में विचरणेवाले विद्वान् हैं। उनके सम्पर्क में आकर ही यह 'रेभः काश्यप' भी 'द्युगत् व सुतावान्' बना है। जैसों के सम्पर्क में हम आते हैं वैसे ही बन जाते हैं। 'द्युगत्' बनकर हम अनुभव करते हैं कि किस प्रकार प्रभु की महिमा के दर्शन ने हमें क्रोध व काम से (आसक्ति से) ऊपर उठाया है और हम कह उठते हैं कि हे प्रभो! आप सचमुच **वृत्रहन्**=वासना को विनष्ट करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम जीवों के व्यवहारों और प्रकृति के पदार्थों में प्रभु की महिमा को देखें, जिससे हम न तो किसी पर क्रुद्ध हों और न ही विषयों में आसक्त।

ऋषिः—वत्सः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

ज्ञान का प्रकाश, शक्ति का प्रवाह

२६५. अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय गिरा महा विचेतसम्।
इन्द्रं नाम श्रुत्यं शाकिनं वचो यथा॥ ३॥

इस मन्त्र का ऋषि 'वत्स' है—जो प्रभु की स्तुति का उच्चारण करता है (वदति), अतएव प्रभु का प्रिय है। यह अपने मित्रों से कहता है कि प्रभु **वः**=आपके शत्रुओं को **वीरम्**=विशेष रूप से कम्पित करके दूर करनेवाले हैं, **महा विचेतसम्**=महान् व विशिष्ट ज्ञानवाले हैं, उस प्रभु को लक्ष्य करके **अभिगाय**=खूब गायन करो। ऐसा तुम कर तभी सकोगे जब तुम्हारा निवास **अन्धसः**=आध्यातव्य सोम के **मदेषु**=मदों में होगा। सोम आध्यातव्य है। जो सोम अन्न के सप्तम स्थल में उत्पन्न होता है—वह सोम कितना ध्यान देने योग्य है? जब मनुष्य उसका ध्यान करता है तो उसका जीवन विशेष हर्ष व आनन्दवाला होता है। इस सोम की रक्षा करने पर शरीर नीरोग रहता है, मन निर्मल व बुद्धि तीव्र, इसीलिए इस सोम का पान करनेवाला व्यक्ति प्रभु का उपासक होता है—प्रभु के गुणों का गायन करता है।

वत्स कहता है कि **वचो यथा**=वेदवाणी में जैसा उपदेश दिया गया है, उसी प्रकार उस प्रभु का गायन करो—जो **इन्द्रं नाम**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाला है और बल के सब कार्यों को करनेवाला है। **श्रुत्यम्**=जो ज्ञान प्राप्त करानेवालों में सर्वोत्तम है। आचार्यों से भी ज्ञान प्राप्त होता है, परन्तु सर्वमहान् आचार्य तो वे प्रभु ही हैं। उस प्रभु के सम्पर्क में आने पर सारा अन्तरिक्ष ज्ञान के प्रकाश से जगमगा उठता है, क्योंकि प्रभु के ज्ञान का स्रोत अन्दर से उमड़ता है। **शाकिनम्**=वे प्रभु हमें शक्तिशाली बनानेवाले हैं। प्रभु की शक्ति का प्रवाह हमारे अन्दर भी बहने लगता है। अग्नि के सम्पर्क में आकर लोहे का गोला भी अग्नि की भाँति तमतमाने लगता है। इसी प्रकार जीव भी ब्रह्म के सम्पर्क में आकर 'ब्रह्म इव' हो जाता है। जीव भी ब्रह्म का छोटा-सा रूप बन जाता है।

भावार्थ—हम सोम की रक्षा करें। सोम के आनन्द में प्रभु का गायन करें। प्रभु वीर हैं, उनके गुणगान से हममें शक्ति का प्रवाह बहेगा। प्रभु महाविचेतस् हैं—हममें भी ज्ञान का प्रकाश होगा।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

चमकता हुआ अस्त्र (The Bright Weapon)

२६६. इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तये।
छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः॥ ४॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप हमें **त्रिधातु**=उचित मात्रा में होने पर सम्यक् धारण करनेवाले तीन तत्त्वों से युक्त कीजिए, अर्थात् वात, पित्त व कफ के साम्यवाला बनाइए। वात, पित्त व कफ साम्यावस्था में होते हैं, तो यह शरीर नीरोग रहता है। **शरणम्**=स्थूल शरीररूपी घर **यच्छ**=दीजिए।

हे इन्द्र! आप हमें **त्रिवरूथम्**=तीन वरूथ=रक्षाएँ (protection) **यच्छ**=प्राप्त कराइए। हमारी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि आसुर भावनाओं के आक्रमण से सुरक्षित रहें। सुरक्षित होकर

ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्राप्ति में लगी रहें, कर्मेन्द्रियाँ उत्तम कर्मों में व्याप्त रहें, मन शिवसंकल्पात्मक बने और बुद्धि विवेकमयी हो, इस प्रकार **स्वस्तये**=ये इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि हमारी उत्तम स्थिति के लिए हों। संक्षेप में स्थूलशरीर स्वस्थ हो तो सूक्ष्मशरीर सुन्दर व शिव हो।

हे इन्द्र! आप हमें **छर्दिः**=अपनी छत्रछाया—अपना रक्षारूप घर **यच्छ**=प्राप्त कराइए। आपकी छत्रछाया ही हमारे आनन्दमयकोश में निवास का साधन है, परन्तु यह छत्रछाया **मघवद्भ्यः च**=(मा—अघ) उन लोगों के लिए है, जिनकी सम्पत्ति पाप के सविलेश से शून्य उपायों से कमायी जाती है और **मह्यं च**=(मह् पूजायाम्) जो लोकसेवा के द्वारा आपकी पूजा में लगे हैं।

इस छत्रछाया का स्वरूप क्या है? **एभ्यः**=इन अपने कृपा-पात्रों के लिए आप **दिद्युम्**=देदीप्यमान ज्ञानरूप अस्त्र को **यावय**=संयुक्त कीजिए (यु=मिश्रण)। प्रभु जिसपर कृपा करते हैं, उसकी बुद्धि को निर्मल करके उसके ज्ञान को दीप्त करते हैं। यह चमकता हुआ ज्ञान ही वह अस्त्र है जिससे काम, क्रोधादि आन्तर शत्रुओं का संहार होता है।

एवं, यह प्रभु का कृपा-पात्र स्वस्थ शरीरवाला होकर सबल बनता है और 'भरद्वाज' कहलाता है। इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि के दीप्त होने से यह देदीप्यमान ज्ञानवाला होकर 'बार्हस्पत्य' बनता है। यह 'भारद्वाज बार्हस्पत्य' ही आदर्श पुरुष है।

भावार्थ—प्रभो! आपकी कृपा से हम स्वस्थ शरीर, निर्मल मन व बुद्धिवाले बनकर सदा आपकी छत्रछाया में विचरें।

ऋषिः—**नृमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

साम्यवाद (१)—कार्य शक्ति के अनुसार, भोजन आवश्यकतानुसार

२६७. श्रायन्तइव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।
वसूनि जातो जनिमान्योजसा प्रति भागं न दीधिमः॥ ५॥

श्रम—इस मन्त्र का ऋषि 'नृमेध' मनुष्यों के साथ मिलकर चलनेवाला है। यह कहता है कि **सूर्यम् इव**=सूर्य के समान **श्रायन्तः**=(श्रै=to sweat, to perspire) अत्यन्त श्रम के कारण पसीने से तर-बतर होते हुए **विश्वा इत्**=सभी मिलजुलकर **इन्द्रस्य**=उस प्रभु के अन्नों का **भक्षत्**=सेवन करो। 'श्रायन्त इव सूर्यम्'=इस उपमा से स्पष्ट है कि सबको अपनी शक्ति के अनुसार काम करना है, बिना श्रम के किसी को खाने का अधिकार नहीं है। साम्यवाद का मौलिक सिद्धान्त यही है 'जो जितना कार्य कर सकता है, वह उतना कार्य करे ही'।

भोजन—'उस श्रम से उत्पन्न धनों का आवश्यकतानुसार विभाजन हो।' वेद कहता है कि **ओजसा**=शक्ति से **जाता**=उत्पन्न हुए-हुए **उ**=और **जनिमानि**=पैदा होनेवाले **वसूनि**=धनों को **प्रतिभागं न**=आवश्यकता के अनुसार (भज=सेवायाम्, भागम्=जितना सेवनीय हो) **दीधिमः**=धारण करें।

वह समाज, 'जिसमें सब अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करते हैं, और आवश्यकता के अनुसार खाना पाते हैं', आदर्श समाज है। प्रत्येक घर में यही व्यवस्था चलती है। वहाँ शक्ति के अनुसार सभी कार्य करते हैं, परन्तु कुछ भी न कमानेवाले बच्चे को सबसे अधिक दूध मिलता है। बस, इस घर में लागू हुए-हुए नियम को ही सारे समाज में व्यापक कर देना चाहिए। इस नियम के पालन के बिना जैसे घर नहीं चल सकता, इसी प्रकार यह नियम

सामाजिक जीवन के उत्थान के लिए भी आवश्यक है। ऐसे समाज में सब मिल-जुलकर चलते हैं, 'नृ-मेध' हैं और अनासक्त होने से सदा कार्यों में व्याप्त रहने से ये 'आङ्गिरस' हैं। इनका एक-एक अङ्ग रस व शक्तिवाला है।

भावार्थ—हमारे समाज का आदर्श-वाक्य यह हो कि 'कार्य शक्ति के अनुसार और धन का विभाग आवश्यकता के अनुसार।'

ऋषिः—पुरुहन्मा आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

साम्यवाद (२)—किसको अन्न मिले?

२६८. न सीमदेव आप तदिषं दीर्घायो मर्त्यः।
एतग्वा चिद्य एतशो युयोजत इन्द्रो हरी युयोजते॥ ६॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि **दीर्घायो**=हे दीर्घ जीवनवाले! **अदेवः मर्त्यः**=क्रियाशून्य, आरामतलब मनुष्य **सीम्**=निश्चय से **तत् इषम्**=उस अन्न को (जो श्रम से पैदा किया जाता है) **न आप**=प्राप्त न करे। यहाँ 'दीर्घायो' सम्बोधन से यह बात सुव्यक्त है कि यदि घर में यह नियम न बनेगा और युवक निठल्ले व आरामपसन्द होंगे तो वह घर देर तक न चलेगा। यही बात समाज व राष्ट्र में लागू होती है। समाज के दीर्घ जीवन के लिए सबको कुछ उत्पन्न करना है। अकर्मण्य लोग राष्ट्र के लिए भाररूप होते हैं और राष्ट्र की अवनति का कारण बनते हैं। इसलिए नियम यही होना चाहिए कि **एतग्वाचित्**=वही (एतं 'इषं' गच्छति इति एतग्वा) इस अन्न को प्राप्त करनेवाला हो **यः**=जो **एतशः**=इस शरीररूप रथ में जुते इन चित्रित घोड़ों को **युयोजते**=निरन्तर जोते रखता है, अर्थात् जो सदा क्रियाशील हो, वही अन्न पाने का अधिकारी समझा जाए।

और वस्तुतः **इन्द्रः**=जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है वह **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप दोनों घोड़ों को **युयोजते**=कर्म में व्यापृत रखता है। इन शब्दों में इन्द्रियों को कार्य-व्यापृत रखने का वैयक्तिक लाभ भी इस रूप में संकेतित हुआ है कि 'तुम इन्द्रियों के अधिष्ठाता बने रहोगे—इन्द्रियों के दास न बनोगे।'

शक्तिभर कार्य करते रहने से दो लाभ हुए—१. सामाजिक लाभ तो यह कि समाज उन्नत, समृद्ध व दीर्घजीवी होता है और २. वैयक्तिक लाभ यह कि मनुष्य की इन्द्रियाँ उसे व्यसनों की ओर नहीं ले-जातीं।

इस प्रकार अपनी गति से अपना पालन व पूरण करनेवाला यह 'पुरुहन्मा' ('पॄ=पालन व पूरण, हन्=गति) है और गति के ही परिणामस्वरूप शक्तिशाली अङ्गोंवाला 'आङ्गिरस' है।

भावार्थ—जो शक्ति होते हुए भी कार्य न करे, उसे अन्न न मिलना चाहिए।

ऋषिः—नृमेधपुरुमेधावाङ्गिरसौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

साम्यवाद (३)—साम्यवाद कैसे प्रचलित हो? प्रभु-स्मरण (ब्रह्म+सवन) के द्वारा

२६९. आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्रं समत्सु भूषत।
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन् परमज्या ऋचीषम॥ ७॥

गत दो मन्त्रों में उन दो सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है जो आज के युग में 'साम्यवाद' के नाम से प्रसिद्ध हैं। किसी भी समाज के उत्थान व दीर्घजीवन के लिए वे आवश्यक हैं, परन्तु उन सिद्धान्तों का प्रचलन तभी हो सकता है जब समाज के अङ्गभूत व्यक्ति प्रभु को स्मरण करते हुए अपना पारस्परिक बन्धुत्व अनुभव करें। घर के अन्दर तो बन्धुत्व अनुभव होता है तभी यह सिद्धान्त वहाँ लागू हो पाता है, अतः मन्त्र में 'नृ-मेध' के द्वारा कहा जाता है कि **नः**=हमारी **विश्वासु समत्सु**=सब सभाओं में (सम्+अत्=अज्) **हव्यम् इन्द्रम्**=उस पुकारने योग्य प्रभु को **आभूषत**=सब प्रकार से अलंकृत किया जाए। इकट्ठा होने पर सदा, प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में हम उस प्रभु का स्मरण करें, जिससे हम पारस्परिक बन्धुत्व का अनुभव करें। हम एक हों और **उप**=सदा प्रभु के समीप रहने का प्रयत्न करें। उसके समीप रहने से हमारे जीवन में **ब्रह्माणि**=स्तोत्र होंगे, **सवनानि**=यज्ञ होंगे। प्रभु के समीप, उसकी महिमा को देखते हुए, उसके स्तोत्रों का उच्चारण तो हम करेंगे ही, साथ ही हमारा जीवन यज्ञमय होगा। हम सदा उत्तम कर्मों को करनेवाले होंगे।

हे **वृत्रहन्**=आप वृत्रों को समाप्त करनेवाले हैं, हम आपके समीप रहेंगे तो आप हमारी वासनाओं को विनष्ट कर डालेंगे। **परमज्या**=वे प्रभु तो एक प्रबल शक्ति हैं (ज्या=overpowering strength) उनके समीप रहकर मैं भी तो उस शक्ति से सम्पन्न होऊँगा।

ऋचीषम=वे स्तुति के समान गुणोंवाले हैं। जिस रूप में हम प्रभु का स्मरण करते हैं, तदनुरूप गुणों को हम धारण कर पाते हैं, अतः प्रभु का स्मरण करते हुए हम अपने जीवनों को उच्च बना पाएँगे।

प्रभु के साथ यह सङ्गम हमारा पालन व पूरण करेगा—हम 'पुरुमेध' होंगे। प्रभु के सम्पर्क में आकर बन्धुत्व अनुभव करने के कारण हम 'नृमेध' तो होंगे ही, सबके साथ मिलकर चलेंगे। उल्लिखित साम्यवाद के सिद्धान्त हमारे जीवन-व्यवहार में सहज समा जाएँगे।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से हम सबके साथ बन्धुत्व का अनुभव करें।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

अवम, मध्यम व परम वसु

२७०. तवेदिन्द्रावमं वसु त्वं पुष्यसि मध्यमम्।
सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि न किष्ट्वा गोषु वृण्वते॥ ८॥

मन्त्र के ऋषि वसिष्ठ कहते हैं कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **अवमं वसु**=सबसे निचली श्रेणी का वसु **तव इत्**=आपका ही है। **मध्यमं वसु**=मध्यम वसु को भी **त्वम्**=आप ही **पुष्यसि**=धारण करते हो। **सत्रा**=सचमुच **विश्वस्य**=सम्पूर्ण **परमस्य**=सर्वोत्कृष्ट वसु के भी **राजसि**=आप ही राजा हो—उससे भी आप ही देदीप्यमान हो। इस प्रकार सब वसुओं के धारण करनेवाले **त्वा**=आपको **गोषु**=इन्द्रियों में फँसे हुए व्यक्ति **नकिः**=नहीं **वृण्वते**=वरते हैं।

'वसु' शब्द उस धन का वाचक है जो निवास के लिए उपयोगी है। वसु के द्वारा हम अपने निवास को उत्तम बनाते हैं। सबसे अवम वसु 'धन' है। धन के बिना यह प्राकृतिक शरीर अपनी आवश्यकताओं को कैसे पूरा कर सकता है? अन्न व वस्त्र सभी धन से प्राप्य हैं। मानस शिक्षा व बौद्धिक विकास के लिए भी साधनों को जुटाना धन से ही साध्य है।

मध्यम वसु 'स्वास्थ्य' है। अस्वस्थ मनुष्य किसी भी धर्म, अर्थादि पुरुषार्थ को सिद्ध नहीं कर पाता।

परम वसु 'ज्ञान' है। इस ज्ञान के अभाव में मनुष्य पशुओं से ऊपर नहीं उठ पाता। ज्ञान-अग्नि ही उसके जीवन को पवित्र करती है और उसे मनुष्य पदवी के योग्य बनाती है।

धन, स्वास्थ्य और ज्ञान—इन तीनों वसुओं के चरम आश्रय वे प्रभु ही हैं। फिर भी न जाने क्यों मनुष्य उस प्रभु का वरण नहीं करते? यह सचमुच आश्चर्य ही है! प्रभु का वरण न करने का कारण वेदमन्त्र के अनुसार यह है कि 'गोषु'=मनुष्य इन्द्रियों में ग्रसित हो जाता है। प्रभु का वरण यह तभी कर पाएगा जब इन्द्रियों को वश में करके 'वसिष्ठ' बनेगा। वसिष्ठ ही प्रभु का वरण करता है। वसिष्ठ बनने के लिए उसे 'मैत्रावरुणि' मित्र और वरुण अर्थात् प्राणापान की साधना करनी होगी।

भावार्थ—प्रभु का वरण करके हम वसुत्रयी को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

कहाँ भटकते रहे?

२७१. क्वेयथ क्वेदसि पुरुत्रा चिद्धि ते मनः।
अलर्षि युध्म खजकृत् पुरन्दर प्र गायत्रा अगासिषुः॥ ९॥

गत मन्त्र में यह स्पष्ट हो चुका है कि जब इन्द्रियाँ मन को हर ले-जाती हैं और विषयों में भटकती रहती हैं तब वे प्रभु के वरण से कोसों दूर होती हैं। मेधातिथि=समझदार व्यक्ति शम और दम की साधना करता है और इन्द्रियों व मन को अपने में निरुद्ध करने के लिए यत्नशील होता है। यह अपने को इस रूप में प्रेरणा देता है कि—

अरे भाई! **क्व इयथ**=कहाँ भटकते रहे? **क्व इत् असि**=अब भी कहाँ भटक रहे हो? **ते मनः पुरुत्राचित् हि**=तेरा मन निश्चय से अनेक विषयों में जा रहा है। पृथिवी के एक कोने से दूसरे कोने तक यह भटकता है, समुद्रों, पर्वतों व दिशाओं के अन्तों तक यह जाता है। इसी प्रकार यह भटकता रहा तो मुक्ति कैसे होगी। इसलिए तू **अलर्षि**=(अल्=to prevent, ward off) आज अपने मन पर होनेवाले इन विषयों के आक्रमणों को रोकता है और इनको रोकने के द्वारा ही तू अपने मन को (अल् भूषणे) उत्तम गुणों से विभूषित करने का निश्चय करता है। **युध्म**=तू इनके साथ युद्ध करने में बड़ा कुशल बनता है, किसी भी प्रकार इनके धोखे में नहीं आता। **खजकृत्**=इनके विनाश के लिए ही तू अपना मन्थन (अन्तः निरीक्षण) करता है। इन्द्रियों, मन और बुद्धि में अपना अधिष्ठान बना ये वासनाएँ हमारे अन्दर ही छिपी बैठी होती हैं। उन्हें क़िलों से ढूँढ निकालने के लिए ही तू अपने अन्दर टटोलता है, इनकी तीनों पुरियों का विदारण करनेवाला तू **'पुरन्दर'** बनता है। महादेव त्रिपुरारि हैं—तू भी आज त्रिपुरारि बनकर महादेव-सा ही बन जाता है।

ऐसा बनने के लिए ही **गायत्राः**=प्रभु के स्तोत्रों के गायन से अपना त्राण करनेवाले उपासक लोग **प्र अगासिषु**=प्रभु के गुणों का खूब ही गायन करते हैं। यह प्रभु का गुणगान अवद्य भावनाओं को हमसे दूर रखता है। यह गुणगान की ध्वनि असुरों को नहीं सुहाती। इस ध्वनि का उच्चारण हुआ और असुर दूर भागे।

इस प्रकार इन आसुर वृत्तियों को अपने से दूर भगाकर यह 'मेधातिथि'=समझदार आदमी 'मेध्य'=उस परम पवित्र प्रभु की ओर 'अतिथि' चलनेवाला 'मेध्यातिथि' बन जाता है।

भावार्थ—हम मन को वश में करके उसे प्रभु में युक्त करें।

ऋषिः—**कलिः प्रागाथः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

कलि के दो निश्चय

२७२. वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम्।
तस्मा उ अद्य सवने सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते॥ १०॥

जो व्यक्ति अच्छी प्रकार हिसाब-किताब लगाकर समझ लेते हैं कि 'श्रेय और प्रेय में श्रेय ही उपादेय है, न कि प्रिय (pleasant) होता हुआ भी प्रेय'—वे इस संख्यान=हिसाब-किताब के कारण 'कलि' (कल् संख्याने) कहलाते हैं। इनका जीवन प्रभु के गुणगान में व्यतीत होता है, अतः ये 'प्रागाथ' कहलाते है।

इनका निश्चय है कि **वयम्**=कर्मतन्तु को अविच्छिन्न रखनेवाले **इत्**=निश्चय से **आ**=सब प्रकार से **ह्यः**=जैसे कल उसी प्रकार **इह**=आज के दिन भी **एनम्**=इस प्रभु को ही **अपीपेम**=आप्यायित करते हैं। स्तोत्रों के द्वारा उस प्रभु की महिमा को बढ़ाते हैं, क्योंकि ये प्रभु **वज्रिणम्**=वज्रवाले हैं। वज्र=गतिशीलता से मेरे सब शत्रुओं को कुचलनेवाले हैं (वज गतौ) गतिशीलता से वासनाओं व मलों का नाश सुप्रसिद्ध है।

तस्मै=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **उ**=ही **अद्य**=आज **सवने सुतम्**=(हवने हुतम्, स=ह) अग्निहोत्र में आहुतियों को **भर**=डालता हूँ। यज्ञ=स्वार्थत्याग प्रभु-प्राप्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्रकृति को छोड़े बिना हम प्रभु को पा ही नहीं सकते। उस प्रभु की प्राप्ति के लिए ही कलि कहता है कि **नूनम्**=निश्चय से **श्रुते**=शास्त्र-श्रवण व ज्ञान के विषय में **भूषत**=अपने को अलंकृत करो। ज्ञान के बिना यज्ञिय भावना का उदय सम्भव नहीं है। एवं, ज्ञान और यज्ञ ये दो प्रभु-प्राप्ति के उपाय हैं।

भावार्थ—हम भी कलि के साथ यह निश्चय करें कि हम अपने हृदयों को यज्ञिय व मस्तिष्क को श्रुतपूर्ण बनाएँगे और इस प्रकार बनकर प्रभु को प्राप्त करनेवाले होंगे।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—**पुरुहन्मा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

पुरुहन्मा का जीवन

२७३. यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठं यो वृत्रहा गृणे॥ १॥

इस मन्त्र का ऋषि पुरुहन्मा है—पालक व पूरक गतिवाला। इसका जीवन इतना उत्तम बनता है कि प्रभु कहते हैं कि **गृणे**=मैं इसकी प्रशंसा करता हूँ। हम प्रभु से प्रशंसनीय हों,

इससे उत्तम बात क्या हो सकती है? 'गृणे' का अर्थ 'उपदेश देता हूँ' भी होता है। प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा को वेदज्ञान दिया, क्योंकि **'यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्'**=इनका जीवन श्रेष्ठ व निर्दोष था। पुरुहन्मा के जीवन को भी प्रभु निर्दोष समझते हैं—और उसे उपदेश देते हैं। यह निर्दोष जीवन निम्न शब्दों में चित्रित हो रहा है—

१. **यः चर्षणीनां राजा**=जो श्रमशीलों के अन्दर चमकनेवाला है। उत्पादक श्रम करनेवाले पुरुषों का मुखिया है। (चर्षणयः—कर्षणयः)

२. **रथेभिः याता**=इस शरीररूप रथ तथा उसमें जुते हुए ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों, मनरूपी लगाम व बुद्धिरूप सारथि के द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त करनेवाला बनता है। 'रथेभिः' यह बहुवचन का प्रयोग रथ के सारे अङ्गों के बाहुल्य के विचार से ही हुआ है।

३. **अध्रिगुः**=(अधृतगमनः)—अल्पज्ञता व अल्पशक्तिवश कहीं-कहीं इससे ग़लती हो ही जाती है—यह लड़खड़ा जाता है, परन्तु असफलताओं से निराश नहीं हो जाता, सँभलकर फिर आगे बढ़ता है। इसी का परिणाम है कि—

४. **विश्वासां पृतनानाम्**=अभ्यास के द्वारा, शक्तियों का विस्तार करनेवालों में यह सबसे आगे बढ़ जाता है, **तरुता**=इन्हें तैर जाता है। **'अति समं क्राम'** इस वेदोपदेश को यह क्रियान्वित करता है।

५. **ज्येष्ठम्**=सभी से आगे बढ़ जाने के कारण ही यह ज्येष्ठ है। **यः वृत्रहा**=यह सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाला है। इसे प्रभु प्रशंसित करते हैं और उपदेश देते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवनों में भी वह दिन आये जब हम प्रभु से प्रशंसित व उसके उपदेश के अधिकारी समझे जाएँ।

ऋषिः—**भर्गः प्रागाथः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

अभय-याचना

२७४. यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतये वि द्विषो वि मृधो जहि॥ २॥

इस मन्त्र का ऋषि '**भर्गः प्रागाथः**' है। पिछले मन्त्र के वर्णन के अनुसार जो व्यक्ति 'पुरुहन्मा' के जीवन को अपनाएगा वह अवश्य तेजस्वी बनेगा और यदि प्रभु का गायन करते हुए 'प्रागाथ' इस नाम को सार्थक करेगा तो उसकी यह तेजस्विता बनी ही रहेगी, परन्तु ज्योंहि यह प्रभु से दूर हुआ इसे भय प्राप्त हुआ, अतः यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **इन्द्र**=हे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **यतः भयामहे**=जहाँ-जहाँ से हमें भय प्राप्त हो **ततः**=वहाँ-वहाँ से **नः**=हमें **अभयं कृधि**=निर्भय कीजिए। मैं वासनाओं के साथ युद्ध तो करूँगा, परन्तु क्या अकेला मैं उन्हें जीत पाऊँगा? नहीं, कदापि नहीं। हे **मघवन्**=अनन्त ऐश्वर्यशाली प्रभो! **शग्धि**=आप शक्तिशाली हैं, इन वासनाओं से युद्ध में आप ही मुझे विजय प्राप्त कराएँगे। आप ही समर्थ हैं। इन वासनाओं पर यदि विजय होती है तो **तत्**=वह **तव**=आपकी ही है। उसमें मेरा क्या है? यह विचार ही **नः**=हमारे **ऊतये**=रक्षण के लिए होता है अन्यथा वासनाओं पर विजय का गर्व होकर फिर हम अभिमान के शिकार हो जाते हैं और इस अभिमान में पड़कर राग-द्वेष के चक्र में चल पड़ते हैं, अतः प्रभो! आप कृपा

करो—हमारी वृत्ति को अभिमानरहित करो और **विद्विषः**=द्वेष की भावनाओं को, **विमृधः**=हिंसा की वृत्तियों को **जहि**=हमसे दूर करो। हमारा जीवन निर्भयता के साथ माधुर्यमय हो। '**भूयासं मधु संदृशः**'=मैं मधु-जैसा ही बन जाऊँ। अभिमान मुझे द्वेष और हिंसा की ओर न घसीट ले-जाए।

भावार्थ—मैं अनुभव करूँ कि मेरी जीवन-यात्रा को पूर्ण करनेवाले प्रभु ही हैं।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

इरिम्बिठि का प्रभु स्तवन

२७५. वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणांसत्रं सोम्यानाम्।
द्रप्सः पुरां भेत्ता शश्वतीनामिन्द्रो मुनीनां सखा॥ ३॥

वास्तोष्पते=हमारे शरीररूप घरों के रक्षक प्रभो! (वास्तु=घर, गृह) आप हमारे जीवन-भवन के **ध्रुवा स्थूणा**=ध्रुव स्तम्भ हो। **सोम्यानाम् अंसत्रम्**=निरभिमान भक्तों के कन्धों के रक्षक हो, अर्थात् उनपर सदा आपके वरदहस्त की छाया बनी रहती है। **द्रप्सः**=भक्तों को आप हर्षित करनेवाले हो—उन्हें पवित्र मनःप्रसाद प्राप्त होता है। आप अपने भक्तों के **शश्वतीनाम्**=सनातन काल से चले आ रहे **पुराम्**=शरीररूप नगरियों के **भेत्ता**=विदारण करनेवाले हैं। वासनाएँ इन्द्रियों, मन और बुद्धि को अपना अधिष्ठान बनाती हैं—प्रभु की कृपा से ये पवित्र होकर वासनाओं के दुर्ग नहीं रहते।

प्रभु इन वासनाओं का संहार करके हमें उच्च ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यवाले हैं और अन्त में **मुनीनां सखा**=वे प्रभु मुनियों के सखा हैं। **मौनान्मुनिः**=कम बोलनेवालों के वे प्रभु मित्र हैं। जो बोलते कम हैं और अपने कर्त्तव्य कर्म को अप्रमाद से करते चलते हैं, वे मुनि कहलाते हैं। प्रभु की मैत्री इन्हीं को प्राप्त होती है।

वस्तुतः 'ईर गतौ, बिठं=हृदयान्तरिक्षम्' जिसके हृदयान्तरिक्ष में कर्म संकल्प है, उस इरिम्बिठि को क्रियाप्रधान व मौनवाला होना ही चाहिए। बहुत बोलने से शक्ति का व्यर्थ में ही यापन होता है।

इस प्रकार स्तुति करता हुआ इरिम्बिठि निम्न बोध लेता है—१. मुझे प्रभु के दिये इस गृह की रक्षा करनी है-इसे स्वस्थ रखना है। २. जीवन का मूलाधार प्रभु को ही मानना है, ३. सौम्य बनकर प्रभु के वरदहस्त को अपने सिर से दूर नहीं होने देना है, ४. मनःप्रसाद को नष्ट नहीं करना है, ५. शरीर, मन व इन्द्रियों को असुर नगरी नहीं बने रहने देना है, ६. प्रभु के सम्पर्क में आकर परमैश्वर्य को पाना है और ७. यथासम्भव कम बोलते हुए प्रभु की मैत्री का पात्र बनना है। इस प्रकार का जीवन बनानेवाला ही 'काण्व'=मेधावी है।

भावार्थ—हम सौम्य बनें, जिससे सदा प्रभु की छत्रछाया में रहें।

ऋषिः—जमदग्निर्भार्गवः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते

२७६. बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।
महस्ते सतो महिमा पनिष्टम मह्ना देव महाँ असि॥ ४॥

इस मन्त्र का ऋषि 'जमदग्नि भार्गव' है। जमत्=खूब खानेवाली है अग्नि=वैश्वानराग्नि जिसकी, ऐसा यह जमदग्नि ऋषि है। तेजस्वी होने से यह भार्गव है। इसने अपना खूब परिपाक किया है। पाचनाग्नि ठीक रहेगी तो शरीर स्वस्थ रहेगा। पाचनाग्नि ठीक तब रहेगी जब हम रस में फँस भोजन का अतियोग न कर बैठेंगे। **'रसमूला हि व्याधयः'**=सब बीमारियाँ इस रस=स्वाद के कारण ही उत्पन्न होती हैं। इस रस को हम तब जीत पाएँगे जब उस महान् रस का (रसो वै सः) अनुभव करेंगे। जमदग्नि प्रभु-दर्शन की कामना से प्रभु की विभूतियों में उसकी महिमा के दर्शन का प्रयत्न करता है और कहता है कि हे **सूर्य**=आकाश में निरन्तर आगे बढ़नेवाली ज्योति! तू **बट्**=सचमुच कितनी **महान् असि**=महान् है! पृथिवी से साढ़े तेरह लाख गुणा बड़ा, ६४ हज़ार मील ऊँची लपटोंवाला, साढ़े नौ करोड़ मील दूरी से इतनी तीव्र ज्योति प्राप्त करानेवाला सूर्य सचमुच महान् है। हे **आदित्य**=आदान करनेवाले **बट्**=तू सचमुच कितना **महान् असि**=महान् है। आदान करने की तेरी शक्ति की क्या कोई तुलना कर सकता है? समुद्र-के-समुद्र को उठाकर किस प्रकार तू अन्तरिक्ष में ले-जाता है। तेरे आदान की यह भी विशेषता है कि तू शुद्ध-मधुर जल का ही ग्रहण करता है। हम भी माधुर्य का ही ग्रहण करें। तेरी ही भाँति क्रियाशील बनकर तेजस्वी बनें।

हे प्रभो! आप तो **महः**=तेजस्विता के पुञ्ज ही हो, **तेजोऽसि**=तेज-ही-तेज हो, अतएव **सतः ते**=सत्ता व पवित्रतावाले तेरी **महिमा**=गौरव **पनिष्टमः**=स्तुत्यतम है—अधिक-से-अधिक स्तुति करने योग्य है। इस प्रकार ध्यान करता हुआ जमदग्नि कह उठता है कि हे **देव**=दिव्यशक्ते! तुम तो **मह्ना**=अपनी महिमा से **महान् असि**=सचमुच महान् हो—पूजा के योग्य हो। मैं सब ओर आपकी ही महिमा को देखता हूँ और आपके प्रति नतमस्तक होता हूँ।

भावार्थ—हमारे जीवन का आदर्श भी 'जमदग्नि भार्गव' बनना हो।

ऋषिः—**देवातिथिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु का मित्र

२७७. अश्वी रथी सुरूप इद्गोमाँ यदिन्द्र ते सखा।
श्वात्रभाजा वयसा सचते सदा चन्द्रैर्याति सभामुप॥ ५॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **यत्**=जो **ते सखा**=तेरा मित्र होता है, वह १. **अश्वी**=उत्तम कर्मेन्द्रियरूप अश्वोंवाला होता है (अश्नुते कर्मणि—अश्व=कर्मेन्द्रिय)। प्रकृति में न फँसा होने के कारण उसके कर्म पवित्र होते हैं। २. **रथी**=वह शरीररूप उत्तम रथवाला होता है। न व्यसन, न रोग—शरीर तो उत्तम होना ही हुआ। ३. **सुरूप इत्**=यह निश्चय से उत्तम रूपवाला होता है। स्वास्थ्य इसके उत्तम रूप का कारण बनता है। ४. **गोमान्**=इसकी ज्ञानेन्द्रियाँ प्रशस्त होती हैं (गमयन्ति अर्थान् गावः=ज्ञानेन्द्रियाणि)। वस्तुतः प्रभु का स्मरण करने व उसका सखा बनने पर शरीर, मन व बुद्धि सभी खूब स्वस्थ होते हैं। यह व्यक्ति ठीक दिशा में ही चिन्तन करता है। ५. यह व्यक्ति ऐसे **वयसा**=जीवन से **सचते**=समवेत होता है जो **श्वात्रभाजा**=(श्वि=गति, वृद्धि) सदा क्रियाशील होता है और वृद्धिशील होता है। इसके जीवन में प्रत्येक क्रिया इसे उत्थान की ओर ले-जा रही होती है। ६. यह व्यक्ति **सदा**=हमेशा **चन्द्रैः**=आह्लादक भावों के साथ **सभाम्**=सभा को **उपयाति**=प्राप्त होता है। जब सभा में आता है तो यह अपने विचारों से सभी को आह्लादित व उत्साहित करता है, यह कभी निराशा व निरुत्साह फैलानेवाला

नहीं होता।

एवं, प्रभु का मित्र उल्लिखित छह गुणों से विभूषित जीवनवाला होता है। अपने जीवन को ऐसा बनाना ही बुद्धिमत्ता है। ऐसे व्यक्ति को 'देवातिथि'=दिव्य मार्ग पर चलनेवाला कहा गया है।

भावार्थ—प्रभु के मित्र बन हम भी उल्लिखित छह गुणों से अपने जीवनों को अलंकृत करें।

ऋषिः—पुरुहन्मा आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

प्रभु का विस्तार (अचिन्त्य विस्तार)

२७८. यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी॥ ६॥

'पुरुहन्मा आङ्गिरस' ऋषि प्रभु का स्मरण करता हुआ उसकी महिमा से अभिभूत व विस्मित हो उठता है और कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **यत् ते शतं द्यावः स्युः**=यदि आपके इस एक द्युलोक-जैसे सैकड़ों द्युलोक हों **उत**=और **शतं भूमीः स्युः**=सैकड़ों पृथिवियाँ हों तो भी **त्वा**=आपको **न अष्ट**=व्याप्त नहीं कर सकतीं। आप सैकड़ों द्युलोक व सैकड़ों पृथिवीलोकों से कितने ही विशाल हैं! वस्तुतः **रोदसी**=एक-दूसरे का आह्वान करते हुए (क्रन्दसी) ये द्युलोक व पृथिवीलोक अपने अन्तर्गत सारे अवकाश से **न अष्ट**=आपको समा नहीं लेते। आपका विस्तार अनन्त है—ये सब लोक तो आपके एक देश में है **'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः'**। आप समुद्र हैं ये लोक-लोकान्तर तो उसके एक कण के समान हैं। आप सचमुच अनन्त हैं।

हे **वज्रिन्**=(वज् गतौ) क्रियाशीलता, स्वाभाविक क्रिया से चमकनेवाले प्रभो! **जातम्**=विकसित हुए-हुए आपको **सहस्रं सूर्याः**=हज़ारों सूर्य भी **अनु न**=प्रकाश से अनुगत नहीं हो सकते। हज़ारों सूर्यों से भी आपका प्रकाश अधिक है **'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः'**=हज़ारों सूर्यों का प्रकाश भी शायद ही आपके प्रकाश के समान हो सके। एवं, अनन्त है आपका विस्तार और अनन्त है आपका प्रकाश।

आपको स्मरण करता हुआ मैं पालक व पूरक गतिवाला 'पुरुहन्मा' बनता हूँ और अव्यसनी बनकर 'आङ्गिरस' होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु की सर्वव्यापकता का स्मरण मेरे जीवन को प्रकाशमय बनाए।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

वह उत्साहित करनेवाला सारथि

२७९. यदिन्द्र प्रागपागुदग्न्यग्वा हूयसे नृभिः।
सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवेऽसि प्रशर्ध तुर्वशे॥ ७॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **यत्**=जो आप **प्राक् अपाक्**=पूर्व में या पश्चिम में उदक्

न्यक् वा=उत्तर में या दक्षिण में **नृभिः हूयसे**=मनुष्यों से पुकारे जोते हो, वे आप उसी दिशा में थोड़े ही रहते हो? आप तो **सिमा**=सब दिशाओं में व्याप्त हो। कहाँ आपकी सत्ता नहीं? आप समुद्र में हैं तो कटोरी के पानी में भी व्याप्त हैं। दूर-से-दूर भी हो और समीप-से-समीप भी। जगत् के अन्दर भी हो और बाहर भी। **पुरू**=आप सर्वत्र व्याप्त होकर सभी का पालन-पोषण कर रहे हो। ध्रुवों पर स्थित पशु भी अपना भोजन प्राप्त करते हैं, समुद्र-तल-स्थित जलचर भी और हिमाच्छादित पर्वतशृङ्गों पर रहनेवाले प्राणी भी। आस्तिक भी, नास्तिक भी—सभी आपसे भोजन पाते हैं। हे प्रभो! आप **नृ-षूतः असि**=यन्त्रारूढ सभी प्राणियों के सारथिभूत हो। आप **आनवे**=(अन प्राणने) जीव को उत्साहित करते हैं। हे **प्रशर्ध**=प्रकृष्ट शक्तिवाले प्रभो! आपके सम्पर्क में हमें शक्ति प्राप्त होती है और इस प्रकार **तुर्वशे असि**=आप हमें इस योग्य बनाते हैं कि हम त्वरा से इन इन्द्रियों, मन व बुद्धि को वश में करनेवाले होते हैं। 'तुर्वशे' शब्द का अर्थ निघण्टु में 'अन्तिके'='समीप' भी है, अतः यह अर्थ भी सङ्गत है कि आप समीप होते हुए हमें 'प्रशर्ध'=अत्यन्त शक्तिशाली बनानेवाले हैं।

एवं, सर्वत्र प्रभु को देखनेवाला, वस्तुतः सदा प्रभु के साथ चलनेवाला और सदा प्रभुरूप सारथिवाला यह व्यक्ति 'देवातिथि' है—देव के साथ चलनेवाला व्यक्ति ही काण्व=समझदार है, क्योंकि प्रभु के साथ रहने में ही उत्साह व शक्ति है।

भावार्थ—मैं प्रभु से दिये गये शरीर-रथ का प्रभु को ही सारथि वरूँ।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

श्रद्धा व आस्तिकता

२८०. कस्तमिन्द्र त्वा वसवा मर्त्यो दधर्षति।
श्रद्धा हि ते मघवन् पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति॥ ८॥

वसिष्ठ=वश करनेवालों में श्रेष्ठ इस मन्त्र का ऋषि है। वह ऐसा बन इसलिए पाया है कि वह मैत्रावरुणि=मित्र और वरुण, अर्थात् प्राण और अपान की साधना करनेवाला है। यह इन्द्रियों को वश में करके प्रभु का दर्शन करता है। इसे प्रभु में अटूट श्रद्धा है। इस श्रद्धा को यह इन शब्दों में व्यक्त करता है कि **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **कः**=कौन **मर्त्यः**=मनुष्य **तम्**=उसे **आदधर्षति**=धर्षित कर सकता है? जिसे **त्वा वसो**=हे वसो! आप बसानेवाले हों, जिसकी प्रभु रक्षा करते हैं उसे संसार की सारी शक्तियाँ मिलकर भी नष्ट नहीं कर सकतीं। **'अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितम्'**। हमारे प्रयत्न होने पर भी वस्तुतः हमारी रक्षा तो प्रभुकृपा से ही होती है। वास्तविकता यह है कि प्रभुकृपा हमें प्रयत्नशील भी बनाती है।

हे **मघवन्**=निष्पाप ऐश्वर्यवाले प्रभो! **श्रद्धा हि ते**=निश्चय से आपपर की गयी श्रद्धा मनुष्य को उस **दिवि**=प्रकाश में रखती है, जोकि **पार्ये**=इस श्रद्धा-सम्पन्न पुरुष को सब उलझनों से पार पहुँचा देता है। श्रद्धावाला शिष्य आचार्य से ज्ञान पाता है, इसी प्रकार श्रद्धावाला भक्त प्रभु से प्रकाश पाता है। प्रकाश ही नहीं **वाजी**=शक्तिशाली बनकर **वाजं सिषासति**=बल का भी सेवन करनेवाला होता है एवं, श्रद्धा हमारे अन्दर प्रकाश और शक्ति दो तत्त्वों को जन्म देती है।

भावार्थ—मुझमें श्रद्धा हो, जिससे मैं प्रकाश को देखूँ और शक्ति को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः**॥ देवता—**इन्द्राग्नी**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

सभी घड़ी आगे और आगे (वह श्रद्धा)

२८१. इन्द्राग्नी अपादियं पूर्वागात् पद्वतीभ्यः।
हित्वा शिरो जिह्वया रारपच्चरत् त्रिंशत् पदा न्यक्रमीत्॥ ९॥

गत मन्त्र में वर्णित श्रद्धा का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **अपात् इयम्**=बिना पाँववाली भी यह श्रद्धा **पद्वतीभ्यः**=पाँववाली तर्क व क्रियाशक्तियों से **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के तत्त्व तक **पूर्वा**=पहले **आगात्**=पहुँचती है। तर्क में चहल-पहल है, क्रिया तो है ही चहल-पहल का नाम। इन तर्क और क्रिया दोनों से विपरीत श्रद्धा शान्त है। मन्त्र में इसी बात को काव्यमय ढङ्ग से इस प्रकार कहा है कि श्रद्धा **अपात्**=बिना पाँववाली है और तर्क और क्रिया पाँववाले हैं। तर्क व क्रिया की अपेक्षा हमें शक्ति व ज्ञान तक पहुँचाने में श्रद्धा का अधिक स्थान है। श्रद्धा हमें शक्तिसम्पन्न और हमारे मस्तिष्क को प्रकाशमय बनाती है।

इस श्रद्धा को धारण करनेवाला व्यक्ति **शिरः**=मस्तिष्क को, अर्थात् ज्ञान को **हित्वा**=धारण करके **चरत्**=क्रियाशील होता हुआ **जिह्वया रारपत्**=जिह्वा से उस प्रभु के नामों का उच्चारण करता है।

यह श्रद्धा **त्रिंशत् पदा**=दिन के तीस-के-तीस मुहूर्त **न्यक्रमीत्**=(नि=निश्चय) निश्चय से आगे और आगे बढ़ती है।

श्रद्धा सदा हमारी उन्नति का कारण बनती है। हमें शक्ति-सम्पन्न करती है, अतः हम 'भरद्वाज' बनते हैं, हमें ज्ञान-सम्पन्न करती है, अतः हम 'बार्हस्पत्य होते हैं।

भावार्थ—हम इस तत्त्व को समझकर चलें कि तर्क और क्रिया की अपेक्षा श्रद्धा का स्थान अधिक ऊँचा है। तर्क और क्रिया रजःप्रधान हैं, श्रद्धा सात्त्विक है।

ऋषिः—**मेध्यः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

बुद्धि, शान्ति, मित्रता

२८२. इन्द्र नेदीय एदिहि मितमेधाभिरूतिभिः।
आ शन्तम शन्तमाभिरभिष्टिभिरा स्वापे स्वापिभिः॥ १०॥

इस मन्त्र का ऋषि 'मेध्य'=पवित्र जीवनवाला है। वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **आ**=सर्वथा **नेदीयः इत्**=बहुत ही समीप **इहि**=आइए। मेध्य की कामना है कि प्रभु उससे दूर न हों—वह सदा प्रभु के समीप रहे। वह प्रार्थना करता है—आप **ऊतिभिः**=अपने रक्षणों के साथ हमें प्राप्त होओ। आपके रक्षण **मित-मेधाभिः**=ऐसे हैं जो बुद्धि का निर्माण करते हैं। वस्तुतः प्रभु जिसे समाप्त करना चाहते हैं, उसकी बुद्धि का विपर्यास कर देते हैं और जिसे सुरक्षित करना चाहते हैं उसकी बुद्धि को निर्मल कर देते हैं। हे **आशन्तम**=सर्वतः, सर्वाधिक शान्त प्रभो! आप **शन्तमाभिः**=अत्यन्त शान्त **अभिष्टिभिः**=इच्छाओं से हमें प्राप्त होओ, अर्थात् हम संसार में शान्ति फैलानेवाले ही बनें नकि घातपात करते हुए अपने कोश भरने का ध्यान करें। हे **स्वापे**=उत्तम मित्रभूत प्रभो! आप हमें **स्वापिभिः**=

उत्तम मित्रताओं से युक्त कीजिए। जब संसार में सभी साथ छोड़ देते हैं, उस समय प्रभु ही हमारे मित्र होते हैं, ये कभी हमारा साथ नहीं छोड़ते। हम भी उत्तम मित्रतावाले हों।

उल्लिखित शब्दों में कहा गया है कि प्रभु के संरक्षण हममें १. बुद्धियों का निर्माण करेंगे, २. हमें शान्त इच्छाओं से भरेंगे और ३. हमें मित्र बनाएँगे। ऐसे जीवनवाला व्यक्ति ही मेध्य=पवित्र है। यही व्यक्ति काण्व=मेधावी है।

भावार्थ—मैं प्रभु के सामीप्य में रहकर बुद्धिमान्, शान्त व सभी का मित्र बनूँ।

पञ्चमी दशतिः

ऋषिः—**नृमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

इस संसार से संरक्षण के लिए (प्रलोभन-पूर्ण संसार से बचने के लिए)

२८३. इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम्।
आशुं जेतारं हेतारं रथीतममतूर्तं तुग्रियावृधम्॥ १॥

इस मन्त्र का ऋषि 'नृमेध आङ्गिरस' कहता है कि **इतः**=इस प्रलोभनपूर्ण संसार से **वः ऊती**=(ऊत्या) अपने रक्षण के उद्देश्य से उस प्रभु का स्मरण करो जोकि १. **अजरम्**=जरा रहित है २. **प्रहेतारम्**=प्रकृष्ट प्रेरणा देनेवाला है ३. **अप्रहितम्**=स्वयं किसी दूसरे से भेजा नहीं गया ४. **आशुम्**=शीघ्र कार्यकर्ता है ५. **जेतारम्**=सदा विजयशील है ६. **होतारम्**=दान देनेवाला व स्वार्थशून्य है ७. **रथीतमम्**=सर्वोत्तम रथी है, ८. **अतूर्तम्**=हिंसारहित है। न हिंसित होनेवाला, न हिंसा करनेवाला तथा ९. **तुग्रियावृधम्**=शक्ति का बढ़ानेवाला है।

उल्लिखितरूप में प्रभु का स्मरण करते हुए हम भी निश्चय करें कि विषयों में आसक्त होकर हमें भी जीर्ण नहीं होना। प्रभु अप्रहित हैं, मैं भी दूसरों से बहकाया जाकर किसी विषय का शिकार न बनूँगा, इसी उद्देश्य से मैं सदा स्फूर्ति से कार्यों में लगा रहूँगा। सदा वासनाओं को जीतनेवाला बनूँगा। वासनाओं को जीतने के उद्देश्य से ही मैं देनेवाला बनूँगा। इस तत्त्व को न भूलूँगा कि यह शरीर जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए रथ है। मैं रथी हूँ। मुझे यह ध्यान रखना है कि ये इन्द्रियरूप घोड़े सदा विषयों को चरते ही न रहें। मैं कभी भी हिंसा की वृत्तिवाला नहीं बनूँगा—स्वयं भी आसुर वृत्तियों से अहिंसित होने का प्रयत्न करूँगा। वे प्रभु अपने भक्त की शक्ति बढ़ानेवाले हैं, मेरे भी बल को वे क्यों न बढ़ाएँगे?

इस प्रकार प्रभु का स्मरण हमें प्रेरणा से सम्पन्न करेगा तो क्या हम कभी वासनाओं के शिकार होंगे? नहीं, इस बात की फिर कभी आशंका न होगी। इसी उद्देश्य से मैं 'नृ-मेध' बनूँ। वे प्रभु तो सभी के मित्र हैं, मैं भी सभी के साथ मित्रतावाला बनकर सचमुच नृमेध होऊँ। यही व्यापक प्रेम मुझे काम से ऊपर उठा आङ्गिरस=शक्तिशाली बनाएगा।

भावार्थ—मैं प्रभु का स्मरण करते हुए प्रलोभनों से अपने को बचा पाऊँ।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

समीप, समीपतर और समीपतम

२८४. मो षु त्वा वाघतश्च नारे अस्मन्नि रीरमन्।
आरात्ताच्चित् सधमादं न आ गहीह वा सन्नुप श्रुधि॥ २॥

वसिष्ठ मैत्रावरुणि कहता है कि हे प्रभो! **त्वा**=तुझे **वाघतः**=तेरा वहन (धारण) करनेवाले विद्वान् लोग **चन**=भी **आरे अस्मत्**=हमसे दूर **सुनिरीरमन्**=आनन्दित **मा उ**=न करें, अर्थात् विद्वान् लोग आपकी जो चर्चा करें वह हमारे समीप हो। हम विद्वानों के सम्पर्क में हों और उनके द्वारा की जानेवाली आपके विषय की चर्चाओं को सुनें।

वा=अथवा हे प्रभो! **आरात्तात्**=दूर से **नः**=हमारे **सधमादम्**=आपके साथ मिलकर आनन्द का अनुभव करने के स्थान पर **आगहि**=आइए, अर्थात् हम घर के सब व्यक्ति मिलकर आपके साथ जहाँ आनन्द का अनुभव करें, उस हमारे उपासना-स्थान में ही आप आइए। हम विद्वानों के द्वारा आपके सम्पर्क में आने के स्थान पर सीधे आपके सम्पर्क में आकर आपके समीपतर हो जाएँ और सबसे उत्तम बात तो यह है कि **इह**=यहाँ हमारे हृदयों में ही **वा**=निश्चय से **सन्**=उपस्थित होते हुए **उपश्रुधि**=हमारी प्रार्थना-वाणियों को सुनिए अथवा हमें वेदवाणियों के द्वारा ज्ञान का श्रवण कराइए। जिस दिन हृदयस्थ आपसे हम वेदज्ञान को सुन रहे होंगे उस दिन हम आपके समीपतर हो जाएँगे।

इस प्रकार वसिष्ठ की कामना तो यही है कि वह प्रभु के समीप, समीपतर व समीपतम होता जाए। वस्तुतः मनुष्य जितना-जितना इन्द्रियों को वशीभूत करके वसिष्ठ बनता जाता है, उतना-उतना वह प्रभु के समीप पहुँचता जाता है। वशी समीप पहुँचता है तो वशीतर--समीपतर पहुँच जाता है और वशितम=वसिष्ठ समीपतम पहुँच जाता है।

भावार्थ—हम अधिकाधिक वशी बनते हुए प्रभु के अधिक और अधिक समीप पहुँचते जाएँ।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

चार पुरुषार्थ

२८५. सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे।
पचता पक्तीरवसे कृणुध्वमित् पृणन्नित् पृणते मयः ॥ ३ ॥

यह मन्त्र भी वसिष्ठ का है। वह कहता है कि **सोमं सुनोत**=सोम का अभिषव करो। अपने अन्दर सोम को उत्पन्न करो। किसके लिए? १. **सोमपाव्ने**=सोम का अपने ही अन्दर पान करने—शरीर में ही खपाने के लिए। २. **इन्द्राय**=इन्द्र बनने के लिए। ऐश्वर्यशाली होते हुए शत्रुओं के विद्रावण के लिए और ३. **वज्रिणे**=(वज गतौ) गतिशील बनने के लिए। जिस समय एक व्यक्ति इस सोम की रक्षा करता है तो ये दो उसके अवश्यम्भावी परिणाम होते हैं (क) एक तो वह वासनाओं को जीत पाता है और (ख) दूसरे, वह आलस्य का अनुभव न कर क्रियाशील बना रहता है।

सोमपान के बाद मनुष्यों का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि वे **पक्तीः पचता**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के ओदन का ठीक परिपाक करें। वेद में जीव को पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के भोजन के दृष्टिकोण से पञ्चौदन कहा गया है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के भोजन के ठीक पकाने का अभिप्राय इस पञ्चभौतिक सृष्टि का ठीक ज्ञान प्राप्त करने से है।

इसका ठीक ज्ञान प्राप्त करते हुए—प्रभु की महिमा के अनुभव के द्वारा **अवसे**=प्रभु की दिव्यता के अंश का हम अपने में दोहन **कृणुध्वम्**=करें। दिव्यता को अपने में उतारने के लिए हम पूर्ण प्रयत्नशील हों और इस दिव्यता के अवतरण के लिए हम इस तत्त्व का मनन करें कि वे प्रभु **इत्**=सचमुच **पृणन्**=देनेवाले हैं, **इत्**=वस्तुतः **पृणते**=देनेवाले के लिए ही

मय:=कल्याण होता है। दान से आसक्ति कम होती है। दान=देना, काटना व शुद्ध बनाना', इन तीन अर्थों का वाचक है, अत: दान देते हुए हम अपनी बुराइयों को काट डालें और अपने को शुद्ध बना लें।

मन्त्र में चार बातें कही गयी हैं। आधे मन्त्र में एक और शेष आधे मन्त्र में तीन। वस्तुत: हमारा पचास प्रतिशत प्रयत्न तो लगना ही सोमपान के लिए चाहिए, फिर ज्ञान का परिपाक, दिव्यता का अवतरण व देने की वृत्ति स्वयं ही पनपने लगेगी। ये तीन बातें कठिन न रहेंगी।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हममें मन्त्रवर्णित चारों बातों का विकास हो। हम सोमपान करें, ज्ञान का परिपाक करें, दिव्यता को अपने में उतारें और दान देनेवाले बनें।

ऋषि:—**भरद्वाजो बार्हस्पत्य:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**बृहती**॥ स्वर:—**मध्यम:**॥

ब्रह्मा, विष्णु, शिव

२८६. य: सत्राहा विचर्षणिरिन्द्रं तं हूमहे वयम्।
सहस्रमन्यो तुविनृम्ण सत्पते भवा समत्सु नो वृधे॥ ४॥

मन्त्र में आराधना करते हैं कि हे प्रभो! आप **समत्सु**=काम-क्रोधादि के साथ निरन्तर चलनेवाले संग्रामों में **न:**=हमारी **वृधे**=वृद्धि के लिए **भव**=होओ—हमारी वृद्धि करो। हम क्रोधादि को युद्ध में पराजित करनेवाले हों। हे प्रभो! आप तो **सहस्रमन्यो**=अनन्त प्रज्ञानोंवाले हो **तुविनृम्ण**=बहुत शक्तिवाले हो **सत्पते**=उत्तमता (व उत्तमजनों) के रक्षक हो। आपकी कृपा से मेरा मस्तिष्क ज्ञान से भरपूर हो, मेरी भुजाएँ शक्तिसम्पन्न हों और मेरा मानस उत्तम सात्त्विक भावनाओंवाला हो।

इसी विचार से कि हम तीनों दृष्टिकोणों से उन्नत हों **वयम्**=हम **ते**=उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **हूमहे**=पुकारते हैं **य:**=जो **विचर्षणि**=विशेषरूप से बड़ी सूक्ष्मता के साथ देखनेवाला है, वह हमारे गुप्त-से-गुप्त दोषों को जानता है। केवल जानता ही नहीं, **सत्रा-हा**=उन सबको नष्ट करनेवाला भी है। इन क्रोधादि को समाप्त करने में मेरा अपना सामर्थ्य नहीं है—प्रभु को ही इन्हें समाप्त करना है। मैं प्रभु को स्मरण करूँगा, स्मरण ही नहीं प्रभु के प्रति अपना समर्पण भी करूँगा तो वे प्रभु मेरे शत्रुओं को क्यों न समाप्त करेंगे? प्रभु के सम्पर्क में आकर तथा शक्ति-सम्पन्न बनकर मैं 'भरद्वाज' बनूँगा और ज्ञानी बनकर 'बार्हस्पत्य'। यह ज्ञान और शक्ति दोनों का समन्वय मुझे लक्ष्मी व सरस्वती का अधिष्ठान बनाएगा। मैं विष्णु बनूँगा। उसी दिन वस्तुत: मैं शिव (कल्याण) को प्राप्त करूँगा।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मैं आन्तर संग्रामों में विजयी बनूँ।

ऋषि:—**दैवोदासि: परुच्छेप:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**बृहती**॥ स्वर:—**मध्यम:**॥

प्रज्ञा, कर्म, दान

२८७. शचीभिर्न: शचीवसू दिवानक्तं दिशस्यतम्।
मा वां रातिरुप दसत्कदा चनास्मद्राति: कदा चन॥ ५॥

वैदिक साहित्य में पति-पत्नी 'अश्विनौ' कहलाते हैं। उन्हें प्रभु कहते हैं कि हे **शचीवसू**=(शची=प्रज्ञा, शची=कर्म) प्रज्ञा और कर्मरूप उत्तम सम्पत्तिवालो! **न:**=हमें, हमारे प्रति

दिवानक्तम्=दिन-रात **शचीभिः**=ज्ञानों व कर्मों द्वारा **दिशस्यतम्**=(दिश अतिसर्जने) समर्पण करने की इच्छा करो। भक्ति समर्पण का ही नाम है, परन्तु समर्पण किसका? अपने भक्तिभाजन के प्रति समर्पण के लिए उत्तमोत्तम ज्ञानों व कर्मों का संग्रह करो, जिससे इनका प्रभु के प्रति समर्पण कर सको। जो गृहस्थ ज्ञान व सत्कर्मों का संचय नहीं करते, उनके जीवनों में प्रभु की उपासना का भी अभाव है।

ज्ञान और कर्म के साथ तीसरी आवश्यक वस्तु 'दान' है। प्रभु कहते हैं कि **वाम्**=तुम दोनों की **रातिः**=दान देने की प्रक्रिया **कदाचन**=कभी भी **उपदसत्**=नष्ट **मा**=न हो। जो मनुष्य देता रहता है वह प्रकृति में आसक्ति व लगाववाला नहीं होता। प्रभु कहते हैं कि **अस्मत् रातिः**=यह हमारा दान तेरे द्वारा चलता हुआ **कदाचन**=कभी **मा उपदसत्**=नष्ट न हो। दान तो प्रभु कर रहे हैं, जीव तो बीच में निमित्तमात्र है।

इस प्रकार 'प्रज्ञा, कर्म व दान' इस त्रयी को अपनानेवाला व्यक्ति इस महान् देव का सच्चा सेवक=दास है, अतः यह 'दैवोदासि' कहलाता है और इसके पर्व-पर्व में अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति होती है, अतः यह 'परुच्छेप' नामवाला होता है।

भावार्थ—प्रज्ञा हमारे मस्तिष्क को उज्ज्वल करे, कर्म हमें शक्तिशाली बनाएँ और दान हमें प्रकृति में अनासक्त बनाकर उस देव का सच्चा दास बनाए।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

खाली समय को नाम-स्मरण से भर दें

२८८. यदा कदा च मीढुषे स्तोता जरेत मर्त्यः।
आदिद् वन्देत वरुणं विपा गिरा धर्तारं विव्रतानाम्॥ ६॥

स्तोता मर्त्यः=स्तवन करनेवाला मनुष्य **यदा कदा च**=जब भी, अर्थात् जिस समय भी अवसर प्राप्त हो तो वह **मीढुषे**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले उस प्रभु की **जरेत**=स्तुति करे। खाली समय का इससे सुन्दर उपयोग और क्या हो सकता है? प्रभु-स्मरण के लिए किसी बाह्य उपकरण की आवश्यकता नहीं। इसके लिए तो वाणी के व्यापार की भी आवश्यकता नहीं। यदि उस समय को प्रभु-नाम-स्मरण में बिताएँगे तो हमारा मन छोटी-छोटी व्यर्थ की बातों में न उलझेगा, उसमें तुच्छ भावनाएँ न पनपेंगी।

आत् इत्=और अब निश्चय से **वरुणम्**=उस श्रेष्ठ बनानेवाले प्रभु की **विपा**=बुद्धिमत्ता से यह स्तोता **वन्देत**=वन्दना करे। पुस्तकों से प्राप्त 'ज्ञान' कहलाता है, यही ज्ञान प्राकृतिक संसार को देखने के बाद बुद्धिमत्ता (wisdom) में परिवर्तित हो जाता है। उसी समय यह मनुष्य प्रभु की सच्ची वन्दना कर पाता है। 'ज्ञानी' भक्त तो प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय है। ज्ञानी व्यक्ति कण-कण में प्रभु की महिमा को देखता है।

इस प्रकार भक्ति करनेवालों का प्रभु **गिरा**=वेदवाणी के द्वारा **धर्तारम्**=धारण करनेवाले हैं। परन्तु कब? **विव्रतानाम्**=जब वे विविध व्रतों का धारण करते हैं। हम वेदवाणी तो पढ़ें पर व्रतों का धारण न करें तो प्रभु हमारा धारण न करेंगे।

एवं, प्रस्तुत मन्त्र में तीन उपदेश हैं १. जो भी खाली समय मिले उसमें प्रभु का स्मरण करो, २. प्रभु के ज्ञानी भक्त बनो, ३. **मन्त्र श्रुत्यं चरामसि**=जो वेद में सुनें, उसे करें, जिससे

प्रभु के धारण के पात्र बनें।

भावार्थ—उल्लिखित तीन बातें हमारे जीवनों को वामदेव=सुन्दर दिव्यगुणोंवाला बनाएँ तथा हमारी इन्द्रियाँ उत्तम होकर हम 'गोतम' बनें।

ऋषि:—**मेध्यातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

वेदवाणी की रक्षा

२८९. पाहि गा अन्धसो मद इन्द्राय मेध्यातिथे।
यः सम्मिश्लो हर्योर्यो हिरण्यय इन्द्रो वज्री हिरण्ययः॥७॥

'मेध्यातिथि काण्व' से प्रभु कहते हैं कि हे **मेध्यातिथे अन्धसः**=प्रभु की ओर चलनेवाले जीव! तू ध्यान देने के योग्य जो शक्ति है उसके **मदे**=मद में **गाः पाहि**=वेदवाणियों की रक्षा कर। किसी भी वस्तु की रक्षा उसे जीवन का अङ्ग बनाने से होती है। गोदुग्ध के सेवन का व्रत ले-लें तो गोरक्षा हो जाए। जिस मकान में रहते हैं—वह सुरक्षित रहता है। रहना छोड़ा और टूटना आरम्भ हुआ। एवं, यह व्यापक नियम है कि जो वस्तु जीवन का अङ्ग बन जाती है वही सुरक्षित रहती है। वेदवाणी भी तभी सुरक्षित रहेगी जब हमारे जीवन का अङ्ग बनेगी। शक्ति के मद में भी यदि हम वेदवाणी को अपना सकेंगे तो जीवन सुन्दरतम बन जाएगा। अन्यथा वह शक्ति का मद हमारे महान् पतन का कारण प्रमाणित होगा।

इन्द्राय=उस प्रभु-प्राप्ति के लिए, जोकि परमैश्वर्यशाली हैं, हे जीव! तू वेद को जीवन में ढाल, तभी तू सचमुच मेध्यातिथि=पूर्ण पवित्र प्रभु की ओर निरन्तर चलनेवाला होगा, तभी तू काण्व=समझदार होगा।

वेदवाणी को जीवन का अङ्ग बनाकर उस प्रभु की ओर चल—**यः**=जो **संमिश्लः**=(संमिश्र) हम सबको मिलानेवाले हैं। वे हम सबके मूल पिता हैं—पितामह हैं। एक प्रभु के पुत्र होने के नाते हम सब एक हैं। **हर्यः**=वे कान्तिवाले हैं—सुन्दर-ही-सुन्दर हैं, वहाँ कुछ भी असुन्दर व अशुभ तत्त्व नहीं है। **अर्यः**=वे स्वामी हैं, किन्हीं वासनाओं के दास नहीं, क्रोधादि से वे आक्रान्त नहीं होते। **हिरण्ययः**=वे ज्योतिर्मय हैं, अन्धकार का वहाँ लवलेश नहीं है। **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यवाले हैं। **वज्री**=स्वाभाविक क्रिया से युक्त हैं (वज गतौ) और **हिरण्ययः**= सचमुच ज्योतिर्मय हैं।

हमें उस प्रभु का उल्लिखित प्रकार से स्तवन करते हुए अपना जीवन एकत्व की भावना से भरपूर करना चाहिए। इससे हम वासनाओं के शिकार नहीं होंगे। उस समय हमारा जीवन ज्योतिर्मय होगा। हम सचमुच परमैश्वर्य को प्राप्त करनेवाले, सर्वभूतहित के लिए सदा क्रियाशील होंगे और अन्धकार से ऊपर उठेंगे।

भावार्थ—हमारा जीवन वेदों को प्रकट करनेवाला हो।

ऋषि:—**भर्गः प्रागाथः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

सुनिए और आइए

२९०. उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः।
सत्राच्या मघवान्त्सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत्॥८॥

मघवान्=पवित्र ऐश्वर्यवाले प्रभु से **उभयम्**=हम दोनों ही बातें चाहते हैं। प्रथम तो यह कि **इन्द्रः अर्वाक्**=परमैश्वर्यशाली अन्तःस्थित आप **नः**=हमारे **इदं वचः**=इस वेदवाणी के अनुकूल कहे गये प्रार्थनावाक्य को **शृणवत्**=सुनें **च**=और **शविष्ठः**=सर्वाधिक शक्तिवाले आप **आगमत्**=हमें प्राप्त हों। किसलिए प्राप्त हों? **सोमपीतये**=सोम की रक्षा के लिए, अर्थात् हम वासनाशून्य होकर सोम की—अपनी वीर्यशक्ति की—रक्षा कर सकें और **सत्राच्या धिया**=सह-गतिवाली बुद्धि से वे प्रभु हमें प्राप्त हों। हमारे अन्दर मिलकर कार्य करने की भावना हो। (सत्रा=सह अञ्च्=गति)। हम प्रभु से वस्तुतः तीन वस्तुओं के लिए याचना करते हैं १. शक्ति २. सोम की रक्षा और ३. मिलकर कार्य करने की भावना। मनुष्य की वैयक्तिक उन्नति बहुत कुछ शक्ति और सोम की रक्षा पर निर्भर है। सोम की रक्षा के द्वारा शक्ति-सम्पन्न बनने पर ही मनुष्य उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ता है। इसके बाद सभी सामाजिक उन्नतियों का रहस्य 'मिलकर काम करने की भावना' पर निर्भर करता है। जिस घर में, जिस शिक्षणालय में सहगति co-operation की भावना है वह फूलता-फलता है, और यही भावना राष्ट्र को समृद्ध बनाती है। प्रभु के साथ अपना सम्पर्क जोड़नेवाला यह व्यक्ति 'प्रागाथ' है—निरन्तर प्रभु का गायन करता है। इस निरन्तर गायन से शक्ति का अनुभव करता है, अतः 'भर्ग' है। प्रभु शविष्ठ हैं—उनके सम्पर्क में आकर यह शक्ति-सम्पन्न क्यों न बनेगा? इस निरन्तर प्रभु के गायन से ही वासनाएँ दूर रहती हैं और इसे सोमपान में समर्थ बनाती हैं। प्रभु का गायन ही इसे एकत्व का भी अनुभव कराता है और यह सहगति की भावनावाला होता है। यह मिलकर कार्य करने की भावना इसे सामाजिक उत्थान की ओर ले-जाती है।

भावार्थ—हमें प्रभु की कृपा प्राप्त होगी तो वे हमारी प्रार्थना को सुनेंगे ही नहीं, हमें प्राप्त भी होंगे। उस समय हम शक्तिशाली होंगे, सोमपान में समर्थ होंगे और सहगति की भावनावाले होंगे।

ऋषिः—**मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्

२९१. महे च न त्वाद्रिवः परा शुल्काय दीयसे।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ॥ ९॥

प्रभु **अद्रिवः**=(न दृ)—न विदारण करनेवाले हैं। परन्तु कब? जबकि मनुष्य संसार के प्रलोभनों में न फँसता हुआ अपने जीवन-पथ पर आगे बढ़ता जाता है। जब यह प्रकृति की ओर ही झुक जाता है और इसकी शक्ति प्राकृतिक सम्पत्ति को जुटाने में ही लग जाती है तब वे प्रभु उसके लिए **वज्रिवः**=वज्रवाले बन जाते हैं। वज्र से उसका वे विदारण कर देते हैं, अतः मेधातिथि तो निश्चय करता है कि हे प्रभो! **त्वाम्**=आप **महे च शुल्काय**=महान् धनराशि के लिए भी **न परा दीयसे**=मुझसे छोड़े नहीं जाते हो। कितना भी धन हो। **'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'**=धन से मनुष्य सदा अतृप्त रहता है, अतः धन के लिए प्रभु को क्यों छोड़ना? **स-हस्राय न**=आमोद-प्रमोदमय जीवन के लिए भी आप नहीं छोड़े जाते। ये आमोद-प्रमोद व विलास तो **'सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः'** इन्द्रिय-शक्तियों को जीर्ण करते हैं। इनके लिए प्रभु को छोड़ना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। **न अयुताय**=मैं इसलिए भी प्रभु को नहीं छोड़ता कि मैं पूरे परिवार से संयुक्त बना रहूँ। जो व्यक्ति प्रभु को

छोड़ देता है वह समय आने पर अनुभव करता है कि उसने सदा साथ देनेवाले प्रभु को छोड़ उनको अपनाया है जोकि अन्त तक साथ नहीं दे सकते। प्रभु के अतिरिक्त कोई भी अन्त तक साथ नहीं देता। **न शताय**=पूरे सौ वर्ष जीने के लिए भी मैं आपको नहीं छोड़ता, अतः प्रभु का परादान किसी भी प्रलोभन के लिए ठीक नहीं। वास्तविकता तो यह है कि ये **शतामघ**=सैकड़ों प्रकार के ऐश्वर्यवाले हैं। अन्ततोगत्वा सब ऐश्वर्य उसी प्रभु के हैं। प्रभु मिले, तो ऐश्वर्य तो अपने आप मिल गये, अतः यह मेधातिथि तो किसी भी प्रलोभन में न फँसता हुआ उस पवित्र प्रभु की ओर चलता है और इसी से 'मेधातिथि' नामवाला होता है। इसने प्रभु को पाकर सभी कुछ पा लिया। इसके विपरीत एक दूसरे व्यक्ति ने सब-कुछ जुटाने के प्रयत्न में प्रभु को खोकर सभी कुछ खो दिया, अतः मेध्यातिथि ही काण्व है—मेधावी है।

भावार्थ—न धन के लिए, न विलास के लिए, न समृद्ध कुटुम्ब के लिए और न ही दीर्घ जीवन के लिए हम प्रभु को छोड़ें। प्रत्युत हम आत्मा के लिए सम्पूर्ण पृथिवी व पार्थिव भोगों को छोड़नेवाले हों। **'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्'**।

ऋषिः—**मेधातिथिर्मेध्यातिश्च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

पिता व भाई से बढ़कर, माता के समान

२९२. वस्याँ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः।
माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे॥ १०॥

प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि भी मेधातिथि और मेध्यातिथि ही हैं। गत मन्त्र की ही भावना को मेधातिथि इस रूप में कहता है कि **इन्द्र**=हे प्रभो! आप **मे पितुः वस्यान् असि**=मेरे पिता से अधिक श्रेष्ठ हैं व अधिक उत्तम निवास देनेवाले हैं। यदि मैं कहूँ कि आप मेरे पिता हैं तो मैं आपका ठीक वर्णन नहीं कर रहा। पिता में कुछ स्वार्थ की भावना काम कर रही होती है, जो आप में नहीं है। यह ठीक है कि एक भाई में स्वार्थ की भावनाएँ न होकर एकता की भावना होती है, परन्तु वह भी विवाहित होकर व अन्य किसी परिस्थितिवश भिन्न स्वार्थवाला हो जाता है। उस समय वह अपने भाई का सहायक नहीं होता, इसीलिए मेधातिथि कहता है कि **उत**=और **अभुञ्जतः भ्रातुः**=न पालन करनेवाले भाई से आप **वस्यान्**=अधिक श्रेष्ठ हो, अतः मैं आपको भाई के रूप में भी कैसे स्मरण करूँ? हे प्रभो! आप तो **वसो**=मुझे उसी प्रकार बसानेवाले हैं जैसेकि मेरी माता। **माता च मे**=मेरी माता और आप **समा**=समानरूप से, निःस्वार्थभाव से **छदयथः**=मुझे मुसीबतों से बचाते हो (छद्=to give shelter)। यह ठीक है कि सांसारिक माता में भी अल्पशक्ति के कारण सहायता देने की शक्ति सीमित है, परन्तु अधिक-से-अधिक निःस्वार्थता उसी के प्रेम में है, अतः मैं आपको माता के रूप में स्मरण करता हूँ।

आप मुझे **वसुत्वनाय**=निवास के लिए आवश्यक धन देने के लिए होते हैं। मुझे कभी जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन की कमी नहीं होती, **राधसे**=आप मुझे सिद्धि प्राप्त कराने के लिए होते हैं। आपकी कृपा से मुझे आवश्यक धन भी मिलता है और सिद्धि भी।

भावार्थ—वे प्रभु पिता से भी बढ़कर हैं, भ्राता से भी अधिक हैं। वे माता के समान हमें कष्टों से बचानेवाले हैं।

अथ चतुर्थप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

घर में आ भटक नहीं

२९३. इमं इन्द्राय सुन्विरे सोमासो दध्याशिरः।
ताँ आ मदाय वज्रहस्त पीतये हरिभ्यां याह्योक आ॥ १॥

इमे सोमासः=ये सोमकण **सुन्विरे**=पैदा किये गये हैं। क्यों? **इन्द्राय**=प्रभु की प्राप्ति के लिए। जड़ जगत् की इस सर्वोत्तम वस्तु से हमने चेतन जगत् की सर्वोत्तम वस्तु को पाना है। 'ब्रह्मचर्य' शब्द, जिसका धात्वीय अर्थ 'ब्रह्म की ओर जाना है', का अर्थ ही शक्ति का संयम हो गया है। यह संयत शक्ति ही हमें परमेश्वर को प्राप्त कराती है। इस प्रकार मुख्यरूप से इन सोमकणों का लाभ प्रभु-प्राप्ति ही है। प्रासंगिक रूप से ये **दध्याशिरः**=धारणशक्ति से युक्त हैं, अर्थात् शरीर में धारण किये जाकर ये शरीर के स्वास्थ्य को स्थिर रखनेवाले होते हैं। मनःप्रसाद व बुद्धि-नैर्मल्य का भी ये कारण बनते हैं।

हे जीव! **तान्**=इन सोमकणों को तू इसलिए धारण कर कि ये तेरे **मदाय**=हर्ष का कारण होंगे। सोमरक्षा जीवन को उल्लासमय बना देती है, अतः 'प्रभु-प्राप्ति', 'धारणशक्ति' व 'हर्ष' इन तीन उद्देश्यों से हे **वज्रहस्त!**=तू **पीतये**=इनकी रक्षा के लिए प्रयत्नशील हो। 'वज्रहस्त' शब्द का अभिप्राय है, जिसके हाथ में (वज=गतौ)=गतिशीलता हो। क्रियामय जीवन ही हमें सोमरक्षा के योग्य बनाता है। इसकी रक्षा के लिए ही प्रभु जीव से कहते हैं कि **हरिभ्याम्**=तू अपने इन इन्द्रियरूप घोड़ों से **ओके**=अपने शरीररूप घर में **आयाहि**=आ। इन्द्रियों को विषयों की ओर न जाने देगा तो तू वासनाओं में न फँसने के कारण इन सोमकणों की रक्षा कर पाएगा। एवं, सोमकणों की रक्षा के मुख्यरूप से ये दो ही साधन हैं—क्रियाशील बनना और इन्द्रियों को बाहर भटकने से रोकना। इस सुरक्षित वीर्य से जीवन उल्लासमय होगा, धारणशक्ति प्राप्त होगी और अन्त में प्रभु की प्राप्ति।

इन्द्रियों को वश में करके यह वसिष्ठ सचमुच प्रभु को प्राप्त कर सका है, परन्तु यह वसिष्ठ इसलिए बन पाया है, क्योंकि यह मैत्रावरुणि=प्राणापान की साधना करनेवाला हुआ। इस प्रकार क्रम यह है—१. प्राणापान की साधना से २. वसिष्ठ बनेंगे, ३. इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोक पाएँगे, ४. वासना का शिकार न होने से सोम की रक्षा सम्भव होगी, ५. इससे जीवन स्वस्थ व उल्लासमय होगा और अन्त में प्रभु की प्राप्ति होगी।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को विषयों में न भटकने दें।

ऋषिः—गोतमो वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

हमारी वाणियों को सुन

२९४. इम इन्द्र मदाय ते सोमाश्चिकित्र उक्थिनः।
मधोः पपान उप नो गिरः शृणु रास्व स्तोत्राय गिर्वणः॥ २॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **इमे सोमाः**=ये सोम **ते मदाय**=तेरे हर्ष के लिए हैं, तेरे जीवन को उल्लासमय बनाने के लिए हैं। ये सोम **चिकित्रे**=(कित—निवास, रोगापनयन, ज्ञान) तेरे उत्तम निवास के लिए हैं। इनके होने पर शरीर में तेरी स्थिति अधिकाधिक अच्छी ही होती जाएगी। ये सोम तेरे रोगों के दूर करने का कारण बनेंगे, साथ ही ये तेरी ज्ञान की वृद्धि का भी कारण होंगे। **उक्थिनः**=ये तुझे स्तोत्रोंवाला बनाएँगे, अर्थात् तेरी रुचि उस प्रभु के स्तवन की ओर होगी।

एवं, सोमरक्षा के 'हर्ष, उत्तमनिवास, नीरोगता, ज्ञान, प्रभु-भक्ति-प्रवणता' आदि लाभों का उल्लेख करके कहते हैं कि **मधोः**=इस मधुरतम वस्तु सोम का **पपानः**=खूब पान करते हुए **नः गिरः**=हमारी इन वेदवाणियों को **उपशृणु**=समीपता से सुननेवाला हो। **गिर्वणः**=वेदवाणियों का सवन करनेवाला होता हुआ **स्तोत्राय रास्व**=अपने को प्रभु के स्तोत्रों के लिए दे डाल, अर्थात् प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला बन।

मानव-जीवन में मनुष्य का मूल कर्त्तव्य यही है कि संयमी बनकर हृदयस्थ प्रभु की वाणी को सुने और प्रभु के प्रति अपना अर्पण कर डाले। ऐसा करने पर ही उसका जीवन सुन्दर और दिव्य गुणोंवाला बनता है, अर्थात् वह वामदेव होता है और इन्द्रियों की निर्मलता के कारण 'गोतम' होता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन की ऐसी साधना करें कि प्रभु के उपदेशों को सुननेवाले बन सकें।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी; विश्वामित्र इत्येके॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

मैं वेद का ही भिक्षुक हूँ

२९५. आ त्वा३ऽद्य सबर्दुघां हुवे गायत्रवेपसम्।
इन्द्रं धेनुं सुदुघामन्यामिषमुरुधारामरङ्कृतम्॥ ३॥

मन्त्र का ऋषि मेधातिथि कहता है कि **अद्य**=आज **इन्द्रम्**=वेदरूप परमैश्वर्यवाले **त्वा**=आपसे वेदवाणी की भिक्षा की **हुवे**=प्रार्थना करता हूँ, माँगता हूँ, जो वेदवाणी १. **सबर्दुघाम्**=ज्ञानरूप दुग्ध का दोहन करनेवाली है। वेदवाणी धेनु है तो ज्ञान ही उसका दूध है, २. **गायत्रवेपसम्**=यह वेदवाणी गायन करनेवाले का त्राण करती है और कामादि वासनाओं को **वेप्**=कम्पित करनेवाली है, ३. **धेनुम्**=(धेट् पाने) यह ज्ञानदुग्ध का पान कराके पालनेवाली है, ३. **सु-दुघाम्**=सुगमता से दोहन के योग्य है, अर्थात् इसका समझना कठिन नहीं है, ५. **अन्याम्**=यह विलक्षण है। मनुष्कृत ग्रन्थों में अति विस्तार में थोड़ा-सा सार होता है, जबकि ये वेदवाणियाँ सार-ही-सार हैं। ६. **इषम्**=ये वेदवाणियाँ सदा मनुष्य को प्रेरणा देनेवाली हैं, ७. **उरुधारम्**=विशाल धारण शक्तिवाली हैं। धारण के द्वारा यह हमारे जीवन को बड़ा सुन्दर बनाती है। ८. **अरं-कृतम्**=यह

वेदवाणी हमारे जीवनों को उत्तम गुणों से अलंकृत करनेवाली है (अरं करोति इति अरंकृत्, तम्=अरंकृतम्)। ऋग्वेद के दस मण्डल मानो हमारे जीवनों को धर्म के दसों लक्षणों से मण्डित कर रहे हैं।

एवं, इस वेदवाणी को प्राप्त करना ही बुद्धिमत्ता है। इसे प्राप्त करके ही हम प्रभु को भी प्राप्त करनेवाले 'मेध्यातिथि' बनते हैं।

भावार्थ—मैं वेदवाणी की प्राप्ति के लिए ही तीव्र उत्कण्ठावाला बनूँ।

ऋषिः—**नोधा गोतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

नये-नये प्रकार से धारण करनेवाला

२९६. न त्वा बृहन्तो अद्रयो वरन्त इन्द्र वीडवः।
यच्छिक्षसि स्तुवते मावते वसु न किष्टदा मिनाति ते॥ ४॥

जब जीव दृढ़ निश्चयपूर्वक अपने जीवन-यात्रा के मार्ग पर चलता है तब प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **त्वा**=तुझे **बृहन्तः**=बड़े-बड़े **वीडवः**=अत्यन्त दृढ़ **अद्रयः**=अभेद्य पर्वतों-जैसे विघ्न भी **न वरन्ते**=रोक नहीं पाते। सांसारिक प्रलोभन तुझे रोक नहीं सकते। प्रभु **यत्**=जब जितेन्द्रिय व्यक्तियों को तथा **मावते**=मेरे-जैसे ज्ञानी व्यक्तियों को **वसु**=धन देता है, तब **ते**=तेरे **तत्**=उस दान के कार्य को **नकिः**=कोई भी काम, लोभादि वासना **आमिनाति**=नष्ट नहीं करती है। यह अपना दान देता ही है। उसके मस्तिष्क में दान को अधिक उपयोगी बनाने के भाव चक्कर काटते हैं। इसी से इसका नाम **नव-धा**=नये-नये प्रकार से धारण करनेवाला होता है। नवधा शब्द का ही परोक्षरूप 'नोधा' है। यही इस मन्त्र का ऋषि है। प्रतिक्षण इस उत्तम भावना में लगे होने से ही यह इन्द्रियों को विषयों में फँसने से बचानेवाला होता है, अतएव 'गोतम' कहलाता है, प्रशस्त इन्द्रियोंवाला।

भावार्थ—मैं लोकहित का ध्यान करते हुए प्रशस्तेन्द्रिय बनूँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

केवलादी न बनने का महान् व्रत

२९७. क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे।
अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः॥ ५॥

कः=कौन **ईम्**=निश्चय से **वेद**=पूरा ज्ञान रखता है कि इस प्रकार धन का विनियोग सर्वोत्तम होगा, परन्तु इतना नियम प्रत्येक व्यक्ति बतला सकता है कि मैं केवलादी न बनूँगा। ऐसा नियम बनाकर **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में **सचा**=मिलकर **पिबन्तम्**=पान करते हुए को **क-द्वयः**=ऐहलौकिक व पारलौकिक दोनों सुख **दधे**=धारण करते हैं। सदा मिलकर खाने के सिद्धान्त पर चलनेवाले का दोनों ही लोकों में कल्याण सिद्ध होता है। **अयम्**=यह मिलकर खानेवाला वह व्यक्ति है **यः**=जो **पुरः**=काम, क्रोध और लोभ की नगरियों को **विभिनत्ति**=तोड़ डालता है। इन्हें तोड़कर ही 'त्रिपुरारि' के सदृश बनता है। यह व्यक्ति वह है जोकि **ओजसा मन्दानः**=ओज के कारण सदा ओजस्वी बनता है, और ओज के कारण सदा प्रसन्न होता है।

यह व्यक्ति वह है जो **अन्धसः**=सोम के द्वारा **शिप्री**=शिरस्त्राणवाला है, उस उत्कृष्ट ज्ञानवाला है जो उसकी रक्षा का कारण बनता है।

एवं, इस मन्त्र में केवलादी न बनने के निम्न लाभ दर्शाये गये हैं—१. यह उभयलोक का कल्याण प्राप्त करता है, २. तीनों असुर पुरियों का विध्वंस कर 'काम, क्रोध, लोभ' से ऊपर उठता है, ३. ओजस्विता से सदा प्रसन्न मनवाला होता है और ४. सोमरक्षा के द्वारा उत्कृष्ट रक्षक-ज्ञान को प्राप्त करनेवाला होता है।

इन लाभों को देखकर इस मार्ग को अपनानेवाला ही बुद्धिमान् है—'मेधातिथि' है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—मैं केवलादी बनकर 'केवलाघ'—पाप न बन जाऊँ।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

घर से निकाला जाना

२९८. यदिन्द्र शासो अव्रतं च्यावया सदसस्परि।
अस्माकमंशुं मघवन् पुरुस्पृहं वसव्ये अधि बर्हय॥ ६॥

हे **इन्द्र**=परम ऐश्वर्यशाली प्रभो! सबको शासन में चलानेवाले प्रभो! **यत्**=क्योंकि आप **अव्रतम्**=मिलकर खाने व जीवन को यज्ञिय बनाने के व्रत को धारण न करनेवाले को **शासः**=शासित करते हो, दण्डव्यवस्था से उसे अपने अनुशासन में चलाने की व्यवस्था करते हो, इतना ही नहीं, इस व्यक्ति को **सदसः**=घर से **परिच्यावया**=च्युत कर देते हो, अतः हमारे ज्ञान को तो आप ऐसा बढ़ाइए कि हम अव्रती न बनें।

हमारा वास्तविक घर तो ब्रह्मलोक है। अपने घर में पहुँचने के लिए आवश्यक है कि हम स्वार्थ की भावना छोड़कर परार्थ की भावना को विकसित करें। उसी के विकास के लिए प्रभु से याचना है कि **मघवन्**=पाप के लवलेश से शून्य ऐश्वर्यवाले प्रभो! **वसव्य**=सर्वोत्तम निवासस्थानभूत प्रभो! आप **अस्माकम्**=हमारे **पुरुस्पृहम्**=पालक व पूरक, अतएव स्पृहणीय **अंशुम्**=ज्ञान की किरण को **अधिबर्हय**=खूब बढ़ाइए।

यह ज्ञान मुझे स्वार्थ से ऊपर उठाते हुए फिर अपने घर में पहुँचाएगा। यह घर वस्तुतः ही sweet=मधुर है। हे प्रभो! आपमें रहता हुआ मैं सचमुच अनुभव करता हूँ कि आप 'वसव्य' हैं। आज मेरा जीवन अधिक-से-अधिक सुन्दर, दिव्यतावाला बनकर मुझे 'वामदेव' कहलाने का अधिकारी बनाता है, मेरी इन्द्रियाँ निर्मल हो जाती हैं, मैं 'गोतम' बन जाता हूँ।

भावार्थ—मैं फिर से अपने घर में वापस पहुँचूँ।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**बहवः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

चार व्रत

२९९. त्वष्टा नो दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः।
पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रामणं वचः॥ ७॥

वामदेव=सुन्दर, दिव्य गुणों की कामनावाला चाहता है कि—

१. **दैव्यं वचः**=दिव्य वचन, अर्थात् वेदवाणी **नः**=हमारी **त्वष्टा**=निर्माण करनेवाली हो। उसके अनुसार हमारा जीवन हो। **'मन्त्रश्रुत्यं चरामसि'**=मन्त्रों में जो कुछ सुना है, उसका हम आचरण करनेवाले हों। मन्त्रों का ही विचार, उच्चार और आचार हो।

२. **ब्रह्मणस्पतिः**=ब्रह्म-बुद्धि का नाम है। ब्रह्मा अधिदेव में चन्द्रमा है और अध्यात्म में मन। मन का 'पति'=अधिष्ठात्री बुद्धि है—इसीलिए इसे मनीषा 'मनसः ईष्टे' कहा गया है। यह बुद्धि हमारे लिए **पर्जन्यः**=परा-तृप्ति की जनयित्री हो। हमें बुद्धि के द्वारा ज्ञानोपार्जन में आनन्द का अनुभव हो—इसमें रस आने लगे।

३. **नु**=अब इस संसार में **पुत्रैः**=पुत्रों से तथा **भ्रातृभिः**=भाइयों से **अदितिः**=अदीनता हो। हमें इनके सामने कभी गिड़गिड़ाना न पड़े, दीन न बनना पड़े।

४. **दुष्टरं वचः**=वह वचन जो टल नहीं सकता—जिसका उल्लंघन सम्भव नहीं, वह पत्थर की लकीर के समान पक्का सत्यवचन **त्रामणम्**=जो वस्तुतः रक्षा करनेवाला है, **नः पातु**=हमें असत्यादि में गिरने से बचाये। सत्य से ही यह संसार धारण किया जा रहा है। यह सत्य वचन हमारा भी धारण करनेवाला हो। सत्य को यहाँ 'दुष्टरं वचः' कहा गया है। हमारा भी वचन 'दुष्टर' हो।

भावार्थ—हम 'वेदानुकूल आचरण, स्वाध्याय, अदीनता व सत्यवादिता' इन चारों व्रतों को धारण करनेवाले 'वामदेव' बनें।

ऋषिः—**श्रुष्टिगुः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु के साथ सम्पृक्त होना

३००. कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते॥ ८॥

जिसकी इन्द्रियाँ सुननेवली हैं, वह 'श्रुष्टिगुः' कहलाता है। 'दैव्यं वचः'=वेदवाणी ही तो इसके जीवन का निर्माण करनेवाली है। यह कहता है कि हे **इन्द्र**=सब असुरों का संहार करनेवाले प्रभो! आप उल्लिखित चार व्रतों (वेदानुकूल आचरण, स्वाध्याय, अदीनता व सत्यवादिता) के धारण करनेवाले का **कदाचन**=कभी भी **स्तरीः**=संहार करनेवाले **न असि**=नहीं हैं। जब एक व्यक्ति स्वयं विनय में चलता है तो उसे दण्ड देने की आवश्यकता ही नहीं होती।

हे प्रभो! आप **दाशुषे**=दान देनेवाले के लिए **सश्चसि**=(to go to) प्राप्त होते हैं। जितना-जितना मनुष्य दान की वृत्तिवाला बनता है **उप उप**=उतना-उतना ही समीपता से **इत् नु**=निश्चय से हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशाली प्रभो! आप उसे प्राप्त होते हैं। **भूयः**=फिर **दानम्**=(charity incarnate) दान का पुतला बनकर तो वह **इत् नु**=निश्चय से **ते देवस्य**=तुझ देव के साथ **पृच्यते**=संयुक्त हो जाता है। इधर से सब-कुछ छोड़कर ही तो आपको प्राप्त हो सकता है। **'मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्'** आयु आदि सब वस्तुओं को लौटाकर ही वह ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। सांसारिक वस्तुओं से मोक्ष ही प्रभु-प्राप्ति का उपाय है। प्राजापत्य यज्ञ में सर्वस्व को आहुत करके ही वह प्रजापति को पाता है।

भावार्थ—मैं प्रभु-प्राप्ति का दीवाना बनकर सर्वस्व दान कर डालूँ।

ऋषि:—**मेध्यातिथि:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**बृहती**॥ स्वर:—**मध्यम:**॥

घोड़ों को जोत, ये चरते ही न रहें

३०१. युङ्क्ष्वा हि वृत्रहन्तम हरी इन्द्र परावत:।
अर्वाचीनो मघवन्त्सोमपीतय उग्र ऋष्वेभिरा गहि॥ ९॥

प्रभु मेध्यातिथि से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **वृत्रहन्तम**=वासनारूप विघ्नों को सर्वाधिक नष्ट करनेवाले! तू **हि**=निश्चय से **हरी युङ्क्ष्व**=इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को रथ में जोत। ये तेरा हरण करते हैं—तभी तो हरि हैं। दूर-दूर देशों में ये भटकते हैं। उन **परावत:**=दूर-दूर देशों से इन्हें वापस लाकर तू इस शरीररूप रथ में जोतकर अपनी जीवन-यात्रा में आगे बढ़नेवाला बन। भोग ही न भोगता रह—अपनी यात्रा प्रारम्भ कर।

इस यात्रा का आरम्भ इस प्रकार होगा कि तू **अर्वाचीन:**=अपने अन्दर गति करनेवाला बन। पराचीन नहीं अर्वाचीन। औरों के दोषों को ढूँढनेवाला न होकर अपने दोषों को ढूँढनेवाला बन। आत्मनिरीक्षण से ही इस यात्रा का प्रारम्भ होता है। काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रु कहाँ-कहाँ छिपे बैठे हैं, उन्हें ढूँढ-ढूँढकर तू समाप्त कर डाल। 'शत्रु-घ्न' बन। **मघवन्**=पाप के लवलेश से शून्य (मा+अघ) इस सम्बोधन में भी तो यही प्रेरणा विद्यमान है। वासनाओं से ऊपर उठकर तू **सोमपीतये**=सोम के पान के लिए समर्थ होगा, इससे **उग्र:**='उदात्त', तेरा जीवन ऊँचा होगा। तू तेजस्वी बनेगा। अब **ऋष्वेभि:**=महान्-उदार आशयों के साथ तू **आगहि**=मेरे समीप आ जा।

प्रभु तो जीव को पुकार-पुकार का अपने समीप बुला रहे हैं, पर जीव सुने तब न? प्रभु की वाणी को सुननेवाला जीव महान् बनता है—उदार बनता है। आत्मप्राप्ति के साथ इस यात्रा का अन्त होता है। आत्मनिरीक्षण से यह प्रारम्भ हुई थी, आत्मप्राप्ति पर आज समाप्त हुई है।

भावार्थ—यात्रा करनेवाला मैं निरन्तर मेध्य प्रभु की ओर चलनेवाला 'मेध्यातिथि' बनूँ।

ऋषि:—**नृमेध:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**बृहती**॥ स्वर:—**मध्यम:**॥

घर में पहुँच

३०२. त्वामिदा ह्यो नरोऽपीप्यन् वज्रिन् भूर्णय:।
स इन्द्र स्तोमवाहस इह श्रुध्युप स्वसरमा गहि॥ १०॥

मनुष्य जब तक अज्ञानवश स्वार्थ में रहेगा, तबतक वह अपने घर से दूर ही भटकता रहेगा। ज्ञानवृद्धि के साथ, स्वार्थ का नाश होकर, वह पुन: अपने घर की ओर मुड़ेगा और अन्त में अपने ब्रह्मलोकरूप घर में पहुँच ही जाएगा। यह स्वार्थ से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति सभी का कल्याण करनेवाला, सभी को 'मैं' समझनेवाला 'नृमेध' होगा, मनुष्यों से सम्पर्कवाला। सभी व्यसनों से ऊपर उठा हुआ होने के कारण 'आङ्गिरस' होगा। प्रभु इससे कहते हैं कि **उप स्वसरम् आगहि**=फिर घर के समीप आ जा। तू ब्रह्मलोक से कितनी दूर भटक गया। लौट, इसी जीवन में फिर घर के समीप पहुँच जाने के लिए प्रयत्न कर। इस उद्देश्य से **स:**=वह तू **इह**=इस मानव-जीवन में **इन्द्र:**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनकर **स्तोमवाहस:**=स्तुति-

समूहरूप वेदमन्त्रों को धारण कनेवाले ज्ञानियों से **श्रुधि**=ज्ञान का श्रवण कर। घर का नाम (स्व-सर) है—स्वतन्त्रतापूर्वक चलने का स्थान। इन्द्रियों के अधीन हुए और इनके होकर न जाने हम कहाँ-कहाँ भटकते रह जाते हैं। ज्ञान को प्राप्त कर फिर हम स्वाधीन होते हैं और 'स्व-सर'=स्वतन्त्रतापूर्वक विचरने के स्थानरूप अपने घर को प्राप्त होते हैं। प्रभु कहते हैं कि हे नृमेध! **त्वाम्**=तुझे **इदा**=आज और **ह्यः**=कल **भूर्णयः**=पालन करनेवाले—आसुर वृत्तियों के आक्रमणों से बचानेवाले **नरः**=आगे और आगे ले-चलनेवाले, स्वयं संसार में (न-रम्) न फँसे हुए ज्ञानी लोग **अपीप्यन्**=ज्ञान-जल का पान कराएँ। **वज्रिन्**=तू भी वज्रवाला बन। (वज गतौ) निरन्तर गतिशीलता ही तेरा वह वज्र हो जो तुझे सब अशुभों को संहार करने में समर्थ करे। 'आलस्य के अभाव' रूप वज्रवाला तू हो। इस प्रकार आलस्य को छोड़कर, ज्ञान से चमकता हुआ तू पूर्ण स्वतन्त्र हो और अपने घर में पहुँच।

मन्त्र में प्रसङ्गवश पढ़नेवालों के लिए दो बातें कही गयी हैं—१. **इन्द्र**=वह इन्द्रियों का अधिष्ठाता बने, २. **वज्रिन्**=वह गतिशीलतारूप वज्रवाला हो—निरालस्य हो। पढ़ानेवालों में निम्न गुण हों—१. **नरः**=वे विद्यार्थियों को सदा आगे और आगे ले-चलें। **न-रम्**=अनासक्त हों, किसी भी विषय में न फँसे हों। २. **भूर्जयः**=विद्यार्थियों का पालन करनेवाले हों, उन्हें विषयासक्ति से बचाने का सदा ध्यान करें। ३. **स्तोमवाहसः**=स्तुतिसमूह को धारण करनेवाले हों। वेदमन्त्र 'स्तोम' हैं, उनके वे धुरन्धर ज्ञाता हों, ज्ञान के समुद्र होते हुए प्रभु-प्रवण मानसी वृत्तिवाले हों।

भावार्थ—हम कुशल आचार्यों के सम्पर्क में आकर ज्ञान का श्रवण करें और स्वार्थ से ऊपर उठ कुशलतापूर्वक इस संसार में विचरनेवाले ब्रह्मनिष्ठ बनें।

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**उषा**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

उषा का उपदेश

३०३. प्रत्यु अदर्श्यायत्यू३च्छन्ती दुहिता दिवः।
अपो मही वृणुते चक्षुषा तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी ॥ १ ॥

उ=निश्चय से **प्रति आयती**=प्रत्येक व्यक्ति की ओर आती हुई यह उषा **अदर्शि**=देखी जाती है। **आयती**=निरन्तर गति करती हुई यह उषा यही कहती है कि जैसे मैं (उष दाहे) अन्धकार को जलाकर उषा बनी हूँ, उसी प्रकार तुम भी गतिशील बनोगे तो अन्धकार को समाप्त करनेवाले होओगे।

उच्छन्ती=(उच्छी विवासे) यह उषा अन्धकार को विवासित कर देती है—देश निकाला दे देती है। उषा से प्रेरणा लेनेवाला व्यक्ति भी अपने अन्धकार को दूर करने के लिए सतत प्रयत्न करता है। यह उषा **दिवः**=प्रकाश की **दुहिता**=पूरण करनेवाली होती है। मनुष्य को भी अपने अज्ञानान्धकार को दूर करके अपने मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण करना है। एवं, उषा का उपदेश व्यक्ति को तीन शब्दों में दिया गया है। १. गतिशील बन, २. अन्धकार को दूर कर, ३. ज्ञान को अपने अन्दर भर।

मही=महनीय—पूजनीय यह उषा **चक्षुषा**=प्रकाश से **तमः**=अन्धकार को **उ**=निश्चय से **अपवृणुते**=दूर करती है। साधक को भी मानो यह प्रेरणा देती है कि तू इस उषाकाल में प्रभु की पूजा करनेवाला बन और स्वयं ज्ञानी बनकर औरों के अन्धकार को दूर कर। यह **सूनरी**=उत्तम ढङ्ग से हमें उत्तमता की ओर ले-चलनेवाली उषा **ज्योतिः**=प्रकाश **कृणोति**=कर देती है। हमें भी उपदेश देती है कि तुम्हें भी बड़े उत्तम प्रकार से माधुर्य के साथ ज्ञान-प्रसाररूप कार्य करना है। एवं, उषा का सामाजिक उपदेश यह है कि मनुष्य प्रभु का उपासक बनकर अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए यत्न करे और इस ज्ञान-प्रसाररूप कार्य को अत्यन्त मधुरता से करे।

इस उल्लिखित उषा के उपदेश को 'वसिष्ठ' ही क्रियान्वित कर सकता है। वश में करनेवालों में श्रेष्ठ, अर्थात् जितेन्द्रिय ही इस मार्ग का आक्रमण करता है और यह जितेन्द्रियता इसे 'मैत्रावरुणि' बनने से प्राप्त होती है। मैत्रावरुणि—प्राणापानों की साधना करनेवला।

भावार्थ—मैं उषा का योग्यतम शिष्य बनूँ।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

द्युलोक की ओर जानेवाला

३०४. इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना।
अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि गच्छथः॥ २॥

वसिष्ठ कहता है कि हे **उस्रा**=उत्तम निवास देनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **इमाः वाम्**=इन आपको **उ**=निश्चय से **दिविष्टयः**=स्वर्गलोक की ओर जानेवाले **हवन्ते**=पुकारते हैं, द्युलोक में पहुँचने की कामना से वे आपकी आराधना करते हैं। वस्तुतः प्राणापान की आराधना करनेवाला व्यक्ति ही निःस्वार्थ और दग्धदोष इन्द्रियोंवाला होकर उत्कृष्ट स्थान पर पहुँचा है।

हे **शचीवसू**=प्रज्ञा व शक्तिरूप धनोंवाले प्राणापानो! (शची=प्रज्ञा, शची=कर्म) **अयम्**=यह मैं **वाम्**=आप दोनों को **अवसे**=अपनी रक्षा के लिए **अह्वे**=पुकारता हूँ। प्राणापान मुझे शारीरिक दृष्टिकोण से नीरोग बनाते हैं, मानस दृष्टिकोण से पवित्र और बौद्धिक दृष्टिकोण से तीव्र। शरीर, मन व बुद्धि के दोषों को दूर करनेवाले इन प्राणापानों को मैं क्यों न पुकारूँ? ये प्राणापान **विशं विशं हि गच्छथः**=मेरे अन्दर प्रवेश करनेवाले प्रत्येक शत्रु पर आक्रमण करते हैं। काम-क्रोध आदि हमारे न चाहते हुए भी हममें घुस आते हैं। इसीलिए इन्हें 'विश्वानि'=प्रवेश करनेवाला कहा गया है। यही भावना यहाँ 'विशं' शब्द से दी गयी है। मुझमें काम का प्रवेश होता है, मैं दीर्घश्वास लेता हूँ और यह प्राण काम का विध्वंस कर उसे दूर भगा देता है। मुझे क्रोध आने लगता है, गहरा श्वास लेते ही कुछ देर के लिए न जाने क्रोध कहाँ भाग जाता है? एवं, प्राणापान प्रत्येक अवांछनीय भावना को भगा देते हैं।

इस सारी बात का ध्यान करके ही वसिष्ठ 'प्राणापान' की साधना को अपनाता है। मैत्रावरुणि बनकर यह काम, क्रोध से ऊपर उठ जाता है। विष्णु के भक्त को विष्णु बनना ही है, प्राणापान के उपासक ने 'प्राणापान' का पुञ्ज क्यों नहीं बनना?

भावार्थ—प्राणापानों की साधना से हम १. उस्रा=उत्तम निवासवाले, २. अवसे=वासनाओं के आक्रमण से रक्षावाले, ३. शचीवसू=ज्ञान व शक्ति की प्राप्तिवाले ४. दिविष्टयः=द्युलोक में पहुँचनेवाले—सदा सत्त्वगुण में अवस्थितिवाले बनें।

ऋषिः—वैवस्वतावश्विनौ॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

इस प्रकार भी, उस प्रकार भी

३०५. कुष्ठः को वामश्विना तपानो देवा मर्त्यः।
घ्नता वामश्नया क्षपमाणोंऽशुनेत्थमु आद्वन्यथा॥ ३॥

प्राणापान की साधना करनेवाला व्यक्ति प्राणापान का पुञ्ज बनकर यहाँ 'अश्विनौ' इस नामवाला ही हो गया है—प्राणापान ने इसके अन्धकार को विवासित कर इसे 'वैवस्वतौ' इस यथार्थ नामवाला किया है। ज्ञान के सूर्य से चमकने के कारण यह 'विवस्वान्' तो है ही। यह **कुष्ठः**=इस पृथिवी पर स्थित हुआ-हुआ भी **कः**=कोई विरला ही **मर्त्यः**=व्यक्ति **अश्विना**=हे प्राणापानो! हे **देवाः**=ज्ञान की दीप्ति देनेवाले! **वाम्**=आप दोनों के **तपानः**=दीप्त करने के स्वभाववाला **वाम्**=आपकी **घ्नता अश्नया**=सब दोषों को नष्ट करनेवाली व्याप्ति से **क्षपमाणः**=शरीर के रोगों को, मन के दोषों को और बुद्धि की कुण्ठा को नष्ट करता हुआ **अंशुना**=प्रकाश की किरणों से **उ**=निश्चय से **इत्थम्**=ऐसे तो चमकता ही है जैसे कि इहलोक में कोई स्वस्थ, सम्पन्न, सबल व्यक्ति चमका करता है, परन्तु इसके **आत् उ**=साथ ही (अपि च) **अन्यथा**=उस विलक्षण (अन्य=विलक्षण) रीति से भी शोभायमान होता है, जिससे कि कोई सात्त्विक आध्यात्मिक उन्नति-सम्पन्न व्यक्ति चमका करता है, अर्थात् यह प्राणापान को दीप्त करनेवाला व्यक्ति अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करनेवाला होता है। प्रेय व श्रेय दोनों का इसके जीवन में उचित समन्वय होता है। यह इहलोक व परलोक दोनों का कल्याण प्राप्त करता है। प्राणापान की साधना इसे प्रभुता के आकर्षण से बचाकर प्रभु की ओर ले-जाती है। प्रभु की प्राप्ति इसे प्रभुता तो प्राप्त करा ही देती है।

'तपानः' संकेत कर रहा है कि प्राणापान की साधना हमारा स्वभाव बन जाए, उसके बिना हम रह ही न सकें। 'अंशुना' शब्द संकेत करता है कि यह साधना हमें दीप्त करेगी। सूर्य की किरणों की भाँति हम भी ज्ञान की किरणोंवाले होंगे। 'घ्नता अश्नया' से स्पष्ट है कि जहाँ-जहाँ इनका संयम करेंगे वहाँ-वहाँ ये दोषों को दग्ध कर देंगे, परन्तु इस पृथिवी पर कोई विरला व्यक्ति ही इस साधना में तत्पर होता है। प्राणापान हमारे भोजन को सूक्ष्म करता हुआ हमें भौतिकता से ऊपर उठाता है। **'कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा निवृत्तिः'** इस योगसूत्र के अनुसार तो हम सचमुच 'अब्भक्ष' और 'वायुभक्ष' बनकर पार्थिवता से ऊपर ही उठ जाते हैं। हमें द्युलोक में पहुँचना तो है ही, अतः इस साधना को अपनाना ही ठीक है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से मैं ऐसे भी चमकूँ और वैसे भी।

ऋषिः—प्रस्कण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

देवलोक में जाने के निमित्त

३०६. अयं वां मधुमत्तमः सुतः सोमो दिविष्टिषु।
तमश्विना पिबतं तिरोअह्न्यं धत्तं रत्नानि दाशुषे॥ ४॥

मन्त्र का ऋषि प्रस्कण्व अश्विनी देवों (प्राणापानों) से कहता है कि **अयम्**=यह **वाम्**=आप दोनों का **मधुमत्तमः**=अत्यन्त मधुरतम (सारभूत) **सोमः**=सोम **दिविष्टिषु**=द्युलोक में गमनों

के निमित्त (दिव्+इष्टि, निमित्त सप्तमी) **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। वस्तुतः यह सोम प्राणापान का है, उन्हीं की साधना से इसकी रक्षा होती है और इस सोम का मुख्य उद्देश्य द्युलोक में प्राप्त होना=ज्ञान के क्षेत्र में विचरना ही है। मनुष्य अज्ञान व मोहवश विलास में—विलास में क्या विनाश में, इसका व्यय करता है। सन्तान के निर्माण में इसका व्यय, सकाम कर्मकाण्ड के दृष्टिकोण से, पवित्र कर्म है, परन्तु इसे ज्ञानाग्नि का ईंधन बना देना तो इसका सर्वोत्तम उपयोग है। यह प्राणापान की साधना से ही सम्भव है, अतः प्रस्कण्व कहता है कि हे **अश्विना**=प्राणापानो! **तम्**=उस सोम को इस प्रकार **पिबतम्**=अपने अन्दर ही पान करने का प्रयत्न करो कि यह **तिरः**=अदृश्यरूप से **अह्वयम्**=(अह् व्याप्तौ, अह्नोति) अन्दर-ही-अन्दर व्याप्त हो जाए। रुधिर के साथ इसका इस प्रकार समन्वय हो जाए कि 'तिलेषु तैलं, दधिनीव सर्पिः' जैसे तिलों में तेल का व दही में घृत का व्यापन हो जाता है।

हे अश्विनीदेवो! आप **दाशुषे**=आपके प्रति अपना समर्पण करनेवाले के लिए **रत्नानि धत्तम्**=रमणीय पदार्थों को धारण कराते हो। वस्तुतः जो भी व्यक्ति नियम से प्राणों की साधना करता है, वह सोमरक्षा द्वारा 'शरीर की नीरोगता, मन की पवित्रता व बुद्धि की तीव्रता' रूप तीनों रत्नों को तो प्राप्त करता ही है।

भावार्थ—हम नियमित प्राण-साधना से, सोम रक्षा के द्वारा, रत्नों को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**मेधातिथिमेध्यातिथी**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

विनीत वाणी व अक्रोध के द्वारा

३०७. आ त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं ज्या।
भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिषत्॥ ५॥

मन्त्र के ऋषि 'मेधातिथि व मेध्यातिथि' हैं। जो मेधा से चलता है (मेधया अतति) बुद्धिपूर्वक व्यवहार करता है, वह 'मेध्यं अतति'=पवित्र प्रभु को पा ही लेता है। यह कहता है कि **अहम्**=मैं **सदा**=हमेशा **आ**=सर्वथा **ज्या**=जयनशील, दूसरे के हृदय को जीत लेनेवाली अथवा अत्यन्त आग्रह से परिपूर्ण (ज्या=Importunity) **सोमस्य**=अत्यन्त विनीत पुरुष की **गल्दया**=वाणी से **त्वा याचन्**=आपकी प्राप्ति का याचक हूँ। (लट् के स्थान में शतृ)। जो आप **भूर्णिम्**=सबका भरण करनेवाले हैं और **मृगम्**=(मृग्यम्) अन्वेषणीय हैं, अर्थात् आप ही अन्ततः सबके पाने योग्य हैं।

हे प्रभो! आपको पाने के लिए ही मैं **न सवनेषु चुक्रुधम्**=अपने जीवन के प्रातः (२४ वर्ष) माध्यन्दिन (४४ वर्ष) व सायन्तन (४८ वर्ष) सभी सवनों में क्रोध नहीं करता। प्रभु को पाने के लिए जीवन को क्रोधशून्य बनाना अत्यन्त आवश्यक है। मधुरवाणी व क्रोधशून्यता—ये दो उपाय हैं प्रभु-प्राप्ति के लिए। इनको अपने जीवन का अङ्ग बनाये बिना कोई भी व्यक्ति प्रभु को नहीं पा सकता।

वैसे प्रभु **ईशानम्**=ईशान हैं—सब ऐश्वर्यों के स्वामी हैं और उन्हें **कः न याचिषत्**=कौन प्राप्त न करना चाहेगा? परन्तु केवल चाहने से प्रभु मिल थोड़े ही जाते हैं। वे तो तभी मिलेंगे जब मेरी वाणी विनीत पुरुष की वाणी होगी और मेरा जीवन बाल्य, यौवन व वार्धक्य में क्रोध से शून्य होगा।

भावार्थ—मैं मधुर बोलूँ, क्रोध से दूर रहूँ।

ऋषिः—देवातिथिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

घर में आ गया

३०८. अध्वर्यो द्रावया त्वं सोममिन्द्रः पिपासति।
उपो नूनं युयुजे वृषणा हरी आ च जगाम वृत्रहा ॥ ६ ॥

जीव अपने को ही प्रेरणा देता हुआ कहता है कि **अध्वर्यो**=अपने साथ अहिंसात्मक यज्ञ को जोड़नेवाले जीव! **त्वम्**=तू **द्रावय** =काम, क्रोध और लोभ आदि की भावनाओं को दूर भगा दे, क्योंकि आज **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता यह जीव **सोमम्**=सोम को **पिपासति**=पीना चाहता है। काम, क्रोध आदि के होने पर सोमपान सम्भव नहीं रहता, इसलिए अहिंसाव्रती बनकर यह सब वासनाओं को दूर भगाता है।

अब यह **वृषणा**=शक्तिशाली इन्द्रियरूपी **हरी**=घोड़ों को **नूनं उ**=निश्चय से ही **उपयुयुजे**=शरीररूपी रथ में जोतता है **च**=और **वृत्रहा**=सब रुकावटों को दूर करता हुआ **आजगाम**=अपने घर में आ जाता है।

'हरी'=घोड़े हैं, 'इधर-उधर ले-जाते हैं', अतः हरि कहलाते हैं। इन्द्रियाँ भी न जाने कहाँ-कहाँ ले-जाती हैं, अतः ये भी हरि हैं। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के गणों के विचार से यहाँ द्विवचन आया है। इन्हें शक्तिशाली बनाना (वृषणा) आवश्यक है, निर्बल बनाकर क़ाबू करने का कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि तब वे यात्रा-पथ को तय न कर सकेंगी। जिस दिन यात्रा पूर्ण करके हम घर पहुँचेंगे उस दिन हम ब्रह्मलोक में उस देव के अतिथि-से होंगे। इसी से मन्त्र के ऋषि का नाम 'देवातिथि' है।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियरूप घोड़े चरते ही न रहें, हम इन्हें रथ में जोतकर यात्रा को पूर्ण करने का ध्यान करें।

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

मैं छोटा भाई ही तो हूँ

३०९. अभीषतस्तदा भरेन्द्र ज्यायः कनीयसः।
पुरूवसुर्हि मघवन् बभूविथ भरेभरे च हव्यः ॥ ७ ॥

जब जीव इन्द्रियरूप घोड़ों को शरीररूप रथ में जोतकर अपने ब्रह्मलोकरूप घर की ओर वापस चल देता है तब प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अभि**=ब्रह्मलोक की ओर **इषतः**=जाने की इच्छावाले मुझमें हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **तत् आभर**=वह शक्ति भरिए, जिससे कि मैं अपनी इस यात्रा को पूर्ण कर सकूँ। **ज्यायः**=आप बड़े हैं, **कनीयसः**=मैं छोटा हूँ, मुझ छोटे को आप शक्ति अवश्य ही देंगे। बड़ा भाई छोटे का ध्यान करता ही है। आप परमात्मा हैं, तो मैं आत्मा हूँ। आप इन्द्र और मैं उपेन्द्र। हे **मघवन्**=पवित्र एश्वर्यवाले प्रभो! **हि**=निश्चय से आप **पुरूवसुः**=पालक और पूरक धनवाले **बभूविथ**=हैं। मुझे भी यही धन प्राप्त कराइए जिससे मैं सब विघ्नों को जीतता हुआ यात्रा को पूर्ण कर सकूँ। **भरेभरे च हव्यः**=जब मुझे पुनः इस शरीररूप यन्त्र को शक्ति से भरने की (बैटरी को रि-चार्ज करवाने की) आवश्यकता होती है, तब आप ही पुकारने योग्य होते हैं। आपको ही तो फिर-फिर इस यन्त्र में शक्ति

भरनी है। आपसे शक्ति प्राप्त करके ही मैं इन कामादि शत्रुओं से संग्राम में विजयी हो सकूँगा। आपसे शक्ति प्राप्त करके ही मैं इन घोड़ों को पूर्णरूपेण वश में करनेवाला इस मन्त्र का ऋषि वशिष्ठ बन पाता हूँ, अथवा आपकी कृपा से मैं फिर से उत्तम निवासवाला 'वसिष्ठ' होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु से अपने को जोड़कर मैं इस शरीररूप यन्त्र को शक्ति से फिर-फिर भर लेनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

एक मधुर उपालम्भ

३१०. यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय।
स्तोतारमिद्दधिषे रदावसो न पापत्वाय रंसिषम्॥८॥

अपने घर की ओर वापस लौटता हुआ वसिष्ठ जब कभी शक्ति की कमी अनुभव करता है, या किन्हीं साधनों की विफलता को देखता है तब प्रभु को उपालम्भ देता हुआ कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवाले प्रभो! **यत्**=यदि **यावतः त्वम्**=जितने ऐश्वर्य के आप स्वामी हैं **एतावत्**=इतना **अहम्**=मैं **ईशीय**=ऐश्वर्यवाला होता तो **इत्**=निश्चय से **स्तोतारम्**=स्तोता को **दधिषे**=धारण करता। यह ठीक है कि **पापत्वाय**=पाप के लिए **न रंसिषम्**=मैं शक्ति व साधनों को न देता, परन्तु इस समय मैं कोई पाप के मार्ग पर थोड़े ही जा रहा हूँ? मैं तो फिर अपने उस सनातन गृह—'ब्रह्मलोक' की ओर लौटने का प्रयत्न कर रहा हूँ। इसलिए हे **रदावसो**=सब वसुओं के देनेवाले (रदति=ददाति) प्रभो! मुझे भी उत्तम निवास के लिए आवश्यक वसुओं को प्राप्त कराइए। मैं प्राप्त धनों व साधनों का पाप में विनियोग थोड़े ही करूँगा। मैत्रावरुणि बनकर, अर्थात् प्राणापान की साधना करनेवाला बनकर मैं अपनी इन्द्रियों को निर्दोष ही रक्खूँगा। काम, क्रोधादि को वश में करके 'वसिष्ठ' बनूँगा।

भावार्थ—हे प्रभो! मैं आपके दिये वसुओं का दुरुपयोग न करूँ।

ऋषिः—**नृमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

उत्साहजनक प्रेरणा

३११. त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः।
अशस्तिहा जनिता वृत्रतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः॥९॥

वसुओं की याचना करनेवाले जीव से प्रभु कहते हैं कि **त्वम्**=तू **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता! **प्रतूर्तिषु**=इन काम, क्रोध, लोभ, मोहादि के संग्रामों में (तुर्वि हिंसायाम्) **विश्वाः**=अन्दर घुस आनेवाले इन सब **स्पृधः**=स्पर्धापूर्वक संग्राम करनेवाली कामादि वृत्तियों को **अभि असि**=अभिभूत कर लेता है, (अस्=भू)। तू इनसे पराजित नहीं होता। तू तो अब इन्द्र बन गया है। इन्द्रियों को वश में करके ही तो तू यात्रा-पथ पर आक्रमण कर रहा है। तू **आशस्तिहा**=सब अशुभों का विनाश करनेवाला है। **जनिता**=अपना प्रादुर्भाव—विकास करनेवाला है, **वृत्रतूः असि**=मार्ग में आनेवाली सब रुकावटों को समाप्त करनेवाला है। **त्वम्**=तू **तरुष्यतः**=तेरी

हिंसा करनेवाली इन अशुभ वृत्तियों को **तूर्य**=समाप्त कर डाल।

इस उत्साहमय प्रेरणा को सुनकर यह जीव अपने को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाला बनता है। (नृ नये), अतः 'ना' (नृ) कहलाता है। उन्नति-पथ पर बढ़ते हुए अपने विरोधियों का मुक़ाबला करता है (meets them—मेधते) इसलिए मेध नामवाला होता है। यह नृमेध उसी उत्साहमय प्रेरणा से अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस-शक्ति का अनुभव करने से 'आङ्गिरस' है।

भावार्थ—हम प्रभु से दिये गये 'इन्द्र' नाम को सार्थक करनेवाले हों।

ऋषिः—**नोधा गोतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

अपने को नवमश्रेणी में धारण करनेवाला

३१२. प्र यो रिरिक्ष ओजसा दिवः सदोभ्यस्परि।
न त्वा विव्याच रज इन्द्र पार्थिवमति विश्वं ववक्षिथ॥ १०॥

यः=जो **ओजसा**=आगे बढ़ने की शक्ति के द्वारा (ओज=to increase) **दिवः**=द्युलोक के **सदोभ्यः**=स्थानों से **परि**=परे **प्ररिरिक्षे**=निकल जाता है, **त्वा**=उस तुझे हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विदारण करनेवाले जीव! **रजः**=यह अन्तरिक्षलोक अथवा **पार्थिवम्**=यह पृथिवीलोक **न**=नहीं **विव्याच**=व्याप्त कर लेता। इस इन्द्र को तमोगुण व रजोगुण ने क्या घेरना? यह तो सत्त्वगुण से भी ऊपर उठ नैस्त्रैगुण्य हो गया है, गुणातीत-सा हो गया है।

'प्ररिरिक्षे' शब्द का ठीक अर्थ (रिच्=खाली करना) पिछले स्थान को खाली करके आगे बढ़ जाना है। यह पृथिवीलोक से अन्तरिक्षलोक में उठता है, अन्तरिक्ष से द्युलोक में, और द्युलोक के स्थानों से भी यह आगे बढ़ने का ध्यान करता है। यही तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठ सत्त्वगुण में पहुँचना है। सत्त्वगुण में भी यह उत्तम सात्त्विक बनता है। यह निचली-निचली श्रेणी को छोड़कर, तीनों तामस्, तीनों राजस् तथा निचली दो सात्त्विक इन आठ श्रेणियों को छोड़कर आज अपने को नौवीं श्रेणी में धारण कनेवाला 'नो-धा' है। इसकी इन्द्रियाँ प्रशस्त तो हैं ही, अतः यह 'गोतम' है। यह **विश्वम्**=हमारे न चाहते हुए भी हमारे अन्दर घुस आनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं को **अति ववक्षिथ**=पार करके अपने को इस उत्तम स्थिति में प्राप्त करनेवाला है और इसीलिए **विश्वम्**=त्रिलोकी को **अतिववक्षिथ**=पार कर गया है। पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक को पार करके 'ब्रह्मलोक' में पहुँच गया है।

भावार्थ—हम उत्तम सात्त्विक गति को प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सात्त्विक आहार के लाभ

३१३. असावि देवं गोऋजीकमन्धो न्यस्मिन्निन्द्रो जनुषेमुवोच।
बोधामसि त्वा हर्यश्व यज्ञैर्बोधा न स्तोममन्धसो मदेषु॥ १॥

कैसा अन्न—अन्धः=भोजन वही उत्तम है जो **असावि**=पैदा किया गया है। (सु=पैदा करना (to sow)। भोजन वही ठीक है जो भूमिमाता से पैदा किया जाता है। इस कथन-शैली

से यह स्पष्ट है कि मांसभोजन हेय है, परन्तु इस प्रकार भावना लेने से तो दूध भी अनुपादेय हो जाएगा, अतः कहते हैं कि **गोऋजीकम्**=गोदुग्धयुक्तम् (ऋजीकम्=mixed up, ऋृज गतौ)। अन्यत्र वेद में 'पयः पशूनाम्' इन शब्दों से यही भावना व्यक्त की गयी है कि पशुओं का दूध ही लेना है, मांस नहीं। एवं, पृथिवी से उत्पन्न व्रीहि, यव, माष, तिल, फल-मूल, कन्द व गोदुग्ध ही मानव-भोजन है। यही भोजन सात्त्विक है। **देवम्**=दैवी सम्पत्ति को जन्म देनेवाला है।

लाभ—अस्मिन्=इस सात्त्विक भोजन में **ईम्**=निश्चय से **जनुषा**=स्वभाव से ही **इन्द्रः**=इन्द्रियों का शासक न कि इन्द्रियों का दास **नि उवोच**=निश्चय से **समवेत**=सङ्गत होता है (उच समवाये)। अभिप्राय यह कि सात्त्विक भोजन हमें जितेन्द्रिय बनाता है, जबकि राजस् भोजन का परिणाम इन्द्रियों का दास बन जाना होता है।

प्रभु कहते हैं कि हे **हर्यश्व**=आशुगामी इन्द्रियरूप अश्वोंवाले! **त्वा**=तुझे **यज्ञैः**=यज्ञों के द्वारा **बोधामसि**=ज्ञानयुक्त करते हैं। इस वाक्य में वस्तुतः क्रियाशीलता, यज्ञ की वृत्ति तथा ज्ञान—ये तीन लाभ सात्त्विक आहार के दिये गये हैं। जिस प्रकार एक भक्त 'मेरी माता अपनी आँखों से मेरे पुत्रों को सोने के पात्रों में खाता देखे' इस एक वाक्य से माता की आँखें, सन्तान व धन तीनों ही बात माँग लेता है, उसी प्रकार यहाँ भी एक वाक्य में वस्तुतः तीन लाभों का संकेत हो गया है।

तथा **अन्धसः मदेषु**=इन सात्त्विक भोजनों के आनन्दों में तू **नः स्तोमं बोध**=हमारी स्तुति को भी जान, अर्थात् इन सात्त्विक भोगों को भोगता हुआ भी पुरुष प्रभु को भूल नहीं जाता। उसे सदा प्रभु का स्मरण रहता है।

इस मन्त्र का ऋषि 'मैत्रावरुणि वसिष्ठ' सात्त्विक भोजन को ही अपनाता है, क्योंकि वह समझता है कि मानवता या वीरता वसिष्ठ बनने में ही है। वसिष्ठ वशियों में श्रेष्ठ है। जिसने काम, क्रोध को जीता है। संसारभर को जीतने की अपेक्षा अपने को जीतना अधिक उत्तम है। इस काम-क्रोध को जीतने के लिए ही मित्रावरुण की सन्तान, अर्थात् उत्तम प्राणापानवाला बनना आवश्यक है। उसी के लिए प्राणायाम है। इस प्राणायाम में सात्त्विक आहार मूलभूत वस्तु है। इसके बिना प्राणसाधना सम्भव नहीं, इसीलिए 'मैत्रावरुणि वसिष्ठ' सात्त्विक भोजन का उपादान करता है।

भावार्थ—हम सात्त्विक आहार के द्वारा १. जितेन्द्रिय (इन्द्र), २. क्रियाशील, ३. यज्ञशील, ४. ज्ञानी तथा ५. सदा प्रभु के स्तोता बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उपासना के लाभ

३१४. योनिष्ट इन्द्र सदने अकारि तमा नृभिः पुरुहूत प्र याहि।
असो यथा नोऽविता वृधश्चिद्ददो वसूनि ममदश्च सोमैः॥ २॥

उपासना—गत मन्त्र का सात्त्विक आहार का सेवन करनेवाला अपनी सात्त्विक अन्तःकरण की वृत्ति के कारण प्रभु का स्तोता बनता है। यही सात्त्विक आहार का पञ्चम लाभ था। वह प्रभु से कहता है कि **इन्द्र**=हे सर्वैश्वर्यशाली प्रभो! **सदने**=इस तेरे द्वारा दिये गये मृण्मय गृह में **ते**=तेरे लिए **योनिः**=[illegible] स्थान **अकारि**=मेरे द्वारा बनाया गया है—निश्चित किया गया

है। मैंनें इस घर—हृदय को तेरे बिठाने के लिए ही अशुद्ध भावनाओं से खाली कर शुद्ध कर डाला है।

हे **नृभिः पुरुहूत**=मनुष्यों से बहुत पुकारे गये प्रभो! आपको ही तो प्रत्येक कष्ट-पतित पुरुष कष्ट-निवृत्ति के लिए पुकारता है। वे आप **तम्**=उस हृदयरूप स्थान में **आ-प्र-याहि**=सर्वतः प्रकर्षेण प्राप्त होओ, अर्थात् मैं अपने हृदय में आपका ही स्मरण करूँ।

लाभ—१. **यथा**=जिससे आप **नः**=हमारे **अविता**=रक्षक **असः**=हों। उपासक प्रभु को अपना रक्षक मानता है—अतएव वह निर्भीक है। उसी प्रकार निर्भीक जैसेकि मातृगोद में स्थित बच्चा। यह उपासक प्रभु को ही उपस्तरण व अपिधान के रूप में देखता है।

२. **वृधः चित्**=आप हमारी वृद्धि के लिए होओ। लोहे का गोला जब तक अग्नि के सम्पर्क में रहता है तब तक तेजस्वी बना रहता है, अलग हुआ और ठण्डा हुआ। वही अवस्था जीव की है—प्रभु के सम्पर्क में तेजस्वी, अलग हुआ और निस्तेज, फिर वृद्धि कहाँ?

३. **ददः वसूनि**=हे प्रभो! अपने उपासक का योगक्षेम आप ही तो चलाते हैं। निवास के लिए आवश्यक सब वस्तुएँ आप मुझे देते हो।

४. भोगविलास से दूर रख यह उपासना मनुष्य को शक्तिशाली बनाती है, अतः कहते हैं कि **'सोमैः ममदः च'**=यह शक्ति के द्वारा मेरे जीवन को उल्लासमय बनाती है।

भावार्थ—उपासना के चार लाभ हैं—१. प्रभु द्वारा रक्षण २. वृद्धि—विकास, ३. वसुओं की प्राप्ति और ४. शक्ति के कारण उल्लासमय जीवन।

ऋषिः—**गातु आत्रेयः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उपासना के मुख्य दो लाभ—शक्ति का रहस्य—विषय-निवृत्ति में

३१५. अदर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान् बद्बधानाँ अरम्णाः।
महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः सृजद्धारा अव यद्दानवान् हन्॥ ३॥

प्रथम—गत मन्त्र में स्तुति का अन्तिम लाभ 'शक्ति के द्वारा जीवन में उल्लास' कहा गया था। उस शक्ति का रहस्य इस मन्त्र में वर्णित हुआ है। मनुष्य की इन्द्रियाँ विषयों में गयीं, और उनकी शक्ति जीर्ण हुई। हे प्रभो! आप **उत्सम्**=प्रस्रवण को, इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को **अदर्दः**=विदीर्ण कर देते हो (दृ=to tear) प्रभु स्मर-हर हैं, इन विषयों की उत्कण्ठा का हरण करनेवाले हैं। विषयोत्कण्ठा को समाप्त करके **खानि**=इन्द्रियों को **वि असृजः**=आप विषयों से मुक्त करते हो। ये विषय मनुष्य के लिए अतिग्रह नहीं रह जाते। इस प्रकार **त्वम्**=हे प्रभो! आप **बद्बधानाम्**=मुझे बुरी तरह से बाँधनेवाले **अर्णवान्**=विषय-समुद्रों को ('कामो हि समुद्रः' उप०) **अरम्णाः**=थाम देते हो। इस प्रकार विषयोत्कण्ठा की निवृत्ति, इन्द्रियों की विषयों से मुक्ति, अत्यन्त पीड़ित करते विषय-समुद्र का रुक जाना, यह उपासना का प्रथम लाभ है, इसी का परिणाम शक्ति का नष्ट न होना है और जीवन का उल्लासमय बनना है।

द्वितीय—इस उपासना का दूसरा परिणाम यह है **यत्**=कि **इन्द्र**=हे अज्ञानराशि को विदीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **महान्तं पर्वतम्**=महान् ग्रन्थियों-(पर्वों)-वाली अविद्या को **विवः**=विवृत कर देते हो—खोल डालते हो, उलझनों को सुलझा देते हो। सब गाँठें खुल जाती

हैं और इस प्रकार **धारा**=ज्ञान-धाराओं को **विसृजत्**=आप प्रवाहित करते हो। पर्वत के विदीर्ण होने से जलप्रवाह बह उठता है, उसी प्रकार संशय-पर्वत की विदीर्णता से ज्ञान की जलधारा बह निकलती है। **ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा**=उपासना की पराकाष्ठा में सत्यपोषक बुद्धि तो प्राप्त होती ही है और **यत्**=वह ज्ञान **दानवान्**=दानव-वृत्तियों को **अवहन्**=दूर नष्ट कर देता है। उपासना से ज्ञानाग्नि भी अशुभ वृत्तियों को भस्म कर देती है और हमें शक्तिशाली बनाती है।

उपासना के इन दो लाभों का ध्यान करते हुए जो व्यक्ति सदा उस प्रभु का गायन करता है वह 'गातुः' है और इस गायन का ही यह परिणाम है कि वह 'त्रिविध' तापों से उठा हुआ आत्रेय बनता है।

भावार्थ—शक्ति व ज्ञान की प्राप्ति के लिए हम प्रभु के उपासक बनें।

ऋषिः—**पृथुर्वैन्यः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उपासना किस प्रकार?

३१६. सुष्वाणास इन्द्र स्तुमसि त्वा सनिष्यन्तश्चित्तुविनृम्ण वाजम्।
आ नो भर सुवितं यस्य कोना तना त्मना सह्याम त्वोताः ॥ ४ ॥

गत दो मन्त्रों में उपासना के लाभों का सविस्तर वर्णन था। इस मन्त्र में 'उपासना-प्रकार' वर्णित है—

प्रथम साधन—हे **इन्द्र! सुष्वाणासः**=यज्ञों में सोमरस का अभिषव करते हुए, अर्थात् क्रतु नामक सोमयज्ञों को करते हुए हम **त्वा**=तेरी **स्तुमसि**=स्तुति करते हैं। जीवात्मा को शत-क्रतु कहा गया है, अर्थात् उसके सौ-के-सौ वर्ष क्रतुओं में ही बीतने चाहिएँ। शतक्रतु बनकर वह स्वयं इन्द्र ही बन जाता है। यज्ञों में लगा रहकर वह अपने जीवन को यज्ञमय कर डालता है, वह सचमुच **'पुरुषो वाव यज्ञः'**=यज्ञ बन जाता है।

द्वितीय साधन—हे **तुविनृम्ण**=बहुत बलवाले, अनन्त शक्तिमान् प्रभो! हम **चित्**=भी **वाजं सनिष्यन्तः**=शक्ति को प्राप्त करते हुए आपकी स्तुति करते हैं। शक्तिपुञ्ज प्रभु की यही सच्ची उपासना है कि हम भी शक्तिशाली बनें। शक्ति में ही सब गुणों का वास होता है। गुणी बन हम प्रभु के पास पहुँच जाते हैं।

तृतीय साधन—**नः**=हममें हे प्रभो! आप उस **सुवितम्** (सु+इतम्)=भद्र को, दुरित से विपरीत वस्तु को **आभर**=भरिए, **यस्य कोना**=जिसे आप चाहते हैं। इस भावना से बढ़कर और समर्पण क्या हो सकता है। यह समर्पक प्रभु का सच्चा उपासक है।

परिणाम—इस उपासना के होने पर **त्वा+ऊताः**=तुझसे रक्षित हुए हम **तना**=अपनी शक्तियों के विस्तार से **त्मना**=(आत्मना) स्वयं **सह्याम**=शत्रुओं का पराभव करें। उपासना से वह शक्ति प्राप्त होती है जो हमें पर्वत-तुल्य दृढ़ शत्रुओं को भी नष्ट करने में समर्थ बनाती है। इन शक्तियों के विस्तार के कारण ही यह उपासक 'पृथुः' (प्रथ विस्तारे) कहलाता है। यज्ञों के द्वारा इसने प्रभु की उपासना की, इसलिए यह 'वैन्य' कहलाया। (वेनः=यज्ञः—नि० ३।१४)। वेन यज्ञ का नाम है। यज्ञों को खूब करनेवाला वैन्य है।

भावार्थ—यज्ञों, बल-सम्पादन तथा समर्पण के द्वारा उपासना होती है। इस उपासना से वह शक्ति प्राप्त होती है जो हमें शत्रु-विजय के योग्य बनाती है।

ऋषिः—सप्तगु आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

यदि प्रभु का हाथ पकड़ेंगे

३१७. जगृह्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम्।
विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ५ ॥

हाथ पकड़ना—पिछले मन्त्र में कहा गया था कि तुझसे रक्षित होकर हम शत्रुओं का पराभव करेंगे। इसी भाव को इस मन्त्र में और विस्तार से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=प्रभो! **ते**=तेरे **दक्षिणं हस्तम्**=दक्षिण हाथ को **जगृह्म**=हम पकड़ते हैं। 'हाथ पकड़ना' यह मुहावरा है, अर्थात् सहायता लेना। हम प्रभु का हाथ पकड़ें, अर्थात् प्रभु को अपना सहायक बनाएँ—उसकी सहायता के बिना हम इन शत्रुओं का पराभव कर ही कहाँ सकते हैं? प्रभु का यह हाथ 'दक्षिण' है, हमारी शक्ति का बढ़ानेवाला है, हमारी उन्नति का कारण है, हमें चातुर्य (कुशलता) प्राप्त करानेवाला है।

प्रथम लाभ—इस प्रभु का हाथ पकड़ते हैं, क्योंकि हम **वसूयवः**=वसूयु हैं, उत्तम वास के लिए आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करने की इच्छावाले हैं और हे प्रभो! आप **वसूनाम् वसुपते**=वसुपतियों में वसुपति हैं—सर्वश्रेष्ठ वसुपति हैं। प्रभु अपने उपासकों को **वसु**=जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ प्राप्त कराते ही हैं।

द्वितीय लाभ—वसु-प्राप्ति से उपासक का खाना-पीना तो चलता ही है, परन्तु बड़ा लाभ यह है कि हे **शूर**=काम, क्रोधादि आसुर वृत्तियों को शीर्ण करनेवाले (शृ हिंसायाम्) प्रभो! **हि त्वा**=निश्चय से आपको **गोनां गोपतिं विद्म**=हम इन्द्रियों के उत्तम पति के रूप में जानते हैं। प्रभु-उपासना से प्रभु का उपासक भी इन्द्रियों का पति—जितेन्द्रिय बनता है। उसकी वासनाएँ शीर्ण हो जाती हैं और परिणामतः वह जितेन्द्रिय बन पाता है। उसकी बुद्धि धर्म-मार्ग से विचलित नहीं होती।

सत्सङ्ग—प्रभु की उपासना की वृत्ति को जगाने के लिए ही उपासक सत्सङ्ग चाहता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अस्मभ्यं दाः**=हमें दीजिए, प्राप्त कराइए। किन्हें?

१. **चित्रम्**=(चित्+र) ज्ञान देनेवाले ब्राह्मणों को। २. **वृषणम्**=शक्ति से औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाले क्षत्रियों को। ३. **रयिम्**=(दा दाने) धन का खूब दान करनेवाले वैश्यों को।

संसार में हमारा सङ्ग ज्ञान देनेवाले ब्राह्मणों, शक्ति से किसी का हनन न करनेवाले क्षत्रियों एवं धन का दान करनेवाले वैश्यों के साथ हो। इस सत्सङ्ग के द्वारा हम 'सुमनाः' बनें। हमारे शुद्ध मनों में वासनाओं का मैल न हो। हमारी **'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'** कान, नासिका, आँखें व मुख सातों इन्द्रियाँ उत्तम हों। ये विषयों में गयी हुई न हों, न ही हम इनके दास बन जाएँ। सातों इन्द्रियों के अधिष्ठाता हम 'सप्त-गु' सातों गोरूप इन्द्रियोंवाले हों और विलास से दूर होने के कारण ही हमारे अङ्ग रसमय बने रहें और हम 'आङ्गिरस' कहलाने के पात्र हों। दूसरे शब्दों में हम इस मन्त्र के ऋषि 'सप्तगु आङ्गिरस' बनें।

भावार्थ—उपासक प्रभु का हाथ पकड़ता है और 'वसुपति' व 'गोपति' बनता है। आवश्यक पदार्थों की उसे कमी नहीं होती और वह जितेन्द्रिय बन पाता है।

ऋषिः—वसिष्ठो मैत्रावरुणिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

संग्राम में विजयी बनेंगे

३१८. इन्द्रं नरो नेमधिता हवन्ते यत्पार्या युनजते धियस्ताः।
शूरो नृषाता श्रवसश्च काम आ गोमति व्रजे भजा त्वं नः॥ ६॥

नेमधिता शब्द निरुक्त (२.१६.१३) में संग्राम वाचक है। **नेम**=आधे एक ओर और आधे दूसरी ओर **धिता**=रक्खे होते हैं, सम्भवतः इसलिए यह शब्द संग्राम के लिए प्रयुक्त हुआ है। कुछ दैवी वृत्तियाँ एक ओर हैं और दूसरी आसुर वृत्तियाँ दूसरी ओर। एवं, इनका भी यह दैवासुर संग्राम शाश्वतकाल से मानव हृदयस्थली में चला आ रहा है। जो **नरः**=(नृ नये) अपने को आगे ले-चलने की वृत्तिवाले लोग होते हैं वे इस संग्राम में **इन्द्रं हवन्ते**=प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु की सहायता से ही तो उन्हें विजय प्राप्त होगी। वासनाएँ तो बड़ी प्रबल हैं। इन्हें जीतना अत्यन्त दुष्कर है, परन्तु **यत्**=जब ये नर **ताः पार्याः धियः युनजते**=उन शत्रुओं से पार होने के निश्चयवाली बुद्धियों को अपने में युक्त करते हैं, अर्थात् इनसे पार पाने का निश्चय कर लेते हैं तब वे प्रभु को पुकारते हैं। ये प्रभु ही वस्तुतः **शूरः**=इन वासनाओं को शीर्ण करनेवाले हैं। **'नृ-षाता'** वे ही नरों को विजय-लाभ करानेवाले हैं। इस विजय के द्वारा **श्रवसः च कामः**=प्रभु हमारा यश चाहते हैं। करते तो सब प्रभु ही हैं, परन्तु जीव को निमित्तमात्र बना उसे वे यशस्वी बनाते हैं।

एक ज्ञानी भक्त इस तत्त्व को समझता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि इस प्रकार वासनाओं को समाप्त करके **नः**=हमें **त्वम्**=आप **गोमति व्रजे**=प्रशस्त गौओंवाले बाड़े में **आभज**=भागी बनाइए, अर्थात् आपकी कृपा से हमारी इन्द्रियरूप गौवें वासना-क्षेत्रों में चरने न जाकर संयम के बाड़े में निरुद्ध रहें।

यह इन्द्रियों को संयम के बाड़े में निरुद्ध करनेवाला व्यक्ति 'वसिष्ठ' है। बाह्य शत्रुओं को वश में करने की अपेक्षा इन आन्तर शत्रुओं को वश में करना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है—यही वसिष्ठ बनना है। इस वसिष्ठ बनने के लिए ही यह (मैत्रावरुणि)=प्राणापान की साधना करनेवाला बना था।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण के साथ दृढ़ निश्चय से हम वासनाओं से युद्ध करेंगे तो प्रभु अवश्य हमें विजय प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—गौरिवीतिः शाक्त्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

उपासक का स्वरूप व उपासक की प्रार्थना

३१९. वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्द्धि चक्षुर्मुमुग्ध्या३स्मान्निधयेव बद्धान्॥ ७॥

'प्रभु की उपासना का ठीक स्वरूप क्या है?' इस प्रश्न का उत्तर इस मन्त्र में बड़े उत्तम प्रकार से दिया गया है। अकर्मण्य स्तोत्रपाठी प्रभु के उपासक नहीं हैं। **इन्द्रं उपसेदुः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु के समीप तो ये ही बैठते हैं, उसकी उपासना तो वे ही करते हैं जो—

१. **वयाः**=(वय गतौ) गतिशील हैं, अकर्मण्य नहीं। प्रभु की उपासना शब्दों से न होकर कर्मों से होती है—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।'** (pray to God, but keep the powder dry) यह उक्ति ठीक ही है। प्रार्थना पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त ही शोभा देती है।

२. **सुपर्णाः**=उत्तम प्रकार से अपना पालन करनेवाले प्रभु के उपासक हैं। काम, क्रोध, लोभादि आसुर वृत्तियों के आक्रमण से जो सदा अपने को बचाने में लगे हैं। इसी उद्देश्य से जो सदा आत्मालोचन करते हैं, वे प्रभु के सच्चे उपासक हैं।

३. **प्रिय मेधाः**=जिन्हें बुद्धि प्रिय है। शरीर रथ है तो बुद्धि सारथि। रथ भी ठीक होना ही चाहिए, परन्तु सारथि की कुशलता उससे कहीं अधिक आवश्यक है। एक घटिया रथ को भी कुशल सारथि आगे ले-जाएगा, परन्तु नये रथ को भी अनाड़ी सारथि विकृत कर देगा।

४. **ऋषयः**=जो देखनेवाले हैं। जो तत्त्व तक पहुँचते हैं।

५. **नाधमानाः**=नाध् आशीः=सभी के लिए मङ्गल की आशीः=कामना करनेवाले, किसी का भी अशुभ न चाहनेवाले ही सच्चे उपासक होते हैं।

यह उपासक प्रभु से प्रार्थना भी निम्न शब्दों में करता है—

१. **ध्वान्तम् अप ऊर्णुहि**=हे प्रभो! आप अन्धकार को दूर कीजिए। इस अन्धकार के कारण हम वस्तुओं के ठीक रूप को नहीं देख पाते। यह अन्धकार ही हमें अनित्य में नित्य का, अशुचि में शुचि का, दुःख में सुख का और अनात्मा में आत्मा का आभास कराये रहता है। यह चतुर्विध अविद्या ही हमारे सब दुःखों का मूल बनती हैं।

२. **पूर्धि चक्षुः**=हे प्रभो! अज्ञानान्धकार को दूर कर आप हमारे चक्षुओं को ज्ञान के प्रकाश से परिपूर्ण कर दीजिए। जब हमारे नेत्र ज्ञान की ज्योति से परिपूर्ण होंगे तब हम सर्वत्र आपकी महिमा को देख पाएँगे। आपको देखने से उस एकत्व का भी दर्शन होगा, जोकि अन्तिम सत्य है।

३. **अस्मान् निधया इव बद्धान् मुमुग्धि**=हम विषय-जाल में इस अज्ञान के कारण ही फँसे हैं। अहंता और ममता की बेड़ी अज्ञानमूलक ही है। अविद्या को नष्ट कर विषय-जाल में बद्ध हमें आप मुक्त कर दीजिए।

हे प्रभो! इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करनेवाला (गौरी वाचं व्येति=प्राप्नोति इति) मैं इस मन्त्र का ऋषि 'गौरिवीति' बनूँ और अपने में अज्ञानमूलक निर्बलता को समाप्त कर शक्ति भरनेवाला 'शाक्त्य' बनूँ।

भावार्थ—हम क्रियाशील, लोभादि से अपनी रक्षा करनेवाले, प्रिय-मेध, तत्त्वद्रष्टा और सर्वहितैषी बन प्रभु के सच्चे उपासक बनें और हमारी सदा यही आराधना हो कि हे प्रभो! हमारे ज्ञान-नेत्रों को खोल दीजिए।

ऋषिः—**वेनो भार्गवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु का आतिथ्य (Reception)

३२०. नाके सुपर्णमुप यत् पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम्॥ ८॥

आतिथ्य=गत मन्त्र की प्रार्थना के अनुसार यदि हम विषय-जाल से मुक्त हो मोक्षलोक

में पहुँचेंगे तो वहाँ **नाके**='जहाँ दुःख नहीं है' (न+अ+क) ऐसे उस उत्तम मोक्षलोक में तो वे प्रभु **सुपर्णम्** बड़े उत्तम प्रकार से हमारा पालन करनेवाले हैं ही, परन्तु जब तक हम उस मोक्षलोक में नहीं पहुँचते तब भी **यत्**=वे ब्रह्म **उपपतन्तम्**=उपासक के समीप आते ही हैं। सर्वव्यापक होते हुए भी वे प्रभु अज्ञानियों से 'तद्दूरे'=दूर हैं, ज्ञानियों के ही 'तत्' 'अन्तिके' वे समीप होते हैं। इस समीप आते हुए प्रभु का उपासक को स्वागत (Reception) करना है। वह उसका स्वागत किस वस्तु से करे? वह भूख-प्यास से परे है, अतः उसका स्वागत तो इसी प्रकार हो सकता है कि **हृदा वेनन्तः**=हृदय से तेरी अर्चना करते हुए **त्वा अभ्यचक्षत**=तेरा दर्शन करें।

इस प्रभु का आतिथ्य इसलिए करना है कि—

१. **हिरण्यपक्षम्**=(हिरण्यं वै ज्योतिः, पक्ष परिग्रहे) वे प्रभु ज्ञान की ज्योति का परिग्रह करानेवाले हैं। प्रभु के आतिथ्य से हमारा मस्तिष्क ज्ञान-ज्योति से जगमगा उठेगा।

२. **वरुणस्य दूतम्**=(यः प्राणः स वरुणः। —गो० ३.४.११, अपानो वरुणः) वे प्रभु वरुण, अर्थात् प्राणापान-शक्ति के प्रापक हैं। (दूतं=प्रापयितार, सन्देशहर सन्देशा पहुँचाता है) या श्रेष्ठता को प्राप्त करानेवाले हैं। मनों को राग-द्वेष, मोह से शून्य करनेवाले हैं।

३. **यमस्य योनौ शकुनम्**=संयम के स्थान में, अर्थात् संयमी होने पर शक्ति देनेवाले हैं। प्रभु का स्मरण हमें संयमी बनाता है और परिणामतः हम शक्तिशाली बनते हैं।

४. **भुरण्यम्**=वे प्रभु हमारा भरण करनेवाले हैं। उपासना से केवल आध्यात्मिक लाभ होगा और अभ्युदय से हम वंचित रहेंगे, ऐसी बात नहीं है। उपासक का खान-पान प्रभु अवश्य चलाते हैं।

एवं अभ्युदय वा निःश्रेयस दोनों का हेतु होने से हमें अवश्य उस प्रभु की अर्चना करनी चाहिए। यह अर्चना करनेवाला 'वेन' इस मन्त्र का ऋषि है। अपने को तपस्या-अग्नि में तपाने से ही वह ऐसा बन पाया है, अतः यह भार्गव है। वेन का अर्थ यास्क मेधावी भी करते हैं, वस्तुतः प्रभु की अर्चना ही मेधाविता है।

भावार्थ—हम अपने समीप प्राप्त प्रभु का स्वागत करें और उसकी कृपा से ज्ञानी व शक्तिशाली बनें।

ऋषिः—**बृहस्पतिर्नकुलो वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ब्रह्म दर्शन

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
३२१. ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।
२ ३क २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः॥ ९॥

ब्रह्मदर्शन किसे—गत मन्त्र में '**यमस्य योनौ शकुनम्**'=संयम के द्वारा शक्तिशाली बनाने का उल्लेख हुआ है। इस **विसीमतः**=(विशिष्टा सीमा यस्य) जिसका जीवन एक विशिष्ट मर्यादा=सीमा में चलता है उसके और **सुरुचः**=उत्तम रुचिवाले उपासक के **पुरस्तात्**=सामने **जज्ञानम्**=प्रकट हुए-हुए **प्रथमं ब्रह्म**=सर्वोत्कृष्ट व सर्वविशाल ब्रह्म को **वेनः**=यह मेधावी उपासक **विवः**=विवृत करता है, स्वयं ब्रह्म के दर्शन करके औरों को भी ब्रह्मज्ञान देता है।

ब्रह्मज्ञान के लिए दो बातें आवश्यक हैं—१. आहार, विहार, स्वप्न, अवबोध आदि जीवन की सब क्रियाएँ नपी-तुली हों, २. रुचि परिष्कृत हो। हम इन्द्रियों के दास न बन गये हों।

यह क्या करता है?—प्रभु-दर्शन करके यह औरों को भी ब्रह्मज्ञान देने का प्रयत्न करता है। उसी ब्रह्मज्ञान को देने के लिए ही **सः**=वह निम्न बातों का भी **विवः**=व्याख्यान करता है—

१. **अस्य**=इस ब्रह्म के बनाये हुए **बुध्न्या**=(जलसम्बन्धे अन्तरिक्षे भवाः सूर्यचन्द्रपृथिवी-तारकादयो लोकाः) अन्तरिक्षस्थ **विष्ठाः**=(विविधेषु स्थानेषु तिष्ठन्ति ताः) विविध स्थानों में स्थित **उपमाः**=जीवों को कर्मानुसार दिये जानेवाले (उपमा=to give, to grant) लोकों का तथा २. **सतः च असतः च योनिम्**=अक्षर के क्षर के साथ—जीव के जड़देह के साथ सम्बन्ध का।

पाप-पुण्य के बराबर होने पर हमें मर्त्यलोक प्राप्त होता है। हमारे अन्दर रक्षावृत्ति के आने पर हम पितर बनते हैं और हमें चन्द्रलोक में जन्म प्राप्त होता है तथा ज्ञान से वासना विनष्ट होने पर हम सर्वलोक में जन्म लेनेवाले देव बनते हैं। इन्हीं विविध कर्मों के फल के रूप में ही जीव का जड़देह से सम्बन्ध उस प्रभु की व्यवस्था से होता है।

स्वयं ब्रह्मदर्शन कर औरों को भी ब्रह्मज्ञान देनेवाला 'बृहस्पति' देवताओं का भी गुरु इस मन्त्र का ऋषि है। **'नास्ति ज्ञाने समो यस्य कुले स नकुलः स्मृतः'**=उस कुल में ज्ञान के दृष्टिकोण से अद्वितीय होने के कारण वह 'नकुल' है।

भावार्थ—हमारा मर्यादित जीवन व हमारी परिष्कृत रुचि हमें ब्रह्म-दर्शन के योग्य बनाएँ।

ऋषिः—**सुहोत्रो भरद्वाजः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ब्रह्म के स्तोत्रों का उच्चारण

३२२. अपूर्व्या पुरुतमान्यस्मै महे वीराय तवसे तुराय।
विरप्शिने वज्रिणे शन्तमानि वचांस्यस्मै स्थविराय तक्षुः ॥ १० ॥

स्तुति से शान्ति—ब्रह्म का दर्शन होने पर इन उपासकों के मुख **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **वचांसि तक्षुः**=वचनों का निर्माण करते हैं। उनके मुख से प्रभु-गुणगान के रूप में स्तोत्र उच्चरित होने लगते हैं। ये वचन १. **अपूर्व्या**—अ-पूरणवाले, अर्थात् उस प्रभु के गुणों का पूर्णरूप से वर्णन करनेवाले नहीं होते। वह प्रभु तो शब्दातीत है। **'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानम्'**=गुरु का उस प्रभु के विषय में मौन ही व्याख्यान है, परन्तु फिर भी २. **पुरुतमानि**=(पृ—पूरणे) अधिक-से-अधिक पूरण करनेवाले हैं, अर्थात् शब्दों से जितना सम्भव है उतना ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाले हैं और ३. **शन्तमानि**=अधिक-से-अधिक शान्ति देनेवाले हैं। वे उपासक स्तोत्रों का उच्चारण करते हैं और उन्हें चित्त की अद्भुत शान्ति का लाभ होता है।

स्तुति का स्वरूप—ये उपासक १. **महे**=महनीय—पूजनीय, २. **वीराय**=विशेषरूप से शत्रुओं को (वासनाओं को) कम्पित करनेवाले, ३. **तवसे**=बलवान्, ४. **तुराय**=त्वरा-सम्पन्न और ५. **विरप्शिने**=महान्, ६. **वज्रिणे**=दुष्टों के लिए वज्रहस्त, ७. **अस्मै स्थविराय**=इस स्थिर कूटस्थ निर्विकार, स्थाणुरूप प्रभु के लिए गुणगान करते हैं।

इन गुणों से उस प्रभु का स्मरण करता हुआ उपासक भी इन गुणों को अपनाना चाहता है। जिन नामों से स्मरण करना स्वयं भी उन गुणों को अपने अन्दर धारण करना ही तो सच्ची उपासना है। इस सच्ची उपासना को करनेवाला 'सुहोत्र' (सुशोभना होत्रा स्तुतिः praise या speech) इस मन्त्र का ऋषि है। इस सच्ची उपासना से शक्ति-सम्पन्न बनने के कारण वह 'भरद्वाज' है (भरत्+वाज्)।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हम शान्ति लाभ करें और उत्तम उपासक बनते हुए वीर बनें।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—**द्युतानो मारुतः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञान-नदी से दूर

३२३. अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदीयानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः।
आवत्तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नीहितिं नृमणा अधद्राः॥ १॥

द्रप्सः=(Dripping) जो व्यक्ति बारम्बार विषयसमुद्र में डूब जाता है, प्रयत्न करता है—परन्तु फिर-फिर असफल हो जाता है वह 'द्रप्सः' है। यह 'द्रप्स' **अंशुमतीम्**=ज्ञान की किरणोंवाली, ज्ञानरूप जल की धारावाली नदी से **अव**=दूर ही **अतिष्ठत्**=ठहरता है। यह तो **ईयानः**=इधर-उधर भटकता ही रहता है, क्योंकि **दशभिः सहस्रैः**=दसों हज़ारों, अर्थात् अनन्त वासनाओं से यह सदा **कृष्णः**=आकृष्ट होता रहता है। वासनाओं में उलझा हुआ वह ज्ञान की ओर झुकाववाला नहीं होता। इसे तो विषय ही अंशुमान्=चमकते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। यह उन्हीं पर लट्टू हुआ रहता है—उन्हीं का शिकार बन जाता है।

जब कभी ठोकर लगने पर यह इनसे ऊपर उठने का निर्णय करता है तब **शच्या**=(शची प्रज्ञा व कर्म) अपनी शक्ति व ज्ञान के अनुसार **धमन्तम्**=हाथ-पैर पटकते हुए को, आलस्य को छोड़कर तपस्वी बनते हुए **तम्**=उसे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **आवत्**=बचाता है—इन वासनाओं के आक्रमणों से सुरक्षित करता है। जीव प्रयत्न करता है तो प्रभु भी सहायता करते हैं।

अध=अब, जीव के प्रयत्न करने पर ही **नृमणाः**=(नृषु मनो यस्य) अपने को आगे ले-चलनेवालों पर कृपादृष्टि करनेवाले प्रभु **स्नीहितिम्**=इन खा-जानेवाली कामादि वासनाओं को **अप-द्राः**=दूर भगा देते हैं।

प्रभु की उपस्थिति का अभिप्राय प्रभु के ज्ञान को अपने में द्योतित करनेवाला व्यक्ति 'द्युतान' है। इस ज्ञान को अपने में उत्पन्न करने के लिए प्राणों की साधना करता है। प्राण 'मरुत' हैं, अतः यह 'मारुत' कहलाता है।

भावार्थ—विषयों में फँसे रहकर हम ज्ञान से दूर ही रहेंगे। ज्ञान-प्राप्ति के लिए इनसे ऊपर उठकर हम प्राणों की साधना करें।

ऋषि:—द्युतान:।। देवता—इन्द्र:।। छन्द:—त्रिष्टुप्।। स्वर:—धैवत:।।

मरुतों=प्राणों से हमारी मित्रता हो

३२४. वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखाय:।
मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वा: पृतना जयासि ॥ २ ॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि ज्ञान को आवृत कर लेनेवाले इस कामरूप **वृत्रस्य**=वृत्र की **श्वसथात्**=प्रबल, उत्तप्त श्वासों से **ईषमाणा:**=परे भागते हुए **ये**=जो **सखाय:**=आज तक तेरे मित्र थे **विश्वेदेवा:**=वे सब दिव्य गुण **त्वा**=तुझे **अजहु:**=छोड़ गये। वस्तुत: वासना के प्रबल होने पर सब उत्तम गुण नष्ट हो ही जाते हैं। कामाक्रान्त व्यक्ति को धर्माधर्म कुछ भी नहीं सूझता। सब देव मानो उसका साथ छोड़ जाते हैं।

इस स्थिति में प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **मरुद्भि:**=प्राणों के साथ **ते**=तेरी **सख्यम्**=मित्रता **अस्तु**=हो! **अथ**=और **इमा:**=इन **विश्वा:**=सब **पृतना:**=संग्रामों को **जयासि**=तू जीत लेता है। प्राण-साधना का ही परिणाम है कि चित्तवृत्ति का निरोध होकर पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ बड़ी परिष्कृत हो जाती हैं। इस निरुद्ध मन व स्थिर ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक से उस शक्ति का अभ्युदय होता है जिससे सब आसुर वृत्तियों का कर्तन-छेदन व भेदन होकर, फिर से दैवी वृत्तियों का विजय हो जाता है।

भावार्थ—हम प्राण-साधना करें और हमारा देवों से फिर सम्बन्ध हो जाए।

ऋषि:—वामदेव्यो बृहदुक्थ:।। देवता—इन्द्र:।। छन्द:—त्रिष्टुप्।। स्वर:—धैवत:।।

नश्वरता—असारता का चिन्तन

३२५. विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्य: समान ॥ ३ ॥

गत मन्त्र में 'प्राणों की साधना के द्वारा 'पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व मन की स्थिरता से वह वृत्ति उत्पन्न होती है जो सब आसुर वृत्तियों को पराजित कर देती है'—इन शब्दों में अभ्यास का वर्णन हुआ था। प्रस्तुत मन्त्र में अभ्यास के साथी 'वैराग्य' का उल्लेख करते हैं। यह वैराग्य जिस विवेक से उत्पन्न होता है वह विवेक शरीर के स्वरूप का ही विवेक है। विवेकी पुरुष देखता है—

१. **विधुम्**=चन्द्र के समान सुन्दर बालक को। बालक चन्द्रमा के समान सुन्दर है यह तो प्रत्यक्ष ही है। चन्द्र के समान ही क्या? बालक का मुख तो चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर है। चन्द्र सकलंक है, यह अकलंक है। चन्द्र के समान यह प्रिय लगता है और वस्तुत: उसका सौन्दर्य उस व्यक्ति को बींधता-सा है; जिसे वह अप्राप्य होता है। चन्द्रमा भी विरही पुरुषों को बींधने से 'विधु' है, जिनके लिए अप्राप्य है, उन्हें बींधने से 'विधु' कहलाता है। अब यह बच्चा बड़ा होता है, चलने-फिरने लगता है, और—

२. **बहूनाम्**=बहुतों के—माता-पिता व अन्य सगे-सम्बन्धियों की **समने**=उत्सुकता के निमित्त **दद्राणम्**=नाना प्रकार की चेष्टाओं को करते हुए को। बच्चों की चहल-पहल घर को

किस प्रकार शोभावाला कर देती है। इनकी चहल-पहल के बिना तो घर शून्य वन-सा प्रतीत होता है। अब यह और बड़ा होकर भरपूर युवा अवस्था में आता है, और

३. **बहूनाम्**=न जाने कितने व्यक्तियों की **समने**=उत्कण्ठा के निमित्त **युवानं सन्तम्**=युवा होते हुए को। निखरी जवानीवाला युवक जिधर से निकल जाए उधर ही लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। लड़कियोंवाले उसे अपना दामाद बनाना चाहते हैं और यह युवति हो तो लड़केवाले उसे अपनी बहू बनाने के लिए इच्छुक होते हैं। सभी उसे आदर देते हैं।

('समने बहूनाम्' शब्द देहलीदीपन्याय से दोनों ओर सम्बद्ध हो जाते हैं)।

४. इतने सुन्दर इस युवक का भी समय आता है कि **पलितः**=बुढ़ापे की सफेदी **जगार**=निगल लेती है और उस सारे सौन्दर्य का आकर्षण समाप्त हो जाता है। धीरे-धीरे बुढ़ापा प्रबल होता है और एक दिन हम कहते हैं कि-

५. **अद्य ममार**=आज वह मर गया **सः**=जो **ह्यः**=कल **समान**=बड़ी अच्छी प्रकार जीवन धारण करता था। यह मृत्यु हमें बड़ी विचित्र प्रतीत होती है, कुछ भयंकर-सी लगती है और इसे चाहते नहीं। हमारी इच्छा होती है कि हम सदा बने रहें। परमेश्वर ने 'यह मृत्यु बनाकर क्या मूर्खता की है?' ऐसा हमारा विचार होता है, परन्तु **महित्वा**=पूजनीय बुद्धि से, श्रद्धा की भावना से यदि हम मृत्यु पर विचार करें तो हमारा विचार बदल जाएगा। अत्यन्त वृद्धावस्था में हम एकदम पराधीन हो जाते हैं, सब इन्द्रिय-वृत्तियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, हम प्रिय मित्रों के भी करुणा के पात्रमात्र रह जाते हैं। सब घरवाले हमारी सेवा से तङ्ग आ चुके होते हैं, वे भी दिल से हमारे चले जाने की ही कामना कर रहे होते हैं। ऐसे समय में **देवस्य**=प्रभु की भेजी हुई मौत तो हे जीव! यदि तू **पश्य**=देखे तो सचमुच **काव्यम्**=एक बड़ी सुन्दर वर्णनीय वस्तु ही हो जाए। (A thing worthy to be described.)

इस प्रकार जीवन के क्रमिक परिवर्तनों को देखता हुआ यह ऋषि उस प्रभु का खूब ही (बृहत्) गुणगान (उक्थ) करता है, अतएव 'बृहदुक्थ' कहलाता है। जीवन के इस क्रमिक क्षय को देखता हुआ कहीं भी आसक्त न होने से यह सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बनकर 'वामदेव्य' बनता है।

भावार्थ-जीवन की नश्वरता का चिन्तन हमें उचित मार्ग से ले-चलनेवाला हो। हम अनासक्त रहकर वासनाओं के शिकार न बनें।

ऋषिः-**मारुतो द्युतानः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

ब्रह्मलोक के लिए

३२६. त्वं ह त्यत् सप्तभ्यो जायमानोऽ शत्रुभ्यो अभवः शत्रुरिन्द्र।
गूढे द्यावापृथिवी अन्वविन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो रणं धाः॥ ४॥

जिस समय मनुष्य अभ्यास और वैराग्य को अपने जीवन में स्थान देता है, उस समय प्रभु कहते हैं कि **त्वम्**=तू **ह**=निश्चय से **त्यत्**=उन प्रसिद्ध **सप्तभ्यः**=योग की सात भूमिकाओं से **जायमानः**=अपना प्रादुर्भाव करते हुए हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विदारण करनेवाले जीव! **अशत्रुभ्यः**=उन कामादि का, जिनका कि कोई भी नाश करनेवाला नहीं हुआ (न शातयिता येषां) **शत्रुः**

अभवः=शातयिता हुआ है। तूने योगमार्ग पर आगे-आगे बढ़ते हुए कामादि का विध्वंस कर डाला है। योगमार्ग में अगली-अगली भूमिका में पहुँचने से तेरा अधिक और अधिक विकास हुआ है। सात भूमिकाओं को पार कर 'समाधि' में स्थित होने पर तू रजोगुण को पूर्णरूप से जीत चुका है। अब संसार के ये राग तुझे अनुरक्त नहीं कर पाते। वेद के शब्दों में **गूढे**=सुसंवृत—सुरक्षित **द्यावापृथिवी**=(मूर्ध्नो द्यौः, पद्भ्यां भूमिः) मस्तिष्क से पावों तक सब अङ्गों को **अन्वविन्दः**=तूने अपने को प्राप्त कराया है। तेरे शरीर पर रोगों का आक्रमण नहीं, मन पर राग-द्वेष-मोहादि का व मस्तिष्क में कुविचारों का उत्थान नहीं। तूने सिर से पावों तक (from tip to toe) अपने जीवन को सफल बनाया है। यह **भुवनेभ्यः**=उन लोकों के लिए जोकि **विभुमद्भ्यः**=उस सर्वव्यापक प्रभु के लोक हैं, अर्थात् ब्रह्मलोक के लिए **रणम्**=आनन्दपूर्वक (delightfully) **धाः**=अपने को स्थापित करता है, **'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा'**। ये विगत रजोगुणवाले उस अमृत अव्ययात्मा पुरुष के लोक में पहुँचा ही करते हैं।

मन्त्र का ऋषि 'द्युतान मारुत' ही है, जिसने कि प्राणों की साधना की है और अपने में दिव्यता को विस्तृत करने का प्रयत्न किया है।

भावार्थ—हम अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मनोनिरोध करते हुए अपने को पवित्र बनाएँ और ब्रह्मलोक के लिए प्रस्थानवाले बनें।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सब क्रियाओं के केन्द्र प्रभु

३२७. मेडिं न त्वा वज्रिणं भृष्टिमन्तं पुरुधस्मानं वृषभं स्थिरप्स्नुम्।
करोष्यर्यस्तरुषीर्दुवस्युरिन्द्र द्युक्षं वृत्रहणं गृणीषे॥ ५॥

यह संसार एक अन्न-गाहने के फर्श [threshing flour] के समान है। उसमें यह जीव अन्न गाहेनवाले बैल के तुल्य है। यह निरन्तर चल रहा है। 'इसकी क्रियाओं का केन्द्र क्या हो?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार देते हैं कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **मेडिं न**=केन्द्रीभूत किले की भाँति **त्वा**=तेरे ही चारों ओर **वज्रिणम्**=गति करनेवाले को (वज-गतौ), जिसकी सब क्रियाओं के केन्द्र आप ही होते हो, अर्थात् क्रियामात्र को करता हुआ जो कभी भी आपको भूलता नहीं, **भृष्टिमन्तम्**=अतएव जो वासनाओं का भञ्जन कर डालता है अथवा अपने तप के द्वारा अपना ठीक परिपाक कर लेता है और इस प्रकार **पुरुधस्मानम्**=नाना प्रकार से अपना धारण (नियमन=holding) करता है (धा से धस्=धारण) और किसी भी इन्द्रिय को विषयों का शिकार नहीं होने देता, वह परिणामतः **वृषभः**=शक्तिशाली बनता ही है, स्वयं शक्तिशाली बनकर वह औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला है, इसी उद्देश्य से **स्थिरप्स्नुम्**=जो स्थिर भोजन करता है (प्सा भक्षणे)। 'स्थिर' शब्द सात्त्विक भोजन के विशेषणों का यहाँ प्रतीक है। सात्त्विक भोजन की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि यह 'पौष्टिक' है, न उत्तेजक है न मोहक। इस प्रकार के भोजन के द्वारा **द्युक्षम्**=सदा प्रकाशमय लोक में निवास करनेवाला और **वृत्रहणम्**=वासना को नष्ट करनेवाले व्यक्ति को हे प्रभो! आप **गृणीषे**=आदर देते हो। उल्लिखित विशेषणों से विशिष्ट व्यक्ति प्रभु से आदृत होता है।

यह 'वामदेव' प्रभु की कृपा से ही सब सुन्दर दिव्य गुणों को पा सका है, प्रभु ने उसे वह शक्ति प्राप्त कराई जिससे वह 'गोतम'=अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बना। मन्त्र में कहते हैं कि **दुवस्युः**=वे प्रभु सबके हित की कामनावाले हैं। अमन्तुओं को भी वह निवास देनेवाले हैं। प्रभु किसी का कल्याण न चाहें ऐसी बात नहीं है। ये प्रभु ही **अर्यः**=(ऋ गतौ) शत्रु के प्रति जानेवाला, उनपर आक्रमण करनेवाला और **तरुषीः**=उनको तैर जानेवाला **करोषि**=बनाते हैं। यह सब प्रभुकृपा से ही होता है। इस प्रकार प्रभु ही हमें उदात्त बनाकर अपना प्रेम प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम संसार की सब क्रियाओं को करते हुए प्रभु को न भूलें।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिपदाविराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

औरों के लिए गतिशील बन

३२८. प्र वो महे महेवृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम्।
विशः पूर्वीः प्र चर चर्षणिप्राः ॥ ६ ॥

वः=तुम्हारी **महेवृधे**=महान् वृद्धि के लिए **महे**=उस महान् प्रभु के लिए **प्रभरध्वम्**=नमन का सम्पादन करो। उस प्रभु के प्रति प्रातः-सायं नमन की वृत्ति को धारण करते हुए प्राप्त होओ। जितना ही हम प्रभु-सम्पर्क में रहेंगे उतना ही हमारा जीवन 'सत्य, शिव व सुन्दर' बनेगा।

प्रातः-सायं प्रभु को नमन के साथ प्रकृष्ट ज्ञान के लिए **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **प्र-कृणुध्वम्**=प्रकृष्टतया सम्पादित करो। हम सदा अपनी मति को कल्याणी बनाये रक्खें जिससे हमारा मस्तिष्क ठीक रहे, हमारी चेतना उत्कृष्ट बनी रहे।

इस प्रकार अपने जीवन को उन्नत बनाकर और अपने मस्तिष्क को स्वस्थ रखते हुए मनुष्य को चाहिए कि वह **चर्षणिप्राः**=मनुष्यों का पूरण करनेवाला बने (चर्षणि=मनुष्य, प्रा-पूरणे) और इसी उद्देश्य से **पूर्वीः विशः**=अपना पूरण करनेवाली (जिनमें उन्नत होने की सम्भावना है) उन प्रजाओं में **प्रचर**=प्रचार कर। जिस प्रकार जिसको भूख नहीं लगती उस मनुष्य को भोजन देने से कुछ लाभ नहीं, इसी प्रकार जो प्रजाएँ उन्नति की भावना से रहित हैं, उन्हें उत्तम उपदेश व्यर्थ लगते हैं, अतः प्रचारक को पहले क्षेत्र तैयार करना और तभी उसमें ज्ञान-बीज बोना चाहिए।

इन तीनों बातों को अपने जीवन में निरन्तर लाता हुआ यह ऋषि 'वसिष्ठ' है—बड़े संयम से चलनेवाला है। इसी संयम के लिए यह 'मैत्रावरुणि'=प्राणापान की साधना करता है।

भावार्थ—१. प्रभु नमन से हम अपनी महान् उन्नति करें। २. कल्याणी मति से अपने मस्तिष्क को स्वस्थ रक्खें। ३. लोगों को ज्ञान के लिए उत्सुक बनाकर उन्हें ज्ञान दें।

ऋषिः—**विश्वामित्रो गाथिनः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

नृतम (The best leader)

३२९. शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि सञ्जितं धनानि ॥ ७ ॥

गत मन्त्र में अन्तिम शब्द था 'चर्षणिप्राः'=मनुष्यों का पूरण करनेवाला। यह 'चर्षणिप्राः' विशः प्रचर=प्रजाओं में विचरता हुआ प्रचार करता है। उनको उत्तम प्रेरणा देता हुआ यह उन्हें आगे और आगे ले-चलता है, आगे ले-चलने के कारण यह 'नृ' है (नृ नये one who leads) 'तम' यह अतिशय द्योतक प्रत्यय है। इस **नृतमम्**=नृतम को हम **हुवेम**=पुकारते हैं, जोकि—

१. **शुनम्**=(शुन गतौ) गतिशील है। नेता के अन्दर सबसे पहला गुण यह होना चाहिए कि इसका जीवन क्रियामय हो। आलसी व्यक्ति कभी नेतृत्व नहीं कर सकता। लोकहित में लगा हुआ व्यक्ति ही जनप्रिय हो सकता है। वही स्वयं क्रियामय होता हुआ अपने आदर्श से औरों को भी आगे ले-चल सकता है।

२. **मघवानम्**=इस नेता की क्रिया (मा+अघ)=पाप से शून्य होती है। उसमें स्वार्थ की गन्ध नहीं होती, साथ ही वह ऐश्वर्यवाला होता है, निजी आवश्यकताओं के लिए पराश्रित नहीं होता और दूसरों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने की शक्ति रखता है।

३. **इन्द्रम्**=यह जितेन्द्रिय होता है **'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः'**=जो स्वयं जितेन्द्रिय है वही तो औरों का नेतृत्व कर सकता है। अजितेन्द्रिय व्यक्ति औरों की दृष्टि में शीघ्र गिर जाता है।

४. **अस्मिन् भरे**=इस संसार-संघर्षरूप युद्ध में **वाजसातौ**=शक्ति की प्राप्ति के निमित्त हम इस **नृतमम्**=उत्तम नेता को **हुवेम**=पुकारते हैं। नेता को करना क्या है? उसे लोगों को एकत्र कर निराश होते हुए लोगों को उत्साहित करना है। 'चिड़ियों को बाज़ बना देना है।' एक नेता की सफलता इसी में है कि वह अनुयायियों की उत्साह-शक्ति को मन्द नहीं पड़ने देता। वह उनमें आत्मगौरव की भावना भरने का ध्यान रखता है।

५. **शृण्वन्तम्**=यह सुनता है, नेता वही ठीक है, जो अपने अनुयायियों की बात को सुने। जो अपने ऐश्वर्य व ठाठबाट के कारण निचलों के लिए अनभिगम्य हो जाए वह देर तक नेता नहीं बना रह सकता।

६. **उग्रम्**=यह उदात्त प्रकृति का होता है। इसके किसी व्यवहार में कमीनेपन की गन्ध नहीं आती।

७. **ऊतये**=यह सबकी रक्षा के लिए होता है, यह स्वयं अग्रभाग में स्थित होता हुआ औरों का रक्षक बनता है। यह रणाङ्गण से कोसों दूर बैठा हुआ तार नहीं खैंचा करता। इसका सूत्र होता है "At the head of the army".

८. **समत्सु**=युद्धों में यह **वृत्राणि**=हमारी उन्नति को आवृत करनेवाले शत्रुओं को **घ्नन्तम्**=मारनेवाला होता है और

९. **संजितं धनानि**=उपादेय धनों का जीतनेवाला होता है।

इन उल्लिखित विशेषताओं से बढ़कर इसकी विशेषता यह होती है कि यह पक्षपातशून्य होकर सभी के हित की भावना से क्रियाशील होता है, अतः यह 'विश्वामित्र' कहलाता है। इस प्रकार प्रभु की क्रियात्मक दृश्य स्तुति करनेवाला अपने चरित्र से प्रभु का गायन करनेवाला 'गाथिनः' है।

भावार्थ—प्रभु करें कि हम अपने जीवन को उन्नत व प्रकृष्ट ज्ञानवाला बनाकर औरों को उत्तम नेतृत्व देनेवाले बन सकें।

ऋषि:—**वसिष्ठः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञान, उपासना व कर्मवाला जीवन

३३०. उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ।
आ यो विश्वानि श्रवसा ततानोपश्रोता म ईवतो वचांसि॥ ८॥

'श्रवस्' शब्द के ज्ञान, यश व श्री तीनों ही अर्थ हैं, 'य' प्रत्यय इच्छा अर्थ में आता है। **श्रवस्या**=ज्ञान, यश व श्री की इच्छा से **ब्रह्माणि**=वेदमन्त्रों को **उ**=निश्चय से **उद्ऐरत**=उच्चारण करो ही। वेदमन्त्रों का अभ्यास यहाँ स्वाध्याय का द्योतक है। स्वाध्याय के बिना ज्ञानादि की प्राप्ति सम्भव नहीं।

हे **वसिष्ठ**=सर्वोत्तम निवास चाहनेवाले अथवा वशियों में सर्वश्रेष्ठ! तू **सम् अर्ये**=उत्तम जितेन्द्रिय बनने के निमित्त **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **महय** =पूज। उस प्रभु का गुणगान तुझे वासनाओं के आक्रमण से सुरक्षित रक्खेगा। 'समर्ये' का दूसरा अर्थ 'स-मर्ये' (सह मर्याः यत्र) जहाँ घर के सब व्यक्ति समवेत हों वहाँ प्रभु की पूजा कर, अर्थात् प्रातः-सायं मिलकर प्रभु-उपासना कर।

यः=जो प्रभु **श्रवसा**=अपनी सर्वज्ञता से व श्री से **विश्वानि**=इन सब लोक-लोकान्तरों को **आततान**=विस्तृत करता है, वह प्रभु **ईवतः**=(ई=गमन) गमनशील **मे**=मेरे **वचांसि**=वचनों को **उपश्रोता**=समीप से श्रवण करता है। यदि मैं स्वयं पुरुषार्थ नहीं करता, केवल प्रार्थना-ही-प्रार्थना करता हूँ तो मेरे वचन व्यर्थ हैं, वे प्रभु से सुने नहीं जाते। प्रभु का साहाय्य तो मुझे तभी प्राप्त होता है जब मैं स्वयं क्रियाशील बनता हूँ।

इस प्रकार एक आदर्श जीवन में 'ज्ञान, उपासना व कर्म' तीनों को उचित स्थान प्राप्त होता है। ज्ञान और कर्म के मध्य में यहाँ उपासना को इसलिए रक्खा गया है कि ज्ञानपूर्वक कर्मों से ही वह साध्य होती है। उपासना से ज्ञान उज्ज्वल होता है तो कर्म पवित्र होते हैं।

केवल ज्ञानी ज्ञानदैत्य बन जाता है, केवल भक्त अन्धभक्त (fanatic) हो जाता है और केवल कर्म मनुष्य को अनन्त रीतियों (rituals) के जंजाल में फँसा देता है। इन तीनों के समन्वय से उसका जीवन अत्युत्तम बनता है और इस उत्तम निवासवाला यह 'वसिष्ठ' होता है। इस ज्ञान-उपासना व कर्म की त्रयी को अपने में घटित करने के लिए ही यह 'मैत्रावरुणि' प्राणापान की साधना करनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से प्राणसाधना करते हुए हम इस ज्ञान, कर्म व उपासना की त्रयी से अपने जीवनों को अलंकृत करें।

ऋषि:—**गौरिवीति शाक्त्यः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—**धैवतः**॥

यज्ञचक्र—इष्टकामधुक् हो

३३१. चक्रं यदस्याप्स्वा निषत्तमुतो तदस्मै मध्विच्चच्छद्यात्।
पृथिव्यामतिषितं यदूधः पयो गोष्वदधा ओषधीषु॥ ९॥

यत्=जो **अस्य**=इस जीव का (प्रजापति से सृष्टि के प्रारम्भ में दिया हुआ) **चक्रम्**=यज्ञ-

चक्र है, वह **अप्सु**=कर्मों में **आ**=सर्वथा **निषत्तम्**=स्थित है, आश्रित है। 'यज्ञः कर्मसमुद्भवः'=यज्ञ कर्म से ही तो होनेवाला है। कोई भी यज्ञ कर्म के बिना सम्भव नहीं। **अस्मै**=इस क्रियाशील के लिए **तत्**=यह यज्ञ-चक्र **उत उ**=अब निश्चय से **मधु इत्**=माधुर्य को ही **चच्छद्यात्**=खूब चाहे, अर्थात् इस यज्ञ से उसकी सब इच्छाएँ पूर्ण होकर उसका जीवन माधुर्य से परिपूर्ण हो। यज्ञमय जीवनवाले को मोक्ष तो प्राप्त होता ही है, उसका यह लोक भी अत्यन्त मधुर बनता है। 'इस लोक में उसे क्या-क्या प्राप्त होता है?' इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र के उत्तरार्ध में इस रूप में दिया है कि—

१. **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **अतिषितम्**=(अति=पूजायाम्, सितम्=बन्धुत्व)=उत्तम बन्धनों (सम्बन्धों), बन्धु-बान्धवोंवाला **यत्**=जो **ऊधः**=(The apartment where the friends are invited) सुरक्षित घर है तथा २. **गोषु पयः**=गौवों में जो दूध है और ३. **ओषधीषु पयः**=ओषधियों में जो रस है ये तीन वस्तुएँ **अदधाः**=इसका धारण करती हैं। दूसरे शब्दों में इसे मित्रों और बन्धुओं से भरा घर प्राप्त होता है, इसे गौवों के दूध की कमी नहीं होती और इसके घर में ओषधियों का रस सदा सुलभ रहता है। संक्षेप में घर है, मित्र हैं, खानपान के उत्तमोत्तम पदार्थ हैं। इस प्रकार घर एक छोटा-सा स्वर्ग बना हुआ है। संसार में बन्धु-शून्यता व मित्रों का अभाव अत्यन्त चुभनेवाला होता है और परिवार भरपूर हो तो निर्धनता एक अभिशाप के समान प्रतीत होती है, परन्तु जहाँ मित्र हैं—वहाँ तो स्वर्ग ही बन जाता है। यह यज्ञ-चक्र का प्रवर्त्तक अपने मित्रों के साथ 'गोदुग्ध व ओषधियों के मधुर रसों' का सेवन करता हुआ 'गौरि-वीतिः' उज्ज्वल, शुभ्र सात्त्विक भोजन से शान्त प्रकृतिवाला होने के कारण वासनाओं से दूर रहता हुआ शाक्त्य=शक्ति-सम्पन्न है।

भावार्थ—यज्ञ-चक्र को चलाते हुए हम अपनी सब मधुर इच्छाओं को प्राप्त करें।

पञ्चमी दशतिः

ऋषिः—**अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्यः**॥ देवता—**तार्क्ष्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

एक नेता का मित्र जीवन, अरिष्टनेमि—तार्क्ष्य

३३२. त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम॥ १॥

त्यम्=उसे **उ**=निश्चय से **इह**=यहाँ—अपने जीवन में **आहुवेम**=सब ओर से, अर्थात् सब मिलकर पुकारते हैं, अर्थात् प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हमें ऐसा नेता प्राप्त कराइए—

१. **सुवाजिनम्**=जो उत्तम गतिवाला है (वज गतौ)। जिसका जीवन क्रियाशील है और क्रिया करने का प्रकार भी ऐसा मधुर है कि उसकी क्रिया से किसी की हानि नहीं होती। उसका ध्यान रहता है कि **'मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्'** मेरा जाना भी मधुर हो, आना भी मधुर हो।

२. **देवजूतम्**=वह अपनी क्रियाओं में देवताओं से प्रेरणा प्राप्त करता है। सूर्य-चन्द्रमा की भाँति नियमित गति से चलता है तो पृथिवी के समान क्षमाशील बनता है और समुद्र के समान गम्भीर होता है, अग्नि के समान तेजस्वी और जल के समान रसमय। इस प्रकार

देवांशों से ही उसका जीवन बना हुआ प्रतीत होता है।

३. **सहोवानम्**=यह बलवाला हो। निर्बल चाहता हुआ भी कुछ नहीं कर सकता।

४. **रथानाम् तरुतारम्**=प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीररूप रथ पर आरूढ़ हुआ-हुआ आगे और आगे बढ़ रहा है। यह उन सब रथों को लाँघ जानेवाला है। उन्नति-पथ पर सबसे आगे बढ़ जानेवाला है। **'अति समं क्राम'** इस उपदेश को यह क्रिया में अन्वित करता है।

५. **अरिष्टनेमिम्**=इसके जीवन-चक्र की परिधि कभी हिंसित नहीं होती है, अर्थात् इसका जीवन बहुत ही मर्यादित होता है। यह धर्म के मार्ग से रञ्चमात्र भी विचलित नहीं होता।

६. **पृतनाजम्**='पृतना' संग्राम का नाम है। वासनाओं के साथ चल रहे सनातन संग्राम में यह अज=गतिशीलता से वासनारूप शत्रुओं को परे फेंकनेवाला होता है।

७. **आशुम्**=यह कार्यों में शीघ्रता से व्याप्त होनेवाला होता है। 'प्रमाद, आलस्य, निद्रा' इसके समीप नहीं फटकते। यह प्रत्येक कार्य को स्फूर्ति के साथ (promptly) करता है।

८. **तार्क्ष्यम्**=(तृक्ष गतौ) हम उस नेता को पुकारते हैं जोकि गतिशील है--गति का ही पुञ्ज है, गति जिसका स्वभाव बन गया है।

ऐसे नेता को हम इसलिए चाहते हैं कि **स्वस्तये**=हमारी स्थिति उत्तम हो, हमारा कल्याण हो।

यहाँ प्रारम्भ में 'सुवाजिनम्' शब्द है, समाप्ति पर 'तार्क्ष्यम्'। दोनों की भावना 'गति' है। वस्तुतः उत्तम जीवन का प्रारम्भ भी गति है और समाप्ति भी गति है। गतिमय जीवन ही उत्तम है--उत्तम क्या है, गतिमयता ही जीवन है। गति नहीं तो जीवन नहीं। आर्य शब्द का अर्थ भी तो 'गतिशील' ही है, अतः हम गतिमय 'तार्क्ष्य' तो हों ही, परन्तु इस गतिमयता में 'अरिष्टनेमि' हों=अहिंसित मर्यादावाले हों। सदा मर्यादित गतिवाले हों। यह मर्यादित गतिवाला 'अरिष्टनेमि तार्क्ष्य' ही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम उल्लिखित आठ गुणों से युक्त नेता को प्राप्त करें।

ऋषिः—**बार्हस्पत्यो भारद्वाजः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वह महान् नेता

३३३. त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम्।
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रमिदं हविर्मघवा वेत्विन्द्रः॥ २॥

मैं **इन्द्रम्**=शत्रुओं को दूर भगानेवाले उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **हुवे**=पुकारता हूँ, जो **त्रातारम्**=रक्षा करनेवाले हैं। हमारे मनरूपी पात्र को ईर्ष्या-द्वेष आदि की मलिनताओं से बचानेवाले हैं। प्रभुकृपा से यह पात्र मलिन भावनाओं से भरे जाने से सुरक्षित रहता है, परन्तु क्या यह खाली रहता है? नहीं।

अवितारम् इन्द्रम्=(अव् भागदुघे) इसे वे प्रभु अपने गुणों से पूरित करते हैं (दुह् प्रपूरणे)। प्रभु-स्मरण से इसमें दिव्यता का अंश अवतीर्ण होता है और धीमे-धीमे यह दिव्यता से भर जाता है। **हवे-हवे**=जब-जब इन वासनाओं का हमपर आक्रमण होता है और इनके साथ हमारा संग्राम चलता है, उस-उस संग्राम (हव) के अवसर पर ये प्रभु **सुहवम्**=सम्यक्तया पुकारने योग्य हैं। हम प्रभु को पुकारते हैं—उस पुकार को सुनकर ही वासनाएँ भाग जाती हैं। **शूरम् इन्द्रम्**=वे प्रभु (शृ=हिंसायाम्) इन वासनाओं की हिंसा करनेवाले हैं। इस इन्द्र को

नु=अब हम **हुवे**=पुकारते हैं। **पुरुहूतम्**=इसका आह्वान् निश्चय से हमारा पालन करनेवाला है। वे प्रभु **सुहवम्**=सुगमता से पुकारने योग्य हैं। ये प्रभु **शक्रम्**=समर्थ हैं। हमें संग्राम में अवश्य विजयी बनानेवाले हैं। हमारे अन्दर विजय की प्रबल इच्छा हो और हम भी कुछ हाथ-पैर मारें तो वे प्रभु हमें सब-कुछ बना सकते हैं—सब-कुछ प्राप्त करा सकते हैं। लौकिक नेता से प्रभु में यही तीन महान् अन्तर हैं १. प्रभु सुहव हैं, २. पुरुहूत हैं और ३. शक्र हैं।

यह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **मघवा**=पापांश से शून्य ऐश्वर्यवाले प्रभु तुझमें **इदम्**=इस **हविः**=दान की वृत्ति को (हु=दान) **वेतु**=उत्पन्न करें (वी=प्रजनने)। मुझमें दान की वृत्ति होगी तो मैं भोगों के अन्दर ग्रसित ही कैसे होऊँगा। इन भोगों से बचकर मैं अपनी शक्ति को सुरक्षित कर 'भारद्वाज' बनूँगा। वासनारूप आवरण को नष्ट करके दीप्त ज्ञानवाला 'बृहस्पति' बनूँगा। 'बार्हस्पत्यो भारद्वाजः' यही इस मन्त्र का ऋषि है।

एवं सम्पूर्ण मन्त्र का निष्कर्ष यह है कि १. मैं वासनाओं से बचूँ, २. इनसे बचने के लिए दान की वृत्ति को अपनाऊँ। ३. वासनाओं से बचकर 'बार्हस्पत्य भारद्वाज' बनूँ।

भावार्थ—हम प्रभु को ही सदा अपना महान् नेता समझें।

ऋषिः—**वसुकृद् वासुक्रः, एन्द्रो विमदो वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

हम किसे आदर देते हैं?

३३४. यजामह इन्द्रं वज्रदक्षिणं हरीणां रथ्यां३ विव्रतानाम्।
प्र श्मश्रुभिर्दोधुवदूर्ध्वधा भुवद्वि सेनाभिर्भयमानो वि राधसा॥ ३॥

इन्द्रियमनोयुक्त होकर जीव भोक्ता होता है, परन्तु जिस दिन यह इनसे अपने पार्थक्य को समझ लेता है, उस दिन इनमें न उलझा रहने के कारण यह जीवन्मुक्त हो जाता है। यह लोकहित के लिए मानवमात्र का पथप्रदर्शन करता है और हम सब **यजामहे**=इसका आदर करते हैं। किसका?

१. **इन्द्रम्**=जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है, २. **वज्रदक्षिणम्**=(वज गतौ, दक्षिण=Dextrous) प्रत्येक कार्य को कुशलता से करता है। 'योगः कर्मसु कौशलम्'=यह बात जिसके जीवन-व्यवहार में स्पष्ट दीखती है, ३. जो **विव्रतानाम्**=विविध व्रतोंवाले **हरीणाम्**=इन्द्रियरूप घोड़ों का **रथ्यम्**=उत्तम नियन्ता है। आँख-कान इत्यादि इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न कार्यों में व्यापृत हैं, इन सबको जो सुन्दरता से संयत करता है, ४. **श्मश्रुभिः**=(श्मनि श्रितं) शरीर में आश्रित प्राण-मन व बुद्धि से जो **प्रदोधुवत्**=वासनाओं को कम्पित कर दूर भगा देता है, ५. **ऊर्ध्वधा भुवत्**=अपने को सदा विषयों से ऊपर रखनेवाला होता है और अन्त में ६. **राधसा**=योगसिद्धियों के द्वारा (राध=सिद्धि) तथा **सेनाभिः**=(स, इन=प्रभु) प्रभुसहित विचारधाराओं के द्वारा **वि**=विशेषरूप से **भयमानः**=शत्रु- सेनाओं को डरानेवाला होता है। योगसिद्धि व सदा प्रभु-स्मरण अशुभ विचारों को दूर भगानेवाले हैं। 'योगसिद्धि' अभ्यास है; विचार 'वैराग्य' को पैदा करनेवाला है। अभ्यास और वैराग्य के होने पर मन विषय-वासनाओं में थोड़े ही फँसता है?

यह व्यक्ति मद व अहंकार से सर्वथा दूर होने के कारण 'विमद' है। इन्द्र=परमात्मा का, न कि प्रकृति का होने से 'ऐन्द्र' है। इसने अपने अन्दर उत्तमोत्तम भावनाओं को जन्म देकर

'वसुओं' का निर्माण किया है, अतः यह 'वसुकृत्' है। प्राकृतिक भोगों को छोड़कर इसने दिव्य योगसिद्धियों को, उत्तम विचारशक्तियों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है, अतः यह 'वासुक्र' है—उत्तम विनिमयवाला।

भावार्थ—हम भी यथासम्भव जीवन्मुक्त बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

आदरणीय व्यक्ति के तेरह गुण

३३५. सत्राहणं दाधृषिं तुम्रमिन्द्रं महामपारं वृषभं सुवज्रम्।
हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजं दाता मघानि मघवा सुराधाः॥ ४॥

गत मन्त्र की 'यजामहे' क्रिया ही यहाँ भी अनुवृत्त होती है—हम आदर करते हैं, किसका?

१. **सत्राहणम्**='सत्र' शब्द उन यज्ञों का नाम है जो तेरह दिन से लेकर सौ-सौ दिन तक चलते हैं। इन यज्ञों के प्रति जो निरन्तर जानेवाला है (हन्=गतौ)। जो व्यक्ति यज्ञों के प्रति निरन्तर चलता है, वह 'सत्राहन्' है। २. **दाधृषिम्**=जो वासनारूप शत्रुओं का बुरी तरह से धर्षण (crushing defeat) करनेवाला है।

३. **तुम्रम्**=(Impelling) आत्मप्रेरणा देनेवाला। यह 'सत्राहन्, दाधृषि' इन शब्दों में आत्मप्रेरणा देता है कि **'अहमिन्द्रः'**=मैं इन्द्र हूँ, **'न पराजिग्य इद् धनम्'**=मैं अपने ऐश्वर्य के कारण पराजित नहीं होता हूँ **'न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन'**=मैं कभी मृत्यु के लिए स्थित नहीं होता हूँ। इस प्रकार अपने को प्रेरणा देता हुआ यह सचमुच ही—

४. **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय बनता है, ५. **महाम्**=अपने हृदय को विशाल बनाता है, ६. **अपारम्**=यह कभी भी कर्मों को समाप्त नहीं करता (पार=कर्मसमाप्तौ), अर्थात् सदा क्रियाशील बना रहता है और इसी का परिणाम है कि ७. **वृषभम्**=यह शक्तिशाली बना रहता है, ८. यह क्रियाशील होता है, परन्तु इस बात का सदा ध्यान करता है कि **सुवज्रम्**=यह सदा उत्तम गतिशील बना रहे, ९. इस उत्तम गतिशीलता के द्वारा **यः**=जो **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **हन्ता**=नष्ट करता है, १०. **उत**=और वासना के नष्ट होने पर **वाजम्**=अपने धन को **सनिता**=संविभागपूर्वक खानेवाला होता है, ११. धीमे-धीमे यह प्राजापत्य यज्ञ में आगे बढ़ता हुआ अपने **मघानि**=धनों का **दाता**=देनेवाला होता हैं, १२. परन्तु क्या इस धन के देने से उसका धन घट जाता है? नहीं। **मघवा**=वह तो और अधिक पवित्र धनवाला हो जाता है। यह वह स्थिति है जबकि वह १३. **सु-राधाः**=प्रत्येक कार्य में उत्तम सफलता प्राप्त करता है। इसके अन्दर प्रभु की दिव्यता का अधिकाधिक अवतार होकर यह 'वामदेव' बनता है, प्रशस्त इन्द्रियोंवाला होने से गोतम होता है।

यहाँ मन्त्र में वामदेव का चित्रण १३ विशेषणों से हुआ है। सत्र १३ दिन में ही पूर्ण होता है, वामदेव का जीवन-सत्र भी इन सत्य के १३ आकारों में पूर्णता पाता है। 'सत्याकाराः त्रयोदश'=सत्य के भी तेरह ही आकार हैं।

भावार्थ—मैं भी सत्य के इन तेरह आकारों को अपने जीवन में स्थान दे पाऊँ।

ऋषिः—गोतमो वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

आधिभौतिक संग्राम

३३६. यो नो वनुष्यन्नभिदाति मर्त उगणा वा मन्यमानस्तुरो वा।
क्षिधी युधा शवसा वा तमिन्द्राभी ष्याम वृषमणस्त्वोताः ॥ ५ ॥

गत मन्त्रों में विस्तार से आध्यात्मिक संग्राम का चित्रण हुआ है। वस्तुतः बाह्य शत्रुओं से आन्तर शत्रुओं के विजय का महत्त्व निर्विवादरूप में अधिक है। सेनाओं को जीतने के स्थान में अपने क्रोध को जीतनेवाला बड़ा विजेता कहलाता है। आध्यात्मिक संग्राम में विजय श्रेय का मार्ग है, जबकि बाह्य शत्रुओं का विजय प्रेयमार्ग का ही एक पड़ाव है। बाह्य शत्रुओं को जीतकर हम 'राज्य, भोग और सुखों' को पा सकते हैं। इनके विजय से आत्मिक उन्नति सम्भव नहीं।

एवं, बाह्य संग्राम से अध्यात्मसंग्राम उत्कृष्ट है, पर बाह्य संग्राम का भी मानव जीवन में स्थान है ही। मनुष्य केवल शरीर से बना हुआ नहीं है, यह शरीर में रहनेवाले आत्मा का नाम है। शरीर व शारीरिक वस्तुओं की रक्षा के लिए बाह्य संग्राम भी आवश्यक ही है, अतः वेद में कहा है कि **यः**=जो **नः**=हमें **वनुष्यन्**=(win) पराजित करना चाहता हुआ **मर्तः**=मनुष्य **अभि**=आगे-पीछे व दाएँ-बाएँ **दाति**=काट-छाँट करता है, जो **उगणाः**=सुती हुई तलवारोंवाले सैनिकों से युक्त हुआ (with drawn swords), **वा**=या **मन्यमानः**=अपने बल के गर्व से अभिमानी बना हुआ, **तुरः वा**=इसीलिए हिंसक मनोवृत्तिवाला बनकर जो हमारा घातपात करने में प्रवृत्त होता है, हे प्रभो! आप उसे **क्षिधी**=क्षीण कर दें, नष्ट कर दें। प्रभु ही युद्ध की स्थिति को समाप्त कर दें तब कितना अच्छा है! परन्तु यदि ऐसा न हो और युद्ध आवश्यक हो जाए तो यह 'वामदेव गोतम' कहता है कि हे **इन्द्र**=शत्रुओं को दूर भगानेवाले प्रभो! **युधा**= युद्ध के द्वारा **त्वा ऊताः**=तुझसे रक्षा किये जाते हुए हम **वृषमणः**=शक्तिशाली, उत्साह से भरे मनोंवाले होते हुए **तम्**=उस शत्रु को **अभीष्याम्**=पूर्णरूप से अभिभूत करनेवाले हों।

'वृषमणः' शब्द स्पष्ट कर रहा है कि उत्साह के अभाव में विजय सम्भव नहीं।

'त्वोता' शब्द की भावना सुव्यक्त है कि विजय प्रभु की सुरक्षा से ही होनी है, हमारी शक्ति हमें विजय नहीं प्राप्त करा सकती, अतः हमें विजय का गर्व भी क्यों हो? विजयी होकर भी उस विजय के गर्व से पराजित न होने में ही उस विजय का सौन्दर्य है।

'क्षिधी' शब्द की भावना भी स्पष्ट है कि युद्ध जहाँ तक टल सके उतना ही ठीक। युद्ध का दिन आ जाने पर भी सेनापति का बाण न गिरे, इससे अधिक सुन्दर और क्या हो सकता है! परन्तु आवश्यक हो जाने पर युद्ध तो करना ही है, कायर थोड़े ही बनना है। युद्ध में शत्रुओं को जीतकर अभ्युदय की सिद्धि भी तो धर्म ही है। क्रोध का विजय निःश्रेयस देता है तो विवशता में क्रोधी को समाप्त करके हम अभ्युदय को सिद्ध करते हैं। क्रोध को जीतना 'ब्रह्म' का परिणाम है, क्रोधी को समाप्त करना 'क्षत्र' का। 'ब्रह्म-क्षत्र' का समन्वय ही ठीक है। यह समन्वय ही हमें 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बनाता है। यह ठीक है कि 'क्षत्र' ब्रह्म से नियन्त्रित होना चाहिए, परन्तु यह ठीक नहीं है कि क्षत्र का अभाव ही हो जाए। क्षत्र

के अभाववाली कोई भी संस्कृति पनप नहीं सकती।

भावार्थ—मैं अपने जीवन में ब्रह्म और क्षत्र का समन्वय कनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

जिसे सभी पुकारते हैं

३३७. यं वृत्रेषु क्षितयः स्पर्धमाना यं युक्तेषु तुरयन्तो हवन्ते।
यं शूरसातौ यमपामुपज्मन् यं विप्रासो वाजयन्ते स इन्द्रः॥ ६॥

निरुक्त (२.१०.२७) में वृत्र धन का नाम है। वृत्र जो वरा है—धन को कौन नहीं वरता? अध्यापन, याजन व प्रतिग्रह से ब्राह्मण धन को लेने में लगा है, क्षत्रिय तो अधिकारी है ही, वह तो औरों से धन ले ही लेता है। वैश्य का लक्ष्य ही धन है—शूद्र भी रुपये के लिए इतना परिश्रम कर रहा है। धन के बिना किसी का काम नहीं चलता, अतः **क्षितयः**=इस पृथिवी पर निवास करनेवाले (क्षि=निवास) सभी मनुष्य—विशेषतः वैश्य **स्पर्धमानाः**=परस्पर स्पर्धा करते हुए, एक-दूसरे से अधिक और अधिक धन जुटा पाने की कामना करते हुए **वृत्रेषु**=धनों के निमित्त **वाजयन्तः**=धन चाहते हुए **यम्**=जिसे **हवन्ते**=पुकारते हैं, **सः**=वह **इन्द्रः**=प्रभु हैं—परमैश्वर्यशाली हैं। प्रत्येक वैश्य प्रभु-स्मरण के साथ अपने कार्य को प्रारम्भ करता है और प्रार्थना करता है कि **तन्मे भूयो भवतु मा कनीयः**=मेरा व्यापार में लगा धन बढ़ता ही चले, कम न हो।

युनक्त सीराः=हलों को जोतो—इस वेदाज्ञा को क्रियान्वित करते हुए कृषक हलों को जोतते हैं और **युक्तेषु**=हलों के जोते जाने पर **तुरयन्तः**='तुर-तुर' ध्वनि से बैलों को चलाते हुए **वाजयन्तः**=अन्न की कामनावाले ये कृषक **यम्**=जिसे **हवन्ते**=पुकारते हैं, **सः**=वह **इन्द्रः**=वृष्टि का अधिष्ठातृदेव इन्द्र है। कृषक का तो मन्त्र ही है कि प्रभु बरसेंगे तभी तो अन्न प्राप्त होगा।

शूरसातौ=संग्रामों में **यम्**=जिसे **वाजयन्तः**=शक्ति की कामना करते हुए पुकारते हैं **सः**=वह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु हैं।

अन्त में **विप्रासः**=ब्राह्मण लोग **वाजयन्तः**=त्याग की भावना को अपने में उत्पन्न करना चाहते हुए **अपाम**=कर्मों की **उपज्मन्**=करने के समय **यम्**=जिसे **हवन्ते**=पुकारते हैं **सः**=वह **इन्द्रः**=सब शक्तिशाली कर्मों का अधिष्ठातृदेव परमात्मा है। एक ब्राह्मण वस्तुतः यह समझता है कि कर्मों की शक्ति प्रभु की है, मैं तो निमित्तमात्र हूँ, अतः सब कर्मों को ब्रह्म में आहित करके चलता है।

क्या वैश्य, क्या कृषक, क्या क्षत्रिय और क्या ब्राह्मण सभी अपने-अपने धन, अन्न, बल व त्याग आदि उपादेय वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रभु को ही पुकारते हैं। प्रभु को न भूलनेवाला 'वामदेव व गोतम=उत्तम गुणोंवाला व प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बना रहता है।

भावार्थ—कोई भी कर्म करते हुए हम प्रभु को न भूलें।

सूचना—*मन्त्र के 'वाजयन्ते' पद का अर्थ लट् के स्थान में शतृ करके 'वाजयन्तः' रूप में किया है। लोक में 'वाजयमानाः'=होता है।*

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रापर्वतौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

इन्द्र और पर्वत क्या करें?

३३८. इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामीरिष आ वहतं सुवीराः।
वीतं हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथां गीर्भिरिडया मदन्ता॥ ७॥

'इन्द्र' शक्ति का देवता है। यास्क लिखते हैं कि 'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य'=सब बल के कर्म इन्द्र के हैं। 'पर्वत' शब्द का अर्थ आचार्य दयानन्द यजुर्वेद (३५।१५) में 'ज्ञान व ब्रह्मचर्य' करते हैं। आचार्य के द्वारा ज्ञान की एक-एक पर्व (Layer) विद्यार्थी के मस्तिष्क में स्थापित की जाती है, अतः ज्ञान का नाम 'पर्वत' हो गया। इन दोनों देवताओं को सम्बोधन करके कहते हैं कि हे **इन्द्रापर्वता**=बल व ज्ञान की देवताओ! **बृहता**=वृद्धिशील (बृहि वृद्धौ) **रथेन**=हमारा शरीररूप रथ आगे और आगे बढ़ता चले, इस दृष्टि से **वामीः**=सुन्दर व सात्त्विक दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले तथा **सुवीराः**=उत्तम वीरता को जन्म देनेवाले **इषः**=अन्नों को **आवहतम्**=प्राप्त कराओ। संक्षेप में, हम सदा सात्त्विक व सारप्रद अन्नों का ही सेवन करें।

इन अन्नों को भी एकदम स्वयं न खा लें, अपितु हे **देवा:**=बल व ज्ञान की देवताओ! **अध्वरेषु**=यज्ञों में इनका विनियोग करते हुए **हव्यानि**=देने से बचे हुए अन्नों को ही (हु=दान-अदन) **वीतम्**=खाओ। यज्ञशेष अमृत है—अमृत का सेवन ही देवों को शोभा देता है।

इस प्रकार सात्त्विक व पौष्टिक अन्नों का यज्ञशेष में सेवन करते हुए पति-पत्नी **गीर्भीः**=वेदवाणियों के द्वारा **वर्धेथाम्**=वृद्धि को प्राप्त हों, वे उत्तरोत्तर अपने ज्ञान को बढ़ाएँ और यथासम्भव अपने जीवन को वेदानुकूल बनाएँ।

जीवन में नीरसता ले-आना यह वेद का अभिप्राय नहीं है। **मदन्ता**=जीवन को बड़े आनन्दपूर्वक बिताओ, परन्तु वे हमारे सारे आनन्द **इडया**=कानून=वेदवाणी के अनुसार हों। (इडा=A law, वेदवाणी)। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु की ओर से जो ज्ञान दिया गया उस ज्ञान के अनुकूल ही हम जीवन के आनन्दों का उपयोग करें।

इस प्रकार सात्त्विक अन्नों का यज्ञशेष के रूप में सेवन करते हुए—वेदज्ञान को बढ़ाते हुए—जीवन के उचित आनन्द का ही सेवन करते हुए हम किसी का घातपात नहीं करते। सभी के साथ प्रेम से चलते हुए हम 'विश्वामित्र' होते हैं और प्रभु के वास्तविक गुणगान करनेवाले 'गाथिन' बनते हैं।

भावार्थ—हम सात्त्विक व पौष्टिक अन्न के सेवन से अपने में 'ज्ञान' व 'बल' का पोषण करें।

ऋषिः—रेणुः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'रेणु वैश्वामित्र' का जीवन

३३९. इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा अपः प्रैरयत् सगरस्य बुध्नात्।
यो अक्षेणेव चक्रियौ शचीभिर्विष्वक्तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम्॥ ८॥

'रीङ् गतौ' धातु से 'रेणु' शब्द बना है—नदी की भाँति निरन्तर गतिशील बना रहनेवाला

रेणु है। क्रिया इसका स्वभाव बन गया है। यह सबका मित्र है—सभी का भला चाहनेवाला है। 'क्रियाशील रहना और सबका भला चाहना' ही मनुष्यत्व है। इस रेणु के जीवन में निम्न बातें हैं—

१. यह **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **अ-निशित-सर्गाः**=जो कभी क्षीणः=नष्ट नहीं होतीं, उन **गिरः**=वाणियों को सदा **प्रैरयत्**=मुख से उच्चारण करता है। सोते-जागते, खाते-पीते, उठते-बैठते प्रभु का नाम इसे विस्मृत नहीं होता।

२. यह **सगरस्य**=हृदयान्तरिक्ष के **बुध्नात्**=मूल से **अपः**=कर्मों को **प्रैरयत्**=प्रेरित करता है, अर्थात् यह कोई काम अधूरे मन से नहीं करता।

३. **यः**=यह **अक्षेण इव**=जैसे धुरे (Axel) से **चक्रियौ**=दोनों चक्रों को, इसी प्रकार **शचीभिः**=शक्तियों व प्रज्ञानों के द्वारा **पृथिवीम्**=शरीर को **उत**=और **द्याम्**=मस्तिष्क (मूर्ध्नो द्यौः) को **विष्वक्**=दोनों ओर (वि) अत्यन्त (सु) पूजितरूप से (अञ्च पूजायाम्) **तस्तम्भ**=धारण करता है। यह रेणु शरीर व मस्तिष्क दोनों का ही समानरूप से ध्यान करता है। यह शरीर रथ है तो अन्नमय और विज्ञानमयकोश दोनों ही तो उसके चक्र हैं। एक चक्र ठीक होने से कैसे काम चल सकता है?

भावार्थ—हम भी सदा प्रभु के नाम का जप करें, मन से कार्य करें, शरीर व मस्तिष्क दोनों का ध्यान करें।

इस मन्त्र का आधिदैविक अर्थ यह है—उस प्रभु के लिए निरन्तर न ढीली पड़ी भक्ति से गायन करो जोकि अन्तरिक्षलोक से जलों को प्रेरित करता है और जो अक्ष से चक्रों की भाँति पृथिवी व द्युलोक का धारण करता है।

आधिभौतिक अर्थ—उस राजा के लिए सदा प्रशंसात्मक वाणियों को बोलो जो प्रजाओं को मन से उत्तम मार्ग पर प्रेरित करता है और लोगों की शारीरिक व आर्थिक उन्नति की ओर उतना ही ध्यान देता है जितना कि उन्हें ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराने का।

ऋषिः—**वामदेवो गोतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

एक आदर्श घर (पारिवारिक जीवन)

३४०. आ त्वा सखायः सख्या ववृत्युस्तिरः पुरू चिदर्णवां जगम्याः।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अस्मिन् क्षये प्रतरां दीद्यानः॥ ९॥

आदर्श घर वह है जिसमें सब व्यक्ति १. **त्वा सखायः**=प्रभुरूप मित्रवाले होते हुए **सख्या**=परस्पर मित्ररूप से **आ**=सर्वथा **ववृत्युः**=बर्ताव करते हैं। परस्पर मित्रभाव रखने के लिए आवश्यक यह है कि सब उस प्रभु को मित्र बनाकर चलते हैं तो आपस में भी मित्रता से चल पाते हैं—आपस का माधुर्य बना रहता है। २. इस घर में रहकर गृहस्थ **तिरः**=प्राप्त, परन्तु **पुरू चित्**=निश्चितरूप से पालक व पूरक **अर्णवान्**=कामों को (कामो हि समुद्रः) **जगम्याः**=प्राप्त हो। गृहस्थ में यद्यपि **'कामात्मता न प्रशस्ता'**=कामात्मता ठीक नहीं है तो **न चैवेहास्त्यकामता**=बिल्कुल काम-शून्यता भी सम्भव नहीं। औरों के भोगों को देखकर जलना तो ठीक नहीं, परन्तु प्राप्त (तिरः) भोगों के सेवन [illegible] नहीं बशर्ते कि वे

नाशक न होकर **पुरूचित्**=पालक व पूरक हों। ३. इस गृहस्थ में **वेधाः**=मेधावी प्रजापालक गृहस्थ **पितुः**=पिता के **न पातम्**=वंश को उच्छिन्न न करनेवाली सन्तान को **आदधीत**=धारण करें। **'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम'**=इस वेद के आदेश के अनुसार एक सद्गृहस्थ प्रजा के द्वारा अपने को अमर बनाने का प्रयत्न करे। ४. और **अस्मिन्**=इस **क्षये**=घर में **प्रतराम्**=खूब **दीद्यानः**=चमकने का प्रयत्न करे—अपने मस्तिष्क को ज्ञान की ज्योति से उज्ज्वल बनाए।

'वामदेव गोतम' का कर्त्तव्य है कि वह अपने घर में उल्लिखित चार बातों को अवश्य उत्पन्न करे। इनके बिना घर कभी 'उत्तम घर' नहीं बन सकता।

भावार्थ—हम प्रभु मित्रता में परस्पर मित्रता से चलें, संसार के उचित आनन्दों को प्राप्त करें और ज्ञान से अपने को उज्ज्वल बनाएँ।

ऋषिः—**वामदेवो गोतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सामाजिक जीवन

३४१. को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्।
आसन्नेषामप्सुवाहो मयोभून्य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात्॥ १०॥

कोई भी व्यक्ति अपने को केवल अपने परिवार में ही सीमित करके नहीं रख सकता। उसे समाज से सम्बद्ध होना ही पड़ता है। समाज में आकर इस वामदेव गोतम का जीवन निम्न प्रकार का होता है—१. **कः**=प्रजापति **अद्य**=आज **धुरि**=अग्रभाग में **युंक्ते**=इसे जोतता है। वामदेव ने प्रभु को अपना सखा बनाया है (त्वा सखायः) और उस प्रभु ने प्रेरणा देकर इसे कार्यक्षेत्र में अग्रभाग में नियत किया है। सामाजिक हित के कार्य करनेवालों का यह मुखिया बनता है। २. **ऋतस्य गाः**=(**युंक्ते**)=प्रभु इसके साथ सत्य की वाणियों को जोड़ते हैं। यह कभी असत्य की ओर झुकाववाला नहीं होता। यह प्रिय सत्य का ही उच्चारण करता है। ३. **शिमीवतः**='शिमी' कर्म का नाम है—उन कर्मों का जिनमें कि मनुष्य व्यग्र न होकर शान्त रह पाता है। ये अव्यग्रता से महान्-से-महान् कार्य को करनेवाले होते हैं, ४. **भामिनः**=ये तेजस्वी होते हैं, ५. **दुर् हृणायून्**=ये बुराई के लिए लज्जा अनुभव करते हैं। (हृणीय—feal ashamed at) ६. **एषाम्**=प्रभु इनके **आसन्**=मुख में **युंक्ते**=उन वाणियों को जोड़ते हैं जो **अप्सुवाहः**=उन्हें कर्मों में ले-चलनेवाली हैं और **मयोभून्**=कल्याण को जन्म देनेवाली हैं, अर्थात् इनकी वाणी किसी का हृदय दुखाने के लिए तो कभी उच्चरित होती ही नहीं; और यह क्रियारूप में परिणत होती है।

इस प्रकार के जीवनवाले व्यक्ति ही समाज का हित कर सकते हैं, **यः**=जो **एषाम्**=इन व्यक्तियों की **भृत्याम्**=दासता को **ऋणधत्**=प्राप्त होता है, **सः जीवात्**=वही जीये, अर्थात् जीवन तो उसी व्यक्ति का सफल है जो इस प्रकार के लोगों का दास बनता है—ऐसे ही लोगों का अनुगामी बनता है।

भावार्थ—हमारा सामाजिक जीवन निम्न प्रकार का हो—हम सदा कार्यों में लगे रहें, सत्यवादी हों—अव्यग्र, तेजस्वी व बुराई से शर्म करनेवाले हों। हमारी वाणी कल्याणकर व क्रिया में परिणत होनेवाली हो।

चतुर्थ प्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सभी तेरा गुणगान करते हैं

३४२. गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥ १॥

वेद चार हैं, परन्तु उनमें मन्त्र तीन ही प्रकार के हैं। वे या तो ऋङ्मन्त्र हैं या यजुः या फिर साम। इसीलिए 'त्रयीविद्या' शब्द प्रचलित है। 'ऋच् स्तुतौ' धातु से बना ऋच् शब्द उन मन्त्रों का वाचक है जो पदार्थों के गुणधर्मों का वर्णन करते हैं—यही विज्ञान है। इसीलिए 'ऋग्वेद' विज्ञानवेद=A Book of Natural Sciences है। यजुर्मन्त्र यज्ञों व मानव-कर्त्तव्यों का वर्णन करनेवाले हैं। यजुर्वेद कर्मवेद—A Book on Social Sciences है। साममन्त्र उपासनामन्त्र हैं—इनमें जीव को किस प्रकार प्रभु का स्मरण करना है, इस बात का प्रतिपादन है। इन वेदों को समझनेवाले व्यक्तियों में सामन्त्रों से प्रभु का गायन करनेवाले 'गायत्र' हैं—क्योंकि ये मन्त्र गान करनेवालों का त्राण करते हैं। प्रभु का स्मरण इन्हें वासनाओं के आक्रमण से बचाए रखता है—इस तत्त्व को समझते हुए **गायत्रिणः**=साममन्त्रों से प्रभु-गुणगान के द्वारा अपनी रक्षा करनेवाले ये व्यक्ति **त्वा**=हे प्रभो! आपको **गायन्ति**=गाते हैं। **अर्किणः**=ऋचाओंवाले वैज्ञानिक भी, यह अनुभव करते हुए कि अन्त में सूर्यादि में उस-उस शक्ति का आधान करनेवाले आप ही हैं। **अर्कम्**=अर्चना के योग्य आपकी **अर्चन्ति**=उपासना करते हैं। विज्ञान का गम्भीर अध्ययन आपके प्रति इनकी अटूट श्रद्धा का कारण बनता है। **ब्रह्माणः**=यज्ञों के करनेवाले ब्रह्मा आदि ऋत्विज (होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा) भी **शतक्रतो**=हे सैकड़ों यज्ञ करनेवाले प्रभो! **त्वा**=आपको ही **उद्येमिरे**=उन्नत करते हैं **इव**=जैसेकि अपरिमित **वंशम्**=ध्वजदण्ड को, अर्थात् ये याज्ञिक भी पग-पग पर आपकी महिमा का अनुभव करते हैं। किस प्रकार अग्नि की शिखा सदा ऊपर ही जाती है? अग्नि में हव्यद्रव्यों को किस प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों में विभक्त करने की शक्ति है? अग्नि में डाली हुई आहुति किस प्रकार सूर्य तक पहुँचती है? इस प्रकार ये याज्ञिक यज्ञों में भी आपकी महिमा का अनुभव करते हैं। इनके अनुभव का सार यही है कि आप सर्वोपरि हैं।

क्या कर्मकाण्डी, क्या ज्ञानकाण्डी और क्या उपासनाकाण्डी सभी प्रभु के गुणगान में लगे हैं। प्रभु का यह गुणगान ही इन्हें सदा मधुर इच्छाओंवाला='मधुच्छन्दाः' बनाये रखता है। यह प्रभु का उपासक किसी का वैरी न होकर 'वैश्वामित्रः'=सभी का स्नेही होता है।

भावार्थ—हम 'कर्म, ज्ञान व उपासना' किसी भी क्षेत्र में विचरते हुए उस प्रभु को न भूलें।

ऋषिः—**जेता माधुच्छन्दसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

इतना ही जानना पर्याप्त है

३४३. इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम्॥ २॥

विश्वाः गिरः=सब वाणियाँ चाहे वे ऋग्रूप, यजुरूप या सामरूप हैं **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अवीवृधन्**=बढ़ाती हैं। सभी उसकी महिमा का वर्णन करती हैं, परन्तु क्या वेदवाणियाँ उस प्रभु का पूर्ण वर्णन कर देती हैं? नहीं। वे प्रभु तो 'अनाद्यनन्तम्' अनादि व अनन्त हैं। वे तो **समुद्रव्यचसम्**=समुद्र के समान विस्तारवाले हैं। जैसे समुद्र-मध्यस्थ पुरुष को समुद्र का ओर व छोर दिखाई नहीं देता, इसी प्रकार प्रभु के गुणधर्मों का अन्त नहीं है। वे किस रूप में इस ब्रह्माण्ड का निर्माण, धारण व प्रलय करते हैं? कितने दिन में करते हैं? इत्यादि बातें हमारे लिए अज्ञेय हैं—उनका जानना अत्यावश्यक भी नहीं है। किस प्रकार कौन-से कर्म का क्या फल मिल रहा है? यह जानना गहन व अनावश्यक है। इतना ही जानना पर्याप्त है कि वे प्रभु **रथीतमं रथीनाम्**=जो रथी जीव हैं उनके भी रथीतम हैं—सर्वोत्तम सारथि हैं। यदि हम अपने इस रथ की बागडोर प्रभु-हाथों में सौंप देंगे तो इसके कहीं टकराने का व नष्ट-भ्रष्ट होने का खतरा न होगा। २. वे प्रभु **वाजानां पतिम्**=गति (वज गतौ), शक्ति (वाज=Strength), त्याग (वाज=Sacrifice), व ज्ञान (वज=गति=ज्ञान) के पति हैं। मैं प्रभु से सम्पर्क बनाता हूँ तो वे प्रभु मेरे अन्नमयकोश को गतिमय बनाये रखते हैं, मेरी सब इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनी रहती हैं, मेरा मानस त्याग की भावना से पूर्ण होता है और मेरी बुद्धि ज्ञान से दीप्त हो उठती है और फिर प्रभु ३. **सत्पतिम्**=सयनों के पति हैं। मैं सयन बनूँ तो प्रभु की रक्षा का पात्र बनूँगा ही।

संसार में अज्ञेय=Unknowable बहुत है, ज्ञेय=Knowable बहुत कम। हम इस रहस्यमय संसार को थोड़ा ही जान सकते हैं—प्रभु को तो बहुत ही थोड़ा, परन्तु उल्लिखित तीन बातें जान लेना ही बड़ा पर्याप्त है। हमारे चरित्रों के निर्माण में इन बातों का ही सर्वप्रधान स्थान है, हम प्रभु को इस रूप में समझते हुए अपने रथ की बागडोर प्रभु को ही सौंप दें, तो क्या हम संसार में विजयी न होंगे? अवश्य होंगे। इस विजय के कारण ही इस मन्त्र का ऋषि 'जेता' कहलाया है। यह माधुच्छन्दस् है—अत्यन्त मधुर इच्छाओंवाला है—ऐसा हो भी क्यों न? इसकी तो सब इच्छाएँ प्रभु-प्रेरणा से प्रेरित हो रही हैं।

भावार्थ—हम प्रभुरूप सारथिवाले हों, सयन बनकर प्रभु की रक्षा के पात्र हों।

ऋषिः—**राहूगणो गोतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

ऋत के सदन में

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
३४४. इममिन्द्र सुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम्।
३ १ २ ३क २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन् धारा ऋतस्य सादने॥ ३॥

हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **इमं सुतम्**=(शुक्रम्) इस उत्पन्न वीर्य को **पिब**=तू अपने अन्दर पान करने का प्रयत्न कर। यह १. **ज्येष्ठम्**=प्रशस्यतम वस्तु है—इससे उत्तम वस्तु संसार में और कोई नहीं। यह तेरे जीवन को भी प्रशस्यतम बना देगी। २. **अमर्त्यम्**=इससे तू अमरता को प्राप्त करेगा **'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'**=इन सोमबिन्दुओं के धारण से ही जीवन धारित होता है और इनके नाश से ही मृत्यु हो जाती है। ३. **मदम्**=इनसे जीवन में (मदी हर्षे) उल्लास होता है। जीवन सदा हर्षमय बना रहता है।

प्रभु कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **शुक्रस्य**=इस पवित्र, दीप्त व शक्तिशाली सोम की **धाराः**=धारण

शक्तियाँ **ऋतस्य सादने**=ऋत के स्थान में **अभ्यक्षरन्**=टपका दें, पहुँचा दें। यह सुरक्षित सोम हमारे योगमार्ग=योग-भूमिकाओं में आगे बढ़ने का भी साधन बनता है। योग-भूमिकाओं में आगे और आगे बढ़ते हुए हम सप्तम भूमिका में पहुँचते हैं, जहाँ **'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'** (योगदर्शन) सत्य का पोषण करनेवाला ज्ञान प्राप्त होता है, जिसे 'भू: भुव: स्व: मह: जन: तप: सत्यम्' इस क्रम में सत्यलोक यह नाम दिया है। यहाँ पहुँचकर मनुष्य सर्वसंकल्प हो जाता है।

सोमरक्षा से हम सब मलों से ऊपर उठकर पूर्ण पवित्र बन जाते हैं। मलों को छोड़नेवाला 'राहू' (रह त्यागे) है, उनमें भी मूर्धन्य गिना जानेवाला 'राहूगण' है। निर्मल होकर अत्यन्त पवित्र इन्द्रियोंवाला होने के कारण यह 'गोतम' है।

भावार्थ—सोमरक्षा के द्वारा हम ऐहिक जीवन को पवित्र, दीर्घ व उल्लासमय बनाएँ और पारमार्थिक दृष्टिकोण से सत्यलोक में पहुँचनेवाले बनें।

ऋषि:—**भौमोऽत्रि:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥ स्वर:—**गान्धार:**॥

वह धन जो मेरे पास नहीं?

३४५. यदिन्द्र चित्र म इह नास्ति त्वादातमद्रिवः।
राधस्तन्नो विदद्वस उभयाहस्त्या भर॥ ४॥

हे **इन्द्र**=सब शक्तियों के स्वामिन्! **चित्र**=(चित्+र) सब ज्ञानोंवाले व ज्ञानों के देनेवाले प्रभो! **यत्**=जो **राध:**=धन **इह**=यहाँ इस जीवन में **मे**=मेरा **न अस्ति**=नहीं है और जो धन हे **अद्रिव:**=न विदारण के योग्य (अ+दृ) तथा आदरणीय (आदृ) प्रभो! **त्वा आदातम्**=आपसे सर्वथा ग्रहण किया गया है **तत् राध:**=उस सिद्धि (राध्=सिद्धि) देनेवाले धन को **न:**=हमें हे **विदद्वसो**=वसुओं के प्राप्त करानेवाले! **उभया हस्त्या**=दोनों हाथों से **आभर**=दीजिए।

इस मन्त्र में प्रभु को 'इन्द्र व चित्र' शब्दों से स्मरण करके यह संकेत हुआ है कि वे प्रभु शक्ति के पुञ्ज व ज्ञान के समुद्र हैं। जीव ने ग़लती से भोगमार्ग (Enjoyment) को अपनाकर शक्ति को तो क्षीण कर ही लिया, ज्ञान से भी शून्य हो गया, कामना ने उसके ज्ञान पर भी पर्दा डाल दिया। चाहिए था कि वह योगमार्ग पर चलकर प्रभु से अपना मेल बनाता। चला वह भोग के मार्ग पर और परिणामत: प्रभु से दूर हो गया। जीव अभ्युदय-साधन में ही उलझा रहा, नि:श्रेयस का उसे स्मरण ही न रहा। प्रेयमार्ग को उसने पसन्द किया—श्रेय उसे रुचिकर न हुआ। प्रकृति ने उसे आकृष्ट किया—प्रभु को वह उसकी चकाचौंध में देख नहीं पाया। शरीर को ही उसने 'मैं' समझा, अपना वास्तविक स्वरूप उससे ओझल ही रहा। धन ही उसके लिए सब-कुछ हो गया, धनाध्यक्ष का उसे ध्यान ही नहीं आया। स्थूल आनन्दों में उलझा हुआ वह सूक्ष्म आनन्दों को भूल गया। शरीर के लिए खाना तो आवश्यक था, परन्तु उसका शरीर नहीं अपितु मन खाने में लग गया।

अब वह प्रभु से प्रर्थना करता है कि मुझे वह धन दीजिए जो मेरे पास नहीं है। प्रभु ने भोगों को स्वीकार नहीं किया, इसी से प्रभु ज्ञान व शक्ति के पुञ्ज बने रहे।

प्रभु ने ही हमें भी इन दोनों वसुओं को प्राप्त कराना है। ये ही राध: हैं—सिद्धि के देनेवाले हैं। प्रभु एक हाथ से मुझे ज्ञान दें तो दूसरे से शक्ति, इन दोनों को अलग-अलग

करके मैं अपना कल्याण सिद्ध नहीं कर सकता। इनके समन्वय में ही मेरे सारे कष्टों की समाप्ति है, मैं ज्ञान और शक्ति का पुञ्ज बनकर त्रिविध तापों से ऊपर उठूँगा, 'अ-त्रि' होऊँगा। मैं उस दिन अपनी इस मातृभूमि का सच्चा पुत्र होऊँगा—'भौम' बनूँगा।

भावार्थ—मैं भी उस ज्ञान व शक्ति का स्वीकारनेवाला बनूँ जिन्हें प्रभु ने स्वीकार किया है।

ऋषि:—**तिरश्चीराङ्गिरस:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥ स्वर:—**गान्धार:**॥

क्या करूँ कि पुकार सुनी जाए

३४६. श्रुधी हवं तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यति।
सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूर्धि महाँ असि॥ ५॥

'तिरश्ची: आंगिरस:' मन्त्र का ऋषि है। तिर: अञ्चति=अपने अन्दर ही गति करता है—बाह्य विषयों में नहीं भटकता रहता। **तिरश्च्या:**=इस अन्तर्मुख यात्रा करनेवाले की **हवम्**=पुकार को **श्रुधि**=सुनिए। उस तिरश्ची की **य:**=जो हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **त्वा**=आपको **सपर्यति**=पूजता है। वस्तुत: प्रार्थना तो उसी की सुनी जाती है जो अन्तर्मुख यात्रावाला हो। बाह्य विषयों में न रमकर जो हृदयस्थ प्रभु के समीप प्रतिदिन बैठने का प्रयत्न करता है, प्रभु का प्रिय वही बनता है।

इस तिरश्ची की प्रार्थना भी बाह्य धनों के लिए न होकर आन्तर धनों की होती है। यह कहता है कि **राय:**=धन का **पूर्धि**=हममें पूरण कीजिए, परन्तु कौन-से धन का? १. **सुवीर्यस्य**=जो उत्तम शक्तिवाला है, और २. **गोमत:**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला है। शक्ति+ज्ञान की प्रार्थना ही सर्वोत्तम प्रार्थना है, क्योंकि इनके अभाव में हमारे हृदय संकुचित बन जाते हैं। **महाँ असि**=प्रभु महान् हैं। ज्ञान व शक्ति से सम्पन्न बनकर मैं भी महान् बनता हूँ, ज्ञान की कमी के साथ संसार में संकुचित हृदयता दिखती है। अशक्त व्यक्ति कमीनेपन (meannes) पर उतर आता है। वह छोटी-छोटी बातों को भूल नहीं पाता। शक्तिशाली का ध्यान उन तुच्छ बातों की ओर जाता ही नहीं। उदार व महान् ही धर्म है, प्रभु महान् हैं—मैं भी महान् बनने का प्रयत्न करता हूँ—और इसीलिए ज्ञान व शक्ति की याचना करता हूँ। शक्तिसम्पन्न बनकर मैं आङ्गिरस होता हूँ, तिरश्ची बनकर मैं ज्ञानी बना था। आत्मनिरीक्षण से ही सभी ज्ञान उपलभ्य हैं।

भावार्थ—ज्ञान व शक्ति का सम्पादन करके मैं महान् बनूँ।

ऋषि:—**राहूगणो गोतम:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—अनुष्टुप्॥ स्वर:—**गान्धार:**॥

ज्ञान व शक्ति का सम्पादन कैसे हो?

३४७. असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवा गहि।
आ त्वा पृणक्त्विन्द्रियं रज: सूर्यो न रश्मिभि:॥ ६॥

'सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूर्धि' जीव की इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **ते**=तेरे लिए **सोम:**=सोम=वीर्यशक्ति **असावि**=उत्पन्न

कर दी गयी है। हे **शविष्ठ**=गतिशील, और हे **धृष्णो**=कामादि शत्रुओं का धर्षण करनेवाले **आगहि**=तू उस सोम को प्राप्त कर। सोम की रक्षा के लिए दो ही साधन हैं। एक तो—**शविष्ठ**= सदा कर्म में लगे रहना, खूब क्रियाशील होना। यह क्रियाशीलता मनुष्य को वासनाओं से बचाने में सर्वमहान् साधन है। दूसरा **धृष्णो**=हम वासनाओं का धर्षण करनेवाले बनें। हम अपने वातावरण को ऐसा बनाएँ कि वह वासनाओं को कुचलनेवाला हो। हमारा भोजन, अध्ययन और सङ्ग सभी कुछ सात्त्विक हो। इस प्रकार हम अपने सोम की रक्षा करेंगे तो प्रभु कहते हैं कि १. **त्वा**=तुझे **इन्द्रियम्**=शक्ति **आपृणक्तु**=सर्वथा प्राप्त हो—शक्ति का तेरे साथ सम्पर्क हो तथा तेरा २. **रजः**=यह हृदयान्तरिक्ष **रश्मिभिः**=ज्ञान की किरणों से **आपृणक्तु**= सम्पृक्त हो—उसी प्रकार **न**=जैसे **सूर्यः**=सूर्य प्रकाश से युक्त है। संक्षेप में—सोम की रक्षा से तू शक्तिशाली हो और तेरा हृदय ज्ञान के प्रकाश से आभासित हो। 'रश्मि' शब्द प्रकाश की किरण के अतिरिक्त लगाम का भी वाचक है, अतः जैसे सूर्य ने अपनी रश्मियों से लोकों को अपनी ओर आकृष्ट किया हुआ है, उसी प्रकार हमारा आत्मा मनरूप लगाम के द्वारा सब इन्द्रियों को आकृष्ट किये रहे और हम आत्मवश्य इन्द्रियों से ही संसार में विचरण करें। इस प्रकार विषयों में विचरण को त्यागनेवाले हम 'रहूगण' बनें (रह त्यागे), हमारी इन्द्रियाँ विषय-पंक में न फँसें और हम 'गोतम' प्रशस्त इन्द्रियोंवाले हों।

भावार्थ—निरन्तर क्रियाशील बनकर व वासनाओं को नष्ट-भ्रष्ट करके हम सोम की रक्षा करनेवाले बनें।

ऋषिः—**काण्वो नीपातिथिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रसाद न कि प्रासाद

३४८. एन्द्र याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम्।
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो॥ ७॥

हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **हरिभिः**=अपनी इन्द्रियों के द्वारा मेधावी पुरुष की **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **उप आयाहि**=समीपता से प्राप्त हो। तू मेधावी पुरुष की स्तुति करना, अभिप्राय यह है कि तू प्रासादों=महलों की प्रार्थना न करके मेधा की प्राप्ति के लिए प्रार्थना कर। मेधावी पुरुष की प्रार्थना करता हुआ तू **अमुष्य दिवः**=उस प्रकाशमय **शासतः**=प्रकृति का शासन करते हुए और जीव का भी हृदयस्थरूप से अनुशासन करते हुए प्रभु के **दिवम्**= प्रकाशमयलोक को **यय**=प्राप्त हो। **दिवावसो**=प्राप्त तू तभी होगा जब तू ज्ञान को ही अपना धन समझेगा।

जीव जब मेधावी बनकर प्राकृतिक वस्तुओं की प्रार्थना न करके ज्ञान की रुचिवाला होता है तब वह प्रभु को प्राप्त करता है। वह इस जीवन-यात्रा में आगे बढ़ता हुआ एक दिन अचिन्त्य, अप्रमेय, नीप (Deep) **'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्'** उस गुह्य प्रभु का अतिथि बनता है। यह नीपातिथि ही इस मन्त्र का ऋषि है। यही काण्व=मेधावी है।

भावार्थ—मैं प्रासादों की याचना ही न करता रहूँ, प्रत्युत प्रभु के प्रसाद को पाने का प्रयत्न करूँ।

ऋषिः—तिरश्चीराङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

(धर्मं जिज्ञासमानानां) प्रमाणं परमं श्रुतिः

३४९. आ त्वा गिरो रथीरिवास्थुः सुतेषु गिर्वणः।
अभि त्वा समनूषत गावो वत्सं न धेनवः॥ ८॥

अपने अन्दर गति करनेवाला ऋषि तिरश्ची है। यह अन्तःस्थित प्रभु का दर्शन करता है। प्रभु इससे कहते हैं कि हे **गिर्वणः**=वेदवाणियों का सेवन करनेवाले तिरश्ची! **त्वा**=तुझे **गिरः**=ये वेदवाणियाँ **सुतेषु**=उस-उस उत्पन्न धर्म-संकट के समय **रथीः इव**=सारथियों की भाँति, मार्गदर्शकों के समान **आ अस्थुः**=समन्तात् प्राप्त हों। वे तेरी जीवन-यात्रा में तेरे चारों ओर तेरी समस्याओं का समाधान करनेवाली हों। **गावः**=ये वेदवाणियाँ (गमयन्ति अर्थान्) **त्वा**=तुझे **अभि**=दोनों ओर—अन्दर व बाहर पाठमात्रस्वरूप में और विशदार्थरूप में **सम्**=अच्छी प्रकार **अनूषत**=प्राप्त हों (नु=to praise)। ये तुझे उसी प्रकार प्रशंसित बना दें **न**=जैसे **धेनवः**=नवसूतिका गौवें **वत्सम्**=बछड़े को। नवसूतिका गौवें चाट-चूटकर बछड़े की बाह्य त्वचा को शुद्ध कर डालती हैं और पौष्टिक दूध पिलाकर उसे पुष्ट बनाती हैं। इसी प्रकार ये वेदवाणियाँ पाठमात्र से उच्चारण की जाकर भी हमें असद् व्यसनों से बचाकर आध्यात्मिक दृष्टि से नीरोग बनाती हैं और अर्थज्ञान हो जाने पर तो हमारे मस्तिष्क व मन पर एक विशेष प्रभाव डालती हुई हमारे जीवनों को ऊँचा बनाती हैं।

जब कभी हमारे सामने कोई धर्मसंकट उपस्थित होता है तब ये वेदवाणियाँ हमें उस उलझन से निकलने में सहायक होती हैं। 'धर्म क्या है?' इस प्रश्न का उत्तर यही है कि 'जिसकी वेद प्रेरणा दे रहा है।' धर्मसंकट की स्थिति सबके जीवनों में उपस्थित होती है। यदि हम नियमितरूप से वेदवाणियों का सेवन करते हैं तो ये वाणियाँ हमारी पथप्रदर्शक बनती हैं। उनके अनुसार मार्ग का आक्रमण करके हम भोगमार्ग से बचे रहते हैं, परिणामतः रोगों से भी बचे रहते हैं, हमारी इन्द्रिय-शक्तियाँ जीर्ण नहीं होतीं और हम 'आङ्गिरस' बने रहते हैं।

भावार्थ—धर्म-ज्ञान के लिए हम प्रभु-वाणी को परम प्रमाण माननेवाले हों।

ऋषिः—विश्वामित्रो गाथिनः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

क्या मैं प्रभुभक्त हूँ?

३५०. एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना।
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्धैराशीर्वान् ममत्तु॥ ९॥

सबके साथ स्नेह करनेवाले विश्वामित्र कहते हैं कि **एत उ**=निश्चय से चारों ओर से आओ ही। जहाँ कहीं भी होओ, इस प्रभु-प्रार्थना के समय एक स्थान पर एकत्र हो जाओ। **नु**=अब **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का हम **स्तवाम**=स्तवन करें, जो **शुद्धम्**=पूर्ण शुद्ध हैं—किसी भी प्रकार की मलिनता का जिनसे सम्पर्क नहीं है।

प्रभु के स्तवन का प्रकार क्या है?

१. **शुद्धेन साम्ना**=शुद्ध शान्ति की मनोवृत्ति से। हमारे मनों में किसी के प्रति द्वेष की कोई भावना न हो। हमारे हृदय शुद्ध हों और शान्ति की मनोवृत्ति से परिपूर्ण हों। २. **शुद्धैः उक्थैः**=शुद्ध वचनों से **वावृध्वांसम्**=बढ़नेवाले प्रभु का हम स्तवन करें। हमारे शुद्ध वचनों से प्रभु की महिमा बढ़ती है। ऋत और सत्य बोलकर ही तो हम अपने जीवनों से ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। (ब्रह्म वदिष्यामि, ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि)। प्रभु सत्य हैं और हमारे छलशून्य सत्य वचनों से ही ब्रह्म का प्रतिपादन होता है। ३. प्रभु के उपासक को चाहिए कि **शुद्धैः**=शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन सब उपकरणों को शुद्ध बनाकर **आशीर्वान्**=सबके लिए शुभ इच्छाओंवाला होता हुआ (with blessings for all) **ममत्तु**=सदा प्रसन्न मनवाला होकर विचरे। उसके चेहरे पर मानसप्रसाद की झलक हो।

संक्षेप में, प्रभु का गुणगान करनेवाले 'गाथिन' हैं—१. उसका मन सबके प्रति शान्तिवाला होता है, २. उसके वचन छलशून्य, ऋजु व सत्य होते हैं, और ३. उसके चेहरे पर प्रसाद की झलक होती है—उसका जीवन उल्लासमय होता है।

भावार्थ—निर्द्वेष मन, सत्यवाणी व प्रसन्नवदन ही प्रभुभक्त के लक्षण हैं।

ऋषिः—**तिरश्चीराङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

रयि और प्राण

३५१. यो रयिं वो रयिन्तमो यो द्युम्नैर्द्युम्नवत्तमः।
सोमः सुतः स इन्द्र तेऽस्ति स्वधापते मदः ॥ १० ॥

आत्मनिरीक्षण करनेवाला तिरश्ची यह अनुभव करता है कि सोम की रक्षा होने पर उसका जीवन उल्लासमय होता है और सोम-रक्षा के अभाव में उसे निराशा व उदासी प्रतीत होती है। इस शरीर को व्याधिशून्य व मन को आधिशून्य बनाने का एक ही उपाय है कि हम शरीर की रयि व प्राण दोनों शक्तियों को सुरक्षित करें। तिरश्ची ऋषि कहते हैं कि **वः**=तुम्हारा **यः**=जो **रयिं रयिन्तमः**=रयियों के रयि, अर्थात् सर्वोत्तम रयि हैं और **यः**=जो तुम्हारा **द्युम्नैः**=(प्राणो वा आदित्यः) आदित्य के समान ज्योतियों से **द्युम्नवत्तमः**=सर्वाधिक चमकता हुआ प्राण है, **सः**=वह वस्तुतः **सुतः सोमः**=उत्पन्न हुआ यह सोम ही है। रयि अपान का वाचक है। स्थूल दृष्टि से अपान दोषों के दूर करने की शक्ति है और प्राण बल का संचार करनेवाली शक्ति है। इन दोनों प्राणापानों का मूल 'सोम'=वीर्यशक्ति है। प्रभु ने आहार से रस आदि के क्रम द्वारा इसके उत्पादन की व्यवस्था की है। हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **सः**=वह सोम **ते**=तेरे लिए, अर्थात् तेरी उन्नति के लिए **अस्ति**=है।

इस सोम के धारण से तू स्व=अपना धाः=धारण करनेवाला बनता है। जो भी व्यक्ति इस प्रकार अपना धारण करते हैं वे सब स्वधा हैं। इनमें भी धुरन्धर बननेवाले हे **स्वधापते**=स्वधारकों के मुखिया जीव! **मदः**=तू हर्षयुक्त हो, तेरा जीवन उल्लासमय हो। इस स्वधापति ने सोम रक्षा से अपने जीवन को शक्तिशाली बनाया है, इसी से यह 'आङ्गिरस' कहलाया है। अन्तर्मुख यात्रावाला व्यक्ति 'आङ्गिरस' होना ही चाहिए। बहिर्मुख यात्रा में ही भोग-विलास में फँसकर मनुष्य जीर्णशक्ति होता है, अन्तर्मुख यात्रा में नहीं।

भावार्थ—हम सोमरक्षा करें और अपने जीवन को उल्लासमय बनाएँ।

द्वितिया दशतिः

ऋषिः—**बार्हस्पत्यो भारद्वाजः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

पीछे कदम न रखनेवाला

३५२. प्रत्यस्मै पिपीषते विश्वानि विदुषे भर। अरङ्गमाय जग्मयेऽ पश्चादध्वने नरः॥ १॥

अस्मै=इस **प्रति**=प्रत्येक व्यक्ति को **नरः**=(ना का द्वितीया बहुवचन) आगे ले-चलने की भावनाओं को **भर**=पूर्ण कीजिए। किसके लिए—

१. **पिपीषते**=जो रयि और प्राणशक्ति की वृद्धि के लिए सोमपान करना चाहता है। इस सोमपान से उसमें रयि=चन्द्रमा व प्राण=आदित्य तत्त्वों का मेल होता है। यह व्यक्ति आदित्य के समान अन्धकार को दूर करता है, परन्तु चन्द्र की भाँति आह्लादमय बना रहता है।

२. **विश्वानि**=हमारे न चाहते हुए भी अन्दर प्रविष्ट हो जानेवाली काम, क्रोध व लोभ आदि भावनाओं को **विदुषे**=अच्छी प्रकार समझनेवाले के लिए। लोकहित में लगे हुए व्यक्ति को इन भावनाओं को समझना ही चाहिए। हम शत्रु को समझेंगे ही नहीं तो उसे जीतेंगे कैसे?

३. **अरङ्गमाय**=(अरं=वारण) यह लोगों के दुःखों व अज्ञानों को दूर करने के लिए गतिशील होता है तथा अपने इस कार्य में ४. **जग्मये**=निरन्तर क्रियाशील बना रहता है। कार्य के गौरव व आयुष्य की सीमितता को समझता हुआ यह आलसी हो ही कैसे सकता है? ५. **अपश्चादध्वने**=यह अपने जीवन में पीछे कदम नहीं रखता। जब लोकहित के मार्ग को अपनाता है तब काम, क्रोध व लोभ से वह अपने मार्ग से विरत नहीं होता। लोगों के अपशब्द, लोगों के पत्थर व विषदान भी उसे अपने कार्य से उपरत नहीं कर पाते।

शरीर से अपने को शक्ति-(वाज)-सम्पन्न बनाता है, इन्द्रियों को क्रियाशील (वाज=क्रिया) मन को त्याग की भावना से युक्त (वाज=sacrifice) और बुद्धि को ज्ञान परिपूर्ण (वाज=ज्ञान) बनाता हुआ यह 'भारद्वाज' निरन्तर लोकहित के मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता है। यह ज्ञान पुञ्ज 'बार्हस्पत्य' बनकर औरों के अज्ञान को भी दूर करता है।

भावार्थ—हम 'बार्हस्पत्य भारद्वाज' बनकर औरों को भी आगे ले-चलनेवाले बनें। इस कार्य में सफलता के लिए हम अपने में चन्द्र व सूर्य—माधुर्य और प्रकाश—दोनों तत्त्वों का समन्वय करें।

नोट—*नेता की तो यही भावना होनी चाहिए कि—*

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

ऋषिः—**वामदेवः शाकपूतो वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

क्या उपादेय है, क्या हेय है

३५३. आ नो वयो वयःशयं महान्तं गह्वरेष्ठाम्।
महान्तं पूर्विनेष्ठामुग्रं वचो अपावधीः॥ २॥

हे प्रभो! **नः**=हमें **आ**=सर्वथा **अवधीः**=(हन्=प्राप्त करना) प्राप्त कराइए। क्या-क्या?

१. **वयः**—(क) यज्ञिय भोजन=Sacrificial food। सात्त्विक भोजन जीवन-निर्माण का मूल है, (ख) सात्त्विक शक्ति Energy, strength=सात्त्विक भोजन से हमें उत्तम शक्ति प्राप्त हो, (ग) soundnes of constitution=स्वस्थ शरीर। संक्षेप में सबसे प्रथम प्राप्य वस्तु यह है कि हम सात्त्विक भोजन के द्वारा शक्ति प्राप्त करके स्वस्थ शरीरवाले बनें।

वयःशयम्—(शय=couch=बैठने की जगह)—हमें वे वस्तुएँ प्राप्त हों जिनका कि यह स्वस्थ शरीर शय=आधार है। प्रभु ने यह शरीर देवताओं के निवास के लिए बनाया है। देवताओं ने भी इसे पसन्द किया '**अयं नो बत सुकृतेति**' और सारे देवता इसमें निवास करने लगे, '**सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते**'। सूर्य आँखों में, दिशाएँ कानों में, अग्नि मुख में—इसी प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों में देव रहने लगे। हमें इन देवों को प्राप्त कराइए। हमारी सब इन्द्रियाँ ठीक हों।

यद्यपि मन व बुद्धि भी इन देवों के अन्दर समाविष्ट हैं तो भी विशेषता प्रदर्शन के लिए '**ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायातः**' इस न्याय से मन और बुद्धि का अलग उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **३. महान्तं गह्वरेष्ठाम्**=हृदयरूप गुहा में ठहरनेवाले (हृत्प्रतिष्ठम् महान्तम्)=मन को (महान् ही मन है, मन महान् होना ही चाहिए) प्राप्त कराइए। हमारा मन हृत्प्रतिष्ठ=श्रद्धारूपी मूलवाला और महान् हो।

४. **महान्तं पूर्विनेष्ठाम्**=पूर्विणे=पुराणतत्त्व आत्मा के लिए इस शरीररूप रथ पर स्थित होनेवाले बुद्धितत्त्व को हमें प्राप्त कराइए। आत्मा रथी है—उसका सारथि बुद्धि है। समष्टि में जो महान् तत्त्व है, वही व्यष्टि में बुद्धि है। इस प्रकार आत्मा की उन्नति के साधनभूत बुद्धि की यहाँ प्रार्थना है।

चार वस्तुएँ उपादेयरूप से कही गयी हैं—स्वस्थ शरीर, सब दिव्य शक्तियाँ—उत्तम इन्द्रियाँ, महान् मन और आत्मा की सारथिभूत बुद्धि। इन चार वस्तुओं को उपादेयरूप से कहकर हेय वस्तु का संकेत इन शब्दों में करते हैं कि **नः**=हमसे **उग्रं वचः**=तेज शब्दों को, कटु वाक्यों को **अपअवधीः**=दूर कीजिए। हम कभी कड़वी वाणी न बोलें।

इन सब उपादेय वस्तुओं की प्राप्ति व हेय वस्तु का त्याग इसी बात पर निर्भर करता है कि हम सात्त्विक भोजन (वयः) को अपनाएँ। इसे अपनानेवाला व्यक्ति 'शाकपूत'=शक्ति देनेवाले वानस्पतिक भोजनों से अपने को पवित्र करनेवाला ही इस मन्त्र का ऋषि है। यह दिव्य गुणोंवाला तो बनता ही है, अतः 'वामदेव' होता है।

भावार्थ—हम सात्त्विक भोजन का सेवन कर सात्त्विक वाणी का ही उच्चारण करें।

ऋषिः—**प्रियमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

वह महान् रथ

३५४. आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि।
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्रं शविष्ठ सत्पतिम्॥ ३॥

इस मन्त्र का ऋषि 'प्रियमेध' है, जिसे मेधा=ज्ञान प्रिय है। यह प्रियमेध कहता है कि हे प्रभो! **त्वा**=आपको **रथं वर्तयामसि**=अपनी जीवन-यात्रा के रथ के रूप में वर्तते हैं। मैं अपनी जीवन-यात्रा का आधार प्रभु को ही बनाकर प्रवृत्त होता हूँ। ऐसा मैं इसलिए

करता हूँ कि—

१. **यथोतये**=मैं अपनी यथायोग्य रक्षा कर पाता हूँ। प्रभुमूलक जीवन बनाने पर मेरा खान-पान न चले, ऐसी बात कभी नहीं होती। प्रभुभक्तों का योगक्षेम तो प्रभु चलाते ही हैं। मनुष्य वासनाओं का शिकार बनने से भी बचा रहता है और परिणामतः २. **सुम्नाय**=सुख के लिए मैं प्रभु को अपना रथ बनाता हूँ। मेरी सब इन्द्रियाँ उत्तम बनी रहती हैं। उनमें असुरों के आक्रमण का कोई विकार नहीं आ जाता, वाणी अशुभ शब्द नहीं बोलने लगती, कान अशुभ नहीं सुनने लगते।

हम उस प्रभु को अपने जीवन का रथ बनाते हैं जो १. **तुविकूर्मिम्!**=महान् धारक कर्मोंवाले हैं। २. **ऋतीषहम्**=दुर्गति का पराभव करनेवाले हैं। ३. **इन्द्रम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं। ४. **शविष्ठ**=अत्यन्त शक्तिशाली हैं और ५. **सत्पतिम्**=सयनों के पालक हैं।

ऐसे प्रभु को रथ बनाने का अभिप्राय स्पष्ट है कि हम स्वयं ऐसा बनने का प्रयत्न करते हैं। हमारे सब कर्म औरों का धारण करनेवाले होते हैं—हम दुर्गति को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। अपने काम-क्रोधादि को दूर भगाने के लिए यत्नशील होते हैं, शक्तिशाली बनते हुए सयनों के रक्षक बनते हैं।

यहाँ मन्त्र में 'सत्पतिम्' तथा 'ऋतीषहम्' शब्द विशेषतः ध्यान देने योग्य हैं। जहाँ सयनों की रक्षा का उल्लेख है, वहाँ दुर्जनों के नाश के स्थान पर 'दुर्गति' का उल्लेख है। हमने बुरे व्यक्ति को नहीं मार डालना उसकी बुराई को मारने व हटाने का प्रयत्न करना है।

इस प्रकार अपने जीवन को बिताकर ही हम यात्रा को पूर्ण कर सकते हैं। यही बुद्धिमत्ता है, यही प्रियमेध बनना है। यह प्रियमेध' अलिप्त रहकर आङ्गिरस तो बनता ही है।

भावार्थ—हम अपनी जीवन-यात्रा का रथ प्रभु को बनाएँ।

ऋषिः—**प्रगाथः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

जिसने उस रथ को अपनाया

३५५. स पूर्व्यो महोनां वेनः क्रतुभिरानजे।
यस्य द्वारा मनुः पिता देवेषु धिय आनजे॥ ४॥

सः=प्रभु को अपनी जीवन-यात्रा का रथ बनानेवाला व्यक्ति १. **महोनाम्**=तेजस्वियों में **पूर्व्यः**=प्रथम होता है। प्रभु को आधार बनानेवाला भोगमार्ग पर नहीं जाता, परिणामतः क्षीण शक्ति न होकर तेजस्वियों का मूर्धन्य बना रहता है। २. **वेनः**=मेधावी होता है। जैसों के समीप उठते-बैठते हैं वैसी ही हमारी बुद्धि बन जाती है। सर्वज्ञ के समीप बैठने से यह मेधावी क्यों नहीं बनेगा? ३. **क्रतुभिः**=यज्ञों से यह अपने जीवन को **आनजे**=अलंकृत करता है। प्रभु की समीपता में यह उत्तम कर्म ही तो करेगा? प्रभुरूप रथ में आरूढ़ होने पर इसका शरीर तेजस्वी, मन यज्ञिय भावनाओं से परिपूर्ण और मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से जगमगाता है। इस प्रकार इसके जीवन का ठीक परिपाक हो जाता है।

अपने जीवन को परिपक्व कर लेने से इसने किसी शान्त कन्दरा में नहीं पहुँच जाना, अपितु संसार में रहते हुए ही लोगों में ज्ञान का प्रकाश भरना है। यह परमेश्वर का निमित्त (Agent) बनता है **यस्य द्वारा**=जिसके द्वारा **मनुः**=ज्ञान देनेवाला सर्वज्ञ **पिता**=सबका रक्षक

परमात्मा **देवेषु धियः**=३३ देवों=प्रकृति-शक्तियों व ३४वें आत्मदेव-विषयक ज्ञान को (विषय सप्तमी) **आनजे**=लोगों को प्राप्त कराता है। एवं, स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्ति प्रभु के दूत बनकर लोगों को वह प्रकाश प्रदान करते हैं जो उन्हें प्रभु से प्राप्त होता है।

यहाँ मन्त्र में यह भी द्रष्टव्य है कि जीवन को परिपक्व करने के लिए जो मन्त्रांश है वह तीन वाक्यों से बना है और परिपाक के बाद ज्ञान फैलाने का काम एक वाक्य में कहा गया है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ ये तीनों ही साधना के आश्रम हैं और संन्यास अकेला प्रचार के लिए। इस प्रकार अपने जीवन को उपयुक्त करनेवाला व्यक्ति ही वस्तुतः प्रभु का सच्चा स्तोता है, 'प्रगाथ' है। ऐसा बनना ही 'काण्व'=मेधावी बनना है।

भावार्थ—हम भी प्रभु को जीवनाधार बनाकर तेजस्वी, मेधावी व यज्ञशील बनें।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः**॥ देवता—**दधिक्रावा अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

यहाँ और वहाँ

३५६. यदी वहन्त्याशवो भ्राजमाना रथेष्वा।
पिबन्तो मदिरं मधु तत्र श्रवांसि कृण्वते॥ ५॥

रथेषु=शरीररूप रथों में जुते हुए ये घोड़े **यत्**=जब **ई**=अवश्य **आवहन्ति**=हमें सर्वथा लक्ष्य की ओर ले-चलते हैं तब वहाँ लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाकर हमारे यश का कारण बनते हैं। 'ये घोड़े कैसे हैं?' १. **आशवः**=(अश्नुते अध्वानम्) मार्ग को शीघ्रता से व्यापनेवाले हैं। कर्मेन्द्रियरूप ये घोड़े बड़े चुस्त (active) हैं। तीव्र गति से हमें लक्ष्य की ओर ले-चलते हैं। २. **भ्राजमानाः**=(भ्राजृ दीप्तौ) ये दीप्त हैं, चमकते हैं। ज्ञानेन्द्रियरूप घोड़े अपने ज्ञान-प्राप्तिरूप व्यापार को अच्छी प्रकार करते हुए इस रथ को सदा प्रकाशमय रखते हैं। दो ही प्रकार के घोड़े हैं—शीघ्रता से कार्य करनेवाले व चमकनेवाले। इन्हें ही कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ कहा जाता है। पहले शक्ति की वृद्धि का कारण बनते हैं तो दूसरे ज्ञान की वृद्धि का। वस्तुतः जीवन के निर्माण में ये ही दो मुख्य तत्त्व हैं—शक्ति और ज्ञान। ये ही 'ब्रह्म व क्षत्र' कहलाते हैं। संसार भी तो दृढ़ (शक्तिशाली) पृथिवी व उग्र=तेजस्वी=प्रकाशमय द्युलोक में ही समाप्त हो जाता है। यहाँ रथ शब्द 'रंह' धातु से बनकर, 'वहन्ति' क्रिया तथा 'आशवः' विशेषण 'अश् व्याप्तौ' से बनकर गतिशीलता का उपदेश दे रहे हैं। ज्ञान के लिए भी तो कर्म आवश्यक है।

इस प्रकार अपनी इस जीवन-यात्रा में जब हम इस सुन्दर रथ पर बैठकर उन उत्तम घोड़ों के द्वारा आगे बढ़ते हैं तब हमें चाहिए कि **पिबन्तो मदिरं मधु**=आनन्द देनेवाले मधु का पान करते हुए आगे बढ़ें। हम जिस-जिसके सम्पर्क में आएँ उसके गुण को ग्रहण करते हुए आगे बढ़ते चलें। 'पिबन्तः' में पीते हुए यह नैरन्तर्य भावना हमें यही तो कह रही है कि रुको नहीं। मधु लेते हुए चलेंगे तो हम भी मधुमक्षिकाओं की भाँति किसी उत्तम वस्तु का निर्माण कर पाएँगे और ऐसा करनेवाले ही **तत्र**=वहाँ परलोक में प्रभु-चरणों में लौटने पर **श्रवांसि**=यशों को **कृण्वते**=करते हैं। उनकी कीर्ति होती है। परलोक में ही कीर्ति हो इस प्रकार का जीवन बनाने का लाभ नहीं, यहाँ भी यह जीवन 'मदिरम्' आनन्दमय होता है।

हमारे इन्द्रियरूप अश्व श्याव (श्यैङ् गतौ) गतिमय हों और हम 'श्यावाश्व' बनें तथा

काम-क्रोध और लोभ से ऊपर उठकर हम 'अ-त्रि' (आत्रेय) बनें।

भावार्थ—हम गुण-ग्रहण करते हुए चलें।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

नर कौन है?

३५७. त्यमु वो अप्रहणं गृणीषे शवसस्पतिम्।
इन्द्रं विश्वासाहं नरं शचिष्ठं विश्ववेदसम्॥ ६॥

प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुममें से **त्यम् उ नरम्**=उसी मनुष्य को **गृणीषे**=स्तुत करता हूँ, आदर देता हूँ, अर्थात् वही मेरे प्रेम का पात्र होता है जो १. **शवसः पतिम्**=बल का पति है, परन्तु **अप्रहणम्**=हिंसा करनेवाला नहीं है। शक्ति होते हुए हिंसा न करना यह सयनता का महान् लक्षण है। निर्बल की विवशतावाली अहिंसा शोभा नहीं पाती। सबल होते हुए अहिंसक होना, शक्ति को रक्षा के लिए विनियुक्त करना ही नर बनना है। २. **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यवाला है, परन्तु उसे धन का मद नहीं। वह अभिमान में आकर छोटी-छोटी बातों पर तैश में नहीं आ जाता। **विश्वासाहम्**=सब बातों को सहनेवाला है। यह सदा विनीत बना रहता है, क्षमा की वृत्तिवाला होता है। 'अभ्युदये क्षमा'—यही तो महात्माओं का स्वभाव होता है कि सम्पन्नता में भी विनीत व क्षमाशील बने रहते हैं। ३. ये **विश्ववेदसम्**=सर्वज्ञ होते हैं—विश्व=सब-कुछ जाननेवाले होते हैं, परन्तु सर्वज्ञकल्प होते हुए भी ये कर्म को हेय नहीं समझते। **शचिष्ठम्**=अधिक-से-अधिक क्रियाशील होते हैं। ये क्रिया को अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल नहीं समझते। यही वस्तुतः सच्चा ज्ञानी है—'बार्हस्पत्य' है। इसी का जीवन शान्ति से युक्त होता है, अर्थात् यह अपने जीवन को शान्ति से युक्त करता है, इसी से यह 'शंयु' कहलाता है।

भावार्थ—हम शक्तिशाली हों, परन्तु शक्ति का विनियोग रक्षा में करें, सम्पन्न होकर भी विनीत बने रहें तथा सर्वज्ञकल्प होकर भी सतत क्रियाशील हों।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

मधुर भाषण व दीर्घ-जीवन

३५८. दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखा करत् प्र न आयूँषि तारिषत्॥ ७॥

मैं **अकारिषम्**=स्तुति करता हूँ। किसकी? उस प्रभु की जो १. **दधिक्राव्णः**=दधत् क्रामति—धारण करता हुआ चलता है, अर्थात् जिसकी प्रत्येक क्रिया धारण करनेवाली है। इस रूप में प्रभु की स्तुति करते हुए मुझे भी संसार में धारणात्मक कार्य ही करने चाहिएँ। २. **जिष्णोः**=मैं उस प्रभु की स्तुति करता हूँ जो जिष्णु है, विजयशील है। **'अहमिन्द्रो न पराजिग्ये'** मैं इन्द्र हूँ, अतः कभी पराजित नहीं होता। मुझे भी प्रभु का स्मरण करते हुए सदा विजयशील बनना है, जब तक विजय न हो तब तक युद्ध में स्थिर रहना है। ३. **अश्वस्य**=(अश् व्याप्तौ) मैं उस प्रभु को याद करता हूँ जो सर्वव्यापक है। इस सर्वव्यापक को याद करके मैं भी अधिक-से-अधिक व्यापक बनने का प्रयत्न करता हूँ। मैं सबके साथ एकता का

अनुभव करने की साधना करता हूँ। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** को अपना सिद्धान्त बनाता हूँ। ४. **वाजिनः**=शक्तिशाली प्रभु की मैं उपासना करता हूँ। उपासना करता हुआ मैं भी शक्तिशाली बनता हूँ।

अपने जीवन को ऐसा बनाकर हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वे **नः मुखाः**=हमारे मुखों को **सुरभि करत्**=सुगन्धित करें। हम सदा मधुर ही बोलें। यह सुभाषित रस तो ऐसा है कि इसके सामने सुधा भी भयभीत हो स्वर्ग को भाग गयी, शर्करा पत्थर बन गयी और द्राक्षा म्लानमुखी हो गयी। मधुर भाषण के लिए ही प्रभु ने हमें भेजा है। मधुर भाषण ही संसार को मधुर बनाता है। इस मधुर भाषण से प्रभो! **नः**=हमारे **आयूँषि**=जीवनों को **प्रतारिषत्**=बढ़ाइए। मधुर भाषण से दीर्घ-जीवन प्राप्त होता है, क्योंकि यह हमें शान्त रखता है।

एवं, मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह रचनात्मक कार्य ही करे, तोड़-फोड़ के नहीं। विजयशील हो, उदार हो, शक्ति का सम्पादन करे, मीठा बोले। इन सुन्दर गुणों को अपने में धारण करनेवाला यह 'वामदेव' है। यही प्रभु का सच्चा स्तोता है। इसकी सब इन्द्रियाँ प्रभु का गुणगान करने में लगी रहती हैं, अतः प्रशस्त बनी रहती हैं और इसे 'गोतम' बना देती हैं।

भावार्थ—हम भी दधिक्रावा बनें।

ऋषिः—**जेता माधुच्छन्दसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

असुर पुरियों का विध्वंस

३५९. पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः॥ ८॥

जीव तीन दीवारोंवाले एक किले के अन्दर क़ैद है। इन्हें ही 'स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीर' कहा जाता है। स्थूलशरीर तो समय पाकर स्वयं ही समाप्त हो जाता है और कारणशरीर प्रकृतिरूप होने से इतना व्यापक है कि वह बन्धनरूप प्रतीत नहीं होता। बीच का सूक्ष्मशरीर जो 'इन्द्रियों, मन और बुद्धि' से बना हुआ है, यही जीव के बन्ध का सबसे बड़ा कारण है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ही असुरों के आक्रमण से आक्रान्त होकर असुरपुरियाँ बन जाती हैं और जीव का बन्धनागार हो जाती हैं। जीव का कर्त्तव्य है कि वह इन काम-क्रोध-लोभ को जीते और इस प्रकार इन असुरपुरियों का ध्वंस कर दे। जिष्णु तो इसने बनना ही है, इन पुरियों का विदारण करके ही यह ऐसा बनेगा। मन्त्र में कहते हैं **पुरां भिन्दुः**=इन असुरनगरियों का भेदन करनेवाला ही **इन्द्रः**=इन्द्र है। इन्द्र के द्वारा ही सब असुरों के विध्वंस का वर्णन है। इन्द्र देव-सम्राट् है—असुरों का संहार करनेवाले हैं।

इस असुर-संहार के लिए ही इसे **युवा**=(यु=मिश्रण, अमिश्रण) बुराई को अपने से दूर करना है और अच्छाई को अपने से जोड़ना है। **'सं मा भद्रेण पृङ्क्ष्व वि मा पाप्मना पृङ्क्ष्व'**। इसके लिए यह तभी सम्भव होगा यदि यह **विश्वस्य कर्मणो धर्ता**=सबके हित के कर्मों का धारण करनेवाला बनेगा। जितना-जितना स्वार्थ कम होकर परार्थ का अंश इसमें बढ़ता जाएगा उतना-उतना भद्र से युक्त और अभद्र से दूर होकर युवा बनता जाएगा।

भद्र से मेल व अभद्र से पार्थक्य साधन के लिए इसे **कविः**=क्रान्तदर्शी बनना है। वस्तुओं के तात्त्विक विवेचन से ही यह दुरितों से दूर और सुवितों के समीप होगा। धर्माधर्म

का विवेक ही इसके अन्दर अधर्म के प्रति वैराग्य पैदा कर सकता है। कवि बनकर यह **वज्री**=निरन्तर क्रियाशील भी बनता है। कवि संसार के इस तत्त्व को समझ लेता है कि क्रियाशीलता ही संसार है। संसार के इस तत्त्व को समझनेवाला यह कवि **वज्री**=गतिशील क्यों न होगा?

इस प्रकार तत्त्वज्ञान के कारण भोगमार्ग से सदा दूर रहने के कारण यह **अमितौजाः**=अनन्त शक्तिवाला **अजायत**=बनता है (अमित+ओजस्) और इस अनन्त शक्ति से **पुरुष्टुतः**=सदा स्तुत होता है। अथवा इस अनन्त शक्ति के लिए यह सदा (पुरुस्तुतं यस्य) प्रभु की स्तुति में लगा रहता है। प्रभु से दूर होना ही तो इसे प्रकृति में फँसाकर निर्बल कर देता है।

इस प्रकार सदा प्रभु के साथ रहनेवाला यह विजयी तो बनता ही है, अतः 'जेता' कहलाता है और सदा उत्तम इच्छाओंवाला बने रहने के कारण यह 'माधुच्छन्दस्' होता है।

भावार्थ—हम प्रयत्न करें कि हम असुर-पुरियों का विध्वंस करके मुक्त हो सकें।

द्वितिया दशतिः

ऋषिः—**प्रियमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सबके साथ मिलकर

३६०. प्रप्र वस्त्रिष्टुभमिषं वन्दद्वीरायेन्दवे।
धिया वो मेधसातये पुरन्ध्या विवासति॥ १॥

प्रियमेध आङ्गिरस उस प्रभु की **प्रप्र विवासति**=खूब ही स्तुति करता है जो **वः**=तुम्हारे **त्रिष्टुभम्**=आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक तीनों दुःखों को समाप्त करनेवाला है। अथवा जो प्रभु काम, क्रोध व लोभ तीनों को रोक देता है। यह उस प्रभु की स्तुति करता है जो **इषम्**=निरन्तर प्रेरणा देनेवाला है। वह प्रभु हृदयस्थ होकर सदा सबको सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते ही हैं।

'प्रियमेध' प्रभु की उपासना इसलिए करता है कि १. **वन्दद्वीराय**=उसे सदा स्तुत्य शक्ति की प्राप्ति हो, अर्थात् 'उसे यशस्वी बल प्राप्त हो'। प्रभु का उपासक जहाँ प्राकृतिक भोगों में न फँसने से शक्ति-लाभ करता है, वहाँ वह सभी के साथ बन्धुत्व का अनुभव करता हुआ और उस बल का रक्षण में विनियोग करता हुआ स्तुति का पात्र भी होता है। उसका बल स्तुत्य होता है। यह वन्दद्वीर बनता है—अभिवादनीय व स्तुत्य वीर होता है। २. **इन्दवे**=परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए। अवम ऐश्वर्य—धनधान्य तो प्रकृति के उपासक भी आसानी से प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु ज्ञान व भक्ति आदि का उत्कृष्ट ऐश्वर्य तो प्रभु से ही प्राप्त होता है। ३. **धिया**=बुद्धि के द्वारा **वः**=तुम सबके **मेधसातये**=(मेधृ सङ्गमे) मिलकर सेवन के लिए (साति=सम्भजन=सेवन)। प्रभु का उपासक एक व्यापक कुटुम्ब की भावना को अपनाने के कारण अकेला खा ही नहीं पाता। उसका सिद्धान्त **'केवलाघो भवति केवलादी'** का होता है। वह अकेले खाने को पाप मानता है और अन्त में ४. **पुरन्ध्या**=वह पालक व पूरक बुद्धि के लिए प्रभु की उपासना करता है। संसार में विचारशील पुरुष इस तत्त्व को समझ लेता है कि सुखी वही है जिसने **नैराश्यमवलम्बितम्**=निराशा को अपनाया है। वस्तुतः संसार में

आशाओं से चलना ही दु:ख का कारण है। निराशा की प्रथमावस्था मनुष्य को सन्मार्ग पर ले-चलता है। यह उसे संसार में फँसने नहीं देती। निराशा की प्रबलता भोगों में फँसा देती है—मनुष्य सदा नशे में रहना चाहता है। इसी निराशा की अत्यन्त प्रबलता आत्मघात=Suicide की ओर ले-जाती है। प्रभु का उपासक निराशा की प्रथमावस्था में रहता हुआ सदा पालक बुद्धि को अपनाता है। वह घातपात करके अपने राज्य, सुखों व भोगों को बढ़ाने की चिन्ता नहीं करता।

एवं, यह प्रभु का उपासक सांसारिक भोगों का इच्छुक न हो 'प्रियमेध'=बुद्धि व ज्ञान को प्रिय वस्तु समझनेवाला होता है। अ-विनष्ट-शक्ति होने से 'आङ्गिरस' तो होता ही है।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनकर स्तुत्य बलवाले, ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले, सबके साथ मिलकर खानेवाले और पालक बुद्धिवाले बनें।

ऋषि:—**वामदेवो गोतमः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

मुक्तात्मा व परमात्मा

३६१. कश्यपस्य स्वर्विदो यावाहुः सयुजाविति।
ययोर्विश्वमपि व्रतं यज्ञं धीरा निचाय्य॥ २॥

जो व्यक्ति क्रान्तदर्शी बनकर वस्तुओं के तत्त्व को देखता है, यह 'पश्यक' होता हुआ 'कश्यप' कहलाता है। यह कश्यप आपातरमणीय विषयों में फँसता नहीं। यह जीता हुआ भी, विषयों में विचरता हुआ भी, उनमें आसक्त न होने से मुक्त होता है और जीवन्मुक्त कहलाता है। प्रभु तो सदा अपने देदीप्यमान रूप में ही विद्यमान हैं, अतः वे प्रभु 'स्वर् विद्' हैं। (स्वर्=to radiate) उस प्रभु से ही प्रकाश चारों ओर फैल रहा है **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' धीराः**=धीर, ज्ञानी पुरुष **कश्यपस्य**=मुक्तात्मा के और **स्वर्विदः**=इस सदा देदीप्यमान रूप में अवस्थित प्रभु के **ययोः**=इन दोनों के **विश्वम् अपि**=सभी **व्रतम्**=नियमों को तथा **यज्ञम्**=लोकहित के लिए किये जाते हुए कर्मों को **निचाय्य**=सम्यक्तया विवेचन करके **यौ**=इन दोनों को **आहुः**=कहते हैं कि **सयुजौ इति**=ये तो सयुज हैं—एक ही श्रेणी में स्थित हैं। प्रभु सर्वज्ञ हैं तो यह कश्यप भी **'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्'**=सूर्यनाड़ी में संयम करके सब भुवनों का ज्ञान प्राप्त करनेवाला बना है। प्रभु अन्तर्यामी हैं, यह भी दूसरों के हृदय की बातों को जान लेता है। प्रभु ईश हैं, यह भी सब भूतों का ईश्वर बना है—उनमें फँसता नहीं। जल के ऊपर भी आराम से चल सकता है। अणिमादि अष्टसिद्धियों को प्राप्त करके यह परमेश्वर-जैसा ही तो बन गया है। प्रभु के सयुज होने से इसे सायुज्य मुक्ति प्राप्त हो गयी है। हाँ, यह ठीक है कि यह **'जगद्व्यापारवर्जम्'**=नई दुनिया की सृष्टि नहीं कर सकता। इसका शेष सब ऐश्वर्य परमात्मा के बराबर है।

इस मुक्तात्मा का निजू जीवन व्रतमय होने से शुद्ध बना रहता है। इसका सामाजिक जीवन यज्ञमय लोकहित में प्रवृत्त होता है। परमात्मा तो पूर्ण व्रती, अतएव पूर्ण शुद्ध हैं और यज्ञरूप ही हैं। यह जीवन्मुक्त परमात्मा का ही एक छोटा रूप होता है। परिमाण का अन्तर होते हुए भी यह गुणों में प्रभु-जैसा ही होता है।

सुन्दर-ही-सुन्दर गुणोंवाला होने के कारण यह 'वामदेव' है। इसकी सब इन्द्रियाँ प्रशस्त हैं, अतः यह 'गोतम' है।

भावार्थ—हम स्वर्विद प्रभु के साथी कश्यप बनें।

ऋषिः—**प्रियमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

पञ्चायतन पूजा

३६२. अर्चत प्रार्चता नरः प्रियमेधासो अर्चत। अर्चन्तु पुत्रका उत पुरमिद्धृष्ण्वर्चत॥ ३॥

प्रस्तुत मन्त्र में मुक्तात्मा बनने के साधनों का उल्लेख है। 'अर्च पूजायाम्' धातु से बनी क्रिया का इस मन्त्र में पाँच बार प्रयोग उस पूजा का संकेत कर रहा है। **नरः**=हे आगे बढ़ने की वृत्तिवाले व्यक्तियो! **प्रियमेधासः**=जिन्हें बुद्धि प्रिय है ऐसे व्यक्तियो! **अर्चत**=पूजा करो। पूजा का क्रम निम्न है—

१. **अर्चत**=पूजा करो, आदर करो। माता को देवता समझो, क्योंकि चरित्र का निर्माण मातृकृपा से ही होता है।

२. **प्रार्चत**=खूब आदर करो। पिताजी जिस प्रकार निर्देश करें उसी प्रकार सभा-समाजों में अपने उठने-बैठने का ध्यान करो। इन निर्देशों की अवहेलना से हम अपने जीवनों में शिष्ट न बन पाएँगे, हम कुछ अशिष्ट (ill-mannered)-से, अभद्र-से बने रहेंगे।

३. इसके पश्चात् हम **अर्चत**=आचार्यों का आदर करें। हम उनको उचित आदर देकर उनके प्रिय बनते हैं और ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

४. **उत**=अब गृहस्थ में आने पर विद्वान् अतिथियों के **पुत्रकाः**=पुत्र-तुल्य ये गृहस्थी **अर्चन्तु**=उन व्रती विद्वानों का आदर करें। उनका आदर करने से घर स्वर्गतुल्य बना रहता है, परस्पर वैमनस्य उत्पन्न नहीं होता और जीवन में माधुर्य विद्यमान रहता है। इस अर्चन से कुलधर्म नष्ट नहीं होते।

५. इन सब पूजाओं के अतिरिक्त **इत्**=निश्चय से **पुरम्**=उस पूरण करनेवाले सब प्रकार की न्यूनताओं को दूर करनेवाले **धृष्णु**=काम, क्रोध, लोभ आदि की सब वासनाओं का धर्षण करनेवाले प्रभु की **अर्चत**=उपासना करो। इस प्रभु की उपासना के अभाव में ही हम भद्र होते हुए भी अभद्र-से रह जाते हैं—हम काम से ऊपर नहीं उठ पाते।

'प्रियमेध आङ्गिरस' तो वही बन सकता है जो पाँच वर्ष तक माता, आठ वर्ष तक पिता, पच्चीस वर्ष तक आचार्य, पचास वर्ष तक अतिथियों व अग्रिम जीवन में प्रभु के निर्देशों के अनुसार जीवन बिताने का ध्यान करे।

मातृ-अर्चन से चरित्र, पितृ-अर्चन से शिष्टाचार, आचार्यार्चन से बुद्धि और ज्ञान, अतिथि-अर्चन से कुलधर्म का और अविनाशी प्रभु-अर्चन से पालन, पूरण तथा वासना-धर्षण सिद्ध होता है।

भावार्थ—पञ्चायतन पूजा हमारे जीवन को सर्वाङ्ग सम्पूर्ण बनानेवाली हो।

ऋषिः—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सख्य-भाव (पाँचवें आयतन की पूजा)

३६३. उक्थमिन्द्राय शंस्यं वर्धनं पुरुनिष्षिधे।
शक्रो यथा सुतेषु नो रारणत् सख्येषु च॥ ४॥

इन्द्राय=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **उक्थ्यम्**=स्तोत्र या स्तुतिवचन **शंस्यम्**=उच्चारण करना चाहिए, क्योंकि यह उक्थ सब प्रकार से **वर्धनम्**=हमारी वृद्धि करनेवाला है। प्रभु के ये स्तोत्र हमें विषय-वासनाओं से बचाकर हमारी शारीरिक शक्ति को ठीक रखते हैं, परस्पर बन्धुत्व का अनुभव कराने से हमारे मनों को राग-द्वेष-शून्य करते हैं और साथ ही विषय-वासनाओं व राग-द्वेष के अभाव में हमारा मस्तिष्क ठीक कार्य करता है। इस प्रकार ये प्रभु के स्तोत्र सब प्रकार से हमारा वर्धन करते हैं।

हमें उस प्रभु की स्तुति करनी चाहिए जो **पुरुनिःषिधे**=पुरु=पालक और पूरक हैं तथा हमपर आक्रमण करनेवाली सभी आसुर वृत्तियों का संहार करनेवाले हैं। **शक्रः**=(शक्नोति) करने का सब सामर्थ्य तो प्रभु में ही है। हमें चाहिए कि हम सदा स्तोत्रों के द्वारा उस प्रभु के सम्पर्क में रहें, जिससे उस प्रभु का सामर्थ्य, नैर्मल्य व ज्ञान हममें भी प्रवाहित हो। जीव प्रभु की समीपता से ही शक्ति-सम्पन्न, निर्मल व ज्ञानी बनेगा।

हमें चाहिए कि हम अपने जीवनों को ऐसा बनाएँ कि **यथा**=जिससे प्रभु **नः**=हमारे **सुतेषु**=शक्ति-उत्पादन के कार्यों में तथा लोकहित के लिए किये जानेवाले किसी भी निर्माणात्मक कार्य में **च**=और **सख्येषु**=अपने साथ मित्रत्व के स्थापन में **रारणत्**=अत्यन्त प्रसन्न हों (रण्=to rejoice)। **'यः प्रीणयेत् सुचरितैः पितरं स पुत्रः'**=जो सुचरितों से पिता को प्रसन्न करे वही तो पुत्र है। हम भी अपने को शक्ति-सम्पन्न बनाते हुए, निर्माणात्मक कार्यों में लगाते हुए तथा उस प्रभु को ही अनन्य मित्र समझते हुए उन्हें प्रसन्न करनेवाले बनें। 'प्रभु की मित्रता' से ऊँची मनुष्य की स्थिति नहीं हो सकती। इस स्थिति में हमारे मनों में किसी प्रकार की अशुभ इच्छाओं का आना सम्भव नहीं। तब तो हम 'मधुच्छन्दा'=मधुर इच्छाओंवाले होंगे। 'वैश्वामित्रः=सभी का हित चाहनेवाले होंगे।

भावार्थ—मैं प्रभु के प्रति अपने सख्यभाव को दृढ़ करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**प्रियमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रभु किसे वरते हैं

३६४. विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः। एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम्॥ ५॥

मैं प्रभु का सखा बनूँ। प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनूँ, परन्तु यह भी तो प्रभुकृपा से ही होता है। **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'**=प्रभु हमें वरेंगे तो हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनेंगे। 'प्रभु किसे वरते हैं?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में है—

प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुममें से **हुवे**=मैं उसे पुकारता हूँ जो—

१. **शवसः**=शक्ति का **पतिम्**=पति हो। कैसी शक्ति का? (क) **विश्वानरस्य**=सबको आगे ले-चलनेवाली शक्ति का। जिसकी शक्ति का विनियोग सबकी उन्नति के लिए होता है,

(ख) **अनानतस्य**=जो दबना नहीं जानती। दबाव में आकर किया गया कर्म कभी ठीक नहीं होता। भद्र कर्म का पहला लक्षण यही है कि 'अब्दधासः'=जो दबकर नहीं किये गये। न हम स्तुति-निन्दा से दबें, न धन व निर्धनता से और न ही जीवन-मरण से। प्रभु का प्रिय वही बनता है जो 'सबकी उन्नति की साधक तथा न दबनेवाली शक्ति का पति बनता है।'

२. प्रभु **चर्षणीनाम्**=(चर्षणि=कर्षणि) कृषि करनेवालों की, अर्थात् उत्पादक श्रम करनेवालों की **एवैः**=गतियों से, क्रियाओं से हमें अपने समीप पुकारते हैं। प्रभु के प्रिय हम तब बनते हैं जब हम सदा गतिशील होते हैं और हमारी सारी गति निर्माण में व्यय होती है।

३. प्रभु के प्रिय बनने का तीसरा साधन **रथानाम् ऊती**=शरीररूप रथों के रक्षण से प्रभु हमें अपने समीप पुकारते हैं। इस शरीररूपी रथ के रक्षण के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात हमारी सब क्रियाएँ-'खाना-पीना, सोना-जागना' इत्यादि नपी-तुली हों तथा साथ ही सर्वोच्च तप 'मनःप्रसाद' का ध्यान करें। हम सदा सब स्थितियों में सन्तुष्ट रहें। प्रभु की दी हुई यह चादर बिना फाड़े व मैला किये लौटाएँगे तभी तो हम प्रभु के प्रिय हो सकेंगे।

उल्लिखित तीन बातें हमें प्रभु का प्रिय बनाएँगी। शक्ति, गति व स्वास्थ्य को स्थिर रखनेवाला यह व्यक्ति 'आङ्गिरस' तो है ही, परन्तु यह ऐसा तभी बन पाया है, क्योंकि 'प्रियमेध' है।

भावार्थ—शक्ति, गति व स्वास्थ्य का ध्यान करते हुए हम प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रभु का कौन? जो द्वेष से दूर है

३६५. स घा यस्ते दिवो नरो धिया मर्तस्य शमतः।
ऊती स बृहतो दिवो द्विषो अंहो न तरति॥ ६॥

सः=वह **नरः**=मनुष्य **यः**=जो **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं से (द्वेषणं द्विट्) **अंहो न**=पापों की भाँति, अर्थात् बड़ा पाप समझता हुआ **तरति**=तैर जाता है, **घ**=निश्चय से **दिवः ते**=ज्ञानस्वरूप आपका है। 'हम प्रभु से अपने समीप पुकारे जाएँ', यह तभी होगा जब हम द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठेंगे। यह द्वेष की भावना से ऊपर उठनेवाला व्यक्ति ही **नरः**=नर है, अपने को आगे प्राप्त करानेवाला है। द्वेष त्यागे बिना आगे बढ़ना सम्भव नहीं है। यह नर **धिया**=बुद्धि से—समझदारी से हमेशा द्वेषों से दूर रहने का प्रयत्न करता है। यह समझदारी से चलनेवाला मनुष्य इसलिए द्वेषों से ऊपर उठता है, क्योंकि—

१. **मर्तस्य शमतः**=इस मर्त को—मरणधर्मा मनुष्य को भी कुछ शान्ति प्राप्त हो सके। शम-तः=शम के दृष्टिकोण से। द्वेष से दूर नहीं होगा तो उन भावनाओं में सदा झुलसता रहेगा। द्वेष से ऊपर उठा और शान्ति का अनुभव हुआ।

२. **ऊती**=यह समझदारी से चलनेवाला मनुष्य इसलिए भी द्वेष से ऊपर उठता है कि इससे ऊपर उठकर ही वह अपने शरीर की रक्षा कर पाएगा। जैसे इञ्जन बहुत गर्म होकर फट पड़ता है, उसी प्रकार द्वेषाग्नि में मनुष्य का शरीररूप रथ भी जल जाता है। 'उस समय मनुष्य का रक्तचाप बढ़ जाना, स्नायु-संस्थान का विकृत हो जाना' आदि कितने ही रोगों से पीड़ित हो जाता है।

३. **सः**=वह **बृहतः**=वृद्धि के कारणभूत **दिवः**=प्रकाश के दृष्टिकोण से द्वेषों से ऊपर उठता है। द्वेष की भावनाएँ मनुष्य के मस्तिष्क को चकराये रखती हैं। यह द्वेष में डूबा हुआ मनुष्य कभी स्वस्थ विचारवाला नहीं होता।

भावार्थ—द्वेष से ऊपर उठने से हम (क) परमेश्वर के प्रिय बनेंगे, (ख) हमारे मन शान्त होंगे (ग) हमारे शरीर स्वस्थ होंगे और (घ) हमारा मस्तिष्क सदा सुलझा हुआ होगा।

ऋषिः—**भौमोऽत्रिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

विश्व की नागरिकता (World Citizenship)

३६६. विभोष्ट इन्द्र राधसो विभ्वी रातिः शतक्रतो।
अथा नो विश्वचर्षणे द्युम्नं सुदत्र मंहय॥ ७॥

गत मन्त्र की भावना के अनुसार जो व्यक्ति द्वेष से ऊपर उठ जाता है उसका दृष्टिकोण व्यापक होता जाता है। वह समाज, नगर, प्रान्त व देश की भावनाओं से ऊपर उठकर 'भौमः'=सारी भूमि का, सारे विश्व का चर्षणि=मनुष्य (विश्वचर्षणि) बनने का प्रयत्न करता है। मन्त्र में इसी उद्देश्य से प्रार्थना है—हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **विभोः ते**= सर्वव्यापक आपकी **राधसः**=सम्यक् सिद्धि के—उत्तम कार्यों की सिद्धि के साधनभूत धन के **रातिः**=दान भी **विभ्वी**=व्यापक हैं। उस दान के द्वारा आप ही हे प्रभो! **शतक्रतो**=सैकड़ों यज्ञिय कर्मों के करनेवाले हैं। वस्तुतः धन का प्रथम पति प्रभु ही है (इन्द्र)। धन हमारा है ही नहीं। उस प्रभु के धन को प्राणियों को देते हुए संकोच ही क्यों हो? यह धन उत्तम कार्यों की सिद्धि के लिए ही दिया गया है (राध=संसिद्धि)। उसका विनियोग हमें सदा उत्तम कार्यों में करते रहना चाहिए, परन्तु उन कार्यों का कभी गर्व नहीं करना, क्योंकि वस्तुतः शतशः कार्यों को करनेवाले तो प्रभु ही हैं, मैं तो उनका निमित्तमात्र हूँ (**शतक्रतो**) हमारा दान देश-जाति के बन्धनों से ऊपर उठकर हो तो अच्छा है (विभ्वी रातिः)।

अथ=और **विश्वचर्षणे**=हे विश्व के नागरिक प्रभो! आप किसी देशविशेष व जाति-विशेष के हों, ऐसी बात तो है ही नहीं, मैं भी आपकी स्तुति करता हुआ ऐसा ही बनूँ। **सुदत्र**=हे उत्तम (सु) दान (द) से रक्षा (त्र) करनेवाले प्रभो! आपका दान कितना सात्त्विक है। उस दान में स्वार्थसाधना का लवलेश भी नहीं। हे प्रभो! **नः**=हमें भी **द्युम्नम्**=उस धन को जिसने हमें पागल नहीं बना दिया है, जिसके कारण हमारे मस्तिष्कों की द्युति नष्ट नहीं हो गयी है, **मंहय**=देने की प्रेरणा दीजिए। हम भी आपसे प्रेरणा प्राप्त करके दान देनेवाले बनें।

राष्ट्र में राजा का भी कर्त्तव्य है कि वह अपने राष्ट्र के लोगों को दान देने के लिए प्रेरित करे (दापयेत्)। यहाँ प्रभु से हम यही प्रार्थना करते हैं कि प्रभु हमसे दान दिलाते ही रहें। यह देना (दा=देना) मेरी बुराइयों को नष्ट करेगा (दा=काटना) और मेरे जीवन को शुद्ध बनाएगा (दा=शोधन)। शुद्ध होकर मैं सभी कष्टों से ऊपर उठकर इस मन्त्र का ऋषि 'अत्रि' बनूँगा। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** का पाठ पढ़कर मैं 'भौम' बन जाऊँगा।

भावार्थ—द्वेष से ऊपर उठकर मैं व्यापक दान की वृत्ति को अपनानेवाला बनूँ।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

नियमित जीवन

३६७. वयश्चित्ते पतत्रिणो द्विपाच्चतुष्पादर्जुनि। उषः प्रारन्नृतूँरनु दिवो अन्तेभ्यस्परि॥ ८॥

हम द्वेष से ऊपर उठकर शुभवृत्तिवाले बनें। इस शुभवृत्ति के लिए स्वस्थ शरीर की नितान्त आवश्यकता है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है। इस शरीर के स्वास्थ्य की सबसे अधिक आवश्यक बात नियमित जीवन की है, उसी का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में है। हे **उषः**=उषः काल (उष दाहे)। सब अन्धकार को जला देनेवाले प्रभात समय! तू **अर्जुनि**=श्वेत है, धवल है। प्रकाश से तू जगमगाती है। **वयः**=(way) अपने नियमित मार्ग पर चलनेवाले **पतत्रिणः**=सदा गतिशील (पद गतौ) ये **द्विपात् चतुष्पात्**=पशु-पक्षी **चित्**=भी **ते**=तेरा प्रादुर्भाव होने पर **प्रारन्**=प्रकर्षेण गतिमय हो जाते हैं। अपने-अपने घोंसले व गोष्ठों को छोड़कर आजीविका-अर्जन के लिए चल देते हैं। ये सदा एक नियमित गति से चलते हैं, प्रकाश में अपना कार्य करते हैं, अन्धकार होने पर सो जाते हैं। इनके सब प्राकृतिक कार्य बड़े नियमित होते हैं। इसी का परिणाम है कि ये स्वस्थ-शरीर रहते हैं। हमें भी इनसे शिक्षा लेते हुए अपने प्राकृतिक कार्यों को बड़ी नियमित गति से करना है, **ऋतून् अनु**=ऋतुओं के अनुसार। ऋतुभेद से हमारे उठने व सोने के समय में, भोजन-पदार्थों में, स्नान आदि की प्रक्रिया में कुछ भेद अवश्य होगा, परन्तु उस भेद में भी नियमित गति तो दीखेगी ही। **दिवः अन्तेभ्यः परि**=हम द्युलोक के परले सिरे पर हों तो भी हमारी दैनिकचर्या का क्रम तो ठीक चलना ही चाहिए। कहीं भी हों, हम समय पर कार्य करने के प्रसङ्ग को पूरा करें ही। यह नियमित गति हमें स्वस्थ बनाकर स्वस्थ मनवाला भी बनाएगी। बुद्धिमत्ता इसी मार्ग को अपनाने में है। जो अपनाते हैं वे 'प्रस्कण्व' मेधावी हैं। इस मार्ग पर चलना भी तो मेधा को बढ़ाने का साधन है।

भावार्थ—मैं अपने शरीर-धर्मों में ऋतुओं के अनुसार नियम से चलनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**आप्त्यस्त्रितः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

ऋत, अमृत, आहुति

३६८. अमी ये देवा स्थन मध्य आ रोचने दिवः।
कद्व ऋतं कदमृतं का प्रत्ना व आहुतिः॥ ९॥

गत मन्त्र में नियमित जीवन=ऋत का उल्लेख हुआ था। इस मन्त्र में ऋत के साथ दो अगली सीढ़ियों का भी उल्लेख करते हैं, जिनसे हम द्युलोक का आरोहण करके देव बन जाएँगे। असुर्यलोकों से ऊपर उठकर हम मनुष्य बने हैं। अब इस पृथिवीलोक से भी ऊपर उठकर हमें अन्तरिक्षलोकवासी देवयोनियों में पहुँचना है और वहाँ से ऊपर उठकर द्युलोक के देव बनना है। उन द्युलोक के देवों को सम्बोधन करते हुए इस मन्त्र का ऋषि त्रित, जिसने असुर्य, मानव, देवयोनि—इन तीनों लोकों को तैर जाना है और तैरकर जो देवलोक को प्राप्त करनेवालों में श्रेष्ठ 'आप्त्य' बनेगा, यह आप्त्य देवों से कहता है कि **अमी ये देवाः**= वे जो देव **दिवः**=द्युलोक के **आरोचने मध्ये**=समन्तात् दीप्त मध्यभाग में **स्थन**=हैं **वः**=तुम्हें

कत्=शिरःस्थान में अथवा सुखमय स्थिति में पहुँचानेवाला **ऋतम्**=ऋत ही तो है, **कत्**=उसी प्रकार तुम्हारी उच्च स्थिति करनेवाला अथवा सुखी बनानेवाला **अमृतम्**=अमृत ही तो है। और अन्त में **वः**=आपकी **प्रत्ना**=प्राचीन होते हुए भी नवीन, अर्थात् निरन्तर चलनेवाली **आहुतिः**=प्राजापत्ययज्ञ में सर्ववेदस् की आहुति **का**=आपको शिखर पर पहुँचाकर स्वर्ग प्राप्त करानेवाली हुई है।

१. 'ऋत' का अभिप्राय नियमित जीवन है, यह युक्ताहार-विहारवाला नियमित जीवन हमें पृथिवीलोक के विजय के योग्य बनाता है। ऋत का पालन करके जहाँ हम इस पृथिवी-लोक पर उन्नत होते हैं, वहाँ सुखी जीवनवाले भी होते हैं।

२. अमृतम् का अभिप्राय है—'यज्ञशेष' (यज्ञशेषं तथामृतम्)। पञ्चयज्ञ करके बचे हुए का सेवन करनेवाले अन्तरिक्षलोक का विजय करते हैं। हमारा जन्म किसी अन्तरिक्ष के पिण्ड में होता है। 'अपञ्चयज्ञो मलिम्लुचः'=पञ्चयज्ञ न करके हम चोर होते हैं—अन्तरिक्षलोक में पहुँचने का तो प्रश्न ही क्या?

३. अन्त में प्राजापत्य यज्ञ में सम्पूर्ण धन की आहुति देकर हम 'देवलोक' में पहुँचने के अधिकारी बनते हैं। सूर्यमण्डल का भेदन करनेवाला यही संन्यासी होता है।

उल्लिखित प्रकार से 'ऋत, अमृत, आहुति' एक सीढ़ी बन जाती है जो हमें ऊपर और ऊपर जाने में समर्थ करती है।

भावार्थ—मेरा जीवन 'ऋत का पालन करे, अमृत का सेवन करे और आहुति देनेवाला हो।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

विद्या+श्रद्धा

३६९. ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कृण्वते।
वि ते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु वक्षतः॥ १०॥

हम अपने जीवनों में **ऋचम्**=विज्ञान को और **साम**=भक्ति व उपासना को **यजामहे**=सङ्गत कर देते हैं। मैं मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण करने का प्रयत्न करता हूँ तो हृदय को भक्ति की भावना से भरने के लिए यत्नशील होता हूँ। अथर्ववेद के **'मूर्धानमस्य संसीव्य अथर्वा हृदयं च यत्'** इस उपदेश के अनुसार मस्तिष्क व हृदय को सी देने का प्रयत्न करता हूँ। जैसे सामवेद ऋग्वेद में समा-सा गया है उसी प्रकार मैं अपने ज्ञान में श्रद्धा का समावेश करता हूँ। ज्ञान शक्ति है, जिसे भक्ति क्रिया में परिणत कर देती है। इस प्रकार **याभ्याम्**=जिस ज्ञान और भक्ति से **कर्माणि**=कर्मों को **कृण्वते**=करते हैं, उन ज्ञान और भक्ति को मैं अपने जीवन में सङ्गत कर देता हूँ।

ते=ये दोनों मिले हुए ही **सदसि**=सभा में अथवा जीव के निवासस्थानभूत इस शरीर में **विराजतः**=विशेष दीप्ति-(शोभा)-वाले होते हैं। अकेला ज्ञानी शोभावाला नहीं लगता। वह ब्रह्मराक्षस-सा प्रतीत होता है और अकेला भक्त तो कभी शोभा पाता ही नहीं।

ये ज्ञान और श्रद्धा मिलकर **देवेषु**=विद्वानों में **यज्ञम्**=उत्तम कर्मों को **वक्षतः**=कराते हैं। **'यदेव श्रद्धया विद्यया क्रियते तदेव वीर्यवत्तरं भवति'**=उपनिषद् के इन वचनों के अनुसार श्रद्धा और ज्ञान के समन्वय से ही इनमें उत्तम दिव्य गुणों की उत्पत्ति होती है और

ये 'वामदेव' बनते हैं—प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बनकर 'गोतम' बनते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवनों में श्रद्धा और विद्या का समन्वय हो।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—रेभः काश्यपः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

दृढ़ तीव्रगतिवाली नौका (The Strong Swift Ship)

३७०. विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरः सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे।
क्रत्वे वरे स्थेमन्यामुरीमुतोग्रमोजिष्ठं तरसं तरस्विनम्॥ १॥

पिछले मन्त्र में 'विद्या+श्रद्धा' का उल्लेख था। इस मन्त्र का ऋषि उन दोनों तत्त्वों का मेल करनेवाला रेभ (श्रद्धा)=स्तोता और काश्यप (विद्या)=ज्ञानी है। यह कहता है कि **नरः**= अपने को आगे ले-चलनेवाले मनुष्यो! **विश्वाः पृतनाः**=सब संग्रामों में शत्रुओं को **अभिभूतरम्**=अत्यधिक कुचल डालनेवाले **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **सजूः**=आपस में मिलकर प्रीतिपूर्वक **ततक्षुः**=बनाओ। सृष्टि के तत्त्वों का विचार करते हुए उस प्रभु का कुछ विचार अपने अन्दर उत्पन्न करो। **च**=और उसकी सत्ता का विचार बनाकर उस विचार को **जजनुः**=प्रादुर्भूत करो—विकसित करो, जिससे **राजसे**=तुम्हें दीप्ति प्राप्त हो। जिस समय प्रभु की सत्ता व महिमा का विचार हमारे हृदयों में पुष्पित होता है उस समय इस दीप्ति का अनुभव होता है—इस दीप्ति से इस स्तोता का चेहरा भी दीप्त हो उठता है। **उत**=और, इस प्रभु के विचार को विकसित करके **वरे क्रत्वे**=उत्तम कर्म व संकल्पों में **स्थेमनि**=स्थिरता के लिए **ईम्**=निश्चय से **आमुः**=उस प्रभु की ओर चलते हैं (अम गतौ)। जो मनुष्य प्रभु की ओर चल पड़ता है उसका जीवन कभी भी अशुभकर्म-धारा में प्रवाहित नहीं होता।

वे प्रभु तो हमारे लिए **तरसम्**=एक बेड़े के रूप में हैं (तरस्=Raft) जो बेड़ा **तरस्विनम्**= शक्तिशाली—दृढ़ भी है और तीव्र गतिवाला भी है (Strong and Swift)। यज्ञरूप बेड़े भी उत्तम हैं, परन्तु वे अदृढ़ हैं। यह प्रभुरूप नाव दृढ़ है। **उग्रम्**=यह हमें निरन्तर आगे और आगे ले-चलती है और **ओजिष्ठम्**=हमारी वृद्धि व उन्नति का हेतु है। (ओज्=to increase)। इस नाव का आश्रय करके हम कल्याणपूर्वक परले पार पहुँच जाएँगे।

भावार्थ—हम अपने हृदय में सर्वशक्तिमान् प्रभु का विचार उत्पन्न करें, उसे विकसित करें और प्रभु की ओर चलनेवाले बनें।

ऋषिः—सुवेदाः शैलूषिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

प्रभु का प्रिय कैसे बनूँ?

३७१. श्रत्ते दधामि प्रथमाय मन्यवेऽहन् यद् दस्युं नर्यं विवेरपः।
उभे यत्त्वा रोदसी धावतामनु भ्यसात्ते शुष्मात् पृथिवी चिदद्रिवः॥ २॥

गत मन्त्र में 'रेभ काश्यप' ने प्रभु को अपनी जीवन-यात्रा का जहाज बनाने का निश्चय किया था। यहाँ वही काश्यप 'सुवेदा' नाम से कहा गया है—उत्तम ज्ञानी। यह अपने को

'शैलूषि'=ऐसा नर समझता है जो इस संसार-नाटक के सूत्रधार प्रभु के निर्देशानुसार अपना नृत्य करता चलता है। १. प्रभु इससे कहते हैं कि **ते**=तेरे **प्रथमाय मन्यवे**=इस सर्वोत्कृष्ट संकल्प के लिए **श्रत् दधामि**=तुझे आदरणीय समझता हूँ—श्रद्धा के योग्य मानता हूँ। 'प्रभु जो नाच नचाएँगे वही नाचूँगा' यही सर्वोत्तम संकल्प है। प्रभु की नाव में ही बैठूँगा—यही निश्चय प्रशस्य है।

प्रभु कहते हैं कि मैं इसलिए भी तुझे अच्छा समझता हूँ कि २. **यत्**=जो तूने **दस्युम्**=काम-क्रोध-लोभ आदि दस्युओं को **अहन्**=नष्ट कर दिया और फिर ३. **नर्या अपः**=नर हितसाधक कर्मों को तूने **विवेः**=विशेषरूप से सन्तत=विस्तृत किया। तूने औरों के भले के लिए अपने सुख, समय व सम्पत्ति का त्याग किया और अपने जीवन को एक यज्ञ का रूप दे दिया। इसी का यह परिणाम था **यत् उभे रोदसी**=कि दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक **त्वा अनुधावताम्**=तेरे पीछे दौड़ कर आये। जिस किसी को भी कोई कष्ट हुआ वह तेरे समीप पहुँचा, सारा संसार तेरी ही ओर दौड़ा।

प्रभु कहते हैं कि मुझे तू इसलिए भी अच्छा लगा कि ४. हे **अद्रिवः**=वज्रतुल्य शरीरवाले नर! **ते**=तेरे **शुष्मात्**=बल से **पृथिवीचित्**=सारी पृथिवी भी **भ्यसात्**=काँप उठी। तुझे अपनी रक्षा के लिए रक्षकों की आवश्यकता नहीं हुई। तू इस लोकहित के कार्य में निर्भीक होकर जुटा रह सका। शरीर के नाजुक होने की दशा में जहाँ तू इतना अधिक कार्य न कर सकता, वहाँ तुझे कितने ही कार्यों को करने में भय भी लगता, इसलिए यह भी तूने ठीक ही किया कि अपने शरीर को वज्रतुल्य बनाया।

भावार्थ—'मैं प्रभु का आदर-पात्र बनूँ, अतः १. प्रभु को आधार बनाने का संकल्प करूँ, २. काम-क्रोधादि को कुचल डालूँ, ३. नरहित के कार्यों का विस्तार करूँ और ४. शरीर को वज्रतुल्य बनाऊँ।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सब मार्ग उसी की ओर जा रहे हैं

३७२. समेत विश्वा ओजसा पतिं दिवो य एक इद् भूरतिथिर्जनानाम्।
स पूर्व्यो नूतनमाजिगीषं तं वर्त्तनीरनु वावृत एक इत्॥ ३॥

वामदेव ऋषि गतमन्त्र की अन्तिम पंक्ति का ध्यान करते हुए सबसे कहता है कि **विश्वाः**=तुम सब **ओजसा**=ओज—शक्ति के द्वारा **दिवः पतिम्**=उस द्युलोक के पति—द्युपितर (Jupiter) अथवा प्रकाशमय लोक के पति प्रभु को **समेत**=सम्यक्तया प्राप्त होओ। वह प्रभु बलहीनों से प्राप्य नहीं हैं। भोगासक्ति से ऊपर उठे हुए शक्तिशाली से ही प्रभु प्राप्य हैं। वे प्रभु **यः**=जो **एकः इत्**=एकमात्र ही निश्चय से **जनानाम्**=लोगों के **अतिथिः भूः**=सतत जाने योग्य हैं (अत् सातत्यगमने) **'सा काष्ठा सा परागतिः**—वह प्रभु ही सबका अन्तिम लक्ष्यस्थान हैं। मनुष्य और कहीं पहुँचकर शान्तिलाभ नहीं कर पाता। प्रभु को पाकर ही शान्ति पाता है। प्रभु को पाना इसलिए आवश्यक है कि **सः**=वह **पूर्व्यः**=पूरण करनेवालों में सर्वश्रेष्ठ है। प्रभु-सम्पर्क से जो पूर्ति आती है वह विलक्षण है। उसके आते ही वह 'वीतशोक' हो जाता है, शोक-मोह से ऊपर उठकर शान्ति का अनुभव करता है।

वामदेव कहता है कि हे मनुष्य! तू निश्चय कर कि **नूतनम्**=स्तुति के विस्तार के योग्य उस प्रभु को **आ**=सर्वथा **जिगीषम्**=मैं जीतूँगा, अवश्य प्राप्त करूँगा। **तम् अनु**=उस प्रभु की ओर ही तो **वर्त्तनीः**=सब मार्ग **वावृते**=जा रहे हैं। मैं मार्गों में क्यों उलझूँ? देर-सवेर में सभी को वहाँ पहुँचना है। उस प्रभु की सत्ता में विश्वास करके मैं चल दूँ। वहाँ पहुँचकर प्रभु के दर्शन तो करूँगा ही। वे **एकः इत्**=एक ही हैं। प्रभु के अनेक रूपों की कल्पना छोड़कर 'अस्ति इति'='प्रभु हैं' यह मानकर हम चल दें और उस प्रभु का साक्षात्कार करें। शास्त्रार्थ करते हुए बैठे ही न रह जाएँ और परस्पर लड़ते ही न रहें। उसकी ओर चलेंगे तो अधिकाधिक दिव्यता को पाकर 'वामदेव' बनेंगे। हमारी इन्द्रियाँ प्रशस्त होंगी और हम 'गोतम' होंगे।

भावार्थ—मैं प्रभु को जीतने=पाने का प्रयत्न करूँ।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

हम तेरे ही तो हैं

३७३. इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो।
न हि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत्क्षोणीरिव प्रति तद्धर्य नो वचः॥ ४॥

इमे=ये हम **ते**=तेरे हैं **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **ते**=तेरे हैं **वयम्**=हम सब। **पुरुष्टुत**=बहुतों से स्तुति करने योग्य अथवा पालक व पूरक स्तवनवाले प्रभो! हे **प्रभूवसो**=पालक व पूरक धन के प्रभो! हम सब तो वे हैं **ये**=जो **त्वा आरभ्य**=तेरा आश्रय करके **चरामसि**=संसार में विचरण करते हैं। मनुष्य को प्रभु का ही आश्रय करके विचरण करना। प्रभु परमैश्वर्यशाली हैं अन्य न्यून ऐश्वर्यवालों की आराधना में क्यों उलझना? वे प्रभु सदा पुकार को सुननेवाले हैं उनकी पुकार हमारी पूरक है औरों के आगे तो बहुधा पुकार व्यर्थ भी जाती है, हाथ हिलाने पर वे प्रभु तो अवश्य निवास के लिए पर्याप्त धन देते हैं, अतः बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम प्रभु को आधार बनाकर चलें।

हे **गिर्वणः**=सब वेदवाणियों से सेवनीय अथवा सब वेदवाणियों का सेवन व संविभाग करनेवाले प्रभो! **त्वदन्यः**=आपसे भिन्न कोई भी **गिरः**=वेदवाणियों को **नः**=नहीं **सघत्**=व्याप्त करता है। सब वेदज्ञान को देनेवाले तो आप ही हैं। आपके आश्रय से जहाँ धन प्राप्त होगा, वहाँ ज्ञान भी प्राप्त होगा। ज्ञान से मैं उस धन का ठीक ही विनियोग करूँगा, उसमें आसक्त नहीं होऊँगा।

हे प्रभो! **क्षोणीः इव**=जैसे यह पृथिवी माता हमारी पुकार को सुनती है और हमारी कामनाओं को पूरा करती है, उसी प्रकार आप **नः**=हमारे **प्रति**=प्रत्येक के—सबके लिए **तत् वचः**=उस प्रार्थना-वचन को **हर्य**=प्राप्त कराएँ, अर्थात् हम सबकी प्रार्थना के अनुकूल सर्व हितकारी वस्तु हमें प्राप्त कराएँ। मेरे अकेले की प्रार्थना मानी जाए, ऐसा मैं नहीं चाहता, हम सबकी प्रार्थना का ध्यान करके आप हमारी प्रार्थना को पूर्ण कीजिए।

जिस व्यक्ति का जीवन इस आदर्श को लेकर चलता है कि प्रार्थना भी केवल मेरी नहीं अपितु सभी की स्वीकृति हो उस व्यक्ति का जीवन तो सचमुच यज्ञमय है। वह 'सव्य'=सव अर्थात् यज्ञ करनेवाला है और इस योगमय जीवन से रसवाला होने के कारण 'आङ्गिरस' तो है ही।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे जीवनों का आधार हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रो गाथिनः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

छोड़ें और पाएँ

३७४. चर्षणीधृतं मघवानमुक्थ्या३मिन्द्रं गिरो बृहतीरभ्यनूषत।
वावृधानं पुरुहूतं सुवृक्तिभिरमर्त्यं जरमाणं दिवेदिवे॥ ५॥

बृहतीः=हमारा वर्धन करनेवाली **गिरः**=वेदवाणियाँ **अभ्यनूषत**=उसी प्रभु का लक्ष्य करके स्तवन करती हैं, अर्थात् सभी वेदवाणियाँ अन्ततोगत्वा उस प्रभु का ही प्रतिपादन कर रही हैं। किस प्रभु का? १. **चर्षणीधृतम्**=जो सब मनुष्यों का धारण करनेवाले हैं। चर्षणी शब्द, उस मनुष्य का द्योतक है जो उत्पादक कार्य में लगा हुआ है, परमेश्वर उसका धारण करते ही हैं। २. **मघवानम्**=जो प्रभु पाप के लेश से भी शून्य ऐश्वर्यवाले हैं, ४. **इन्द्रम्**=शक्ति के सब कार्यों को करनेवाले हैं, असुरों का संहार करनेवाले हैं, ५. **वावृधानम्**=अपने स्वरूप में सर्वोत्कृष्ट वृद्धि को प्राप्त और ६. **पुरुहूतम्**=जिनकी पुकार पालक व पूरक है, ७. **अमर्त्यम्**=जो किसी भी वस्तु के पीछे मर नहीं रहे, अर्थात् जो अनासक्त हैं, ७. और अन्त में **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **सुवृक्तिभिः**=उत्तम वर्जनों के द्वारा—त्याग के द्वारा **जरमाणम्**=स्तुति किये जा रहे हैं।

स्तुति का अभिप्राय उन गुणों को अपने में धारण करना होता है, अतः हमें चाहिए कि हम उत्पादक श्रम में सहयोग दें, सुपथ से धनार्जन करें, स्तुतिवचनों को ही मुख से उच्चरित करें, आसुर वृत्तियों का संहार करें, छोटे न बनें, अपने दिलों को छोटा न करें, हमारे प्रति किसी की भी पुकार व्यर्थ न जाए और आसक्ति से ऊपर उठें।

उल्लिखित प्रकार से अपने जीवन को बिताते हुए हम इस तत्त्व को न भूलें कि हम उस-उस व्यसन को छोड़कर ही प्रभु का सच्चा स्तवन कर पाते हैं। इस प्रकार इन काम-क्रोधादि की भावनाओं को छोड़नेवाला ही सबके प्रति स्नेहवाला इस मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' बन पाता है और यही प्रभु का सच्चा गायक 'गाथिन' है।

भावार्थ—हम वासनाओं को छोड़कर प्रभु को पाने के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—**कृष्ण आङ्गिरसः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—**निषादः**॥

पत्नी जैसे पति के साथ

३७५. अच्छा व इन्द्रं मतयः स्वर्युवः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत।
परि ष्वजन्त जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये॥ ६॥

जिसने संसार की वासनाओं से अपने को ऊपर उठा लिया है (कृष्) बाहर निकाल लिया है, वह व्यक्ति कृष्ण है। न उलझने के कारण ही वह 'आङ्गिरस' है। यह कहता है कि **वः**=तुम सबकी **मतयः**=बुद्धियाँ, इच्छाएँ **इन्द्रं अच्छ**=उस प्रभु की ओर चलनेवाली हों, **स्वर्युवः**=उस स्वयं देदीप्यमान् ज्योति से अत्यन्त (यु+मेल) मेल करनेवाली हों। प्रभु की ओर जाने में ही कल्याण है। प्रकृति की ओर जाना अन्त में उलझन का कारण बनकर हानि-ही-हानि का कारण बनता है। प्रभु की ओर आने से ऐश्वर्य तो मिलता ही है, क्योंकि प्रभु

'इन्द्र'=परमैश्वर्यशाली हैं, साथ ही वहाँ 'स्वर्'=प्रकाश है, अन्धकार नहीं। परमेश्वर की ओर चलनेवाले को अपना कर्त्तव्यपथ बड़ा स्पष्ट दिखता है। इनकी मतियाँ **सध्रीचीः**=मिलकर चलने की उत्तम भावनावाली होती है (सह अञ्च्)। ये केवल अपनी उन्नति में ही सन्तुष्ट नहीं होते। **विश्वाः उशतीः**=सब प्रजाओं के हित को चाहती हुई इनकी मतियाँ वस्तुतः **अनूषत**=उस प्रभु का स्तवन करती हैं। प्रभु का उपासक औरों के साथ मिलकर चलता है और सभी के हित की भावना रखता है। यह किसी का अकल्याण नहीं चाहता।

ये लोग **परिष्वजन्त**=प्रभु का आलिङ्गन उसी प्रकार करते हैं **यथा**=जैसेकि **जनयः**=पत्नियाँ **पतिम्**=पति का आलिङ्गन करती हैं। पति-पत्नी प्रेम से आलिङ्गन कर एक हो जाते हैं, इसी प्रकार जीवरूप पत्नियाँ भी प्रभु का आलिङ्गन कर प्रभु के साथ एक हो जाती हैं। जीव बाहुल्य के कारण यहाँ 'जनयः' बहुवचनान्त है, प्रभु एक हैं तो 'पतिम्' एकवचन है। जैसे सती नारी स्वपति के अतिरिक्त किसी का चिन्तन नहीं करती, उसी प्रकार जीव प्रभु के साथ अनन्य प्रेमवाला हो।

दूसरी उपमा यह दी है कि हम अपनी **ऊतये**=रक्षा के लिए प्रभु की ओर उसी प्रकार जाएँ **न**=जैसे लोग **शुन्ध्युम्**=शुद्ध चरित्रवाले **मघवानम्**=ऐश्वर्य-सम्पन्न **मर्यम्**=व्यक्ति की ओर जाते हैं। प्रभु पूर्ण शुद्ध हैं—ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं, इसीलिए वे अधिक-से-अधिक हमारा हित कर पाते हैं। जो भी व्यक्ति इसी प्रकार शुद्ध व सम्पन्न होता है वही लोकहित करता है। हम अपनी रक्षा के लिए प्रभु की ओर इसी प्रकार जाते हैं, जैसे इन लोगों की ओर जाया जाता है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति मेरा अनन्य प्रेम हो। मैं सर्वभावेन उनका भजन करूँ।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

वे धन के समुद्र हैं

३७६. अभि त्यं मेषं पुरुहूतमृग्मियमिन्द्रं गीर्भिर्मदता वस्वो अर्णवम्।
यस्य द्यावो न विचरन्ति मानुषं भुजे मंहिष्ठमभि विप्रमर्चत॥ ७॥

अपने जीवन को यज्ञमय बनानेवाला 'सव्य आङ्गिरस' इस मन्त्र का ऋषि है। सवों में=यज्ञों में यह उत्तम है और विषयासक्त न होने से 'शक्तिशाली' है—आङ्गिरस है। यह कहता है कि **त्यम्**=उस प्रभु की **अभि**=ओर चलो जो—१. **मेषम्**=सींचनेवाले हैं, धनों की वर्षा करनेवाले हैं, २. **पुरुहूतम्**=जिनके प्रति पुकार पालन व पूरण करनेवाली है और इसीलिए जो ३. **ऋग्मियम्**=अर्चनीय व पूजनीय हैं, ४. **इन्द्रम्**=जो परमैश्वर्यशाली हैं, ५. **वस्वो अर्णवम्**=निवास के लिए उत्तम धनों के समुद्र हैं, ६. **यस्य**=जिनके **मानुषम्**=मानवहित के कार्य **द्यावः न**=सूर्य की किरणों के समान या आकाश के समान सर्वत्र **विचरन्ति**=विचरते हैं, अर्थात् विद्यमान हैं, ७. और जो प्रभु **भुजे**=पालन के लिए **मंहिष्ठम्**=दातृतम हैं। प्रभुभक्त कभी भूखे थोड़े ही मरते हैं? आवश्यक धन उन्हें प्राप्त हो ही जाता है। वे प्रभु तो ८. **विप्रम्**=विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं।

इस प्रभु को **गीर्भिः**=वेदवाणियों से **मदता**=आनन्दित करो। यदि मनुष्य वेद का अध्ययन करता है—ज्ञान प्राप्ति को अपने जीवन का मुख्य अङ्ग बनाता है तो वह सचमुच उस प्रभु को ज्ञानयज्ञ से आराधित करता है। जीवों को चाहिए कि **अभि अर्चत**=सब प्रकार से इस

प्रभु की अर्चना को वे अपने जीवन का लक्ष्य बनाएँ।

भावार्थ—मैं प्रभु का भक्त बनूँ, वे धन के समुद्र हैं, अतः मुझे धन की क्या चिन्ता?

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

उत्तम व्रतों के द्वारा

३७७. त्यं सु मेषं महया स्वर्विदं शतं यस्य सुभुवः साकमीरते।
अत्यं न वाजं हवनस्यदं रथमिन्द्रं ववृत्यामवसे सुवृक्तिभिः॥ ८॥

गत मन्त्र की भाँति सव्य कहते हैं कि **त्यम्**=उस **सुमेषम्**=उत्तम बरसनेवाले **स्वर्विदम्**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाले प्रभु को **महय**=पूजो, **यस्य**=जिसकी **शतम्**=सैकड़ों **सुभुवः**=जीव को उत्तम स्थिति में लाने की प्रक्रियाएँ **साकम्**=साथ-साथ **ईरते**=चलती हैं। प्रभु धन देते हैं, ज्ञान देते हैं और न जाने कितने अचिन्त्य प्रकारों से हमारी स्थिति उत्तम बनाते हैं।

वे प्रभु **अत्यम्**=सतत गतिशील **वाजं न**=घोड़े के समान हैं। यदि मैं प्रकृति का आश्रय न करके प्रभु का आश्रय करता हूँ तो मेरी यह जीवन-यात्रा आगे-और-आगे बढ़ती ही चलती है। वे प्रभु तो निरन्तर गतिशील घोड़े के समान हैं, प्रभु पर मैं आरूढ़ हुआ और मेरी यात्रा पूरी हुई। वे प्रभु **हवनस्यदम्**=पुकार सुनते ही वेग से आनेवाले हैं। वे **रथम्**=सर्वोत्तम सारथि हैं। यदि मैं अपने रथ का सारथित्व प्रभु को सौंपता हूँ तो क्या कभी कोई ग़लती हो सकती है? अतः मैं इस कठिन जीवन-यात्रा में **अवसे**=रक्षा के लिए **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की ओर **ववृत्याम्**=अपने को मोड़ता हूँ। प्रभु की ओर मेरी चित्तवृत्ति मुड़ी और मेरा कल्याण हुआ।

यह प्रभु की ओर मुड़ना होता कैसे है? **सुवृक्तिभिः**=उत्तम वर्जनों के द्वारा। मैं काम-क्रोध को छोड़ता हूँ तो बस, मैं प्रभु की ओर मुड़ता हूँ। इस छोड़ने की प्रक्रिया को ही व्रतग्रहण कहते हैं। व्रत में हम किसी पाप को छोड़ते हैं। पाप को छोड़कर मैं प्रभु की ओर चलता हूँ।

यह प्रभु की ओर चलना सांसारिक दृष्टिकोण से भी तो किसी प्रकार घाटे का सौदा नहीं, प्रभु प्रकाश प्राप्त कराते हैं (स्वर्विदम्), तो धन के समुद्र भी हैं (वस्वो अर्णवम्) और बरसनेवाले ही नहीं (मेषम्) खूब बरसनेवाले हैं (सुमेषम्)। उनकी मानव-पालन की प्रक्रियाएँ सैकड़ों हैं, सैकड़ों ही क्या सारे आकाश में व्याप्त हैं। पालन के लिए पर्याप्त धन तो प्रभु प्राप्त कराते ही हैं।

भावार्थ—मैं सदा उत्तम व्रतों से प्रभु की प्रार्थना करूँ।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

द्यावापृथिवी

३७८. घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा।
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा॥ ९॥

वेद में **'मूर्ध्नो द्यौः'** इस संकेत के अनुसार मस्तिष्क के लिए द्युलोक और **'पृथिवी शरीरम्'** इस संकेत के अनुसार शरीर के लिए पृथिवी शब्द का प्रयोग उपलभ्य है। एवं, **द्यावापृथिवी**=हमारा मस्तिष्क और शरीर कैसा हो? इसका विवेचन प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार है कि–

१. **घृतवती**=मस्तिष्क दीप्तिवाला हो। (घृ–दीप्ति) और शरीर सब प्रकार के मलों के (घृ–क्षरण) क्षरण=पार्थक्यवाला हो। मलों (foreign matter) के अभाव में शरीर स्वस्थ होगा और स्वस्थ शरीर में ही वस्तुतः स्वस्थ मस्तिष्क भी होगा।

२. **भुवनानाम्**=लोकों के **अभिश्रिया**=आश्रयणीय ये हों। हमारा ज्ञान व हमारी शक्ति लोकहित में विनियुक्त हो।

३. **उर्वी**=हमारा दृष्टिकोण विशाल हो। ज्ञान की वृद्धि के अनुपात में ही तो यह दृष्टिकोण विशाल होगा। **पृथ्वी**=हमारा शरीर भी विस्तृत हो (प्रथ=विस्तारे)।

४. **मधुदुघे सुपेशसा**=हमारा मस्तिष्क मधु का दोहन व पूरण करनेवाला हो तो शरीर का गठन बड़ा सुन्दर हो। शरीर सु=उत्तम पेशस्=आकृतिवाला हो।

इस प्रकार का मस्तिष्क व शरीर **विष्कभिते**=तभी बने रह सकते हैं जब हम अपने जीवनों को **वरुणस्य धर्मणा**=वरुण के धर्म से ले-चलें। वरुण पाशी है, बाँधनेवाला है। यदि हम अपने जीवनों को व्रतों के बन्धन से बाँधते हैं तो हमारे ये शरीर व मस्तिष्क **विष्कभिते**=थमे रहते हैं। **अजरे**=ये जीर्ण नहीं हो जाते और **भूरि रेतसा**=बड़े शक्ति-सम्पन्न बने रहते हैं। शरीर को शक्ति-सम्पन्न बनाकर यह व्यक्ति 'भरद्वाज' कहलाता है और मस्तिष्क को उज्ज्वल करके यह 'बार्हस्पत्यः' होता है। अव्रती जीवन भोगासक्त हो शरीर व मस्तिष्क दोनों को ही क्षीण कर लेता है।

भावार्थ—मेरा जीवन व्रतमय हो। मैं अन्त तक अक्षीणशक्ति व दीप्त मस्तिष्क बना रहूँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**द्यावापृथिवी**:॥ छन्दः—**महापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

उषाकाल के उपकार

३७९. उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषाइव। महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनाम्।
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥ १०॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **यत्**=जब तू **उभे रोदसी**=द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों का, अर्थात् मस्तिष्क और शरीर का **उषा इव**=उषा की भाँति **आपप्राथ**=सब प्रकार से पूरण करता है, अर्थात् जैसे उषःकाल अँधेरे को नष्ट कर देता है और सारे द्युलोक को प्रकाश से भर देता है उसी प्रकार तू भी शरीर के मलों को नष्ट कर देता है और मस्तिष्क को ज्ञान की ज्योति से भर देता है। उषा की इस प्रेरणा का परिणाम यह होता है कि यह **त्वा**=तुझे **महीनां महान्तम्**=आदरणीयों में आदरणीय बनाती है और **चर्षणीनाम्**=श्रमशील व्यक्तियों में **सम्राजम्**=खूब चमकनेवाला बनाती है। अपनी देदीप्यमान ज्ञानज्योति से तू आदर का पात्र बनता है और श्रम के कारण निर्मल शरीरवाला होकर स्वास्थ्य के सौन्दर्य से चमक उठता है। वस्तुतः यह उषःकाल **देवी जनित्री**=दिव्य गुणों को उत्पन्न करनेवाली तथा ज्ञान का विकास करनेवाली है।

उष:काल का अरुण प्रकाश मनुष्य के मानस के तम को भी दूर कर देता है। **अजीजनत्**=यह उष: हमारा ऐसा विकास करे ही। यदि किन्हीं अन्य विरोधी कारणों से यह उष: हमें देव व विकसित ज्ञानवाला न भी बनाए तो भी **भद्रा जनित्री**=यह कल्याणमय स्थिति में प्राप्त करानेवाली तो होती ही है, यह हमारी शारीरिक शक्तियों का विकास तो करती ही है। यह **अजीजनत्**=हमारा इस प्रकार विकास अवश्य करे। प्रस्तुत मन्त्र में 'महान्तं त्वा महीनाम्' शब्द मस्तिष्क से सम्बद्ध है तो 'सम्राजं चर्षणीनाम्' शरीर से, 'देवी जनित्री' शब्द मस्तिष्क के दृष्टिकोण से कहा गया है तो 'भद्रा जनित्री' शरीर के दृष्टिकोण से। उष:काल की प्रेरणा मस्तिष्क के लिए भी है, शरीर के लिए भी। इस प्रेरणा को प्राप्त करके तदनुसार चलनेवाला व्यक्ति ही 'मेधातिथि' है—समझदारी से चलनेवाला है। कण-कण करके ज्ञान व शक्ति का सञ्चय करता हुआ यह व्यक्ति 'काण्व' है।

भावार्थ—उष:काल मुझे अन्धकारनाश व प्रकाश के प्रसार की प्रेरणा देनेवाला हो।

ऋषि:—**कुत्स:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**जगती**॥ स्वर:—**निषाद:**॥

कैसा मित्र

३८०. प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचो य: कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना।
अवस्यवो वृषणं वज्रदक्षिणं मरुत्वन्तं सख्याय हुवेमहि॥ ११ ॥

१. **मन्दिने**=सदा प्रसन्नता प्राप्त करानेवाले प्रभु के लिए **पितुमत् वच:**=रक्षणात्मक प्रार्थना-वचन **प्र अर्चत**=खूब उच्चारण करो, रक्षणात्मक प्रार्थना-वचनों से प्रभु की पूजा करो। वस्तुत: प्रभु से सांसारिक सुख-भोगों की याचना करके हम प्रभु का भी आदर नहीं कर रहे होते। 'प्रभु हमें काम-क्रोधादि आसुर वृत्तियों से सुरक्षित करें' यही सर्वोत्तम प्रार्थना है, यही प्रभु की सच्ची पूजा भी है। इन प्रार्थनाओं को क्रियारूप में अपने जीवन में लाकर हम अपने जीवनों को प्रसादमय बना पाते हैं। प्रभु **मन्दिन्**=हमें प्रसन्न करनेवाले तो हैं ही।

२. उस प्रभु के लिए हम रक्षणात्मक प्रार्थना वचन कहें **य:**=जो **कृष्णगर्भा:**=मनुष्यों के गर्भ में विद्यमान कालिमा को, काली=अशुभ पापमयी चित्तवृत्तियों को **ऋजिश्वना**=सरल मार्ग से **निरहन्**=नष्ट करते हैं। **'युयोधि अस्मज्जुहुराणमेन:'**=हमसे कुटिल पाप को दूर कीजिए।

३. हमारी वृत्ति शुभाशुभ बहुत कुछ सङ्ग व साथ से बनती है, इसीलिए कहते हैं कि **अवस्यव:**=रक्षण चाहते हुए हम **सख्याय**=मित्रता के लिए **हुवेमहि**=पुकारते हैं। किसको?

(क) **वृषणम्**=जो बरसनेवाला है, कृपण नहीं है।

(ख) **वज्रदक्षिणम्**=जो शरीर में वज्रतुल्य है और मस्तिष्क में चतुर है। निर्बल शरीरवाला अधिक लोकहित नहीं कर सकता और मूर्ख व्यक्ति हमें संकटों से बचा नहीं सकता।

(ग) **मरुत्वन्तम्**=जो प्राणोंवाला है। जिसने प्राणों की साधना की है। प्राणसाधना चित्त व इन्द्रियों के मलों को दूर कर उन्हें निर्मल बनाती है। निर्मल मनवाला मित्र ही सर्वोत्तम मित्र है। सब वसनाओं को कुचल डालने से ही यह इस मन्त्र का ऋषि 'कुत्स' (कुथ हिंसायाम्) है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति मैं रक्षणात्मक प्रार्थना-वचन कहूँ। सरल मार्ग से चलकर हृदय

की कालिमा को धो डालूँ। दानी, सबल, चतुर व साधुस्वभाव मित्रों के साथ विचरूँ।

पञ्चमी दशतिः

ऋषिः—**नारदः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

महत्त्व की प्राप्ति

३८१. इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीष उक्थ्यम्। विदे वृधस्य दक्षस्य महाँ हि षः॥ १॥

इस मन्त्र का ऋषि 'नारद' है—नर-समूह को जो शुद्ध बनाता है। (दैप् शोधने)। अपने आप शुद्ध बने बिना दूसरे को शुद्ध बनाना सम्भव नहीं। अपने को अधिक-से-अधिक शुद्ध बनाकर ही यह औरों को भी शुद्ध बनाता है—और इस प्रकार **हि**=निश्चय से **सः**=वह **महान्**=बड़ा बनता है। यह बड़ा तभी बनता है यदि—

१. **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **सुतेषु सोमेषु**=सोमों (Semen) के उत्पन्न होने पर यदि तू आत्मशासन कर पाता है।

बड़ा बनने के लिए आत्मसंयम नितान्त आवश्यक है। इसके बिना बड़ा बनना सम्भव ही नहीं। यह आत्मसंयम भी प्रथम आयुष्य में ही नितान्त आवश्यक है, क्योंकि धातुओं के क्षीण होनेपर तो शान्ति हो ही जाती है। प्रभु कहते हैं कि हे इन्द्र! तू—

२. **क्रतुं पुनीषे**—इस आत्मसंयम से मस्तिष्क में ज्ञान (क्रतु) को, हृदय में संकल्प को और हाथों (शरीर) में कर्म को पवित्र करता है। शरीर में रेतस् होने पर ही ज्ञान, संकल्प व कर्म Head, heart और hands तीनों की शुद्धि हो जाती है। वस्तुतः इन तीन के अतिरिक्त मनुष्य है भी क्या, और इन तीनों के अतिरिक्त उसे करना भी क्या है? इन तीनों को विकसित करके वह—

३. **उक्थ्यम्**=स्तोत्रों में साधु होता है। उत्तम ज्ञान, संकल्प व कर्मों का उसे अभिमान नहीं होता। प्रभु का स्तवन उन्नत होने पर भी उसे विनीत बनाये रखता है। जितना-जितना वह ऊँचा उठता जाता है उतना-उतना ही विनीत होता जाता है। इस प्रकार प्रतिदिन विनीतता को धारण करता हुआ यह—

४. **वृधस्य दक्षस्य विदे**=शरीर की वृद्धि, मानस-विकास (दक्ष् to grow) व दाक्षिण्य की प्राप्ति के लिए होता है। उसका शरीर वज्रतुल्य होता है और मन व मस्तिष्क बड़े सुलझे हुए—दक्षतावाले होते हैं।

भावार्थ—मैं महत्त्व की प्राप्ति के लिए १. यौवन में ब्रह्मवादी बनूँ, २. अपने क्रतु को पवित्र करूँ ३. प्रभु-स्तोत्रों को अपनाऊँ और ४. वृद्धि व दक्षता का लाभ करूँ।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

महत्त्व की रक्षा

३८२. तमु अभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम्। इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत॥ २॥

गत मन्त्र के आत्मसंयम, क्रतु-पवित्रता, प्रभु-स्तवन, वृद्धि व दक्षता के लाभ से हमें महत्त्व की प्राप्ति हुई। अब इस महत्त्व की रक्षा के लिए इस मन्त्र में कहते हैं कि महान् बने रहने के लिए उस महान् प्रभु की उपासना करो। **उ**=निश्चय से **तम्**=उसे **अभि**=लक्ष्य करके **प्रगायत**=खूब ही गायन करो, जिस प्रभु की **पुरुहूतं पुरुष्टुतम्**=पुकार (हूतम्) व जिनका स्तवन (स्तुतम्) तुम्हारा पालक व पूरक (पुरु) है। प्रभु को पुकारने से व स्तुत करने

से हमारी प्रयत्न-सिद्ध महत्ता की रक्षा होगी और जो कमी होगी उसका पूरण हो जाएगा। **इन्द्रम्**=वे प्रभु तो परमैश्वर्यशाली व सर्वशक्तिमान् हैं, **तविषम्**=महान् हैं, उस महान् प्रभु को **गीर्भिः**=इन वेदवाणियों के द्वारा **आविवासत**=सर्वथा परिचरित करो, पूजो। हमारी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा वेदवाणियों का उच्चारण करनेवाले हम 'गोषूक्ति' बनें और कर्मेन्द्रियों से इनका कथन करनेवाले 'अश्वसूक्ति'। कण-कण करके इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों से वेदवाणियों को समझेंगे और कर्मेन्द्रियों से उनको क्रियान्वित करेंगे तो क्यों न महान् बने रहेंगे? उस तविष=महान् प्रभु के सम्पर्क में हम भी महान् बने रहेंगे (तु=वृद्धौ)। वे प्रभु अपने प्रकाशमान स्वरूप में सदा बढ़े हुए हैं, उनके सम्पर्क में रहता हुआ मैं भी महान् बना रहूँगा। जो व्यक्ति प्रभु से दूर हुआ उसी ने अपनी महत्ता को खोया। कारण यह कि प्रभु से दूर होते ही अभिमान दबा लेता है—और अभिमान पतन का कारण बन जाता है।

भावार्थ—मैं सदा प्रभु को स्मरण करूँ जिससे अधोगति को प्राप्त न हो जाऊँ।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

शूरवीर कौन है

३८३. तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृक्षु सासहिम्। उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम्॥ ३॥

जो व्यक्ति वीर होता है उसमें एक मद-सा होता है। गर्व तो अच्छी वस्तु नहीं, परन्तु इसका एक उत्तम रूप 'गौरव' होता है। आत्मसम्मान (Self-respect) हेय वस्तु नहीं। **'स्वं महिमानमायजताम्'** अपनी महिमा का आदर करो, यह वेद का उपदेश गौरव को ही अनुभव करने की बात कह रहा है, अतः मनुष्य में एक मद तो होना ही चाहिए, परन्तु कौन सा? प्रभु कहते हैं कि **ते**=तेरे **तम्**=उस **मदम्**=मद को हम **गृणीमसि**=स्तुत करते हैं, उत्तम समझते हैं जो—

१. **वृषणम्**=बरसनेवाला है। खूब दान देनेवाला है। एक कायर व्यक्ति दान देने से घबराता है, वीर ही दान दे पाते हैं। २. **पृक्षु**=संग्रामों में **सासहिम्**=शत्रुओं का पराभव करनेवाला है। यहाँ संग्राम से अभिप्राय हृदयस्थली पर निरन्तर चलनेवाले काम-क्रोधादि से संग्राम का है। इस संग्राम में जो इन वासनाओं को जीतकर संयमशूर बनता है, उसी का मद प्रशंसनीय है। ३. **उ**=और **लोककृत्नुम्**=जो मद लोकों का निर्माण करता है, उसकी हम प्रशंसा करते हैं। निर्माणात्मक कार्यों में, परोपकार के कार्यों में लगा हुआ व्यक्ति ही शूरवीर है। और अन्त में **अद्रिवः**=वज्रतुल्य शरीरवाले शूर हम तेरे उसी मद की प्रशंसा करते हैं जो ४. **हरिश्रियम्**=दुःखी मनुष्यों से आश्रयणीय होता है। लोग कष्टों में होते हैं, तुझे रक्षा करने में शूर जान तेरी शरण में आते हैं, तेरा श्रयण करते हैं और तू 'हरिश्रीः' बनने में जिस मद का अनुभव करता है, उसकी हम प्रशंसा करते हैं।

इस प्रकार के 'दानशूर, संयमशूर, निर्माणशूर व परोपकार और शरणागत-रक्षा में शूर व्यक्ति 'गोषूक्ति और अश्वसूक्ति' होते हैं। इनकी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों से उत्तम ही कथन होता है। ये अशुभ की ओर झुकी हुई नहीं होतीं।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम 'दान, संयम, निर्माण व शरणागत-रक्षा' में शूर बनें। इसी शूरवीरता को वांछनीय समझें। इसमें समर्थ होने के लिए अपने शरीर को पाषाण व वज्रतुल्य दृढ़ बनाएँ, क्योंकि निर्बल शरीर से हम इन बातों में शूर न बन सकेंगे।

ऋषिः—**काण्वः पर्वतः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

कौन-सी शूरवीरता

३८४. यत्सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये। यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः॥ ४॥

गत मन्त्र में (अद्रिवः) शब्द से संकेत किया था कि शूरवीर के लिए वज्रतुल्य शरीरवाला होना आवश्यक है। प्रस्तुत मन्त्र का तो ऋषि ही 'पर्वत' है, इसने थोड़ा-थोड़ा करके तपस्या व साधना से अपने शरीर को पत्थर के समान दृढ़ बनाया है, अतः यह 'कण्व' है। यह **इन्दुभिः**=(बिन्दुभिः) सोमकणों से **संमन्दसे**=सम्यक् आनन्दित होता है। किन सोमकणों से?

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **यत् सोमम्**=जो सोम **विष्णवि**=(विष् व्याप्तौ) व्यापक मनोवृत्तिवाले में है। वस्तुतः शूर वही है जिसका हृदय विशाल है। छोटे दिलवाला कभी शूर नहीं होता।

२. **यत्**=जो **वा घ**=निश्चय से **त्रिते**=(त्रीन् तनोति) काम की विरोधी भावना सत्य को विस्तृत करता है उस त्रित में जो वीरता है, उससे तू आनन्द का अनुभव करता है।

३. **आप्त्ये**=परमेश्वर को प्राप्त करनेवालों में जो उत्तम हैं, उनमें जो वीरता है वह तेरे आनन्द का कारण होती है। और अन्त में—

४. **यद्वा**=जो निश्चय से **मरुत्सु**=प्राण-साधना करनेवालों में वीरता है, उससे तू आनन्दित होता है।

पिछले मन्त्र में दानशूर, संयमशूर, निर्माणशूर और परोपकारशूर—इन चार व्यक्तियों का उल्लेख हुआ था। इस मन्त्र में उदारता (विशालमनस्कता) में शूर, ब्रह्मचर्य, अहिंसा व सत्य के पालन में शूर, प्रभु-प्राप्ति में शूर और प्राणसाधना में शूर का वर्णन हुआ है। ऐसा शूर बनने के लिए 'इन्द्र' इस सम्बोधन के द्वारा 'इन्द्रियों को वश में करना' रूप साधन का वर्णन हुआ है। बिना जितेन्द्रिय बने सोमरक्षा नहीं, और बिना सोमरक्षा के उदारता इत्यादि गुणों का सम्भव नहीं। इन गुणों के पर्वों को उत्तरोत्तर धारण करते चलने से यह 'पर्वत' नामवाला हो गया है।

भावार्थ—मैं उदारता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, प्रभु-प्राप्ति और प्राणसाधना में शूर बनूँ।

ऋषिः—**विश्वमना वैयश्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

शूर सदावृध है

३८५. एदु मधोर्मदिन्तरं सिञ्चाध्वर्यो अन्धसः। एवा हि वीर स्तवते सदावृधः॥ ५॥

उल्लिखित सब प्रकार की वीरताओं को प्राप्त करने के लिए हे **अध्वर्यो**=जीवन को हिंसाशून्य यज्ञरूप बनानेवाले जीव! **मधोः**=मधु से भी **मदिन्तरम्**=अधिक मद का अनुभव करानेवाले **अन्धसः**=(आध्यातव्य) सोम का **इत् उ**=निश्चय से **आसिञ्च**=अपने में सेचन कर। इस सोम को नष्ट न होने दे। **एव**=इस प्रकार ही **हि**=निश्चय से **वीरः**=तू वीर बनेगा और **सदावृधः**=सदा वर्धनवाला होगा।

सोम ही वह शक्ति है जो सब उन्नतियों के मूल में है। इसके बिना किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं। यही जड़ जगत् की सर्वोत्तम वस्तु है, जो चेतन जगत् की सर्वोत्तम वस्तु

प्रभु को प्राप्त कराती है, इसलिए सबसे बड़ा वीर तो वही है जो सोम के संयम में वीर बना है। यही वीर **स्तवते**=सदा स्तुत होता है—प्रभु की प्रशंसा का पात्र होता है। उसकी मनोवृत्ति व्यापक होती है, अतः यह 'विश्वमनाः' कहलाता है और इसकी सब इन्द्रियाँ विशिष्टता को लिये होती हैं, इसलिए यह 'वैयश्व' कहलाता है। यह 'सदावृध' है—सदा आगे और आगे चल रहा है। पिछले दो मन्त्रों के साथ मिलकर इस मन्त्र तक नौ शूरवीरों का उल्लेख हो गया है। ये वीर ही प्रभु से आदर पाते हैं—प्रभु के प्रिय बनते हैं।

भावार्थ—मैं सोम के सिञ्चन में वीर बनकर सदावृध बनूँ। इसके लिए मैं अध्वर्यू—सदा अहिंसक, अनुत्तेजित रहूँ। जितेन्द्रियता और अनुत्तेजना से ही सोम-पान सम्भव होगा।

ऋषिः—**विश्वमना वैयश्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

सोम सेचन के लाभ

३८६. एन्दुमिन्द्राय सिञ्चत पिबाति सोम्यं मधु। प्र राधांसि चोदयते महित्वना॥ ६॥

१. **इन्दुम्**=सोम को **इन्द्राय**=उस सर्वैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **आसिञ्चत**=अपने अन्दर सींचो। सोम-पान का सर्वोत्तम लाभ तो यही है कि इससे मनुष्य प्रभु की प्राप्ति-योग्य बनता है। भोगमार्ग में सोम का अपव्यय है—योगमार्ग में सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, और तब उस तीव्र-बुद्धि से मनुष्य परमेश्वर का दर्शन करता है।

२. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विश्वमना वैयश्व' इस सारी बात का ध्यान करके **सोम्यं मधु**=सोम-सम्बन्धी मधु का **पिबाति**=पान करता है। अन्य मधु सौम्य नहीं है, यह सोमपान रूपी मधुपान ही सौम्य है। यह हमें सौम्य व विनीत बनानेवाला है। अन्य मधुओं के पान से मनुष्य गर्वित हो जाता है तो इस सोम का पान करके वह गौरव का अनुभव करते हुए भी अधिक-से-अधिक विनीत होता है।

३. यह सोम **महित्वना**=महिमा की प्राप्ति के द्वारा **राधांसि**=सफलताओं को (राध्=संसिद्धि) **प्रचोदयते**=प्रकर्षेण प्रेरित करता है, अर्थात् सोमपान करनेवाले को यह सोम सदा सफल बनाता है। सोमपान करनेवाला कभी असफल नहीं होता।

सोमपान के तीन लाभ हैं १. प्रभु की प्राप्ति २. विनीतता ३. तथा साफल्य

भावार्थ—सोमपान के द्वारा मैं सफल बनूँ, परन्तु विनीत रहूँ और इस प्रकार प्रभु को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**विश्वमना वैयश्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्—एक ओर सारा संसार, दूसरी ओर प्रभु

३८७. एतो न्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम्। कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत्॥ ७॥

सोम का शरीर में सेचन आवश्यक है। उसके लिए 'जितेन्द्रिय होना' (इन्द्र ३८४) और अध्वर्यु=अहिंसक बने रहना (३८५), उत्तेजित न होनारूप उपायों का निर्देश हो चुका है, परन्तु सर्वमहान् साधन तो 'प्रभु-स्तवन' है, उसी का प्रस्तुत मन्त्र में उल्लेख है—

एत उ=निश्चय से आओ। **तु**=अब **इन्द्रम्**=उस प्रभु का **स्तवाम**=स्तवन करें। **सखायः**=हम सब समानरूप से प्रभु का ध्यान करनेवाले सखा हैं। सच्चा सखित्व तो यही है। वह प्रभु **स्तोम्यम्**=स्तोमों के—स्तुतिसमूहों के योग्य हैं। प्रभु की ही मनुष्य को स्तुति करनी चाहिए। प्रभु **नरम्**=हमें सदा आगे और आगे ही ले-जानेवाले हैं। प्रभु की स्तुति हमारी लक्ष्य-दृष्टि

को ऊँचा बनाती है और हम उसी अनुपात में उन्नत होते चलते हैं।

यः=जो प्रभु एक हैं, परन्तु **एकः इत्**=वे अकेले ही **विश्वाः कृष्टीः**=सब उद्योगों में लगे मनुष्यों को **अभ्यस्ति**=दबा लेते हैं। सारा संसार मेरे विरोध में हो, पर प्रभु मेरे साथ हैं तो मेरा विजय निश्चित है। इसके विपरीत सारा संसार साथ है—और मैं प्रभु से दूर होऊँ तो मेरा पराभव भी उतना ही निश्चित है, इसीलिए आत्मा के लिए सारी पृथिवी के त्याग का उपदेश है। जो ऐसा कर सके वे महापुरुष हो गये, इसलिए चाहिए यही कि हम स्वर्ग के राज्य के लिए इस पृथिवी के राज्य को छोड़ने के लिए तैयार हो जाएँ। जिस दिन हम यह कर सके, उस दिन सोम के विनष्ट न होने से हम सचमुच आगे बढ़ेंगे।

भावार्थ—जितेन्द्रियता, अनुत्तेजना व प्रभु-स्तवन—सोमपान के इन तीन साधनों को क्रिया में लाकर हम आगे बढ़नेवाले नर हों।

ऋषिः—**नृमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

स्तुति क्यों?

३८८. इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्। ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे॥ ८॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'नृमेध आङ्गिरस' है—मनुष्यों के साथ मिलकर चलनेवाला, शक्तिशाली। सबको अपना ही समझनेवाला राग-द्वेष से ऊपर उठ जाता है। इस भावना का पूर्ण विकास प्रभु-स्तवन से ही होता है। 'सबमें आत्मा और सब आत्मा में' यह चिन्तन हमें एकत्व का अनुभव कराता है। इसी से नृमेध कहता है कि उस प्रभु के लिए **बृहत् साम गायत**=बृहत साम का गायन करो। सामों में प्रभु के गुणों का गान है। सामों में भी 'बृहत्साम' का विशेष महत्त्व है। ये साम प्रभु के गुणों को हमारे सामने उपस्थित करके हमें भी उन गुणों को अपने जीवन का अङ्ग बनाने की प्रेरणा देते हैं। उस प्रभु के लिए हम गायन करें जो—

१. **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली हैं, बल के कार्यों को करनेवाले हैं और असुरों का संहार करते हैं। प्रभु के सम्पर्क में आकर हम भी परमैश्वर्य को प्राप्त करेंगे, शक्तिशाली होंगे और आसुर वृत्तियों को समाप्त कर पाएँगे।

२. **विप्राय**=विप्र के लिए। वे प्रभु वि-प्र=विशेषरूप से हमारी कमियों को दूर करनेवाले हैं। जैसे एक चित्रकार अपने निर्मित चित्र को अन्तिम स्पर्श (finishing touch) देता है, इसी प्रकार प्रभु-स्तवन हमारे जीवन-चित्रों की सूक्ष्मतम न्यूनताओं को दूर कर देता है।

३. **बृहते**=सदा वर्धमान के लिए। वे प्रभु हमारी न्यूनताओं को दूर करके सब प्रकार से हमारा वर्धन करते हैं।

४. **ब्रह्मकृते**=ब्रह्मकृत के लिए। वे प्रभु हमारी अन्तरात्मा में स्थित हुए वेदज्ञान का प्रकाश करते हैं।

५. **विपश्चिते**=विपश्-चित् के लिए। प्रभु के स्तोता के अन्दर भी सदा वस्तुओं को सूक्ष्मता से, गहराई तक देखकर सोचने की वृत्ति उत्पन्न होती है।

६. **पनस्यवे**=स्तुति को चाहनेवाले के लिए। जैसे एक पिता स्वयं मान का भूखा न होता हुआ भी सन्तानों में विनीतता चाहता है कि वे **'मातृदेव व पितृदेव'** हों, उसी प्रकार जीवों के हित के लिए ही प्रभु चाहते हैं कि जीव उनका उपासक हो, प्रकृति की ओर झुकाववाला न हो।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हुए ऐश्वर्य व बल के स्वामी होकर असुरों का संहार करें, न्यूनताओं को दूर कर वृद्धिशील हों। अन्दर ज्ञान के प्रकाश को देखते हुए वस्तुतत्त्व को देखकर चिन्तन करनेवाले बनें और प्रभु-प्रवण हों। यही आध्यात्मिकता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

उस लोक के साथ यह लोक भी

३८९. य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे। ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग॥ ९॥

प्रभु का स्तवन करनेवाला व्यक्ति निर्मल बनता है—प्रशस्त इन्द्रियोंवाला होता है—'गोतम' कहलाता है। आत्मतत्त्व के लिए सारी पृथिवी को छोड़ने के लिए उद्यत यह व्यक्ति राहूगण= त्यागशीलों में गिना जानेवाला तो है ही। इसका सिद्धान्त है कि आध्यात्मिक लाभों के लिए हमें प्रभु-स्तवन करना ही चाहिए और कभी भी यह भय न करना चाहिए कि संसार-यात्रा कैसे चलेगी? क्योंकि **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—प्रभु के प्रति अपना समर्पण कर देनेवाले **मर्ताय**=मनुष्य के लिए **यः**=वे प्रभु **एकः इत्**=अकेले ही **वसु**=निवास के लिए आवश्यक धन **विदयते**=प्राप्त कराते हैं। वे प्रभु ही तो **ईशानः**=सारे ऐश्वर्य के स्वामी हैं और फिर **अप्रतिष्कुतः**=किसी से न रोके जा सकनेवाले हैं। वे तो अकेले ही सारे मनुष्यों का पराभव करनेवाले हैं। वे सहस्रबाहु, हमें देने लगें तो हमने अपनी दो भुजाओं से सँभालना क्या? और छीनने लगें तो बचाना क्या? **इन्द्रः**=वे तो परमैश्वर्यशाली व सर्वशक्तिमान् हैं। **अङ्ग**=हे प्रिय! इन शब्दों में प्रभु जीव को सम्बोधित करते हैं। 'अगि गतौ' से बना यह शब्द सुव्यक्तरूप से कह रहा है कि प्रभु को वही जीव प्रिय है जो गतिशील है। हम गतिशील बनें। धन की कोई कमी न होगी, प्रभु का उपासक क्या कभी भूखा मर सकता है?

भावार्थ—प्रभु का उपासक प्रकृति से दूर भागता है और प्रकृति उसके पीछे आती है।

ऋषिः—**विश्वमना वैयश्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

आओ, मिलकर उसका स्तवन करें

३९०. सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे। स्तुष ऊ षु वो नृतमाय धृष्णवे॥ १०॥

विश्वमनाः=व्यापक मनवाला वैयश्वः=उत्तम इन्द्रियरूपी घोड़ोंवाला इस मन्त्र का ऋषि कहता है कि **सखायः**=मित्रो! हम **इन्द्राय**=सर्वशक्ति-सम्पन्न और **वज्रिणे**=सदा स्वाभाविक क्रियावाले प्रभु के लिए **ब्रह्म**=स्तोत्र को **आशिषामहे**=चाहते हैं, अर्थात् हम सब मिलकर उस प्रभु का स्तवन करें। प्रभु के स्तवन से हमारे अन्दर भी शक्ति का संचार होगा और हम भी स्वाभाविक रूप से क्रिया करने की प्रवृत्तिवाले होंगे।

एवं, विश्वमना सबको प्रेरणा देकर कहता है कि मैं तो **उ**=निश्चय से उस प्रभु का **सुस्तुषे**=पूजा की भावना से स्तवन करता ही हूँ, जो **वः**=तुम्हें **नृतमाय**=सबसे अधिक आगे ले-चलनेवाले हैं और इस उन्नति के मार्ग में आनेवाले शतशः विघ्नों का **धृष्णवे**=धर्षण करनेवाले हैं। मैं तो उसकी स्तुति करता ही हूँ।

भावार्थ—प्रभु के स्तवन के लिए मैं अपने सब साथियों को प्रेरित करूँ और प्रभु-स्तवन में लग जाऊँ।

अथ पञ्चमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—**काण्वः प्रगाथः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

वृत्र का हनन

२९१. गृणे तदिन्द्र ते शव उपमां देवतातये। यद्धंसि वृत्रमोजसा शचीपते॥ १॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **ते**=तेरे **तत् शवः**=उस बल को **गृणे**=मैं मान देता हूँ जो तुझे १. **उपमाम्**=मेरे समीप लाता है। 'शव' शब्द 'शव गतौ' से बनकर उस शक्ति का वाचक है जो गतिमय है। मृत-शरीर को भी इसी लिए 'शव' कहते हैं कि वहाँ से कुछ चला गया है (प्र+इत=प्रेत)। एवं, शव के अन्दर गति की भावना है। क्रियाशील (Dynamic) शक्ति को 'शव' कहते हैं और यही हमें परमेश्वर तक पहुँचाती है। २. **देवतातये**=यह क्रियाशील शक्ति हममें दिव्य गुणों का विस्तार करनेवाली होती है। वीरत्व के साथ ही दिव्य गुणों का निवास है। आचार्य के शब्दों में 'विजय ही सदाचार है, परजय ही अनाचार है'। क्रियाशील शक्ति से हम विजयी बनते हैं और इस विजय में ही दिव्यता का निवास है। वस्तुतः शक्ति से ही दिव्यता का विस्तार होता है।

३. प्रभु कहते हैं कि मैं तो तेरी इसी बात की प्रशंसा करता हूँ कि **यत्**=जो तू **ओजसा**=शक्ति से **वृत्रम्**=वृत्र को=ज्ञान के आवरणभूत काम को **हंसि**=नष्ट कर देता है। वासना का विनाश भी शक्ति की अपेक्षा करता है। कमज़ोर को वासना भी अधिक सताती है। ४. हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! मैं तेरी इसी लिए प्रशंसा करता हूँ कि तू **शचीपते**=शक्ति का पति=स्वामी बनता है। जीव शक्ति के बिना कुछ है ही नहीं। जीव में शक्ति है? नहीं, जीव शक्ति ही है। इस शक्ति से उसने १. प्रभु के समीप पहुँचना है, २. अपने में दिव्य गुणों का विस्तार करना है, ३. और ज्ञान के आवरणभूत काम का विध्वंस करना है। इस शक्ति को प्राप्त करने का साधन यह है कि वह **इन्द्र**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है तो **शचीपति**=शक्तियों का स्वामी भी बनता है। यही व्यक्ति प्रभु का सच्चा गायन करनेवाला 'प्रगाथ' है, उत्कृष्ट स्वभाववाला 'घोर' है और कण-कण करके शक्ति का संचय करने से 'काण्व' है।

भावार्थ—मैं इन्द्र बनूँ, शचीपति बनूँ। प्रभु के समीप पहुँचूँ, दिव्य गुणों का विस्तार करूँ और वृत्र का विनाश करूँ।

ऋषिः—**बार्हस्पत्यो भरद्वाजः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

शम्बर का शमन

२९२. यस्य त्यच्छम्बरं मदे दिवोदासाय रन्धयन्। अयं स सोम इन्द्र ते सुतः पिब॥ २॥

प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **अयम्**=यह **सः**=वह **सोमः**=वीर्यशक्ति है जो **ते**=तेरे लिए **सुतः**=उत्पन्न की गयी है, तुझे चाहिए कि तू **पिब**=इसका पान कर। इसका

अपव्यय न होने दे। यह वह सोम है **यस्य**=जिसकी **मदे**=शक्ति का गौरव अनुभव होने पर **त्यत् शम्बरम्**=उस शम्बर को **रन्धयन्**=तू समाप्त करनेवाला होता है।

गत मन्त्र में 'वृत्र-विनाश' का उल्लेख था, प्रस्तुत मन्त्र में 'शम्बर-शमन' का प्रकरण है। शम्=शान्ति का वर=वारण कर देनेवाला यह ईर्ष्या-द्वेष नामक असुर है। ईर्ष्यालु पुरुष का मन कभी शान्ति का अनुभव नहीं करता, क्योंकि यह स्वास्थ्य, धन, सुप्रजा, यश पाकर भी दूसरे को कुछ आगे बढ़ा देखकर जलता ही रहता है। **ईर्ष्यालोर्मृतं मनः**=ईर्ष्यालु पुरुष का मन मृत-सा रहता है। इसे तो तभी शान्ति आती है, जब यह दूसरे का पतन देखता है। एक के पतन के बाद किसी और की स्पर्धा चल पड़ती है—फिर उसका मन अशान्त हो जाता है। इस शम्बरासुर=ईर्ष्या का ही तो नाश करना है। इसका नाश सोम-पान से हो सकता है। सोम का पान जहाँ वृत्र का विनाश करता है, वहाँ इस शम्बर का भी। संयमी पुरुष ईर्ष्या से दूर रहता है। ईर्ष्या से दूर होकर इसका मन प्रसन्न होता है। इस प्रसन्नता से दुःखों का नाश ही नहीं, अपितु बुद्धि का विकास भी होता है और मनुष्य ज्ञान के प्रकाश के मार्ग में आनेवाले विघ्नों को समाप्त करनेवाला बनकर 'दिवोदास' कहलाता है। **दिवोदासाय**=दिवोदास के लिए शम्बर का रन्धन आवश्यक है। दिवः=प्रकाश के मार्ग में आनेवाले विघ्नों को दास=नष्ट करनेवाला। ईर्ष्या को नष्ट करके यह अपने ज्ञान को उज्ज्वल करता है—'बार्हस्पत्यः' कहलाता है और शक्ति-संयम करके भरद्वाजः' होता है।

भावार्थ—मैं सोम की रक्षा के द्वारा ईर्ष्या की वृत्ति से ऊपर उठूँ।

ऋषिः—**नृमेधः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

पर्वत के समान पृथु (Grand like a Mountain)

३९३. एन्द्र नो गधि प्रिय सत्राजिदगोह्य। गिरिर्न विश्वतः पृथुः पतिर्दिवः॥ ३॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'नृमेध'=सब मनुष्यों से सम्पर्क रखनेवाला='वसुधैव कुटुम्बकम्' की वृत्तिवाला, आङ्गिरस=एक-एक अङ्ग में रसवाला है। वृत्र और शम्बर (काम और ईर्ष्या) का विनाश करके इसे ऐसा बनना ही था। प्रभु इससे कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **नः**=हमें **आगधि**=प्राप्त होओ, आओ हमारे पास बैठो। हे **प्रिय**=अपने काम और ईर्ष्या के विनाशरूप कर्मों से हमें प्रीणत करनेवाले, आओ। तू तो **सत्राजित्**=सचमुच विजेता है। तूने आन्तर शत्रुओं पर विजय पाई हैं **अगोह्य**=तेरा कोई भी कर्म छिपाने योग्य नहीं, तामस् कर्म ही हमारी लज्जा के कारण व छिपाने योग्य हुआ करते हैं। तेरे कर्म तो सात्त्विक हैं, उनमें कुछ भी गोप्य नहीं है।

तूने तो अपने जीवन को ऐसा बनाया है कि **गिरिः न**=पर्वत के समान वह **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **पृथुः**=विस्तृत है। तेरा शरीर भी विशाल है, मन भी विशाल है और दृष्टिकोण भी—मस्तिष्क से सोचने की दिशा में दूरदृष्टि बना है। जहाँ शरीर के दृष्टिकोण से तूने अङ्ग-प्रत्यङ्ग को शक्ति-सम्पन्न बनाकर दृढ़ बनाया है और तू 'भरद्वाज' कहलाया है, वहाँ **दिवः पतिः**=तू ज्ञान का पति बना है, ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का पति बनकर तू बार्हस्पत्य हुआ है। ऐसा बनकर तू हमारा बड़ा प्रिय बना है। ज्ञानी तो मुझे आत्मतुल्य प्रिय है, अतः आओ, मेरे समीप आओ। मुझमें स्थित हो जाओ।

भावार्थ—मैं १. जितेन्द्रिय, २. कामादि के नाश से प्रभु को प्रीणित करनेवाला, ३. सत्य

विजेता, ४. प्रकाशमय कर्मोंवाला, ५. पर्वत की भाँति विशाल व ६. प्रकाश का पति बनकर प्रभु के पास पहुँचूँ।

ऋषिः—**काण्वः पर्वतः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

अत्रि निहनन

३९४. य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति। येना हंसि न्या३त्रिणं तमीमहे॥ ४॥

गत मन्त्र की भावना के अनुसार पर्वत की भाँति विशाल (Grand) बनकर यह 'पर्वत' ही बन गया है। यह पर्वत बनने की साधना कण-कण करके हुई, अतः यह 'काण्व' है। प्रभु इससे कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता और अतएव **शविष्ठ**=अत्यन्त शक्तिसम्पन्न जीव! **यः**=जो **सोमपातमः**=सोम (Vitality) का अधिक-से-अधिक पान करनेवाला तेरा **मदः**=गौरव का अनुभव **चेतति**=तुझे चेतनामय बनाता है—जागरित करता है, और इसलिए तुझे प्रमाद की मदिरा पीकर उन्मत्त नहीं होने देता, हम तो तेरे **तम्**=उसी मद को **ईमहे**=चाहते हैं। वस्तुतः प्रभु जीव से यही चाहते हैं कि वह 'इन्द्रियों का अधिष्ठाता बने, सोम का अधिक-से-अधिक पान करे, गौरव का अनुभव करे, शक्तिशाली बने, और सदा चेतना में रहे—अपने स्वरूप को भूल न जाए।

जिस समय जीव अपने स्वरूप को भूलता नहीं तब वह चित्तवृत्तियों को अपने पर प्रबल नहीं होने देता—यह कभी क्रोध के वश में नहीं हो जाता। इसी से मन्त्र में कहते हैं कि हम तेरे उस मद को चाहते हैं **येन**=जिससे तू **अत्रिणम्**=अपने आधार को खा जानेवाले (अद् भक्षणे) इस क्रोध को **निहंसि**=निश्चय से मार डालता है। सोम का पान करनेवाला शक्तिशाली पुरुष क्रोधाभिभूत होता ही नहीं। क्रोध को अत्रि कहा है, क्योंकि क्रोध करनेवाला इस क्रोध से शतशः नाड़ी-संस्थान के रोगों से पीड़ित हो जाता है। यह क्रोध उसे खा-सा जाता है, परन्तु जब मनुष्य संयम से उत्पन्न अपने गौरव की भावना से भर जाता है तब क्रोध को कुचल देता है और प्रभु का प्रिय बनता है।

भावार्थ—मैं क्रोध को अपने गौरव से गिरा हुआ समझूँ और कभी उसके वश में न होऊँ।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः काण्वः**॥ देवता—**आदित्याः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

प्रकाशमय जीवन

३९५. तुचे तुनाय तत्सु नो द्राघीय आयुर्जीवसे। आदित्यासः समहसः कृणोतन॥ ५॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'इरिम्बिठि काण्व' है—जिसका हृदयान्तरिक्ष गति के संकल्प से पूर्ण है (बिठ=अन्तरिक्ष, ईर=गतौ)। यह निरन्तर गति करता हुआ थोड़ा-थोड़ा करके प्रकाश को अपने अन्दर भरने का प्रयत्न करता है, अतः 'काण्व' है। यह प्रार्थना करता है कि हे **स-महसः**=तेजस्वितावाले **आदित्यासः**=आदित्यो! **नः तत् आयुः**=हमारे उस आयुष्य को **जीवसे**=उत्तम जीवन के लिए **द्राघीयः**=विदीर्ण अन्धकारवाला (दॄ—विदारणे) **सुकृणोतन**=उत्तमता से करो। दीर्घ शब्द का अर्थ लम्बा है। हिन्दी में 'चल लम्बा हो' इस मुहावरे में लम्बे होने का अर्थ भाग जाना ही है। इस भावना को लेकर भी प्रार्थना का स्वरूप यही है कि हमारे जीवन को ऐसा बनाओ जिसमें से अन्धकार भाग गया है। आदित्यों का विशेषण 'समहस्' देकर प्रकाश के साथ तेजस्विता की याचना का भी संकेत है। हमारा जीवन प्रकाशमय व तेजस्वी हो। जीवन तो है ही वह जो विज्ञान व विक्रम के यशों से सम्पन्न है। इनके बिना

तो जीवन लोहार की भस्त्रा=धौंकनी के समान है, वह भी तो श्वास लेती ही है।

हमारे पश्चात् भी हमारा घर प्रकाश व तेज से रहित न हो, अतः मन्त्र में प्रार्थना करते हैं कि **तुचे**=हमारे पुत्रों के लिए भी प्रकाशमय जीवन दीजिए। पुत्र के पश्चात् **तुनाय**=पौत्र (तुन=वंश-विस्तार करनेवाला) के लिए भी प्रकाश प्राप्त कराइए। पौत्र के लिए ही क्या! 'अपत्यं पौत्र-प्रभृति गोत्रम्' इस नियम से कि पौत्र से लेकर सब सन्तान गोत्र कहलाते हैं, हमारे गोत्र को आप प्रकाशमय और तजस्वी बनाएँ।

आदित्यों से प्रार्थना का अभिप्राय यह है कि सूर्य की बारह संक्रान्तियों से बारह आदित्य कहलाते हैं और इन्हीं से बारह मास बनते हैं। हम उन मासों के नक्षत्रवाची नामों से यह बोध लें कि १. हम इस संसार-वृक्ष की 'विशाखा'=विशिष्ट—सर्वोत्तम शाखा बनेंगे, २. यह संकल्प ही हमें 'ज्येष्ठा' ज्येष्ठ बनाएगा, ज्येष्ठ बनने का अभिप्राय 'अषाढ़ा' काम आदि शत्रुओं से पराजित न होना है, ४. इसके लिए आवश्यक है कि 'श्रवणा' हम विद्वानों के उपदेश का श्रवण करें, ५. यही 'भद्रपदा' कल्याण का मार्ग है, ६. इसपर चलने के लिए 'अश्विनी'=कल-कल की (श्वः श्वः) उपासना नहीं करनी, ७. कृत्तिका=कामादि शत्रुओं का अभी से छेदन प्रारम्भ कर देना है, ८. इन्हें ढूँढ-ढूँढकर इनका नाश करना है, अतः हम 'मृग-शिरस्'=ढूँढनेवालों के मुखिया बनें, ९. इन्हें नष्ट करके 'पुष्य' अपना पोषण करें, १०. जिससे हमारे जीवनों में (मा-अघ) पाप का लवलेश भी न हो और यह निर्मलता के उस एश्वर्य से सम्पन्न हो, जिससे कि ११. संसार का एश्वर्य 'फल्गुनी' फोक-सा प्रतीत हो और १२. चित्रा हमारे जीवनों में यह 'आश्चर्य' कर सकनेवाले हम बनें।

भावार्थ—आदित्यों से प्रेरणा प्राप्त करके हम अपने जीवनों को प्रकाशमय बनाएँ।

ऋषिः—**विश्वमना वैयश्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

दुर्गति से दूर व निर्मल

२ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ १२ ३ १ २ ३ १ २
३९६. वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम्। अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव॥ ६॥

हे **वज्रहस्त**=(वज गतौ) गतिशील हाथवाले—अर्थात् सदा क्रियामय जीवन बितानेवाले! तू **हि**=निश्चय से **निर्ऋतीनाम्**=दुर्गतियों के **परिवृजम्**=सर्वथा वर्जन को **वेत्थ**=जानता है। तू अनुभव करता है—**'नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति'**=शुभ कार्यों को करनेवाला कोई भी कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। जिसका भी जीवन क्रियाशील है, वह सांसारिक ऐश्वर्य को प्राप्त करता ही है। निर्धनता उसका भाग्य नहीं है। **'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः'**, उसके दाहिने हाथ में पुरुषार्थ है तो बायें में विजय। **'कर्मणे हस्तौ विसृष्टौ'**=कर्म करने के लिए ही हाथ दिये गये हैं। जो भी व्यक्ति इनको क्रिया में व्याप्त रखता है, वह सदा अभ्युदय को प्राप्त करता है।

इसके साथ ही **अहरहः**=प्रतिदिन **परिपदाम् इव**=जो सदा गतिवाले होते हैं उनके समान यह **शुन्ध्युः**=अपना शोधन करनेवाला होता है। क्रियाशील व्यक्ति आत्मिक दृष्टिकोण से निर्मल रहता है, उसके मन में अशुभ विचार उत्पन्न नहीं होते। इसका मन निर्मल होकर उदार बन गया है। सभी के प्रति उत्तम मनवाला यह 'विश्वमना' है और उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाला होने से 'वैयश्व' है।

भावार्थ—मैं क्रियाशील बनकर दुर्गति व मलों से दूर रहूँ।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः**॥ देवता—**आदित्याः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

रोग, कुत्सा व दुर्मति का यावन

३९७. अपामीवामप स्त्रिधमप सेधत दुर्मतिम्। आदित्यासो युयोतना नो अंहसः॥ ७॥

हे **आदित्यासः**=आदित्यो! निरन्तर क्रियाशीलता का उपदेश देनेवाले सूर्यो! **नः**=हमें अपनी प्रेरणा से क्रियाशील बनाकर **अंहसः**=कुटिलता से **युयोतन**=पृथक् करो। तमोगुणी—आलसी पुरुष अत्यधिक बदले की भावना से चलता है। वह कुटिलता की दिशा में ही सोचता है। हम आदित्यों की प्रेरणा से क्रियाशील बनकर कुटिलता से दूर हों। जिस प्रकार सूर्य सतत क्रियाशील है इसी प्रकार हम भी क्रियाशील बनें। क्रियाशीलता ही हमें कुटिलता से बचा सकती है।

कुटिलता से बचने के साथ क्रियाशीलता के परिणामस्वरूप ये आदित्य **अमीवाम्**='रोगकृमियों को हमसे **अपसेधत**=दूर करते हैं। अकर्मण्य व आलसी शरीर में ही बीमारियाँ आती हैं। व्यायामशील के समीप तो बीमारियाँ उसी प्रकार नहीं आती जैसे गरुड़ के समीप सर्प। हे आदित्यो! **स्त्रिधम्**=कुत्सा को, हिंसा को, औरों के प्रति द्वेषादि की भावना को हमसे दूर करो। स्तुति-निन्दा में वे ही व्यक्ति चलते हैं जो अकर्मण्य होते हैं। इसी प्रकार **दुर्मतिम्**=अशुभ विचारों को हमसे दूर करो। क्रियाशील व्यक्ति का मस्तिष्क कभी भी दूषित विचारधाराओं को अपने मस्तिष्क में स्थान नहीं देता, इसीलिए हमें 'इरिम्बिठि' बनना ही चाहिए। हम थोड़ा-थोड़ा करके इस बात का अभ्यास करें कि हमारे हृदय कर्म-संकल्पवाले हों।

भावार्थ—मैं आदित्यों से क्रिया की प्रेरणा प्राप्त करके रोग, कुत्सा व दुर्गति से दूर हो जाऊँ।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिपदाविराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रभु का अन्तिम निर्देश

३९८. पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः। सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा॥ ८॥

वेद में स्थान-स्थान पर हम यह देखते हैं कि जहाँ कहीं शरीर, मन व बुद्धि के उत्थान की प्रार्थना है, वहाँ प्रभु ने 'सोमपान' का निर्देश किया है। चारों वेदों की समाप्ति पर अथर्व के २०वें काण्ड में '**पिब सोममृतुना**'=यही उपदेश है कि समय रहते सोमपान करना। युवावस्था में ही सोमरक्षा का ध्यान करना। प्रस्तुत मन्त्र में भी प्रभु यही कहते हैं कि यदि तूने 'रोग, कुत्सा व दुर्गति' को दूर करना है तो हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **सोमं पिब**=सोम का पान कर। यह सोम **त्वा**=तुझे **मन्दतु**=हर्षित करे। इसके कारण तेरा जीवन उल्लासमय हो। उस सोम को तू पी **यम्**=जिसे **ते**=तेरे लिए **हर्यश्वाद्रिः**=हरि=मनुष्यों के हृदय में स्थित होकर प्रेरणा देनेवाले और वज्रहस्त प्रभु ने **सुषाव**=उत्पन्न किया है। प्रभु प्रेरणा देते हैं, परन्तु लाचारी में वज्र-प्रहार भी करते हैं। वस्तुतः प्रभु के इसी वज्र से जीव धर्म के मार्ग पर चलता है।

यह सोम **सोतुः**=जिसके लिए सोम का सवन हुआ है, उस जीव के **बाहुभ्याम्**=हाथों से निरन्तर किये जानेवाले कर्मों से (नाम प्रयत्न) **सुयतः**=उत्तम प्रकार से नियन्त्रित होता है।

निरन्तर प्रयत्न में लगा हुआ व्यक्ति वासनाओं का शिकार नहीं होता और इस प्रकार सोम की रक्षा में समर्थ होता है। सोम की रक्षा करके यह **अर्वा न**=अश्व की भाँति शक्तिशाली होता है। अश्व शक्ति का प्रतीक है। यह सोमपान करनेवाला भी अश्व—शक्ति का पुञ्ज बनता है।

सोम को सुयत=उत्तम प्रकार से नियन्त्रित करनेवाला यह सचमुच वसिष्ठ=वशियों में सर्वश्रेष्ठ है। इस वशित्व के लिए ही यह 'मैत्रावरुणि' प्राणापान की साधनावाला बना है।

भावार्थ—'सोमपान' यह प्रभु का अन्तिम निर्देश है—मैं उसके पालन को अपना पवित्र कार्य समझूँ।

नोट—*सोता=जीव—जिसके लिए सोम पैदा किया गया है। सविता=परमात्मा—जो सोम के उत्पादन की व्यवस्था करता है।*

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**ककुप्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

(जीव स्वभावतः पवित्र है) तीन प्रकार का युद्ध

३९९. अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि। युधेदापित्वमिच्छसे॥ १॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि **इन्द्र**=हे जीवात्मन्! **त्वम्**=तू **जनुषा**=जन्म से **सनात्**=अनादिकाल से **अभ्रातृव्य**=शत्रु से रहित **असि**=है, **अना**=(नृ=नेता) नेता से रहित है और **अनापि असि**=(आपि=a friend) मित्र से रहित है। संसार में वैयक्तिक संघर्षों में ईर्ष्या-द्वेष यहाँ तक बढ़ जाता है कि भाई-भाई नहीं रह जाता, वह भ्रातृव्य=शत्रु बन जाता है। इन युद्धों में पड़कर मनुष्य का जीवन अशान्त हो जाता है। उसकी शक्ति अपने उत्थान में न लगकर दूसरों को गिराने में लगती है। इन वैयक्तिक युद्धों के द्वारा वह कितने ही भ्रातृव्यों को पैदा कर लेता है।

इसी प्रकार कई बार राष्ट्रों के परस्पर हित टकराते-से प्रतीत होते हैं—या एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को स्वार्थवश दबाना चाहता है, उस समय राष्ट्रीय हित की भावना (देशभक्ति= Patriotism) राष्ट्रों को परस्पर लड़ा देती है। अपने प्राणों को हथेली पर लेकर देशभक्त लोग एक-दूसरे को कुचल डालने के लिए और अपने राष्ट्र के गौरव की स्थापना में तुल जाते हैं। इस कार्य के लिए उन्हें अपना एक नेता चुनना पड़ता है। यह जैसा-जैसा कहता है वैसा-वैसा ही यह अनुयायिवर्ग करता है। ये सब इन युद्धों के कारण 'ना'—नेतावाला हो जाते हैं।

इन दोनों युद्धों के अतिरिक्त एक युद्ध और भी है। वह युद्ध हृदयस्थली पर चलनेवाला दैवी व आसुरी वृत्तियों का संघर्ष है। इसे ही देवासुर संग्राम भी कहते हैं। इस देवासुर संग्राम में हमें काम बड़ा प्रमाथि व कुचल देनेवाला दिखता है=क्रोध अजय्य-सा प्रतीत होता है। बार-बार असमर्थ होकर हम उस अचिन्त्य शक्ति की ओर झुकते हैं और उससे कहते हैं कि **"त्वया स्विद् युजा वयम्"**—तुझसे मिलकर ही हम इन्हें जीत सकेंगे। सचमुच इस आध्यात्मिक **युधा इत्**=युद्ध के द्वारा ही, प्रभु कहते हैं कि हे जीव! तू मेरी मित्रता **इच्छसे**=चाहता है।

वैयक्तिक ईर्ष्या-द्वेष की लड़ाइयों के द्वारा भ्रातृव्यों को, राष्ट्र व युद्धों के द्वारा नेताओं को और इस आध्यात्मिक युद्ध के द्वारा सखा प्रभु की मित्रता को चाहता है। हम आध्यात्मिक

संग्राम के द्वारा प्रभु की मित्रता को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। जिसने भी अपने जीवन में इन संग्रामों को महत्त्व दिया उसी ने वस्तुतः अपने कर्त्तव्य का उत्तम पालन किया। इस संसार-नाटक में अपने कर्त्तव्यभाग का उत्तम प्रकार से भरण करने से वह 'सोभरि' कहलाया। ऐसा वह कण-कण करके कर पाया, अतः वह 'काण्व' हुआ।

भावार्थ—आध्यात्मिक संग्राम के द्वारा हम प्रभु के मित्र बनें।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**ककुप्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

उत्तम धनों की प्राप्ति

४००. यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु व स्तुषे। सखाय इन्द्रमूतये॥ २॥

सोभरि ऋषि कहते हैं कि **यः**=जो प्रभु **नः**=हमारे और **वः**=तुम्हारे लिए **इदम् इदम्**=इस-इस प्रत्यक्ष दृश्य व प्राप्त **प्रवस्यः**=प्रकृष्ट धन को **आनिनाय**=प्राप्त कराता है **तम्**=उस प्रभु को **उ**=ही **स्तुषे**=स्तुत करते हैं। हम उस प्रभु की ही स्तुति करते हैं। उस प्रभु ने हमारे शरीर की रक्षा व धारण के लिए किस प्रकार उत्तमोत्तम फलों, शाकों व अन्नों को उत्पन्न किया है। मानस उन्नति के लिए सृष्टि को विविध सौन्दर्यों से किस अद्‌भुत प्रकार से भर दिया है? और संसार के रहस्यों को समझने के लिए हमें बुद्धि दी है।

सोभरि कहते हैं कि **सखायः**=हे मित्रो! **इन्द्रम्**=हम उस प्रभु को ही पूजें, जिससे **ऊतये**=अपनी रक्षा के लिए समर्थ हों। उस प्रभु की उपासना से दूर होने पर ये प्राकृतिक शाक-फल-भोज्य पदार्थ विविध भोगों में परिणत हो जाते हैं और हमारी इन्द्रिय-शक्तियों को जीर्ण कर देते हैं। प्रभु की उपासना से दूर होने पर ये प्राकृतिक सौन्दर्य मन को प्रसन्नता से भरने के स्थान पर प्रलोभनों से भर देते हैं। इसी प्रकार प्रभु की उपासना से दूर होने पर हमारी बुद्धि भी नाश को उपस्थित कर देती है। प्रभु की उपासना ही ऊतये=रक्षा के लिए है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना के बिना सब उत्तम वसु रक्षा के स्थान पर नाश के कारण बन जाते हैं।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**ककुप्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

दूर क्यों?

४०१. आ गन्ता मा रिषण्यत प्रस्थावानो माप स्थात समन्यवः।
दृढा चिद्यमयिष्णवः॥ ३॥

क्योंकि प्रभु की उपासना के बिना सभी उत्तम वसु=धन नाश का कारण बन जाते हैं, अतः **आगन्त**=आओ, प्रभु की उपासना में सम्मिलित होओ। सखा बनकर सब मिलकर उस प्रभु की स्तुति करो और इस प्रकार **मा**=मत **रिषण्यत**=हिंसित होओ। प्रभु की उपासना करने पर न तो हम भोगों में फँसेंगे, न सौन्दर्य के प्रलोभनों का शिकार होंगे और न ही बुद्धि का दुरुपयोग करेंगे।

प्रस्थावानः=हे उत्तम (प्र) स्थिति (स्था) वालो! शम-दमादि उत्तम विचारों में स्थित-साथियो!

मा अपस्थात=दूर स्थित मत होओ, प्रभु की स्तुति में शामिल होओ। **स-मन्यवः**=सदा उत्तम ज्ञानवाले बनो अथवा सदा उत्साह सम्पन्न होओ। **दृढाचित्**=तुम अपने उत्तम संकल्पों में इसी प्रकार दृढ़ बनोगे और **यमयिष्णवः**=अपने को सदा व्रतों व नियमों के बन्धन में बाँधने के स्वभावाले होओगे। एवं, प्रभु की उपासना से उत्साह, दृढ़ता व व्रतरुचिता प्राप्त होती है और मनुष्य का जीवन बड़ा सुन्दर व्यतीत होता है। वह आगे और आगे ही बढ़ता है, अतः प्रभु की उपासना से दूर क्यों होना?

भावार्थ—मैं सदा प्रभु की उपासना की रुचिवाला बनूँ, जिससे मेरी हिंसा न हो, मेरी शम-दमादि में स्थिति बनी रहे, मैं उत्साहवाला, दृढ़ व संयमी बनूँ।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**ककुप्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

प्रभु का आमन्त्रण

४०२. आ याह्यमिन्दवेऽश्वपते गोपत उर्वरापते। सोमं सोमपते पिब॥ ४॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि **आयाहि**=आ **अयम्**=यह सोम **इन्दवे**=तेरे परमैश्वर्य के लिए होगा। हे **सोमपते**=सोम की रक्षा करनेवाले या सोम के स्वामिन् जीव! तू **सोमं पिब**=सोम का पान कर। इस सोम के पान से तुझे **अश्वपते, गोपते, उर्वरापते**=इन शब्दों से सम्बोधित किया जा सकेगा। तू अश्वपति, गोपति और उर्वरापति कहलाएगा। कर्मों में व्याप्त होनेवाली कर्मेन्द्रियाँ 'अश्व' कहलाती हैं। तू इनका पति बनकर इन्हें सदा यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों में व्याप्त रक्खेगा। **गमयन्ति अर्थान्**=तत्त्वज्ञान देने के कारण ज्ञानेन्द्रियाँ 'गो' कहलाती हैं। तू इनका पति बनेगा, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का ठीक उपयोग करनेवाला होगा। नव-नव उन्मेषशालिनी=नये-नये विचारों को सुझानेवाली अथवा विचारों को नये-नये प्रकार से प्रकट करनेवाली प्रतिभा=बुद्धि को यहाँ 'उर्वरा कहा गया है। सोम के पान से यह जीव उर्वरापति बनेगा।

कर्मेन्द्रियों का उत्तम होना, ज्ञानेन्द्रियों का सूक्ष्मता तक देखनेवाला होना और बुद्धि का तीव्र होना—ये सोमपान के लाभ हैं। यही सर्वोच्च ऐश्वर्य है। सोम के पान से यह सोभरि इस ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला बना है, इसीलिए तो प्रभु ने उसे आमन्त्रित किया था कि वह आये और इस सोम का पान करे।

भावार्थ—हम प्रभु के आमन्त्रण को स्वीकार करके सोमपान करनेवाले बनें।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**ककुप्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

जितेन्द्रियों के सम्पर्क में

४०३. त्वया ह स्विद्युजा वयं प्रति श्वसन्तं वृषभ ब्रुवीमहि। संस्थे जनस्य गोमतः॥ ५॥

प्रभु ने सोमपान के लिए आमन्त्रण दिया। सोभरि उस आमन्त्रण को सुनकर अनुभव करता है कि इस आमन्त्रण के स्वीकार में सबसे बड़ा विघातक 'काम' है। उसे पराजित करना भी तो उसके लिए सुगम नहीं है, अतः वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **ह स्विद्**=निश्चयपूर्वक **त्वया**=आप-से **युजा**=साथी से मिलकर **वयम्**=हम **वृषभ**=शक्तिशालिन् व सुखों की वर्षा करनेवाले प्रभो! **श्वसन्तम्**=इस फुँकार मारते हुए, बल के दर्पवाले इस कामरूप शत्रु को **प्रतिब्रुवीमहि**=युद्ध के लिए ललकार दें। उसके आह्वान का ठीक प्रत्युत्तर

दे दें। हे प्रभो! आपकी सहायता के बिना मेरे लिए इसे जीत सकना सम्भव नहीं। इसे जीते बिना मेरे लिए सोमपान के आमन्त्रण का स्वीकार भी तो असम्भव है।

हाँ, आपकी निराकारता मुझ घबराये हुए के लिए एक बड़ी समस्या उपस्थित कर देती है। मैं आपके पीछे आऊँ भी तो कैसे? देखूँ, तभी तो। न आपको देख पाता हूँ और न आपका अनुगामी बन पाता हूँ। ऐसी स्थिति में इसका एक ही समाधान है कि मैं उन व्यक्तियों का अनुगामी बनूँ जो आपका साक्षात्कार करके आपके पीछे आ रहे हैं। **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **जनस्य**=लोगों के **संस्थे**=साथ मिलकर ठहरने में ही मेरा कल्याण है। ये लोग आप तक पहुँचेंगे तो इनके पीछे चलता हुआ मैं भी आप तक क्यों न पहुँचूँगा? आपकी छत्रछाया में रहते हुए ये कामादि वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते तो इनकी छत्रछाया मुझे भी इस आक्रमण से बचाएगी ही। वे निराकार के उपासक हैं तो मैं निराकार के इन साकार उपासकों का साकार उपासक हूँ। आपके सङ्ग से ये तरेंगे, और इनके सङ्ग मैं भी। हे प्रभो! आपकी कृपा से इन प्रशस्तेन्द्रिय, विकासशील सन्तों का सम्पर्क पाकर, कामादि को जीतकर मैं आपके सोमपान के आमन्त्रण को स्वीकार करनेवाला बनूँ तभी तो मैं अपने जीवन-कर्त्तव्य का सुभरण कर पाऊँगा।

भावार्थ—मैं सदा प्रशस्तेन्द्रिय सन्तों के सम्पर्क में रहनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**ककुप्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

जीवन-यात्रा की तीन बातें

४०४. गावश्चिद्घा समन्यवः सजात्येन मरुतः सबन्धवः। रिहते ककुभो मिथः॥ ६॥

सयनों के सम्पर्क में रहते हुए हमें प्रयत्न करना चाहिए कि **गावः**=हमारी इन्द्रियाँ **चित् घ**=निश्चय से **समन्यवः**=मन्युसहित हों। 'मन्यु' शब्द 'दैन्य, क्रतु व क्रोध' इन अर्थों का वाचक है। 'क्रतु' में 'ज्ञान और कर्म' दोनों समाविष्ट हैं। 'गावः' शब्द इन्द्रियों का वाचक है। जब 'गौ और अश्व' दोनों शब्दों का प्रयोग होता है तब गौ का अर्थ ज्ञानेन्द्रिय है, अश्व का अर्थ कर्मेन्द्रिय है, परन्तु ये दोनों शब्द अलग-अलग भी इन्द्रियों के वाचक हैं। केवल गौ शब्द ही सब इन्द्रियों को कह देता है और केवल अश्व शब्द भी सब इन्द्रियों को कहता है। ज्ञान को मुख्यता देनी हो तो 'गौ', कर्म को मुख्यता देनी हो तो 'अश्व'। एवं, यहाँ कहना यह है कि हमारी इन्द्रियाँ ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाली हों, अतः 'गावः' का प्रयोग हुआ है। ये इन्द्रियाँ ज्ञान+कर्म को अपना ध्येय बनाएँ। ये इन्द्रियाँ 'ज्ञानयज्ञ व कर्मयज्ञ' का विस्तार करनेवाली हों। इस जीवन में मैं कर्मशून्य, थोथे ज्ञानवाला न बनूँ और ज्ञानशून्य अन्धे कर्मवाला भी न होऊँ।

मैं इस बात का अनुभव करूँ कि **सजातेन**=समान जाति के कारण, मनुष्यत्व के नाते **मरुतः**=सब मनुष्य **सबन्धवः**=सामान्यरूप से मेरे बन्धु हैं। इस-(एकत्व)-का अनुभव करके मैं शोक और मोह से ऊपर उठ जाऊँ, किसी से भी घृणा न करूँ। एकत्व भावना का प्रतिदिन अभ्यास करते हुए मैं अन्त में इस स्थिति में पहुँचूँ कि **ककुभः**=सब दिशाएँ—सब दिशाओं में रहनेवाले लोग **मिथः**=आपस में **रिहते**=प्रेम से चुम्बन लेनेवाले हों। सबमें किस प्रकार प्रेम हो जैसेकि **'वत्सं जातमिवाघ्न्या'**=उत्पन्न बछड़े को गौ प्रेम करती है। किस प्रेम से चूम-चाटकर वह बछड़े को पवित्र कर डालती है। इसी प्रकार हम प्रेम से एक दूसरे के जीवन को सुन्दर

बनानेवाले हों।

जिस भी मनुष्य ने इन्द्रियों में ज्ञान व कर्म का समुच्चय कर सभी के साथ बन्धुत्व को अनुभव किया और प्रेम से सभी के जीवनों को निर्मल कर दिया वह सचमुच 'सोभरि' है। उसने अपनी जीवन-यात्रा का भाग उत्तमता से पूर्ण किया है।

भावार्थ—मैं केवल ज्ञानी व केवल कर्मकाण्डी न बन जाऊँ। मैं सभी के साथ एक हो जाऊँ। मेरा सभी के साथ सम्पर्क प्रेमपूर्ण हो।

ऋषिः—**नृमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**ककुप्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

ओज-नृम्ण-सहस्

४०५. त्वं न इन्द्रा भर ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे। आ वीरं पृतनासहम्॥ ७॥

हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिसम्पन्न प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हममें **ओजः**=शक्ति को **आभर**=सर्वथा भर दीजिए। 'ओज' वह शक्ति है जो (ओज=to increase) सब प्रकार की वृद्धि का कारण हुआ करती है। यह वीर्य की भी सारभूत वस्तु है। इसको अपने को भर सकने का उपाय एक ही है कि हम भी 'इन्द्र'—इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनें। इन्द्र की अराधना करनेवाले को इन्द्र बनना ही चाहिए। इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनकर हम शक्ति-सम्पन्न बनेंगे और उस दिन उस सर्वशक्तिमान् 'इन्द्र' के सच्चे उपासक होंगे।

हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व यज्ञरूप कर्मोंवाले प्रभो! **नः**=हमें **नृम्णम्**=सुख **आभर**=प्राप्त कराइए। वस्तुतः सुख प्राप्त करने के लिए हमें भी 'शतक्रतु' बनना है। हमारे सौ-के-सौ वर्ष क्रतुमय—यज्ञमय बीतें। यज्ञमय जीवन होनेपर हमारा घर स्वर्गतुल्य बन जाएगा। इससे हम फूलें-फलेंगे और यह यज्ञ हमारी सब इच्छाओं को पूर्ण करनेवाला होगा।

हे **विचर्षणे**=विशेषरूप से देखनेवाले प्रभो! हमें **आवीरम्**=सब प्रकार से वह वीरता प्राप्त कराइए जोकि **पृतनासहम्**=हमें सब मनुष्यों को सह सकने योग्य बनाये, अर्थात् हममें वह शक्ति हो जो हमें इतना उदार बना दे कि हम अज्ञ लोगों से समय-समय पर किये जानेवाले मानापमानों को सह सकें। उनकी स्तुति-निन्दा हमें विचलित करनेवाली न हो। यह गुण—यह सहनशीलता हममें आएगी तभी जब हम 'विचर्षणि' बनेंगे—प्रत्येक वस्तु को सूक्ष्मता से देखनेवाले बनेंगे। विचारशील सदा सहिष्णु होता है।

यह ओजस्वी व सहनशील व्यक्ति सुखी जीवनवाला तो होता ही है—यह औरों के साथ मिलकर चलने से 'नृमेध' कहलाता है और शक्तिसम्पन्न होने से 'आङ्गिरस' है।

भावार्थ—मैं जितेन्द्रिय बनकर 'ओजस्वी' बनूँ। यज्ञमय जीवनवाला बनकर सुख को सिद्ध करूँ और तत्त्वज्ञानी बनकर मानापमान व स्तुति-निन्दा में सम रहूँ।

ऋषिः—**नृमेध आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**ककुप्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

मुमुक्षुत्व

४०६. अधा ह्यीन्द्र गिर्वण उप त्वा काम ईमहे ससृग्महे। उदेव ग्मन्त उदभिः॥ ८॥

अध=अब—ओजस्वी, यज्ञशील व सहस्वाला बनकर **हि**=निश्चय से **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमन् प्रभो! हे **गिर्वणः**=वेद-वाणियों से वननीय—सेवनीय व जीतने योग्य प्रभो!

कामे=आपको प्राप्त करने की प्रबल इच्छा होने पर **ईमहे**=हम आपको पाने के लिए प्रयत्नशील होते हैं और **त्वा**=आपका **उप**=समीप से **ससृग्महे**=मेल करनेवाले होते हैं।

कोई भी व्यक्ति प्रभु को पाएगा कब? जब उसके अन्दर प्रभु को पाने की प्रबल कामना होगी। प्रबल कामना होनेपर वह पुरुषार्थ करेगा और पुरुषार्थ के परिणामस्वरूप प्रभु को पानेवाला होगा। पुरुषार्थ का स्वरूप भी 'इन्द्र और गिर्वणः' इन सम्बोधनों से सूचित हो रहा है। जीव को जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करना (इन्द्र) और सदा वेदवाणियों का सेवन करनेवाला बनना (गिर्वणः)। जितेन्द्रियता व ज्ञान-प्राप्ति ही ये दो साधन हैं, जिनसे जीव प्रभु के साथ मेल को सिद्ध कर पाएगा। जितेन्द्रियता व ज्ञानप्राप्ति के लिए जीव में प्रबल कामना होनी चाहिए। इनके होने पर वह प्रभु को उसी प्रकार पा सकेगा **इव**=जैसेकि **उदा**=पानी की प्रबल कामना से **उदभिः**=पानियों के साथ **ग्मन्त**=मेल प्राप्त करते हैं। जब मनुष्य प्रबल तृषार्त होकर पानी की इच्छा से प्रयत्न में लगता है तब पानी को पा ही लेता है, इसी प्रकार प्रभु-प्राप्ति की प्रबल अभिलाषा मुझे प्रयत्नशील बनाकर प्रभु को प्राप्त कराएगी ही। यह जिज्ञासु राग-द्वेष से ऊपर उठकर सब मनुष्यों से मिलकर चलता है, अतः 'नृ-मेध' है, शक्तिशाली होने से 'आङ्गिरस' है। जो अपने सजातीय बन्धुओं से मिलकर नहीं चल पाता उसने प्रभु को क्या पाना?

भावार्थ—मुझमें प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना हो।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**ककुप्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

अभ्यास

४०७. सीदन्तस्ते वयो यथा गोश्रीते मधौ मदिरे विवक्षणे। अभि त्वामिन्द्र नोनुमः॥ ९॥

गत मन्त्र में प्रभु-प्राप्ति के लिए प्रयत्न का संकेत है। वह प्रयत्न ही इस मन्त्र में प्रतिदिन के 'अभ्यास' के रूप में चित्रित हुआ है। **यथा**=जैसे **गोश्रीते**=इस पृथिवी पर पके हुए **मदिरे**=अत्यन्त मादक **विवक्षणे**=(to increase) प्राणशक्ति की वृद्धि के कारणभूत **मधौ**=पुष्परस पर **वयः**=पक्षी **सीदन्तः**=बैठते हैं, इसी प्रकार हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! हम **ते**=तेरे **गोश्रीते**= वेदवाणियों से सेवित **मदिरे**=उल्लास देनेवाले **मधौ**=अत्यन्त माधुर्य से युक्त—जहाँ किसी प्रकार के राग-द्वेष के पोषण की सम्भावना नहीं, उस **विवक्षणे**=विशिष्ट (वक्षणा=नदी) नदीवाले स्थान पर **सीदन्तः**=बैठे हुए **त्वाम् अभि**=तेरा लक्ष्य बनाकर **नोनुमः**=खूब स्तवन करते हैं।

उपासना का स्थान कैसा होना चाहिए? १. जिस स्थान पर वेदवाणियों का उच्चारण हो रहा हो, २. जहाँ किसी प्रकार के राग-द्वेष की सम्भावना न हो, ३. जहाँ सारी प्रकृति में उल्लास-ही-उल्लास हो ४. और नदी आदि के रूप में शान्त जल की उपस्थिति हो। भ्रमरादि भी तो ऐसे फूल पर ही बैठते हैं जो १. पृथिवी पर पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ है, २. रसमय है, ३. हर्ष देनेवाला है ४. और प्राणशक्ति को बढ़ानेवाला है। मन्त्र में 'गोश्रीते' आदि शब्द श्लेष से दोनों अर्थों को कह रहे हैं। प्रतिदिन प्रातः उल्लिखित शान्त स्थान में प्रभु का ध्यान करते हुए हम इस निरन्तर के अभ्यास से एक दिन प्रभु को अवश्य पानेवाले होंगे। प्रतिदिन अभ्यास करनेवाला व्यक्ति ही अपने कर्त्तव्य का सु-भरण करनेवाला 'सोभरि' बनता है। प्रतिदिन प्रभु का ध्यान करते हुए यह धीमे-धीमे उस प्रभु-जैसा बन पाता है। जिसका सतत

ध्यान व जप करते हैं, वैसे ही बन जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिए हम दैनन्दिन अभ्यास अवश्य करें।

ऋषिः—**सोभरिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**ककुप्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

वैराग्य

४०८. वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽ वस्यवः। वज्रिञ्चित्रं हवामहे॥ १०॥

प्रभु के साथ मेल के लिए चित्तवृत्तिनिरोध आवश्यक है। चित्तवृत्तिनिरोध का ही नाम 'योग' हो गया है। इस योग के प्रमुख साधन 'अभ्यास और वैराग्य' हैं। अभ्यास का उल्लेख गत मन्त्र में हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में 'वैराग्य' का वर्णन करते हैं। प्रकृति के प्रति राग का न होना ही वैराग्य है। यह प्रकृति के प्रति वैराग्य तभी होगा जब हम प्रभु व प्रकृति का विवेक करेंगे। बिना विवेक के वैराग्य सम्भव नहीं। इसी विवेक को इस रूप में कहते हैं कि हे **अपूर्व्य**=न पूरण करने योग्य प्रभो! **वयम्**=हम **उ**=निश्चय से **त्वाम्**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु सब प्रकार से पूर्ण होने से 'अपूर्व्य' हैं। प्रभु की प्राप्ति होने पर जीव सन्तोष व तृप्ति का अनुभव करता है। प्रभु की प्राप्ति में ही पूर्णता है।

स्थूरम् भरन्तः कच्चित् न=क्या हम उस स्थिर अवलम्बनभूत प्रभु का अपने अन्दर भरण न करेंगे? प्रभु ही एक स्थिर अवलम्बन हैं। प्रभु को आश्रय बनानेवाला कभी भटकता नहीं।

अवस्यवः=रक्षा चाहते हुए हम आपको पुकारते हैं। प्रकृति की ओर जाकर तो मनुष्य उसके पाँव तले कुचला जाता है। प्रभु की शरण में रहने पर वह प्रकृति का शिकार नहीं होता। प्रभु के उपासक के प्रकृति चरण चाटती है और अपने उपासक को वह खा जाती है। 'ओ३म्' शब्द की रचना में अ (परमात्मा) की ओर जाकर (उ) हम जीव उसके मस्तक पर होते हैं, और (म्) प्रकृति की ओर जाने पर उसके पाँव के तले रौंदे जाते हैं।

वज्रिन्=हे प्रभो! आप स्वाभाविक गतिवाले हैं (वज गतौ) और प्रकृति 'तम' (inert, गतिशून्य) है। आपको प्राप्त करने पर मैं गति व जीवन को प्राप्त करता हूँ तो प्रकृति की ओर जाकर मैं गतिशून्यता व मृत्यु का भागी होता हूँ।

चित्रम्=आप (चित्र) ज्ञान के देनेवाले हैं और प्रकृति मेरे ज्ञान को नष्ट कर मुझे अन्धा बनानेवाली है।

एवं, प्रकृति और प्रभु में विवेक करनेवाला व्यक्ति कभी भी प्रकृति में आसक्त नहीं हो सकता और यह विवेक-जनित वैराग्य उसे परमेश्वर की प्राप्ति के योग्य बनाता है।

भावार्थ—मैं प्रभु और प्रकृति में विवेक करूँ। १. प्रभु प्राप्ति में तृप्ति है प्रकृति में अतृप्ति। २. प्रकृति का अवलम्बन अस्थिर है, प्रभु का स्थिर। ३. प्रभु की ओर आने में रक्षा है, प्रकृति की ओर जाने में विनाश, ४. प्रभु-प्राप्ति में जीवन है—प्रकृति में मृत्यु, ५. प्रभु प्रकाशमय हैं, प्रकृति अन्धकारमय। इस विवेक के द्वारा मैं प्रकृति के प्रति अनासक्त बनूँ।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—**सम्मदो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

स्वराज्य के बाद

४०९. स्वादोरित्था विषूवतो मधोः पिबन्ति गौर्यः।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभथा वस्वी रनु स्वराज्यम्॥ १॥

वेदवाणी का आस्वादन—वेद में गौरी शब्द 'वाक्' का पर्यायवाची है। वाणी अन्य इन्द्रियों की भी प्रतिनिधि है। अग्नि ही तो वाणी का रूप धारण करके मुख में प्रविष्ट हुई। यह अग्नि देवताओं का मुख वा द्वार है। यह उन सबका 'अग्रणीः' है। एवं, वाणी अन्य सब इन्द्रियों का प्रतिनिधित्व करती है। यहाँ 'गौर्यः' इस बहुवचन का प्रयोग भी यह स्पष्ट करता है कि 'गौर्यः' शब्द से सभी इन्द्रियों को लेना है। इन इन्द्रियों के लिए कहते हैं कि **गौर्यः**=मेरी सब इन्द्रियाँ शुद्ध बनी हुई (गौर=धवल, शुभ्र) **स्वादोः इत्था**=सचमुच आनन्द देनेवाले **विषुवतः**=सर्वव्यापक प्रभु के **मधोः**=मधुरूप अत्यन्त सारभूत वेदज्ञान का **पिबन्ति**=पान करती हैं। 'वेदज्ञान रसवाला है' यह अनुभव प्रत्येक स्वाध्यायशील व्यक्ति का होता है। प्रारम्भ में अगम, दुर्बोध, नीरस प्रतीत होनेवाले मन्त्र ज़रा-सा प्रवेश होने पर सरस प्रतीत होने लगते हैं। अन्त में उनका आनन्द शब्द से वर्णनीय ही नहीं रहता। उनका एक-एक शब्द महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने लगता है—उनके शब्दों का क्रम चमत्कारिक दिखता है। ये वेदवाणियाँ मधुरूप हैं—अत्यन्त सारभूत हैं। इनका एक-एक शब्द ज्ञान का भण्डार है। इनमें सम्पूर्ण ज्ञान बीजरूप से निहित है, इसलिए हम अपनी इन्द्रियों से सदा इसका पान करें।

कैसी इन्द्रियाँ—परन्तु कौन-सी इन्द्रियाँ इसका पान करती हैं! १. **याः**=जो **इन्द्रेण**=आत्मा के साथ **सयावरीः**=मिलकर चलनेवाली हैं। जब इन्द्रियाँ आत्मा से दूर प्राकृतिक भोग्य पदार्थों में विचरती हैं, तब उनके लिए वेदवाणियाँ रुचिकर नहीं होती। २. **वृष्णाः**=जो शक्तिशाली हैं। आत्मा के साथ विचरने के कारण भोगमार्ग पर न जाने का परिणाम है कि ये शक्तिशाली बनी हुई हैं। ३. **मदन्ति**=जो हर्षित होती हैं। एक-एक इन्द्रिय जब शक्तिशाली होती है तब जीवन में एक उल्लास होता है। ४. **शोभथाः**=उस समय ये इन्द्रियाँ शक्ति-उल्लास व शक्तिजन्य उत्तम कर्मों से शोभावाली होती हैं। ये चमकती हैं। इसी दिन इनका 'देव' नाम सार्थक होता है, ५. **वस्वीः**=ये उत्तम निवासवाली होती हैं, अर्थात् इन्द्रियों का आत्मा के साथ विचरण करने, शक्तिशाली, उल्लासमय व शोभायुक्त होने पर ही जीव का शरीर में उत्तम वास होता है।

कब—अब प्रश्न यह है कि 'इन्द्रियाँ ऐसी बनेंगी कब'? मन्त्र में उत्तर देते हैं कि **अनुस्व-राज्यम्**=स्वराज्य के बाद। जब मनुष्य अपना राजशासन कर पाएगा, तभी उसकी इन्द्रियाँ उल्लिखित प्रकार की बन पाएँगी। आत्मनियन्त्रण के बिना इन्द्रियों का उत्तम बनना सम्भव नहीं। **'सर्वमात्मवशं सुखम्'** आत्मा के वश होने पर ही सब 'सु-ख'=इन्द्रियों की उत्तमता होती है। स्वाधीनता में ही आनन्द है। स्वराज्य=आत्मसंयम (Self-control) के बाद इस उल्लास व हर्ष का अनुभव करनेवाला 'सम्मद' (उत्तम हर्षवाला) इस मन्त्र का ऋषि है। सब विषयों को त्यागकर (रह त्यागे) ही यह ऐसा बना है, अतः राहू=त्यागनेवाला है।

त्यागनेवालों में भी प्रथम स्थान में गणनीय होने से 'राहूगण' है।

भावार्थ—आत्मसंयम से मैं इन्द्रियों को आत्मा के साथ विचरनेवाला बनाकर इनसे वेदवाणियों का रस लेनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**सम्मदो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

षट्क-सम्पत्ति

४१०. इत्था हि सोम इन्मदो ब्रह्म चकार वर्धनम्।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निः शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम्॥ २॥

जिस समय जीव की सब इन्द्रियाँ प्रभु की सारभूत, रसमयी वेदवाणी का पान करती हैं तब **इत्था**=सचमुच **हि**=निश्चय से १. **सोमः**=वह विनीत बनता है। 'ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति'—ज्ञान से नीचे देखता है। जब सब इन्द्रियाँ ज्ञान का पान करेंगी तो क्या यह विनीत न बनेगा? २. उस समय **इत्**=निश्चय से इसका जीवन **मदः**=उल्लासमय होगा। संसार में सारे कष्ट अज्ञान के कारण हैं, अज्ञानवश मनुष्य बड़ी-बड़ी इच्छाएँ व आशाएँ करता है और उनके पूरा न होने पर दुःखी होता रहता है। ३. इस तत्त्व को समझकर यह सदा **ब्रह्म वर्धनं चकार**=ज्ञान को बढ़ाता है। ४. यह व्यक्ति **शविष्ठ**=अत्यन्त शक्तिशाली बनता है। विद्याव्यसनी व्यसनान्तरों से बचकर शक्तिशाली क्यों न बनेगा? ५. शक्ति का सम्पादन करके **वज्रिन्**=यह गतिशील होता है। यह कर्मशील बने रहना ही इसे पवित्र भी बनाये रखता है। ६. इस प्रकार क्रियाशील होता हुआ यह **ओजसा**=ओज व शक्ति के द्वारा **पृथिव्याः**=अपने इस पार्थिव शरीर से **अहिम्**=कुटिलता व (आहन्ति इति अहिः) हिंसा की भावना को **निःशशाः**=दूर भगा देता है। इसके जीवन में सरलता होती है, सरलता ही तो ब्रह्मशक्ति का मार्ग है।

इस उल्लिखित षट्कसम्पत्ति को यह पाता तभी है जब यह **अनुस्वराज्यम्**=आत्मसंयम का **अर्चन्**=आदर करता है। आत्मसंयम की भावना और ज्ञान की रुचि होने पर ही उसे यह षट्कसम्पत्ति प्राप्त होगी। इसे प्राप्त करके यह बाह्य सम्पत्ति को तुच्छ समझनेवाला और त्यागनेवाला 'राहूगण' होगा और उल्लासमय जीवनवाला 'सम्मद' होगा।

भावार्थ—विनीतता, उल्लास, ज्ञानवर्धन, शक्ति, क्रियाशीलता तथा कुटिलता व हिंसा का अभाव—इस षट्कसम्पत्ति को मैं प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**सम्मदो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

संयम-यज्ञ

४११. इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः।
तमिन्महत्स्वाजिषूतिमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत्॥ ३॥

इन्द्रः=इन्द्रियों को वश में करनेवाला व्यक्ति **मदाय वावृधे**=आनन्द के लिए बढ़ता चलता है। भोग-मार्ग प्रारम्भ में रमणीय है, परन्तु उत्तरोत्तर उसकी रमणीयता कम होती जाती है। इसके विपरीत संयम-मार्ग में प्रारम्भ में नीरसता व कठिनता है, परन्तु उत्तरोत्तर उसका सौन्दर्य बढ़ता जाता है। जितेन्द्रियता व संयम का पहला परिणाम यही है कि जीवन अधिकाधिक

उल्लासमय होता चलता है। २. इसका दूसरा परिणाम यह है कि यह संयमी पुरुष **शवसे**=‘क्रियाशील शक्ति के लिए (शव गतौ, शवस्=बल) **वावृधे**=बढ़ता है। इसकी शक्ति बढ़ती चलती है और शक्ति-वृद्धि के साथ यह अधिकाधिक क्रियाशील होता चलता है और यह क्रियाशीलता इसे ३. **वृत्रहा**=वृत्रों का—वासनाओं का नष्ट करनेवाला बनाती है।

क्रियाशीलता ही उसे वासनाओं के मालिन्य से बचाये रखती है। ४. यह संयमी आगे और आगे बढ़ता है, परन्तु अकेला नहीं **नृभिः**=मनुष्यों के साथ, उन मनुष्यों के साथ जिनकी आगे बढ़ने की वृत्ति है (नृ नये)। यह संयमी पुरुष अकेले तो अपनी मुक्ति भी नहीं चाहता। यह औरों के साथ ही अपने को मुक्त करना चाहता है।

५. इस संयम-यज्ञ में शतशः असुरों द्वारा विघ्न किये जाते हैं। उन विघ्नों को अकेले जीत लेना यह संयमी असम्भव-सा समझता है, अतः यह कहता है कि हम **इत्**=निश्चय से **तम्**=उस सर्वव्यापक (तनु विस्तारे) **ऊतिम्**=रक्षा करनेवाले प्रभु को **महत्सु आजिषु**=बड़े-बड़े संग्रामों में तथा **अर्भे**=छोटे-छोटे संग्रामों में **हवामहे**=पुकारते हैं। महाव्रत और अल्पव्रतों के रूप में बड़े-बड़े युद्ध और छोटे-छोटे युद्ध हमारे जीवन में चला करते हैं। उनमें उस प्रभु की सहायता से ही हम विजयी बनते हैं।

सः=वह प्रभु **वाजेषु**=उत्कट युद्धों (Battles) में **नः**=हमें **प्र अविषत्**=प्रकर्षेण रक्षित करे। (आजि=war, वाज=Battle)। उस प्रभु की सहायता से मैं भी इन वासनाओं के साथ होनेवाले छोटे-बड़े सभी संग्रामों को जीत पाऊँगा और मेरा यह संयम-यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण होगा।

भावार्थ—प्रभु की सहायता से मैं अपने संयम-यज्ञ को पूर्ण करूँ।

ऋषिः—**सम्मदो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

उपाय-पञ्चक

४१२. इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन् वीर्यम्।
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तव त्यन्माययावधीरर्चन्ननु स्वराज्यम्॥ ४॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! हे **अद्रिवः**=(अ+दृ) अपने निश्चय से पृथक् न किये जाने योग्य, अर्थात् दृढ़ संकल्प व पक्के व्रतोंवाले जीव! हे **वज्रिन्**=गतिशील जीव! **तुभ्यम् इत्**=तेरे लिए ही **वीर्यम्**=वह शक्ति है जोकि **अनुत्तम्**=कभी भी परे नहीं धकेली जा सकती। जिस समय जीव इन्द्रियों को वश में कर लेता है, दृढ़ संकल्पवाला होता है और सतत क्रियाशील बन जाता है तब उसे वह शक्ति प्राप्त होती है जो किसी भी प्रकार न्याय्यमार्ग से विचलित नहीं की जा सकती। इस अपराजेय शक्ति को प्राप्त करने का रहस्य यह भी है कि **यत्**=जो **ह**=निश्चय से **त्यम्**=उस **मयिनं मृगम्**=मायावी मृगतृष्णा के दृश्य के समान कभी भी तृष्णा को शान्त न होने देनेवाले ‘काम’ को **तव**=तूने अपने **त्यत् मायया**=उस ज्ञान से **अवधीः**=मार डाला। यहाँ ‘काम’ को ‘मायी मृग’ कहा है। यह हमें कहाँ-का-कहाँ ले-जाता है, परन्तु कभी हमारी तृप्ति का कारण नहीं बनता। मृगतृष्णा के दृश्य के समान यह मायामय है। ‘मां याति’ ‘मुझे प्राप्त हो रहा है’—ऐसी प्रतीति होती है, परन्तु प्राप्त थोड़े ही होता है। इस काम का ध्वंस भी माया=ज्ञान से ही होता है। काम ज्ञान का शत्रु है। ज्ञान की मन्द ज्योति को काम बुझा देता है और ज्ञान की प्रचण्ड

ज्वाला में वह स्वयं भस्म हो जाता है।

इस शक्ति की प्राप्ति का पाँचवाँ साधन 'अर्चन्ननु–स्वराज्यम्' इन शब्दों से सूचित हो रहा है कि **ननु**=निश्चय से तूने **स्वराज्यम्**=आत्मसंयम का **अर्चन्**=आदर किया है। आत्मसंयम को महत्त्व देने का ही परिणाम है कि तू अदम्य शक्ति को संचित कर सका है। इस अदम्य शक्ति के कारण इसका जीवन सदा उल्लासमय है।

भावार्थ—मैं जितेन्द्रियता, दृढ़ संकल्प, क्रियाशीलता, प्रचण्डज्ञान की ज्योति तथा संयम के आदर के द्वारा उस शक्ति को प्राप्त करूँ जो कभी पराजित न हो सके।

ऋषि:—**सम्मदो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रबल आक्रमण

४१३. प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्॥ ५॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि **प्रेहि**=प्रकर्षेण गतिवाला हो। तेरे एक-एक पग से उत्साह टपके। एक सत्त्ववान् योद्धा की चाल में जो उत्साह है वह तेरी भी चाल में हो। **अभीहि**=तू अपने शत्रुओं पर आक्रमण करने के लिए बढ़ चल—उनकी ओर न कि उनसे दूर। तेरी चाल में किसी प्रकार का भय व आशंका न हो। इस प्रकार आक्रमण करके तू **धृष्णुहि**=अपने इन काम-क्रोधादि शत्रुओं का धर्षण कर। इन्हें तू कुचल डाल। इस आक्रमण में **ते**=तेरी **वज्रः**=गति **न**=नहीं **नियंसते**=रोकी जाती। गत मन्त्र के उपायपञ्चक से अपराजेयशक्ति प्राप्त करके जब तू इन शत्रुओं पर आक्रमण करता है तब तेरा आक्रमण शत्रुओं से विहत नहीं होता। प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न जीव! **ते**=तेरा **शवः**=बल **हि**=निश्चय से **नृम्णम्**=(नृ नयने) शत्रुओं को झुका देनेवाला होता है। इस प्रकार तू **वृत्रं हनः**=ज्ञान के नित्य वैरी इस काम को नष्ट कर देता है और **अपः जय**=यज्ञरूप व्यापक कर्मों का विजेता बनता है। यह तू कर इसलिए पाएगा कि तू **ननु**=निश्चय से **स्वराज्यम्**=आत्मसंयम का **अर्चन**=आदर करता है। संयमी पुरुष वासनाओं को जीतकर प्रभु के सच्चे उपासक बनते हैं।

भावार्थ—हम वृत्र का विनाश करके स्वार्थ-शून्य उत्कृष्ट कर्म करनेवाले बनें।

ऋषि:—**सम्मदो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

आत्मनेपद (आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते)

४१४. यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धनम्।
युङ्क्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधोऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः॥ ६॥

यत्=जब **उदीरत**=उत्पन्न होते हैं **आजयः**=युद्ध, तब **धृष्णवे**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले के लिए **धनम्**=आध्यात्मिक सम्पत्ति **धीयते**=धारण की जाती है। जिन व्यक्तियों के जीवन में युद्ध की भावना उत्पन्न ही नहीं होती वे कभी उन्नत नहीं होते। परिवार की आपस में लड़ाई तो तामस् लड़ाई है, राष्ट्रों के युद्ध राजस् हैं, परन्तु यह अध्यात्म युद्ध सात्त्विक है।

जिसके जीवन में यह हृदयस्थली पर चलनेवाला देवासुर संग्राम उत्पन्न ही नहीं होता और जैसी इच्छा उत्पन्न हुई उसे पूरा कर लेता है, वह व्यक्ति कभी उन्नत नहीं हो पाता। उन्नति के लिए यह अध्यात्मसंग्राम आवश्यक है—यह प्रभु-पूजा का अङ्ग है। मनुष्य को युद्ध में प्रवृत्त होना ही चाहिए, इच्छाओं का विवेक करके अशुभ इच्छा को दबाना ही चाहिए और जब तक पूर्ण विजय प्राप्त न हो तब तक 'युधि-ष्ठिर'=युद्ध में स्थिर होना चाहिए।

विजय पाने के पश्चात् तू अभिमान नामक असुर का शिकार न हो जाए, अत: प्रभु कहते हैं कि इस विजय के पश्चात् तू **मदच्युता-हरी**=अभिमान से रहित घोड़ों (इन्द्रियों) को इस शरीररूप रथ में **युंक्ष्व**=जोत। 'युंक्ष्व' यह आत्मनेपद का प्रयोग यह संकेत करता है कि मनुष्य ने अपनी उन्नति के लिए यह करना ही है। अन्यथा यह अभिमान तो न जाने **कम्**=किस-किसको **हन:**=मार डालता है, **कम्**=उस एक-आध व्यक्ति को ही यह **वसौ दध:**=वसु में—सर्वोत्तम स्थिति में धारण करता है जो इस अभिमान को ही कुचल डालता है। हम प्रभु से आराधना करते हैं कि **अस्मान्**=हमें तो हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमान् प्रभो! **वसौ**=उत्तम स्थिति में ही **दध:**=धारण कीजिए।

भावार्थ—१. मैं अध्यात्मसंग्राम को अपने अन्दर उत्पन्न करूँ, २. इसमें शत्रुओं का धर्षण करनेवाला बनूँ, ३. विजय-प्राप्ति के क्षण में अभिमान का शिकार न हो जाऊँ, ४. और अभिमान को जीतकर उत्तम निवासवाला बनूँ। इसके लिए मैं सदा कर्मशील बनूँ—क्रिया को अपनाऊँ।

ऋषि:—**सम्मदो राहूगण:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**पङ्क्ति:**॥ स्वर:—**पञ्चम:**॥

परस्मैपद (लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि)

४१५. अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी॥ ७॥

योगारूढ़ व्यक्ति का चित्रण प्रस्तुत मन्त्र में हुआ है। 'क्या यह योगारूढ़ खाता-पीता नहीं? इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र इन शब्दों में देता है कि **अक्षन्**=ये खाते हैं, **अमीमदन्त**=आमोद-प्रमोद (enjoy) भी करते हैं। सामान्य लोगों की भाँति योगी भी—अध्यात्मसंग्राम विजेता भी खाते-पीते हैं और आनन्द लेते हैं, परन्तु ये **प्रिया:**=शरीर के तर्पण के लिए ही भोजनादि के चाहनेवाले (प्री, तर्पण, कान्ति) प्रभु के प्यारे **हि**=निश्चय से **अव अधूषत**=वासना को कम्पित करके अपने से परे फेंक देते हैं। ये खाते हैं, परन्तु स्वाद के लिए नहीं खाते। ये भी सब कर्म करते हैं—परन्तु अनासक्त होकर।

इस प्रकार इन यज्ञरूप कर्मों से ही ये लोग **अस्तोषत**=प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु का स्तवन करते हुए ये **स्वभानव:**=आत्मप्रकाशवाले बनते हैं। ये 'अन्तर्ज्योति' बन जाते हैं। यह अन्दर का प्रकाश इन्हें आत्मालोचन में प्रवृत्त करके **विप्रा:**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाला बनाता है। ये अपनी कमियों को दूर करते हुए **नविष्ठयामती**=अत्यन्त गतिशील (नव गतौ) स्तुति व ज्ञान से युक्त होते हैं। ब्रह्मज्ञानी बनकर गौरव से कह सकते हैं कि जब कर्म हमें बाँधता ही नहीं तो कर्म से क्या घबराना? नि:शंक होकर हमें तो लोकहित के लिए कर्म करना ही है। प्रभु भी कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **ते**=अपने

इन **हरी**=घोड़ों को **नु**=निश्चय से **योज**=लोकहित के लिए—औरों के भले के लिए जोत ही। तुझे अपने लिए कुछ नहीं करना—योगारूढ़ होकर तेरी साधना पूर्ण हो गयी है तो तू औरों के लिए इस रथ को चलाता ही चल।

गत मन्त्र में 'युङ्क्ष्व' यह आत्मनेपद प्रयोग था। वहाँ अपनी उन्नति के लिए कर्म करने थे। प्रस्तुत मन्त्र में 'योज' परस्मैपद है। अब उसे औरों के हित के लिए कर्म में लगे रहना है। यह परस्मैपद और आत्मनेपद के प्रयोगमात्र से कर्मतत्त्व का सुन्दर उपदेश वेद की ही अद्भुत शैली है।

भावार्थ—१. मैं शरीर-धारण के लिए भोजन व प्रमोद को जीवन में स्थान दूँ, २. वासना को अपने से दूर रक्खूँ, ३. प्रभु का स्तोता बनूँ, ४. अन्तःप्रकाशवाला बनूँ, ५. मेरी स्तुति क्रियामय हो और मैं लोकसंग्रह की भावना से क्रियामय बना रहूँ।

ऋषिः—**सम्मदो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

हम ऐसे-वैसे न हों

४१६. उपो षु शृणुही गिरो मघवन्मातथाइव।
कदा नः सूनृतावतः कर इदर्थयास इद्योजा न्विन्द्र ते हरी॥ ८॥

जीव प्रभु से तीन प्रार्थनाएँ करता है—१. **उप उ**=समीपता से ही **सु**=उत्तम प्रकार से **गिरः**=हमारी वाणियों को **शृणुहि**=सुनिए। संसार में हम देखते हैं कि जो व्यक्ति बात ही करे और करे कुछ नहीं, उसकी बात सुनने की इच्छा नहीं होती। जो असम्बद्ध-सी बातें करे उसकी बात भी सुनने की इच्छा नहीं होती, अतः हे प्रभो! हम केवल वाग्वीर, असम्बद्ध प्रलाप करनेवाले न हों, जिससे हमारी प्रार्थनाएँ सुनी जाएँ। २. दूसरी प्रार्थना यह है कि **मघवन्**=हे पापशून्य ऐश्वर्यवाले प्रभो! **मा अतथा इव**=हम ऐसे-वैसे जीवनवाले न हों। हम वैसा ही बनने का प्रयत्न करें जैसे आप हैं, आपका प्रतिरूप ही तो मुझे बनना चाहिए। "After thy own image" आपकी प्रतिमूर्त्ति ही मैं बनूँ। आपकी प्रतिमूर्त्ति बनता हुआ मैं भी प्रयत्न करूँ कि मेरी कमाई पाप के लवलेश से रहित हो और मैं भी 'मघवा' बनूँ। ३. तीसरी बात जीव यह चाहता है कि **कदा**=कब **नः**=हमें **इत्**=सचमुच **सूनृतावतः**=(सू+ऊन+ऋत) उत्तम, दुःख-परिहाण करनेवाली, सत्यवाणीवाला **करः**=आप करेंगे। हे प्रभो! **इत् अर्थयासे**=आप मुझसे यही याचना किये जाते हैं। मैं कभी भी जलानेवाली वाणी न बोलूँ, भद्रा वाणी ही मेरे मुख में निहित हो। मेरी वाणी दुःखी को सान्त्वना देकर उसके दुःख को कम करनेवाली हो। मेरी वाणी कभी भी असत्य न हो।

जीव की इन तीन प्रार्थनाओं को सुनकर प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय! तू **नु**=अब **ते हरी**=अपने इन इन्द्रियरूप घोड़ों को **योज**=परहित के लिए इस शरीररूप रथ में जोत। परहित तेरे जीवन का ध्येय बन जाए और तू लोकसंग्रह के लिए सदा कर्म में लगा रहे। परहित में लगने से तेरी तीनों उल्लिखित इच्छाएँ अवश्य पूरी होंगी और इस प्रकार परार्थ से तू स्वार्थ को सिद्ध कर रहा होगा। तेरी प्रार्थनाएँ अवश्य सुनी जाएँगी, तेरा जीवन व्यर्थ का न होगा, तेरी वाणी सारभूत होगी।

भावार्थ—हम परहित-परायण होकर अपने जीवन को सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

दो महत्त्वपूर्ण बातें

४१७. चन्द्रमा अप्स्वा३ऽन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी॥ ९॥

हमारे जीवन में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं। पहली तो यह कि **चन्द्रमाः**=हमारा मन (चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्) सदा **अप्सु अन्तरा**=व्यापक कर्मों में स्थित रहे। दूसरी यह कि **सुपर्णः**=अपना पालन करनेवाला जीव **दिवि**=प्रकाशमय ज्ञान में **धावते**=गतिशील होता है और उसमें सदा स्नान करता हुआ अपने को पवित्र करता है। अध्यात्म में 'चन्द्रमा' का अर्थ मन होता है। यहाँ चन्द्रमा शब्द का प्रयोग इस उद्देश्य से किया गया है कि (चदि आह्लादे) हम जिन कार्यों को करें उन्हें बड़े आह्लादपूर्वक करें। प्रसन्नतापूर्वक किया हुआ कार्य ही उत्तम फल पैदा करता है। दिनभर कार्यों में प्रसन्नतापूर्वक रमे रहने से हम वासनाओं के शिकार कभी नहीं होते।

जीवात्मा का नाम 'सुपर्ण' है, क्योंकि वह उत्तम प्रकार से आसुरवृत्तियों के आक्रमण से अपने को बचाने का प्रयत्न करता है, उसी के लिए यह ज्ञान की नदी में स्नान करता है और अपने को शुद्ध बनाता है।

प्रभु कहते हैं कि हे जीवो! **वः**=तुममें से **हिरण्यनेमयः**=स्वर्ण की परिधिवाले लोग, जो कि धन के चक्र में ही फँसे हुए हैं, वे **विद्युतः**=उस विशेष ज्ञानी के **पदम्**=स्थान को **न विन्दन्ति**=नहीं प्राप्त कर पाते। अर्थ में आसक्त को धर्म का ज्ञान नहीं होता। धन तो अन्धा है।

जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि **मे रोदसी**=मेरे द्युलोक और पृथिवीलोक, अर्थात् मेरा मस्तिष्क व शरीर तो **अस्य वित्तम्**=इस पद को अवश्य पानेवाले हों। मैं अपने सब कोशों की ऐसी साधना करूँ कि मैं आपका ज्ञानीभक्त बन सकूँ। यह ज्ञानीभक्त ही प्रभु को प्राप्त करनेवालों में सर्वोत्तम है। 'आप्त्य' है, यह काम-क्रोध-लोभ सभी को तैर चुका है—'त्रि-त' बन गया है। त्रिविध कष्टों से भी यह ऊपर उठ गया है। ज्ञान, कर्म, उपासना तीनों का इसने अपने में विस्तार किया है।

भावार्थ—मेरा मन सदा प्रसन्नतापूर्वक कर्मों में लगा रहे और मैं ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सतत यत्नशील रहूँ।

ऋषिः—अवस्युः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

रथ का सजाना

४१८. प्रति प्रियतमं रथं वृषणं वसुवाहनम्।
स्तोता वामश्विनावृषि स्तोमेभिर्भूषति प्रति माध्वी मम श्रुतं हवम्॥ १०॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अवस्यु' है, जो अपने शरीर आदि की रक्षा की कामनावाला है। यह अपने प्राणापानों को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे **अश्विनौ**=प्राणापानो! **वाम्**=आपके **स्तोमेभिः**=एकत्रीकरण (Assemblage) के द्वारा अथवा आपकी सम्पत्ति के द्वारा (स्तोमम्=

riches) **स्तोता**=प्रभु का स्तवन करनेवाला, **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा **प्रियतमम्**=इस अत्यन्त प्रिय—तर्पण के योग्य **वृषणम्**=शक्तिशाली **वसुवाहनम्**=अष्ट वसुओं के वाहनभूत **रथम्**=इस शरीररूप रथ को **प्रतिभूषति**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में अलंकृत करता है। यह शरीर प्रभु की ओर से दिया गया रथ है, जिससे जीव को अपनी जीवन-यात्रा पूरी करनी है। यह रथ तर्पण के योग्य है (प्री-तर्पण), इसमें होनेवाली कमी को तत्काल दूर करना चाहिए। शरीर की इच्छा को पूरा करना ही चाहिए। वह तो शरीर की आवश्यकता है; मन की इच्छा का संयम करना आवश्यक है, क्योंकि उसे पूरा करने में लगें तो हम शरीर को हानि पहुँचा लेते हैं। मन:संयम व शरीर-तर्पण से यह शरीररूप रथ शक्तिशाली (वृषणम्) बनता है। यह अष्ट वसु—अष्ट धातुएँ—रस, रुधिर, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, वीर्य तथा ओजस् वाहनभूत हैं। प्रभु का स्तोता व तत्त्वज्ञानी इस शरीर को प्राणों की साधना के द्वारा स्वास्थ्य व सौन्दर्य से अलंकृत करता है। जहाँ कहीं भी प्राणों का संयम किया वहीं उसके अङ्ग निर्मल व स्वस्थ हो जाते हैं। यह स्तोता ऋषि जब जिस अङ्ग में प्राणों को एकत्र करता है उस प्राणों के स्तोम से (प्राणायामैर्दहेद् दोषान्) उस स्थान में उत्पन्न दोषों को जला देता है। वे अङ्ग स्वास्थ्य की ज्योति से चमक उठते हैं। एवं, ये प्राणापान कितने महत्त्वपूर्ण, मधुर व सुन्दर हैं! अवस्यु कहता है कि **माध्वी**=हे मधुर प्राणापानो! मधुतुल्य महिमावाले प्राणापानो। **मम हवं प्रति श्रुतम्**=मेरी इस प्रार्थना को सुनो। मैं तुम्हारी कृपा से इस रथ को शक्तिशाली व वसुओं का वाहन बना पाऊँ। अपने मन को प्रभु के स्तवन में लगाऊँ और मस्तिष्क को ज्ञानज्योति से परिपूर्ण करके तत्त्वद्रष्टा बन पाऊँ। यह सब प्राणसाधना से ही होता है। प्राणसाधना करनेवाला ही 'अवस्यु' बन पाता है।

भावार्थ—मेरी प्राण-साधना मेरे शरीर को दृढ़, मन को प्रभु-प्रवण, मस्तिष्क को तीव्र ज्ञानज्योति से जगमगाता हुआ बनाए।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः**।। देवता—**अग्निः**।। छन्दः—**पङ्क्तिः**।। स्वरः—**पञ्चमः**।।

एक पग और (स्तोता को भी चलने की प्रेरणा दीजिए)

४१९. आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम्।
यद्ध स्या ते पनीयसी समिद् दीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आ भर॥ १॥

हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो!—आगे-और-आगे ले-चलनेवाले परमात्मन्! **ते**=तरी उस समिधा को हम **आ इधीमहि**=सर्वथा दीप्त करते हैं जो **द्युमन्तम्**=प्रकाशमय है और **देव**=हे ज्योतिर्मय प्रभो! **अजरम्**=न जीर्ण होनेवाली है। ब्रह्मचर्यसूक्त में पृथिवी, अन्तरिक्ष, व द्युलोकरूप तीन समिधाओं का उल्लेख है। अध्यात्म में ये क्रमशः शरीर, मन व मस्तिष्क हैं। गत मन्त्र में शरीर को शक्तिशाली, मन को स्तोता व प्रभु-प्रवण और मस्तिष्क को 'तत्त्वद्रष्टा' बनाने का संकेत है। प्रस्तुत मन्त्र में मस्तिष्क को ज्ञानाग्नि से दीप्त करने पर बल दिया है। यह प्रकाशमय (द्युमान्) तो है ही, यह अजरम्—कभी जीर्ण न होनेवाला है—इसका क्षय नहीं होता। देने से यह बढ़ती ही जाती है। शरीर के नष्ट होने पर भी यह ज्ञान हमारे साथ ही जाता है, अतः प्रभो! हम आपकी उस समिधा को दीप्त करते हैं **यत्**=जो **ह**=निश्चय से **ते**=तेरी **पनीयसी**=स्तुत्य **समित्**=समिधा है, जो **द्यवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **दीदयति**=चमकती

है। शरीर की पुष्टता उत्तम है, मन की प्रभु-प्रवणता उत्तमतर है मस्तिष्क की ज्ञान-ज्योति उत्तमतम है, यही स्तुत्य है।

शरीर को शक्तिशाली बनाकर तो विरले ही व्यक्ति होंगे जो अपने को कृतकृत्य मान लें, परन्तु मन के अन्दर स्तुति की भावना आते ही कृतकृत्यता की भावना उत्पन्न होने लगती है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **स्तोतृभ्यः**=इन स्तोताओं के लिए **इषम् आभर**=सर्वथा प्रेरणा प्राप्त कराइए कि ये यहीं दूसरी सीढ़ी पर रुक न जाएँ। ये एक पग और भी आगे बढ़ाएँ, और ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करें। प्रभु यही चाहते हैं कि उनका स्तोता ज्ञान को ही अपना धन समझनेवाला 'वसुश्रुत' (श्रुतम् एव वसु यस्य) हो। यह आत्रेय=काम, क्रोध, लोभ तीनों से ऊपर उठा हुआ हो।

भावार्थ—हम शरीर को शक्तिशाली बनाकर, मन को प्रभु-प्रवण बनाएँ, परन्तु यहाँ ही रुक न जाएँ। एक पग और आगे बढ़कर स्तुत्यतम ज्ञान की समिधा को उद्दीप्त करें।

ऋषिः—**विमदः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

उल्लास व विकास

४२०. अग्निं न स्ववृक्तिभिर्होतारं त्वा वृणीमहे।
शीरं पावकशोचिषं वि वो मदे यज्ञेषु स्तीर्णबर्हिषं विवक्षसे॥ २॥

न=जैसे **स्ववृक्तिभिः**=अपने कुछ वर्जन व त्याग से **अग्निम्**=अग्नि को वरते हैं, अर्थात् घृत-सामग्री आदि में कुछ व्यय करके जैसे हम अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मों को करते हैं, उसी प्रकार हम **होतारम्**=सर्वस्व दान करनेवाले **त्वा**=आपको **स्ववृक्तिभिः**=अपने कामादि दोषों के वर्जन से तथा यज्ञादि उत्तम कर्मों के आपमें समर्पण से **आवृणीमहे**=आपका वरण करते हैं। प्रभु होता हैं—अपने को भी जीवहित के लिए दे डालनेवाले हैं। हम प्रभु का वरण दान द्वारा ही कर सकते हैं। अपने सब कर्मों का प्रभु में समर्पण ही वह महान् त्याग है, जिससे हम प्रभु का वरण करते हैं। 'तदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च'=यही वेद का उपदेश है कि कर्म करो और प्रभुचरणों में उसका त्याग कर दो। अपना अहंभाव न रक्खो—यही 'स्ववृक्ति'='अपने को छोड़ना' है। वे प्रभु **शीरम्**=(शायिनं, आशिनं वा) सबमें निवास करनेवाले व सबमें व्याप्त हैं। मैं भी उस हृदयस्थ प्रभु को अनुभव करने का प्रयत्न करूँ। वे प्रभु तो **पावकशोचिषम्**=पवित्र करनेवाली ज्ञानदीप्तिवाले हैं। उस ज्ञानाग्नि में मेरा जीवन और पवित्र हो उठेगा।

वे प्रभु **यज्ञेषु स्तीर्णबर्हिषम्**='यज्ञों में बिखेर दी है—व्याप्त कर दी है हमारी वृद्धि (बृहि वृद्धौ) जिन्होंने, ऐसे हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में यज्ञों को उत्पन्न करके प्रभु ने यही तो कहा कि 'इससे फूलो-फलो, यह तुम्हारी सब इष्ट-कामनाओं को पूरा करे'। ये यज्ञ **वः**=तुम्हारे **विमदे**=विशेष उल्लास के निमित्त हैं और **विवक्षसे**=विशेष उन्नति के साधन हैं (वक्षस्=growth)। यहाँ 'विमदे व विवक्षसे' इन दोनों शब्दों में निमित्त सप्तमी है। यज्ञों के द्वारा हमारा जीवन उल्लासमय व विकासमय बनता है। प्रातः का अग्निहोत्र सायं तक और सायं का प्रातः तक चित्त को प्रसन्न रखता है। यज्ञों के बिना कोई भी विकास सम्भव ही नहीं।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो, हम उस महान् होता के उपासक बनकर एक छोटे

होता ही बनें, परन्तु हमें उस होतृत्व का मद=गर्व न हो। उस यज्ञ को भी प्रभु-चरणों में अर्पित कर हम 'वि-मद' (मदशून्य) ही बने रहें।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

कहाँ जाएँ

४२१. महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती।
यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते॥ ३॥

हे **दिवित्मती उषः**=प्रकाशवाली उषः **नः**=हमें **अद्य**=आज **महे राये**=महान् ऐश्वर्य के लिए **बोधय**=जागरित करो। तुमसे हमें ऐसी प्रेरणा प्राप्त हो कि **यथा चित्**=जिससे निश्चयपूर्वक **नः**=हमें तुम **अबोधयः**=इन-इन बातों में जगाओ—१. **सत्यश्रवसि**=सत्यज्ञान की प्राप्ति में। वेद सब सत्य विद्याओं का (पुस्तक) भण्डार है। हम सदा इन सत्य विद्याओं की प्राप्ति के लिए प्रमादरहित होकर प्रयत्न में लगे रहें। हमारा मस्तिष्क व विज्ञानमयकोष सब सत्यज्ञानों के नक्षत्रों से चमकनेवाला हो। २. **वाय्ये**=विस्तार (फैलाव) में हम सदा जागरित हों। हम अपने मनों को संकुचित न होने दें। हमारा मन विशाल और विशाल होता जाए। ३. **सुजाते**=उत्तम प्रादुर्भाव में—उत्तम विकास में हम अप्रमत्त हों। प्राणमयकोश में स्थित इन इन्द्रियों को विकसित करने में हम सदा सावधान हों, ये असुरों के आक्रमण से आक्रान्त होकर नष्ट न हो जाएँ। ४. **अश्वसूनृते**=व्यापक, उत्तम, दुःखों को न्यून करनेवाले न्याय्य कर्मों में हम अपने इस शरीर को सदा व्यापृत रक्खें। आलसी होकर कर्मों से दूर न हो जाएँ। 'अकर्मण्य हुए और पतन की ओर गये' यह हमें भूल न जाए।

उषःकाल जगाता है—वह हमें भी उल्लिखित चार बातों में जागरित करे। उषःकाल से उचित प्रेरणा लेनेवाला ऋषि सत्यज्ञान प्राप्त करके 'सत्यश्रवाः' बन जाता है। यह काम-क्रोध-लोभ की सब वासनाओं से ऊपर होने के कारण 'आत्रेय' है।

भावार्थ—उषाः प्रकाशमय है, मैं भी ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करूँ। उषाःकाल क्षितिज को विस्तृत कर देता है, मैं भी अपने हृदयान्तरिक्ष को विशाल बनाऊँ। उषा में सब शक्तियाँ विकसित होती हैं—मैं भी विकासवाला सुजात बनूँ। उषा से प्रेरणा प्राप्त कर सदा उत्तम कर्मों में लगा रहूँ।

ऋषिः—**विमदः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

भलमानस न कि भोंदू

४२२. भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।
अथा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे रणा गावो न यवसे विवक्षसे॥ ४॥

हे प्रभो! **नः**=हमारे **मनः**=मन को **भद्रम् अपि वातय**=भद्रता की ओर प्रेरित कीजिए। हमारे मन कभी अभद्रता की ओर न झुकें, कभी अशुभ का चिन्तन न करें। भद्रता के साथ **दक्षम्**=हमारे मन को दक्षता की ओर प्रेरित कीजिए। कठिन-से-कठिन समस्या को हम सुगमता से सुलझानेवाले हों। हमारा मन सदा उपाय का चिन्तन कर सके—resourceful हो।

हम संकट में घबरा न जाएँ। भद्र बनें पर भोंदू न हों। इस भद्रता और दक्षता के साथ **उत क्रतुम्**=हमारे मनों में कर्म-संकल्प भी प्राप्त कराइए। हमारा मन कभी आलस्य, तन्द्रा व निद्रा की ओर झुकाव न रक्खे।

इस प्रकार भद्रता, दक्षता तथा क्रतुमयता की साधना के **अथ**=बाद **ते सख्ये**=हे प्रभो! हम तेरी मित्रता में **रणाः**=आनन्द का अनुभव करें। वस्तुतः प्रभु की उपासना इन तीन बातों के बिना सम्भव भी तो नहीं।

जिस समय जीव प्रभु से यह प्रार्थना करता है उस समय बीच में टोकते हुए प्रभु कहते हैं कि **वः**=अपने **अन्धसः**=सोम के **वि-मदे**=उत्कृष्ट हर्ष में तू **रण**=आनन्द का अनुभव कर। सोम की रक्षा ही मेरी उपासना है। जीव प्रभु की इस प्रेरणा को सुनता हुआ कहता है कि मैं आपकी उपासना में उसी प्रकार आनन्द का अनुभव करूँ **न**=जैसेकि **विवक्षसे यवसे**=बढ़ी हुई चरी में **गावः**=गौवें आनन्द का अनुभव करती हैं। उस समय उनकी पीठ पर पड़ा हुआ एक-आध डण्डा उन्हें दुःखी नहीं करता। इसी प्रकार एक भक्त प्रभु के प्रेम में निमग्न हुआ-हुआ कष्टों को कष्ट ही नहीं समझता।

इसी ऊँची स्थिति को प्राप्त हुआ-हुआ भी यह 'विमद'=मदशून्य, गर्वरहित बना रहता है। यही तो इसके जीवन का सौन्दर्य है। ऊँची स्थिति में पहुँचना योग है, परन्तु वहाँ पहुँचकर गर्वित हो जाना योगभ्रष्ट हो जाना है। यह व्यक्ति योगभ्रष्ट नहीं होता।

भावार्थ—मेरा जीवन भद्रता, दक्षता, क्रतुमयता, प्रभु-मित्रता, सोमरक्षा व गर्वशून्यता से अलंकृत हो।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सात्त्विक अन्न का सेवन

४२३. क्रत्वा महाँ अनुष्वधं भीम आ वावृते शवः।
श्रिय ऋष्व उपाकयोर्नि शिप्री हरिवां दधे हस्तयोर्वज्रमायसम्॥५॥

गत मन्त्र में हृदय में क्रतु होने का उल्लेख है। वस्तुतः क्रतु से ही मनुष्य की महत्ता है। **क्रत्वा**=कर्मशीलता से **महान्**=तू पूज्य होता है (मह पूजायाम्)।

'यह वार्धक्य तक कर्म करता रह सके' इसके लिए यह सात्त्विक अन्न से अपने शरीर को शक्ति-सम्पन्न बनाता है। 'स्वधा' उस सात्त्विक अन्न का नाम है, जिससे यह अपना धारण करता है। **अनुष्वधम्**=उस सात्त्विक अन्न के सेवन के अनुपात में ही **भीमः शवः**=सब विघ्न-बाधाओं को पार कर जानेवाली प्रबल शक्ति **आवावृते**=प्रचुरता से प्रवृत्त होती है। राजस् भोजन विद्यमान शक्ति में एक उबाल लाता है। सात्त्विक भोजन 'स्थिर' होता है, यह मनुष्य को अन्त तक शक्तिशाली बनाये रखता है।

यह **श्रिये**=शोभा के लिए **ऋष्वः**=महान् बनता है। यह कहीं भी छोटेपन को प्रकट नहीं करता।

शिप्री=शिरस्त्राणवाला बनकर तथा **हरिवान्**=उत्तम इन्द्रियरूप घोड़ोंवाला होकर यह **उपाकयोः हस्तयोः**=(उप+अञ्च) प्रभु की ओर (उसके समीप) ले जानेवाले हाथों में

आयसं वज्रम्=लोहे के बने वज्र को **निदधे**=धारण करता है। यह अपने मस्तिष्क को शुद्ध रखता है और अपनी इन्द्रियों को मलिन नहीं होने देता। प्रशस्त ज्ञान व उत्तम इन्द्रियोंवाला बनकर यह अपने हाथों में अनथक (आयसम्) क्रियाशीलता (वज्रं=वज गतौ) को स्थान देता है। न थकनेवाले को हिन्दी में इसी रूप में कहते हैं कि इसकी टांगें तो लोहे की हैं। अनथक होकर यह कर्म करता रहता है। यह कर्म ही उसे प्रभु के समीप प्राप्त कराता रहता है। इस कर्म से उसकी सब इन्द्रियाँ शुद्ध बनी रहती हैं—यह 'गोतम'=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला होता है। आलस्य, राजस् व तामस् भोजन तथा आराम आदि को छोड़ने के कारण यह 'राहूगण'=त्यागियों में गिनने योग्य कहलाता है।

भावार्थ—मैं क्रतु से महान् बनूँ, सात्त्विक अन्न से स्थिर शक्ति सम्पादन करूँ। शोभा के लिए हृदय में विशालता को धारण करूँ और मेरे हाथों में अनथक क्रियाशीलता हो।

ऋषि:—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

हारियोजन-पात्र

४२४. स घा तं वृषणं रथमधि तिष्ठाति गोविदम्।
यः पात्रं हारियोजनं पूर्णमिन्द्रा चिकेतति योजा न्विन्द्र ते हरी॥ ६॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि—**सः**=वह **घ**=निश्चय से **तम्**=उस **वृषणम्**=शक्तिशाली **गोविदम्**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करनेवाले **रथम्**=शरीररूप रथ का **अधितिष्ठाति**=अधिष्ठाता बनता है, **यः**=जो हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता! **हारियोजनम्**=(हरियोजनाय इदम्) परमेश्वर के सम्पर्क के लिए दिये गये इस **पात्रम्**=जीव के आधारभूत-रक्षा के योग्य शरीर को **पूर्णम्**=पूर्णतया **चिकेतति**=रोगशून्य करता है तथा **पूर्णम् चिकेतति**=इसमें पालनात्मक प्रकार से रहना जानता है (कित निवासे रोगापनयने च) इसलिए **नु**=अब **इन्द्र**=शक्तिसम्पन्न कार्यों को करनेवाले जीव! तू **ते**=अपने **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **योज**=इस शरीररूप रथ में जोत—सदा ज्ञान-प्राप्ति में लगा रह और कार्यव्यापृत हो। न मूढ़ हो, न अलस बन।

प्रस्तुत मन्त्र में शरीर को 'रथ व पात्र' शब्दों से स्मरण किया है। यह रथ तो इसलिए है कि जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए दिया गया है, और पात्र इसलिए कि यह आत्मा का आधार है। यह रथ शक्तिशाली (वृषणम्) व ज्ञान के प्रकाशवाला (गोविदम्) होना चाहिए। हमें भी चाहिए कि हम इसमें रहना सीखें और इसे नीरोग रक्खें (पूर्ण चिकेतति)। कभी असमय पर न खाएँ, तमस् व तामस् वस्तुओं का सेवन न करें। हम इस बात को न भूल जाएँ कि यह शरीर हमें इसलिए दिया गया है कि इसके द्वारा अपनी साधना को पूर्ण करके हमें प्रभु को प्राप्त करना है। यह शरीर भोग भोगने के लिए नहीं मिला। इसका मुख्य उद्देश्य प्रभु-प्राप्ति है—**'इदं शरीरम् परमार्थसाधनम्'**, परन्तु यह तभी हो सकता है जब हम इसके अधिष्ठाता बने रहें (अधितिष्ठाति)। यदि इस शरीररूप रथ की बागडोर हमारे हाथ में रहेगी तभी हमारी यात्रा पूर्ण होगी, अन्यथा ये घोड़े हमें न जाने किस गर्त में जा गिराएँगे। प्रभु की ओर से जीव को कितना मित्रतापूर्ण निर्देश मिला है कि तू इन ज्ञानेन्द्रियरूप घोड़ों को ज्ञान-प्राप्ति में और कर्मेन्द्रियों को यज्ञादि शुभ कर्मों में व्याप्त किये रह। इनको वश में करने का सर्वोत्तम साधन यही है। ऐसा करने पर तू अवश्य अपनी जीवन-यात्रा को पूर्ण करनेवाला

होगा और इस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त करानेवाला यह शरीररूप पात्र सचमुच हारियोजन बनेगा। इस चमकीले, अत्यन्त सुन्दर सु-कृत शरीररूप पात्र में ही वह सत्यरूप आत्मा छिपा है। कल्पना की आँखों से इस पात्र की पाँचों तहों को अलग करके ही हम उस आत्मतत्त्व को देखेंगे। अन्नमयादि कोशों के उपभोगों को त्याग करनेवाले हम 'राहूगण' होंगे और निर्मलेन्द्रिय होने से गोतम होंगे।

भावार्थ—हम यह कभी न भूलें कि यह शरीर प्रभु-प्राप्ति के लिए प्राप्त हुआ है।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

अग्नि, अस्त व स्तोता

४२५. अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।
अस्तमर्वन्त आशवोऽ स्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आ भर॥ ७॥

किसी भी बात को समझने का सबसे अच्छा प्रकार उसका लक्षण करना है। इसी शैली पर यहाँ अग्नि, अस्त और स्तोता का लक्षण किया गया है। **अग्निं तं मन्ये**=मैं अग्नि—उन्नतिशील उस को मानता हूँ **यः वसुः**=जो वसु है—रहने का प्रकार जानता है। प्रभु ने मुझे यह शरीररूप घर दिया है। यदि इस शरीर में रोग हैं, मन में ईर्ष्या-द्वेष व मस्तिष्क में कुविचार व अन्धकार है तो मुझे क्या रहना आता है? मैं वसु नहीं, परिणामतः मैं अग्नि नहीं—अग्रेणीः प्रगतिशील नहीं। प्रगतिशील वही है जो इस शरीर में रहना जानता है। सात्त्विक भोजन का सेवन ही एकमात्र साधन है, जिससे मनुष्य अपने निवास को सर्वथा उत्तम बना सकता है।

'अस्तम्' शब्द संस्कृत में गृह का पर्याय है। **अस्तम् तं मन्ये**=घर मैं उसी को मानता हूँ **यं धनेवः यन्ति**=जिसमें गौवें प्राप्त होती हैं। **'आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः**=यह गृहसूक्त का वाक्य सायंकाल उछलती-कूदती गौवों के घर में लौटने का चित्रण करता है। गौ मनुष्य का दायाँ हाथ है। इसका दूध ही मनुष्य में सात्त्विकता की वृद्धि करता है। फिर **अस्तम्**=घर मैं उसको मानता हूँ **यम् आशवः अर्वन्तः**=जिसमें तीव्रगतिवाले घोड़े प्राप्त होते हैं। ये घोड़े उत्तम व्यायाम के साधन बनकर मनुष्य की शक्ति की वृद्धि करेंगे। गौवें ब्रह्म को तो घोड़े क्षत्र को बढ़ानेवाले होंगे। इसके बाद **अस्तम्**=घर वह है जिसमें **नित्यासो वाजिनः**=स्थिर वाजवाले पुरुष निवास करते हैं। सात्त्विक भोजनों के सेवन का परिणाम यह होता है कि उनमें स्थिर शक्ति की उत्पत्ति होती है, ये जीर्ण नहीं होते—स्थविर बने रहते हैं। एवं, घर वही है जहाँ गौवें, घोड़े व स्थिर शक्तिवाले पुरुष हैं। प्रस्तुत परिस्थिति में जहाँ गोदुग्ध का सेवन है, आसनादि का उचित व्यायाम है तथा सशक्त पुरुष हैं, वे ही आदर्श घर हैं।

स्तोता वे हैं जिन **स्तोतृभ्यः**=अपने भक्तों के लिए प्रभु **इषम्**=प्रेरणा **आभर**=प्राप्त कराते हैं और फिर **स्तोतृभ्यः**=जिन स्तोताओं से प्रभु लोक में समन्तात् **इषम्**=प्रेरणा को **आभर**=भरते हैं। सच्चे स्तोता को प्रभु से प्रेरणा प्राप्त होती है और वह उस प्रेरणा को लोगों तक पहुँचाता है। यही ज्ञानधनी स्तोता 'वसुश्रुत' है, काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठा हुआ आत्रेय है।

भावार्थ—हम अग्नि बनें, घरों को उत्तम बनाएँ, सच्चे स्तोता बनें।

ऋषिः—अंहोमुग्वामदेव्यः॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती**:॥
स्वरः—**मध्यमः**॥

न कुटिलता—न दुर्गति (मित्रता का दर्शन)

४२६. न तमंहो न दुरितं देवासो अष्ट मर्त्यम्।
सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयति वरुणो अति द्विषः॥८॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अंहोमुक्' है, जिसने कुटिलता को दूर भगा दिया है, जो सुन्दर दिव्य गुणोंवाला होने से 'वामदेव्य' है। परिणामतः यह दुर्गति से भी दूर है। यह कहता है कि **देवासः**=हे देवो! **तम् मर्त्यम्**=उस पुरुष को **न अंहः**=न तो कुटिलता **न दुरितम्**=न ही दुर्गति **अष्ट**=व्याप्त करती है **यम्**=जिसे **अर्यमा मित्रः वरुणः**=अर्यमा, मित्र और वरुण **सजोषसः**= समानरूप से प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं से **अतिनयति**=पार ले-जाते हैं।

कुटिलता और दुर्गति में कार्यकारणभाव है। कुटिलता कारण और दुर्गति उसका कार्य है। **'सर्वं जिह्मं मृत्युपदम्'**, कुटिलता मृत्यु का मार्ग है। संसार में कुटिलता से ही हमारा जीवन कड़वा बना है। सरलता उसमें माधुर्य ला सकती है। दुर्गति को दूर करने का मार्ग कुटिलता से दूर होना है। कुटिलता से दूर हम तभी होंगे जब द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठेंगे।

इन द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठने के लिए निम्न तीन बातें हमारे जीवन में होनी चाहिएँ।

१. **अर्यमा**='अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति' इस वाक्य के अनुसार अर्यमा 'दान' की प्रवृत्ति का प्रतीक है, २. **मित्र**=ञिमिदा स्नेहने' धातु से बना यह शब्द 'स्नेह' का सूचक है, ३. और **वरुणः**=वरुण का पर्याय 'पाशी' है। अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधने की भावना है। वस्तुतः 'दान, स्नेह और व्रतित्व' की भावनाएँ हमें निर्द्वेष बनाती हैं।

यहाँ प्रसङ्गवश यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि मित्र शब्द को मध्य में रखकर वेद ने यह संकेत किया है कि मित्रता के लिए दान व व्रतित्व दोनों बातें आवश्यक हैं। संकट में हम सदा मित्र को देने के लिए उद्यत रहें, परन्तु उस मित्र को भी चाहिए कि वह अपने को इस प्रकार व्रतों के बन्धन में बाँधकर रक्खे कि प्रतिज्ञानुसार धन के लौटाने का ध्यान अवश्य ही करे। देनेवाला दे और लौटानेवाला ठीक लौटाए तो मित्रता बढ़ती है। लेन-देन ही न हो तो मित्रता कैसी? **'ददाति प्रतिगृह्णाति'** ये तो छह लक्षण ही हैं। मन्त्र में कहीं वरुण पहले है तो कहीं अर्यमा। मध्य में सदा मित्र को रक्खा है। उसका अभिप्राय इतना ही है कि 'व्रतित्व व दातृत्व' दोनों ही समान रूप से आवश्यक हैं—अन्यथा मित्रता कभी चल ही नहीं सकती, पारस्परिक मित्रता जीवन को दुर्गति से बचाकर सुखमय बनाती है।

भावार्थ—मैं इस तत्त्व को समझूँ कि कुटिलता के साथ दुर्गति का कार्यकारण भाव है। कुटिलता से ऊपर उठने के लिए मैं द्वेष से ऊपर उठूँ। द्वेष से ऊपर उठने के लिए मैं तीन भावनाओं को अपने अन्दर समानरूप से प्रवृद्ध करूँ—'दान, मित्रता व व्रतित्त्व'।

पञ्चमी दशतिः

ऋषिः—**धिष्ण्या ऐश्वरयोऽग्नयः**।। देवता—**पवमानः**।। छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**।। स्वरः—**पञ्चमः**।।

पवमान सोम (आध्यात्मिक दृष्टिकोण से)

४२७. परि प्र धन्वेन्द्राय सोम स्वादुर्मित्राय पूष्णे भगाय ॥ १ ॥

हे **सोम**=मेरे शरीर को पवित्र बनानेवाले सोम! तू **इन्द्राय**=उस सर्वशक्ति-सम्पन्न प्रभु के लिए **परिप्रधन्व**=दौड़ चल—तीव्रता से उसे मुझे प्राप्त करा। उस प्रभु के लिए जो **मित्राय**=वस्तुतः मेरा हितचिन्तक है, **पूष्णे**=मेरा पोषण करनेवाला है और **भगाय**=ऐश्वर्य–वीर्य–यश–श्री–ज्ञान और वैराग्य को प्राप्त करानेवाला है।

संसार के सभी मित्रों व हितचिन्तकों की अपनी सीमाएँ (limitations) हैं—वे उसी सीमित क्षेत्र में हमारा भला कर सकते हैं। प्रकृति से सब प्रकार का पोषण अन्ततोगत्वा प्रभु के द्वारा ही प्राप्त कराया जा रहा है। भग के स्वामी तो हैं ही भगवान्। उन्हीं की समीपता में मैं भी भग के अंश को प्राप्त करनेवाला बनूँगा। प्रभु की समीपता मुझे इस सोम के द्वारा ही प्राप्त होगी। सोम मुझे निरन्तर प्रभु की ओर ले-चल रहा है। यह मेरे जीवन को पवित्र कर डालता है और मैं प्रभु-सामीप्य का अधिकारी बनता हूँ। यह सोम मुझे प्रभु के समीप तो पहुँचाता ही है, साथ ही मेरे इस भौतिक जीवन को भी **स्वादुः**=मधुर बना देता है। मैं प्रभु को ही अपनी अन्तिम शरण समझता हूँ और संसार में बड़ी मधुरता से वर्तता हूँ।

भावार्थ—मैं सोम के संयम से अपने जीवन को मधुर बनाऊँ और प्रभु को अपना लक्ष्य समझूँ।

ऋषिः—**त्र्यरुणत्रसदस्यू**।। देवता—**पवमानः**।। छन्दः—**त्रिपदानुष्टुप्पिपीलिकामध्या**।।
स्वरः—**गान्धारः**।।

पवमान सोम (भौतिक दृष्टिकोण से)

४२८. पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः।
द्विषस्तरध्या ऋणया न ईरसे ॥ २ ॥

हे सोम! तू **उ**=निश्चय से **सु**=अति उत्तमता से **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए **परिप्रधन्व**=निरन्तर आगे और आगे चलता चल। सोम की रक्षा से सबसे स्थूल लाभ यही है कि हमारी शक्ति की वृद्धि होती है। शक्ति के बिना संसार में कहीं भी हमारी कुछ भी स्थिति नहीं होती। 'धर्मार्थ, काम, मोक्ष' का मूलसाधन शक्ति है।

हे सोम! तू **वृत्राणि**=मेरे ज्ञान पर पर्दा डालनेवाले कामादि वृत्रों का **परि सक्षणिः**=पूर्ण पराभव करनेवाला होता है। सोम का रक्षण मनुष्य को क्रोध, ईर्ष्या आदि सब अशुभ वृत्तियों से ऊपर उठाता है। **द्विषः**=सब द्वेष की भावनाओं से **तरध्या**=तैरने के लिए यह सोम सहायक होता है। संयमी पुरुष शक्तिशाली बनकर द्वेष से आन्दोलित नहीं होता। हे सोम! तू **ऋणया न**=ऋणों को दूर करनेवाला-सा बनकर **ईरसे**=गति करता है। सोमी पुरुष पितृ-ऋण, ऋषिऋण व देवऋण आदि सभी ऋणों को चुकाने के लिए उत्साहवाला होता है। दूसरे शब्दों में यह

माता-पिता का सेवक, स्वाध्यायशील, व यज्ञमय जीवनवाला होता है। इस प्रकार सोम की रक्षा से यह सांसारिक जीवन कितना सुन्दर बन गया है!

सोम की रक्षा करनेवाला यह व्यक्ति निरन्तर प्रभु की ओर चल रहा है, इसलिए 'ऋण' (ऋ गतौ) कहलाता है। यह मार्ग में आनेवाले विघ्नों को भयभीत करके दूर भगा देने के कारण 'त्रसदस्यु' होता है। सचमुच वासनारूप विघ्नों को कम्पित कर दूर करता हुआ यह प्रभु की ओर निरन्तर चल रहा है।

भावार्थ—सोम की रक्षा से मेरा जीवन शक्तिसम्पन्न व कर्त्तव्यनिष्ठ हो।

ऋषिः—**धिष्ण्या ऐश्वरयोऽग्नयः**॥ देवता—**पवमानः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

अध्यात्म उत्कर्ष

४२९. पवस्व सोम महान्त्समुद्रः पिता देवानां विश्वाभि धाम ॥ ३ ॥

हे **सोम**=सोम! तू **पवस्व**=मेरे जीवन को पवित्र कर दे। मैं तेरी रक्षा के द्वारा शक्ति व ज्ञान से सम्पन्न बनकर १. **महान्**=उदार बनूँ और परिणामतः **समुद्रः**=मेरा जीवन आनन्द से युक्त हो (स+मुद्)। **'यो वै भूमा तत्सुखम्'** विशालता में ही सुख है **'नाल्पे सुखमस्ति'** अल्पता में सुख नहीं है। केवल शक्ति व केवल ज्ञान मनुष्य को विशाल नहीं बनाता, परन्तु शक्ति व ज्ञान दोनों मिलकर मनुष्य को अल्पता से ऊपर उठाते हैं। वह छोटी-छोटी बातों में उलझता नहीं। परिणामतः इसका जीवन आनन्दमय बना रहता है। निर्बलता व मूर्खता में मनुष्य खिझता है और अकारण दुःखी बना रहता है। २. यह सोम **देवानां पिता**=दिव्य गुणों का जन्म देनेवाला होता है, अतएव **विश्वा धाम अभि**=मुझे सब तेजों की ओर ले-चलता है। मैं विषयों का शिकार नहीं होता और मेरी शक्तियाँ जीर्ण नहीं होती, दिव्य गुण बढ़ते हैं, आसुर वृत्तियाँ कम होती हैं और मेरी शक्तियाँ सुरक्षित रहती हैं। एवं, सोम की रक्षा से मेरे जीवन में दो बातें होती हैं—१. उदारता आनन्द को जन्म देती है, और २. दैवी सम्पत्ति तेजस्विता को।

भावार्थ—मैं सोम-संयम से आनन्दमय व तेजस्वी बनूँ।

ऋषिः—**धिष्ण्या ऐश्वरयोऽग्नयः**॥ देवता—**पवमानः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

भौतिक उत्कर्ष

४३०. पवस्व सोम महे दक्षायाश्वो न निक्तो वाजी धनाय ॥ ४ ॥

हे **सोम**=सोम! तू **पवस्व**=मेरे जीवन को पवित्र कर, जिससे **महे दक्षाय**=महान् दक्षता के लिए मैं समर्थ होऊँ। मैं प्रत्येक कार्य को कुशलता से करूँ। मेरी आत्मा अत्यन्त संस्कृत हो, जिससे मेरा व्यवहार पूर्ण सभ्यतावाला हो। मेरे किसी भी कार्य में अनार्यता-अकुशलता न टपके। **'योगः कर्मसु कौशलम्'**=कर्मों में कुशलता ही तो योग है। मैं इस योग को इस सोमपान के द्वारा प्राप्त करनेवाला बनूँ।

इस सोमपान से मेरा जीवन **अश्वो न निक्तो वाजी**=(निज्=शुचि व पोषण) एक बड़े शुद्ध व पुष्ट घोड़े के समान शक्तिशाली हो। जिस घोड़े को बड़ा साफ-सुथरा रक्खा जाता है और जो उचित पोषण प्राप्त करता है उसकी भाँति मैं इस सोमपान से शक्तिशाली बनूँ।

धनाय=यह सोमपान मुझे धन प्राप्त करने योग्य बनाए। स्वस्थ, नीरोग व सुन्दराकृति पुरुष धन कमाने में भी सफल होता ही है।

भावार्थ—सोमपान से मुझे दक्षता, शक्ति व धन-प्राप्ति की योग्यता प्राप्त हो।

ऋषिः—**धिष्ण्या ऐश्वरयोऽग्नयः**॥ देवता—**पवमानः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

उत्कर्ष की परिनिष्ठा

४३१. इन्दुः पविष्ट चारुर्मदायापामुपस्थे कविर्भगाय॥ ५॥

सोम का नाम 'इन्दु' भी है। यह बिन्दु का ही रूपान्तर है। बिन्दु सोमकणों का नाम है—**'मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात्'**। (इन्दति to be powerful) इसका नाम इन्दु इसलिए पड़ा कि यह सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत है। यह **पविष्ट**=मेरे जीवन को पवित्र बनाता है। सोम से उत्पन्न 'शक्ति, पवित्रता व ज्ञान' ये सब तत्त्व मिलकर **चारुः**=मेरे जीवन के सौन्दर्य का हेतु होते हैं। **मदाय**=यह जीवन मेरे उल्लास के लिए होता है। सौन्दर्य के साथ उल्लास का स्वाभाविक सम्बन्ध है। सौन्दर्य व उल्लास से युक्त होकर यह **अपाम्**=कर्मों के **उपस्थे**=मध्य में विराजता है। यह कर्मों से घबराकर पर्वत-कन्दराओं का आश्रय नहीं करता। यह कवि बनकर कर्म करता है, जिससे उनमें उलझ न जाए। **कविः**=क्रान्तदर्शी, तत्त्वद्रष्टा होने से उन कर्मों को यह असक्तभाव से करता चलता है। कर्म उसके लिए स्वाभाविक हो जाते हैं। यह **भगाय**=ऐश्वर्यादि छह भगों की प्राप्ति में समर्थ होता है। उन्हें प्राप्त करके भगवान्-सा बन जाता है। विद्वान् लोग इन्हें वीर मानकर आदर देने लगते हैं। यह मनुष्य के उत्कर्ष की परिनिष्ठा होती है—उसका उत्कर्ष यहाँ चरम विकास पर होता है।

भावार्थ—मैं सोमपान से सुन्दर, उल्लासमय, कर्मठ, क्रान्तदर्शी व अनासक्त (वैराग्ययुक्त) जीवनवाला बनूँ।

ऋषिः—**त्र्यरुणत्रसदस्यू**॥ देवता—**पवमानः**॥ छन्दः—**त्रिपदानुष्टुप्पिपीलिकामध्या**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सोम के अनुपात में

४३२. अनु हि त्वा सुतं सोम मदामसि महे समर्यराज्ये।
वाजाँ अभि पवमान प्र गाहसे॥ ६॥

हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **सुतम्**=उत्पन्न हुई **त्वा अनु**=तेरे अनुपात में **हि**=निश्चय से **मदामसि**=हम उल्लासमय जीवनवाले होते हैं। सोमरक्षा का जीवन पर सबसे स्थूल प्रभाव तो यही है कि जीवन में एक उल्लास होता है। संसार असार-सा नहीं लगता। उस पूर्ण प्रभु की बनाई हुई यह रचना अपूर्ण हो ही कैसे सकती है? दूसरा परिणाम यह होता है कि यह सोम हमें **महे**=महान् **समर्यराज्ये**=उत्तम स्वामी के राज्य में समर्थ बनाता है। हम अपनी बुद्धि, मन व इन्द्रियों के स्वामी होते हैं—इनपर हमारा राज्य होता है। ये आत्मा के वश में होकर विषयों में विचरण नहीं करतीं। इनकी प्रत्येक क्रिया नियमित होती है। यहाँ इन्द्रियों, मन व बुद्धि का शासन नहीं चलता—आत्मा का शासन होता है।

इस सोमरक्षा का तीसरा परिणाम इन शब्दों में कहा है कि **पवमान**=पवित्र करनेवाले

सोम! तू **वाजान् अभि**=वाजों को लक्ष्य बनाकर **प्रगाहसे**=इस शरीर का आलोडन करता है। तेरे कारण अन्नमयकोश में (वाज=वज गतौ) गतिशीलता—क्रियामयता होती है। प्राणमयकोश में वाज=शक्ति का संचार होता है। मनोमयकोश में यह सोम वाज=त्याग (sacrifice) की भावना भरता है और यही विज्ञानमयकोश में वाज=ज्ञान का भी कारण बनता है। इस प्रकार यह सोम प्रत्येक कोश को उस कोश की विभूति से अलंकृत करनेवाला होता है। यह व्यक्ति इस सोम से चमक उठता है।

भावार्थ—सोम मेरे जीवन में उल्लास दे, इसके कारण मेरे शरीर में आत्मा का राज्य हो और मेरा प्रत्येक कोश विभूति-सम्पन्न हो।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

ये कौन?

४३३. क ईं व्यक्ता नरः सनीडा रुद्रस्य मर्या अथा स्वश्वाः॥ ७॥

सोम के प्रभाव से अपने को श्रीसम्पन्न व ऊर्जावाले बनाकर ये लोग जब समाज में लोकसंग्रह के लिए विचरते हैं तब सामान्य जनता कह उठती है—**के**=कौन हैं ये? ये **ईम्**=सचमुच **व्यक्ताः**=(वि अक्ताः) अद्भुत कान्तिवाले, **नरः**=नियमितरूप से अपने को आगे और आगे प्राप्त करानेवाले, **सनीडाः**=प्रभु के साथ एक ही निवास-स्थान में रहनेवाले, **रुद्रस्य मर्याः**=सबको उपदेश देनेवाले प्रभु के ही मनुष्य **अथ**=और सबसे बड़ी बात यह कि **स्वश्वाः**=उत्तम इन्द्रियरूप घोड़ोंवाले हैं।

सोम के पान ने इनके जीवन में उपर्युक्त अद्भुत प्रभाव उत्पन्न किये हैं। इन प्रभावों के कारण सामान्य जनता की दृष्टि में ये अतिमानव बन जाते हैं। ये प्रकृति के उपासक न होकर प्रभु के उपासक होते हैं, इसी कारण प्रकृति का अन्याय्य प्रयोग नहीं करते। ये अपने को प्रभु का निमित्तमात्र मानते हैं। प्रकृति के agent तो बनते ही नहीं। इसी बात को मन्त्र में 'रुद्रस्य मर्याः' शब्दों से कहा गया है। इन्द्रियों पर पूर्ण प्रभुत्व पाकर ही मनुष्य परमेश्वर का होता है—ये प्रभु के व्यक्ति 'वसिष्ठ' हैं, 'मैत्रावरुणि' हैं।

भावार्थ—सोम के सेवन से ही हम कान्तिसम्पन्न, आगे बढ़नेवाले, प्रभु के साथ रहनेवाले उसके सेवक बनें।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

उदारता+क्रियाशीलता

४३४. अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम्। ऋध्यामा त ओहैः॥ ८॥

हे **अग्ने**=प्रकाश व क्रिया के मूर्त्तरूप प्रभो! **तम्**=उस आपको **अद्य**=आज हम **ऋध्याम**=बढ़ाते हैं। प्रभु प्रकाशस्वरूप हैं, स्वाभाविक क्रियावाले हैं। अग्रगति के लिए इन्हीं दो तत्त्वों की आवश्यकता है। क्रिया के अभाव में बढ़ना सम्भव ही नहीं और प्रकाश के अभाव में ग़लत दिशा में चले जाने की सम्भावना है। प्रभु प्रकाश और क्रिया दोनों के समन्वय से हमें निरन्तर आगे ले-चल रहे हैं। सचमुच वे अग्नि हैं—मैं उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करूँ।

वे प्रभु **अश्वं न**=(अश् व्याप्तौ) व्यापकता के अनुरूप तथा **क्रतुं न**=कर्मसंकल्प के

अनुरूप **भद्रम्**=हमारा कल्याण करनेवाले हैं। जितनी-जितनी हमारी वृत्ति व्यापकता को लिये हुए होती है और जितना हमारा हृदय कर्मसंकल्प से पूर्ण होता है, उसी अनुपात में हमें कल्याण की भी प्राप्ति होती है। प्रभु की मौलिक प्रेरणाएँ यही दो हैं कि 'उदार बनो, क्रियाशील बनो'। उदारता के अभाव में औरों का भला करने की वृत्ति ही नहीं होती, क्रिया के अभाव में हम भला कर ही नहीं पाते। दोनों का मेल होते ही मनुष्य औरों का भला करने में समर्थ होता है और ऐसा करने पर प्रभु से कल्याण-प्राप्ति का अधिकारी बनता है।

'हमारे कर्म पवित्र बने रहें' इसके लिए यह आवश्यक है कि हम उस प्रभु को **हृदिस्पृशम्**=हृदय में बसनेवाला, इस रूप में स्मरण करें। हमारी कौन-सी बात उनसे छिपी है? हमें तो भ्रम था कि हम अकेले हैं, उस हृदयस्थ पुराणमुनि को जानकर हमारा मन पाप की ओर थोड़े ही झुकेगा?

हम इस प्रभु को **ते स्तोमैः**=उसके स्तुतिसमूहों से जो **ओहैः**=उस प्रभु को प्राप्त करानेवाले हैं, **ऋध्याम**=बढ़ाते हैं। हम प्रभु के गुणों का स्मरण इस प्रकार से करते हैं कि उन गुणों को धारण करते हुए हम प्रभु के समीप पहुँचते जाते हैं। हमारे अन्दर भी सुन्दर दिव्य गुणों का विकास होकर हमें 'वामदेव' बना देता है, इन्द्रियों की निर्मलता से हम 'गोतम' होते हैं। उदारता हमें वामदेव बनाती है तो क्रियाशीलता (गो-गच्छति) गोतम।

भावार्थ—मैं उदारता व क्रियाशीलता को अपनाकर 'वामदेव गोतम' बनूँ।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**वाजिनां स्तुतिः**॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

चार पग—(स्वर्ग का विजय)

४३५. आविर्मर्या आ वाजं वाजिनो अग्मं देवस्य सवितुः सवम्।
स्वर्गाँ अर्वन्तो जयत॥ ९॥

प्रभु कहते हैं कि **मर्याः**=हे मनुष्यो! **आविः**=अपना विकास करो—'उन्नति' यह तुम्हारे जीवन का लक्ष्य-शब्द हो। उन्नति का स्वरूप यह है कि तुम यह निश्चय करो कि **वाजिनः**=उस वाजी के **वाजम्**=वाज को **आ अग्मन्**=प्राप्त होऊँ। विज्ञानमयकोश में मैं उस वाजी=ज्ञानस्वरूप प्रभु के ज्ञान को प्राप्त करूँ, मनोमयकोश में उस वाजी—त्याग के पुञ्ज प्रभु के वाज=त्याग को अपनाऊँ। प्राणमयकोश में उस वाजिनः=शक्तिमय प्रभु की वाजं=शक्ति को धारण करूँ और अन्नमयकोश में वाजिनः=उस स्वाभाविक क्रियावाले प्रभु की वाजं=क्रिया को मैं भी अपना स्वभाव बनाऊँ। इसके लिए मैं उस **देवस्य**=सारी दिव्यता के निधान **सवितुः**=सदा प्रेरणा देनेवाले प्रभु की **सवम्**=प्रेरणा को **अग्मन्**=प्राप्त होऊँ—सुननेवाला बनूँ। विकास व उन्नति को लक्ष्य बनाना प्रथम पग है—उस विकास का स्वरूप है—वाज को प्राप्त करना। उस वाज की प्राप्ति के लिए प्रभु की प्रेरणा को सुनना दूसरा पग है। इस प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति 'अर्वन्' होता है, यह (अर्व to kill) काम-क्रोधादि वासनाओं का संहार करता है और **अर्वन्तः**=कामादि का संहार करते हुए तुम लोग **स्वर्गं जयत**=स्वर्ग को जीतनेवाले बनो। पारलौकिक स्वर्ग की बात का न भी ध्यान करें, मनुष्य ऐहलौकिक स्वर्ग का लाभ तो कर ही लेता है। क्रोधादि से ऊपर उठ जाने पर मनुष्य का जीवन कितनी अद्भुत शान्तिवाला हो जाता है। वासनाओं को जीते बिना मनुष्य की सुखमय स्थिति कभी नहीं हो सकती, इसलिए

आवश्यक है कि हम विकास को जीवन का लक्ष्य बनाकर 'वाज' को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—विकास हमारा लक्ष्य हो, हम वाजी बनें, प्रभु की प्रेरणा को सुनें, वासनाओं को नष्ट करके स्वर्ग के विजेता बनें।

ऋषिः—**धिष्ण्या ऐश्वरयोऽग्नयः**॥ देवता—**पवमानः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

ज्योति व अमरता

४३६. पवस्व सोम द्युम्नी सुधारो महाँ अवीनामनुपूर्व्यः ॥ १० ॥

हे **सोम**=सोम! **अनुपवस्व**=तू हमारे जीवन को अनुकूलता से पवित्र कर। **द्युम्नी**=ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर हमारे मस्तिष्क को द्युतिमय—ज्योतिर्मय कर, **सुधा-रः**=हमें अमृतत्त्व देनेवाला हो। हम तेरा पान करनेवाले बनें और अमृतत्त्व का लाभ करें। **महान्**=तेरे धारण से हमारे हृदय तुच्छता से दूर और विशालता से सम्पन्न हों। तू **अवीनाम् पूर्व्यः**=रक्षकों में सर्वप्रथम है। सोम की रक्षा होने पर रोग शरीर को पीड़ित नहीं कर सकते, इन्द्रियों को निर्बलता आक्रान्त नहीं कर पाती, मन ईर्ष्या-द्वेषवाला नहीं होता और बुद्धि कुण्ठता को प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार यह सोम प्रत्येक कोश की रक्षा करनेवाला है।

वस्तुतः सोम ही जीवन का आधारभूत तत्त्व है। इसी से जीवन का धारण व उत्थान होता है।

भावार्थ—हम सोम की महिमा को समझें और उसके धारण को महत्त्व दें।

पञ्चमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रभु-नाम-स्तवन (विश्वतोदावन्—शविष्ठ)

४३७. विश्वतोदावन् विश्वतो न आ भर यं त्वा शविष्ठमीमहे ॥ १ ॥

यम्=जिस **शविष्ठम्**=सर्वाधिक शक्तिवाले **त्वा**=आपकी **ईमहे**=हम याचना करते हैं। **विश्वतोदावन्**=हे सर्वतः दानशील प्रभो! **विश्वतो नः आभर**=वे आप हमारा सर्वतः भरण कीजिए। हमारे शरीरों को नीरोगता से तथा मस्तिष्क को ज्योति से भर दीजिए। हे प्रभो! आप ही सब-कुछ देनेवाले हैं। इस सोम की रक्षा की शक्ति भी तो आप ही देंगे। आपके सम्पर्क में आकर ही मैं शक्ति-सम्पन्न होता हूँ और शत्रुओं का संहार कर पाता हूँ।

भावार्थ—वे प्रभु 'विश्वतोदावन्' हैं—मुझे भी शक्ति क्यों न देंगे, 'शविष्ठ' हैं—मुझे भी शक्ति-सम्पन्न क्यों न बनाएँगे?

***सूचना**—'विश्वतोदावन्' शब्द का अर्थ सब अशुभ के विध्वंस करनेवाले (दाप् लवने) तथा सब प्रकार से शोधन करनेवाले भी हैं (दैप्-शोधने), यहाँ 'विश्वतो नः आभर' इस वाक्यांश के साथ सब-कुछ देनेवाले यह अर्थ किया गया है।*

ऋषि:—**वामदेव:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**द्विपदापङ्क्ति:**॥ स्वर:—**पञ्चम:**॥

ब्रह्मा-ऋत्विय-इन्द्र

४३८. एष ब्रह्मा य ऋत्विय इन्द्रो नाम श्रुतो गृणे॥ २॥

एष:=ये विश्वतोदावन् प्रभु **ब्रह्मा**=ब्रह्मा हैं—सब प्रकार से बढ़े हुए हैं—प्रत्येक गुण की पराकाष्ठा हैं। अपने सखा जीव को भी सब प्रकार से बढ़ानेवाले हैं। ये प्रभु वे हैं **य:**=जो **ऋत्विय:**=ऋतु-ऋतु में, अर्थात् सदा पुकारने के योग्य हैं। जीव को जब कभी दु:ख होता है उस समय तो वह प्रभु को पुकारता ही है, परन्तु सुख के समय भी ये प्रभु पुकारने योग्य हैं, जिससे हमारा मस्तिष्क स्वस्थ रहे। वे प्रभु **इन्द्र: नाम श्रुत:**='इन्द्र' इस नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सब असुरों का संहार करनेवाले हैं—आसुर वृत्तियों को नष्ट करनेवाले हैं। सर्वशक्तिमान् हैं, परमैश्वर्यशाली हैं।

इस ब्रह्मा, ऋत्विय व इन्द्र नाम से प्रसिद्ध प्रभु को **गृणे**=मैं स्तुत करता हूँ। प्रभु-स्तवन करता हुआ मैं भी ब्रह्मा व इन्द्र बनने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु ब्रह्मा हैं—मैं भी वर्धमान होऊँ। प्रभु ऋत्विय हैं—मेरी लोकहित की वृत्ति मुझे भी ऋत्विय बनाए। प्रभु इन्द्र हैं—मैं भी आसुर वृत्तियों का संहार करनेवाला शची=शक्ति का पति बनूँ।

ऋषि:—**अवस्यु:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**द्विपदापङ्क्ति:**॥ स्वर:—**पञ्चम:**॥

अहि-हनन

४३९. ब्रह्माण इन्द्रं महयन्तो अर्कैरवर्धयन्नहये हन्तवा उ॥ ३॥

ब्रह्माण:=ज्ञानी लोग **इन्द्रम्**=सब असुरों का संहार करनेवाले प्रभु को **महयन्त:**=पूजते हुए (मह पूजायाम्) **अर्कै:**=(अर्चन्त्यनेनेति, अर्को मन्त्र:) मन्त्रों से उस प्रभु को **अवर्धयन्**=बढ़ाते हैं, उसकी दिव्यता को अपने में भरते हैं। प्रभु न्यायकारी है—मैं भी न्यायकारी बनूँ, प्रभु दयालु हैं—मैं भी दया की वृत्तिवाला बनूँ। यही प्रभु को बढ़ाना है। इसके बिना हम अपने से कुटिलता की वृत्ति को दूर नहीं कर सकते। ज्ञानी लोग **उ**=निश्चय से उस प्रभु का वर्धन **अहये हन्तवा**=अहि के हनन के लिए करते हैं। 'अहि' कुटिलता का प्रतीक है—हिंसा का प्रतिनिधि है। प्रभु का स्मरण मुझे कुटिलता व हिंसा से दूर करता है। प्रभु से दूर होते ही मुझसे यह अहि आ चिपटता है।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण मुझे कुटिलतारूपी सर्पदंश से दूर रक्खे, जिससे मैं स्वर्ग में रह सकूँ।

ऋषि:—**अवस्यु:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**द्विपदापङ्क्ति:**॥ स्वर:—**पञ्चम:**॥

सफल जीवन

४४०. अनवस्ते रथमश्वाय तक्षुस्त्वष्टा वज्रं पुरुहूत द्युमन्तम्॥ ४॥

अनव:=मनुष्य **ते**=वे हैं जो **रथम्**=इस शरीररूप रथ को **अश्वाय**=(अश् व्याप्तौ) उस सर्वव्यापक परमात्मा के लिए **तक्षु:**=बनाते हैं। वस्तुत: मनुष्य वह है जो प्रेयमार्ग की चमक

से न चुँधियाकर श्रेयमार्ग का अवलम्बन करता है। प्रकृति के भोगों में न फँसकर जिसने प्रभु-प्राप्ति के मार्ग का अवलम्बन किया वही मनुष्य कहलाने के योग्य है। संसार के भोगों में उलझकर जीवन यापन कर देना पाशविक जीवन है। मनुष्य प्रभु की ओर चलता है—पशु प्रकृति की ओर।

त्वष्टा=निर्माता वह है जो **वज्रम्**=अपनी क्रिया को **द्युमन्तम्**=प्रकाशमय (ततक्ष) बनाता है। वस्तुतः जिस क्रिया में प्रकाश है, अर्थात् जो क्रिया विवेकपूर्वक की जाएगी वह सदा निर्माण करनेवाली होगी। हे **पूरुहूत**=पूरण करनेवाले प्रभो! मैं तो आपका निमित्तमात्र हूँ। निर्माण में गौरव है—गौरव का अनुभव करना ही चाहिए, परन्तु यही गर्व में परिणत होकर हमारी विजय को पराजय में परिवर्तित कर देता है।

भावार्थ—हम प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलकर मानव-जीवन को सफल करें। प्रकाशमय क्रियावाले होकर कुछ-न-कुछ निर्माण करनेवाले हों।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

पूर्ण शान्ति व ऐश्वर्य

४४१. शं पदं मघं रयीषिणे न काममव्रतो हिनोति न स्पृशद्रयिम् ॥ ५ ॥

मघम्=निर्मल ऐश्वर्य से पूर्ण **शं पदम्**=पूर्ण शान्ति के स्थान को **रयीषिणे**=(ईष=to give) धन को दे डालनेवाले—दानी प्राप्त करते हैं। पूर्ण शान्ति को, ब्रह्म को वही प्राप्त करता है जो धन के प्रति आसक्त नहीं होता। जो भी व्यक्ति **अव्रतः**=इस दान के व्रत को धारण नहीं करता वह **कामम्**=बेशक कितना ही हाथ-पैर मारे **न हिनोति**=इस शान्ति के पद को प्राप्त नहीं करता। धन के संग्रह में शान्ति है भी तो नहीं। यह अव्रत पुरुष उस ऐश्वर्यपूर्ण शान्त स्थान को प्राप्त भी क्योंकर करे **न स्पृशत् रयिम्**=इसने धन का दान भी तो नहीं किया। (स्पर्शनम्=दानम्)। धन का दान करे, प्रकृति में आसक्त न हो, तभी उस शान्तपद को प्राप्त कर सकता है।

भावार्थ—शान्ति की प्राप्ति ब्राह्मीभाव में है, यह भाव सर्वलोकहित में रत होने से प्राप्त होता है। उसी भूतहित का प्रतीक दान है।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

निष्पापता

४४२. सदा गावः शुचयो विश्वधायसः सदा देवा अरेपसः ॥ ६ ॥

देवाः=देनेवाले **सदा**=हमेशा **अरपेसः**=निष्पाप होते हैं। दान=देना, दान=खण्डन, दान=शोधन। दान शब्द के उल्लिखित तीन अर्थ ही दान की निष्पापता को जन्म देनेवाली शक्ति को व्यक्त करते हैं। लोभ सब पापों का मूल है—दान उस मूल पर कुठाराघात करता हुआ पापों का उन्मूलन कर देता है। इस बात को वेद एक उदाहरण से भी इस रूप में व्यक्त करता है कि **गावः**=गौएँ **सदा**=हमेशा **शुचयः**=पवित्र हैं। इनका मल-मूत्र भी कृमिघातक होकर शोधक हो जाता है। गोमूत्र कितने ही रोगों को दूर करता है, गोमय किस प्रकार यज्ञवेदि के नैर्मल्य का कारण बनता है? गौओं की इस पवित्रता का हेतु भी वेद के दृष्टिकोण में यही है कि

ये **विश्वधायसः**=सभी को दूध पिलाकर पालनेवाली हैं। गौवें जीवन देती हैं, देने से ही पवित्र हैं। मनुष्य भी देता है, तो दान से देव बन जाता है और निष्पापता का लाभ करता है। यह निष्पापता ही उसके ब्राह्मीभाव का कारण बनेगी।

भावार्थ—दानी निष्पाप होता है, देव बनता है और महादेव को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**संवर्तः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

उपासना के लाभ

१ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २र

४४३. आ याहि वनसा सह गावः सचन्त वर्तनिं यदूधभिः ॥ ७॥

वन् धातु का अर्थ है—'सम्भक्ति'। सम्भजन का अभिप्राय है 'एकाग्रचित्त से प्रभु का ध्यान'। मनुष्य प्रभु के ध्यान में तल्लीन हो, उसे किसी सांसारिक वस्तु का ध्यान न हो—वह योगनिद्रागत हो—ऐसे ध्यान को 'वनस्' कहते हैं। जब मनुष्य इस ध्यान की स्थिति में होता है तब **वनसा सह**=इस उपासना के साथ हे प्रभो! **आयाहि**=आप मुझे प्राप्त होओ। वस्तुतः तन्मयता के बिना प्रभु-प्राप्ति सम्भव नहीं।

इस उपासना का परिणाम यह होता है कि **गावः**=इन्द्रियाँ **वर्तनिं सचन्त**=मार्ग का सेवन करती हैं। उपासक की इन्द्रियाँ, प्रभु का राज्य हो जाने पर, अपने मार्ग से विचलित नहीं होतीं। दिन में तो क्या? **यत् ऊधभिः**=जब रातों में भी इन्द्रियाँ मार्ग से विचलित नहीं होतीं, तब समझना चाहिए कि उपासना ठीक हुई। मेरी वाणी दिन में ही असत्य नहीं बोलती यह नहीं, रात को स्वप्न में भी मैं असत्य नहीं बोलता—यही तो उपासना की महिमा है। इससे जीवन का मार्ग ही पलट गया। असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर चल पड़ने से यह ऋषि 'संवर्त' नामवाला हुआ है। 'संवर्तते इति संवर्तः'=जो उत्तम मार्ग पर चल रहा है।

भावार्थ—मैं अनन्यभाव से प्रभु का भजन करूँ। परिणामतः प्रभु का दर्शन करनेवाला बनूँ और दिन में तो क्या रात्रि में भी मेरी इन्द्रियाँ मार्ग से विचलित न हों।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

मधुमान् प्रक्ष में निवास

१ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

४४४. उप प्रक्षे मधुमति क्षियन्तः पुष्येम रयिं धीमहे त इन्द्र ॥ ८ ॥

'प्रक्ष' शब्द का अर्थ है—निवास का प्रकृष्ट स्थान। केवल निवास ही नहीं, 'क्षि=निवासगत्योः' धातु से बना यह शब्द यह निर्देश कर रहा है कि इस शरीर में हमारा उत्तम निवास हो और हम सदा गतिशील हों। इस प्रक्ष को हम 'मधुमति'=मधुमान् बनाएँ, हमारा सारा व्यवहार माधुर्य को लिये हुए हो। **'मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्'**=मेरा आना-जाना भी माधुर्य को लिये हुए हो। इस **मधुमति प्रक्षे**=माधुर्यमय शरीर में **उपक्षियन्तः**=निवास करते हुए और गतिशील रहते हुए हम **रयिं पुष्येम**=धनों का पोषण करें। **इन्द्र**=हे प्रभो! हम **ते धीमहे**=आपका ध्यान करें और आपको धारण करें।

'हम गतिशील रहते हुए धन कमाएँ' इस वाक्य का अभिप्रय स्पष्ट है कि हम पुरुषार्थ-प्राप्य धन को ही उपादेय मानें। 'यह धन हमारे जीवनों में किसी प्रकार के धब्बों को लगानेवाला

न हो जाए' इसलिए हम प्रभु का ध्यान व उसे धारण करें। 'धनसम्पन्न-प्रभुभक्त' गृहस्थ कितना सौभाग्यशाली है? धन से उसके सब कार्य चलते हैं और प्रभु-भक्ति उसकी हानि नहीं होने देती। प्रभुभक्ति धन की हानियों का प्रतीकार है।

एवं, उल्लिखित दो मन्त्रों में उपासना के निम्न लाभ परिगणित हुए हैं-

१. प्रभु-प्राप्ति (आयाहि), २. इन्द्रियों का मार्ग से विचलित न होना, ३. शरीर में उत्तम निवास व गतिशीलता (प्रक्षे), ४. माधुर्य (मधुमति) ५. ऐश्वर्यलाभ (रयिं पुष्येम), ६. दिव्यता का धारण (ते धीमहि)।

भावार्थ-प्रभुकृपा से मेरा मन अवश्य उपासना-प्रवण हो।

ऋषिः-**वामदेवः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः-**पञ्चमः**॥

कष्टों का अन्त

४४५. अर्चन्त्यर्कं मरुतः स्वर्का आ स्तोभति श्रुतो युवा स इन्द्रः ॥ ९ ॥

'अर्क' शब्द का अर्थ परमात्मा है (यद् एनम् अर्चन्ति), इसका अर्थ मन्त्र है (यदनेन अर्चन्ति) इसका अर्थ अन्न है (अर्चन्ति भूतानि)। इस प्रकार **स्वर्काः**=सर्वोत्तम उपास्यदेव का उत्तम मन्त्रों से अर्चना करनेवाले, अतएव उत्तम सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाले **मरुतः**=मनुष्य **अर्कम्**=उस उपास्य प्रभु की **अर्चन्ति**=अर्चना करते हैं। **'य एक इत् हव्यश्चर्षणीनाम्'**=इत्यादि मन्त्रों में मनुष्य के लिए एकमात्र उस प्रभु की ही उपासना का निर्देश है। जो मनुष्य सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हैं और परिणामतः जिनका ज्ञान उत्तम होता है उनका जीवन इस उपासना से ओत-प्रोत हुआ करता है।

ऐसा होनेपर **सः**=वह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु जो **युवा श्रुतः**=अशुभ को दूर करनेवाला (यु=अमिश्रण) और शुभ को प्राप्त करनेवाला (यु=मिश्रण) प्रसिद्ध है, **आस्तोभति**=इनके सब कष्टों को रोकता है। प्रभुकृपा से न इन्हें आध्यात्मिक कष्ट पीड़ित करते हैं, न ये आधिभौतिक कष्टों के शिकार होते हैं और न ही आधिदैविक कष्टों का प्रकोप इन्हें सहना पड़ता है।

भावार्थ-मैं प्रभु का सच्चा उपासक बनूँ। यही सत्य का मार्ग है।

ऋषिः-**वामदेवः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः-**पञ्चमः**॥

शोधन-पूरण

४४६. प्र व इन्द्राय वृत्रहन्तमाय विप्राय गाथं गायत यं जुजोषते॥ १०॥

गाथं प्रगायत=गाथा का खूब गायन करो। किसके लिए? **वः इन्द्राय**=परमैश्वर्य प्राप्त करानेवाले के लिए, **वृत्रहन्तमाय**=वासनाओं का अधिक-से-अधिक नाश करनेवाले के लिए और **विप्राय**=विशेषरूप से पूरण करनेवाले के लिए।

प्रभु का हम गायन करते हैं तो वे प्रभु परम ऐश्वर्य तो प्राप्त कराते ही हैं, परन्तु महत्त्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि हमारी वासनाओं का विनाश हो जाता है। वासनाओं का विनाश ही मलों का दूर होना है। उस निर्मल हृदय में प्रभु के सान्निध्य से दिव्य भावनाओं का भरण होता है। राग-द्वेष का स्थान प्रेम ले-लेता है, औरों को तुच्छ समझने का स्थान

करुणा ले-लेती है, ईर्ष्या के स्थान में आगे बढ़ने की भावना उत्पन्न होती है, अभिमान का स्थान विनय लेती है और भय के स्थान में देवपूजा की भावना उत्पन्न हो जाती है। इस परिवर्तन का अनुभव करनेवाले विद्वान् **यम्**=जिस प्रभु को **जुजोषते**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं, हम भी उसी प्रभु की उपासना करें।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हमारे हृदयों का शोधन होगा और उनमें दिव्यता का पूरण होगा।

ऋषिः—**पृषध्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**द्विपदागायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अग्नि का समिन्धन

४४७. अचेत्यग्निश्चिकितिर्हव्यवाड् न सुमद्रथः ॥ १ ॥

प्रभु अग्नि हैं। उनके सान्निध्य से जीव भी **अग्निः अचेति**=अग्निरूप में चैतन्य हो उठता है। **'अग्निनाग्निः समिध्यते'** प्रभु का उपासक उस महान् के सम्पर्क में आकर अग्निरूप में प्रज्वलित हो उठता है। **चिकितिः**=(कित निवासे रोगापनयने च) यह उत्तम निवासवाला होता है और इसका शरीर रोगशून्य होता है। प्रभु के उपासक का मस्तिष्क यदि ज्ञानाग्नि के प्रकाशवाला होता है तो उसका शरीर 'अनामय'=रोगशून्य होकर स्वास्थ्य की दीप्तिवाला होता है। **हव्यवाट् न**=हव्यों—सात्त्विक पदार्थों के वहन—सेवन करनेवाले की भाँति यह प्रभुभक्त शरीर, मन व मस्तिष्क—सभी में सत्त्वगुण प्रधान बनता है। स्वास्थ्य, नैर्मल्य व दीप्ति के रूप में सत्त्वगुण का परिणाम उसके जीवन में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। **सु-मद्रथः**=यह उत्तम हर्षयुक्त शरीररूप रथवाला होता है। इसका मनःप्रसाद इसके वक्त्र को स्मितयुक्त बनाये रखता है। इसका प्रसन्न-वदन (smiling face) इसके अन्तःप्रसाद की सूचना देता है। यह अपने इस मनःप्रसाद व मुस्कुराहट को चारों ओर बखेरता है। इसी से इसका नाम 'पृषध्र' (पर्षते इति पृषः=one who sprinkles, धरति इति ध्रः) हो गया है। प्रभु के उपासक को पृषध्र होना ही चाहिए। यह पृषध्र 'सुमद्रथ'=स्वयं रममाण, अर्थात् आत्मरति, आत्मक्रीड व आत्मतृप्त होता है—यह आनन्द के लिए बाह्य वस्तुओं पर निर्भर नहीं करता (सुमत्-स्वयम्)।

भावार्थ—अग्नि के सम्पर्क में आकर मैं भी अग्नि बन जाऊँ। आत्मानन्द का अनुभव करते हुए सब बाह्य आनन्द इसके लिए तुच्छ हो जाते हैं।

ऋषिः—**बन्धुः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**द्विपदापङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

बन्धु की उपासना

४४८. अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भुवो वरूथ्यः ॥ २ ॥

'पृषध्र' सबपर प्रसाद बखेरता हुआ और उसके द्वारा सभी का धारण करता हुआ यह सबका 'बन्धु' बनता है। यह केवल अपना कल्याण नहीं चाहता, अपितु सबके कल्याण के लिए सदा प्रवृत्त रहता है, परन्तु उस सेवा के कार्य में भी अभिमान के अंश को न उत्पन्न होने देने के लिए प्रभु का स्मरण इन शब्दों में करता है—हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **त्वं नः अन्तमः**=आप ही हमारे अन्तिकतम (Intimate) मित्र हो। संसार में जब सभी साथ छोड़ जाते हैं उस समय आपकी मित्रता ही हमारा अवलम्बन होती है **उत**=और **त्राता**=आप ही हमारे रक्षक हैं। रक्षक ही नहीं **शिवः**=कल्याण करनेवाले हो। **वरूथ्यः**=आप हमारे उत्तम

आवरण (Cover, Shelter) **भुवः**=हैं। आप ही हमारे उत्तम धन (Wealth) हैं। प्रभुरूप धन की तुलना में अन्य सब धन तुच्छ हैं ही।

भावार्थ—मैं प्रभु को अपनी सम्पत्ति समझूँ।

ऋषिः—**सुबन्धुः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**द्विपदागायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

द्युलोक-पृथिवीलोक

४४९. भगो न चित्रो अग्निर्महोनां दधाति रत्नम्॥ ३ ॥

'बन्धु' प्रभु की उपासना करता हुआ प्राणिमात्र के साथ ऐक्य का अनुभव करनेवाला 'सुबन्धु' बन जाता है और अनुभव करता है कि **अग्निः**=प्रकाश का पुञ्ज प्रभु **भगो न**=देदीप्यमान सेवनीय सूर्य की भाँति **चित्रः**=हमें ज्ञान का प्रकाश देनेवाला है। प्रभु की उपासना से उपासक का मस्तिष्करूप द्युलोक उसी प्रकार प्रकाशित हो उठता है जिस प्रकार द्युलोक सूर्य से। वह अग्नि **महोनाम्**=(मह पूजायाम्) उपासकों के इस पार्थिव शरीर में **रत्नं दधाति**=रस, रक्त आदि रमणीय सप्त रत्नों को धारण करती है। वे ही यहाँ रत्न हैं—इनसे शरीर रमणीय बना रहता है। पृथिवी जैसे 'वसुन्धरा' है, उसी प्रकार उपासक का शरीर भी रत्नों का धारण करनेवाला बनता है। इन रत्नों से शरीर दृढ़ बना रहता है।

संक्षेप में उपासक का मस्तिष्करूप द्युलोक उग्र व तेजस्वी होता है तो उसका यह पार्थिव शरीर दृढ़ होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से मैं उग्र व दृढ़ बनूँ।

ऋषिः—**श्रुतबन्धुः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**द्विपदागायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अन्तरिक्षलोक

४५०. विश्वस्य प्र स्तोभ पुरो वा सन् यदि वेह नूनम्॥ ४ ॥

प्रभु की उपासना से दीप्त मस्तिष्कवाला सुबन्धु 'श्रुतबन्धु' बन गया है—ज्ञान का मित्र। इस ज्ञान के बढ़ने का यह स्वाभाविक परिणाम है कि उसके जीवन में वासनाओं का क्षय हो जाए। वस्तुतः यह वासनाओं का विनाश भी प्रभुकृपा से ही होता है। यह श्रुतबन्धु प्रभु की उपासना करता हुआ कहता है—हे प्रभो! आप ही **विश्वस्य**=(विश्=to enter) हमारे न चाहते हुए भी हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जानेवाली इन आसुर भावनाओं के **प्रस्तोभ**=रोकनेवाले हैं। (स्तुभ्=to stop)। **पुरो वा सन्**=यदि आप मेरे हृदयान्तरिक्ष में पहले ही—मृत्यु-क्षण से बहुत पूर्व ही स्थापित हुए, तब तो आप मेरी इन वासनाओं को नष्ट करके मेरे जीवन में शान्ति प्राप्त कराते ही हो, **यदि वेह**=परन्तु यदि 'इह'=यहाँ मृत्युक्षण में भी हृदय में प्रतिष्ठित किये जाते हो तो भी **नूनम्**=निश्चय से आप मेरी वासनाओं की समाप्ति के कारण बनते हो। कितना सौभाग्यशाली वह व्यक्ति है जो जीवन के यौवन में ही प्रभु को हृदय में प्रतिष्ठित करके सब वासनाओं के लिए उस हृदयद्वार को बन्द कर देता है, परन्तु वह भी भाग्यशाली ही है जो अन्तिम अवस्था में भी ऐसा करने में समर्थ हो जाता है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मैं अवसान से बहुत पहले ही हृदयद्वार को वासनाओं के लिए बन्द कर दूँ।

ऋषिः—संवर्त आङ्गिरसः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—द्विपदापङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

उषा का उपदेश—प्रकाश व कुलीनता

४५१. उषा अप स्वसुष्टमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता॥ ५॥

अस्त होता हुआ सूर्य रात्रि को जन्म देता है और उदय होता हुआ उषःकाल को। एवं, रात्रि व उषा दोनों ही बहिनें हैं। उषा आती है और अपनी बहिन रात्रि के अन्धकार को दूर भगा देती है। मन्त्र में इसी बात को इन शब्दों में कहा गया है **उषाः**=उषःकाल **स्वसुः**=अपनी बहिन रात्रि के **तमः**=अन्धकार को **अप**=दूर **संवर्तयति**=भगा देती है। उषःकाल होते ही प्रकाश हो जाता है—अन्धकार का नाम व चिह्न भी नहीं रहता। इस प्रकार उषःकाल का प्रथम उपदेश यही है कि हम अन्धकार को दूर करके प्रकाश प्राप्त करें।

उषा रात्रि के अन्धकार को दूर करके **सु-जा-त-ता**=कुलीनतापूर्वक **वर्तनिम्**=मार्ग को **संवर्तयति**=तय करती है। कुलीनता के अभाव में कुछ अभिमान व औद्धत्य की गन्ध आती है। सूर्य में कुछ तेजी है—परन्तु उषा कितनी शान्त है—कितनी प्रसादमय है। प्रकाश के साथ सर्वत्र ताप है, परन्तु उषा के प्रकाश में ताप नहीं है। ज्येष्ठ मास में भी, जबकि सूर्य असह्य तापवाला हो जाता है, उषा शान्त ही बनी रहती है। हम भी अपने व्यवहार में कुलीन बनें। हमें ज्ञान व किसी भी शक्ति का गर्व न हो। हम प्रकाश व कुलीनता के साथ अपने मार्ग पर उत्तम ढङ्ग से चलते चलें—'संवर्त' बनें। 'संवर्त'=उत्तम ढङ्ग से चलनेवाला होने के कारण ही यह 'आङ्गिरस' है—शक्ति-सम्पन्न अङ्गोंवाला है।

भावार्थ—मैं उषा से उपदेश लेकर प्रकाशमय जीवनवाला बनूँ तथा मेरा व्यवहार कुलीनता का सूचक हो—उसमें कमीनेपन=meanness की गन्ध न हो।

ऋषिः—भौवनः साधनः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—द्विपदापङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

साध्य तथा साधन (Ends and Means)

४५२. इमा नु कं भुवना सीषधेमेन्द्रश्च विश्वे च देवाः॥ ६॥

इस मन्त्र का ऋषि 'भौवन-साधन' है—जो भुवनों के ठीक स्वरूप को समझता है कि वे मेरे साधन हैं—साध्य नहीं। वस्तुतः यह अनुभव करता है कि जब तक हम इन भुवनों—सब लौकिक वस्तुओं को—साधन के रूप में ही देखते हैं तब तक हममें इनके प्रति आसक्ति उत्पन्न नहीं होती, परिणामतः ये हमारे दुःखों का कारण नहीं बनते, परन्तु ज्योंही ये हमारे साध्य बन जाते हैं त्योंही हम इनमें आसक्त हो जाते हैं, परिणामतः हमारे व्यवहार विकृत होते हैं और हम दुःखी हो जाते हैं। भुवनों को साध्य समझनेवाला इन भुवनों में ही आसक्त रहता है। ये उसे सुखी नहीं बनाते।

इस तत्त्व को अनुभव करनेवाला 'भौवन-साधन' कहता है कि **इमा भुवना**=इन भुवनों को हम **नु**=अब **कम्**=सुख-प्राप्ति के लिए **सीषधेम**=साधन बनाएँ। ये हमारे साध्य न बन जाएँ। साध्य तो **इन्द्रः च**=वह परमात्मा है और **विश्वे च देवाः**=वे सब दिव्य गुण हैं। जितना-जितना दिव्य गुणों को मैं अपनाता जाता हूँ, उतना-उतना मैं प्रभु के अंश को अपनाता जाता हूँ और दिव्यता के पूर्ण होते ही प्रभु को पा लेता हूँ। दिव्य गुण वे सीढ़ियाँ

हैं जिन्हें लाँघता हुआ मैं प्रभुरूप छत पर पहुँच जाता हूँ। शरीर, इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि इन साधनों का ठीक प्रयोग करते हुए हम सब दिव्य गुणों व प्रभुरूप साध्य को सिद्ध करनेवाले बनें।

भावार्थ—ये सब भुवन साधन हैं, इन्द्र और दिव्य गुण साध्य हैं।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**द्विपदागायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दान के प्रवाह बहें

४५३. वि स्रुतयो यथा पथ इन्द्र त्वद्यन्तु रातयः ॥ ७ ॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि 'तू चाहता है कि ये सब भुवन तेरे लिए साधन ही बनें रहें, साध्य न हो जाएँ' इसके लिए हे **इन्द्र**=तू जितेन्द्रिय बन। इन्द्रियों को वश में करना ढाल है जो मनुष्य को वासनाओं के आक्रमण से बचाती है। ये जितेन्द्रियतारूप ढाल तुझे इस इला=पृथिवी में ष=समाप्त न होने देगी। तू इन पार्थिव भोगों का अन्त करके 'ऐलूष' बनेगा। इस जितेन्द्रियता व अनासक्ति की वृत्ति को जगाने के लिए **त्वत्**=तुझसे **रातयः**=दान के प्रवाह उसी प्रकार **यन्तु**=चलें **यथा**=जैसे **वि-स्रुतयः**=विविध नदियों के प्रवाह **पथः**=मार्ग से बहते हुए चले जाते हैं।

पर्वतों से नदियों के प्रवाहों की भाँति दान-प्रवाहों के चलने पर मनुष्य इन धनादि पदार्थों में आसक्त नहीं होता। ये उसके लिए साधन ही बने रहते हैं। दान सचमुच आसक्ति का दान=छेदन करनेवाला है और दान=शोधन का कारण है। इस प्रकार यह दान जीव की कवच=ढाल बन जाता है। इस ढालवाला ऋषि 'कवष' नामवाला हो गया है। यह सब पार्थिव भोगों को समाप्त करने के कारण 'ऐलूष' तो है ही।

भावार्थ—हम धन को साधन ही समझें और हमसे दान के प्रवाह बहते रहें।

ऋषिः—**बार्हस्पत्यो भरद्वाजः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**द्विपदात्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

देवहित-वाज

४५४. अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥ ८ ॥

अया=(अनया) इस साधन को साधन समझने की भावना से हम **देवहितम्**=देवों के लिए हितकर **वाजम्**=ज्ञान को **सनेम**=प्राप्त करें। जब मनुष्य अर्थ, अर्थात् धन तथा अन्य काम्य पदार्थों को साधन न समझकर साध्य बना लेता है तब उनमें फँसकर प्राप्त ज्ञान को भी नष्ट कर लेता है। मनुष्य का ज्ञान तभी स्थिर रहता व विकसित होता है जब वह साधनों को साधन समझने की भावना से दूर नहीं होता।

अर्थ और काम साधन ही बने रहते हैं तो ज्ञान-प्राप्ति के अतिरिक्त यह परिणाम भी होता है कि **मदेम**=हम आनन्दपूर्वक जीवन बिताते हैं और **शतहिमाः सुवीराः**=हमारे सौ-के-सौ वर्ष बड़े वीरतापूर्ण बीतते हैं। न हम वासनाओं के शिकार होते हैं और न ही हमारी शक्तियाँ जीर्ण होती हैं। एवं, साधनों को साधन समझने की भावना हमारे ज्ञान को स्थिर रखकर हमें 'बार्हस्पत्य' बनाती है और शक्ति से भरकर 'भरद्वाज' बनाती है।

भावार्थ—मैं ज्ञानी बनूँ, प्रसन्न रहूँ और शक्तिशाली होऊँ।

ऋषिः—आत्रेयः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—द्विपदात्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

स्नेह-व्रत-सम्पत्ति

४५५. ऊर्जा मित्रो वरुणः पिन्वतेडाः पीवरीमिषं कृणुही न इन्द्र॥ ९॥

मित्रः=स्नेह की देवता और **वरुणः**=(पाशी) अपने को व्रतों में बाँधने की भावना **ऊर्जा**=शक्ति से **इडाः**=हमारी वेदवाणियों को **पिन्वत**=बढ़ाएँ। हमारे अन्दर शक्ति हो, और शक्ति के साथ ज्ञान की वाणियों का पोषण हो। इसके लिए हम मित्र और वरुण से आराधना करें। हम अपने में 'मित्र=स्नेह' की भावना को प्रबुद्ध करें। स्नेह 'काम' को समाप्त कर—ज्ञान को दीप्त करता है और शक्ति की वृद्धि का हेतु होता है। इस स्नेह की भावना के साथ अपने को 'व्रतों के बन्धन में बाँधने की भावना' तो सब उन्नतियों का मूल ही है। वरुण व्रतों की देवता है, साथ ही 'प्रचेताः' प्रकृष्ट ज्ञानवाला है। व्रतमय जीवन बुद्धि के नैर्मल्य व तीक्ष्णता के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है। संक्षेप में ये मित्र और वरुण हमारी शक्ति व ज्ञान की वृद्धि के कारण बनते हैं और इस प्रकार हमारा अध्यात्मजीवन उत्कृष्ट होता है। सामाजिक जीवन के उत्कर्ष के लिए **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **नः**=हमें **पीवरीम् इषम्**=पर्याप्त सम्पत्ति **कृणुहि**=प्राप्त कराइए। धन के बिना हम धर्म के कार्य भी नहीं कर पाते। सामाजिक स्थिति के उत्कर्ष के लिए सम्पत्ति की आवश्यकता है ही। उससे औरों की सहायता कर पाऊँगा। शक्ति व ज्ञान अध्यात्मजीवन को सुन्दर बना रहे थे, तो सम्पत्ति ने उनके साथ मिलकर मेरे सामाजिक जीवन को भी ऊँचा कर दिया है। इस उच्च जीवन को—सुखी, सम्पन्न व यशस्वी जीवन को प्राप्त करके मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक—इन सभी कष्टों से ऊपर उठ गया हूँ और इस मन्त्र का ऋषि 'आत्रेय' (अ-त्रि) बन गया हूँ।

भावार्थ—मैं अपने जीवन को स्नेह व व्रतों के बन्धनवाला बनाऊँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—एकपदागायत्री ॥ स्वरः—षड्जः॥

अभिमान-निरास

४५६. इन्द्रो विश्वस्य राजति॥ १०॥

'उच्च स्थिति को प्राप्त करके कहीं अभिमान का आक्रमण न हो जाए', अतः मनुष्य को ध्यान रखना चाहिए कि **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु ही वस्तुतः **विश्वस्य**=सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त, सारे ऐश्वर्य का **राजति**=प्रभुत्व करते हैं। सब ऐश्वर्य उस प्रभु का है मुझे तो उस प्रभु ने अपनी सम्पदा का न्यासी (Trustee) बनाया है। यह विचार इसे अभिमानी नहीं बनने देता।

भावार्थ—इस इन्द्र के ऐश्वर्य का व भगवान् के भग का ध्यान करता हुआ मैं उन्नति में भी विनीत बना रहूँ।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—गृत्समदः शौनकः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अष्टिः॥ स्वरः—मध्यमः॥

महान् कर्म के लिए

४५७. त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृम्पत्सोममपिबद्विष्णुना सुतं यथावशम्। स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम्॥ १॥

त्रिकद्रुकेषु=तीनों आह्वानों के समय पर (कदि=आह्वाने), अर्थात् प्रातः, मध्याह्न और सायम् **महिषः**=उस प्रभु की पूजा करनेवाला (मह पूजायाम्), अतः **तुविशुष्मः**=बहुत शक्तिवाला **यवाशिरम्**=सब कर्मेन्द्रियों को पवित्र करनेवाले **सोमम्**=सोम को **तृम्पत् अपिबत्**=तृप्त होता हुआ, अर्थात् खूब पीता है। यव शब्द कर्मेन्द्रियों का वाचक है। **यु**=मिश्रण और अमिश्रण—संयोग और विभाग करनेवाली ये कर्मेन्द्रियाँ ही हैं। इन कर्मेन्द्रियों के मल को (शृ हिंसायाम्) नष्ट करने से यह सोम 'यवाशिर' कहलाता है। स्थानान्तर में इसका विशेषण 'गवाशिर' भी है=ज्ञानेन्द्रियों के मलों को दूर करनेवाला; **दध्याशिरम्**=धारणशक्ति की कमी को दूर करनेवाला। यह सोम **विष्णुना सुतम्**=प्रभु से उत्पन्न किया गया है। वस्तुतः जीव को प्रभु की यह महान् भेंट है। इसका अपव्यय तो स्पष्ट ही प्रभु का निरादर है। इस सोम का पान **यथावशम्**=उसी अनुपात में होता है जिस अनुपात में हम काम-क्रोधादि वासनाओं को वश में कर पाते हैं।

जो व्यक्ति इस सोम का पान करता है **सः**=वह **ईम्**=निश्चय से १. **ममाद**=मदयुक्त, प्रसन्न होता है। इसके जीवन में एक उल्लास होता है, २. यह व्यक्ति **महि कर्म**=महान् कर्म को **कर्तवे**=करने के लिए समर्थ होता है। इसका जीवन खाने-पीने व सोने में ही समाप्त नहीं हो जाता, ३. **सः**=वह **एनम्**=इस **महान्**=महान् **उरुम्**=विशाल प्रभु को **सश्चद्**=प्राप्त होता है। महान् कर्म करनेवाला ही तो प्रभु को पाता है। खाओ-पिओ और मौज उड़ाओ के सिद्धान्तवाला तो कभी भी उस प्रभु को पाने का अधिकारी नहीं होता। ४. **देवः देवम्**=यह सोमपान करनेवाला देव बनकर उस देव को पाता है। **सत्यः सत्यम्**=सत्य बनकर उस सत्यस्वरूप के समीप पहुँचता है। **इन्दुः इन्द्रम्**=शक्तिशाली बनकर उस शक्ति के देवता का उपासक होता है। 'इन्दु' शब्द शरीर की शक्ति का संकेत कर रहा है। 'सत्य' मन की पवित्रता का (मनः सत्येन शुध्यति) तथा 'देव' विद्वत्ता का (विद्वाᳬसो हि देवाः)।

यह व्यक्ति 'महिषः' होने से 'गृत्स' है (गृणाति) प्रभु का उपासक है। (ममाद) उल्लासमय जीवनवाला होने से 'मद' है (मद्यति)। क्रियाशील होने से शौनक है (शुन गतौ)=महि कर्म कर्तवे। एवं, इस मन्त्र का ऋषि 'गृत्समद शौनक' है।

भावार्थ—हम भी 'गृत्समद शौनक' बनने के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—**गौराङ्गिरसः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

हज़ारों के समान

४५८. अयं सहस्रमानवो दृशः कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्म।
ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयदरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमन्तश्चिता गोः॥ २॥

गत मन्त्र में 'महि कर्म कर्तवे' इन शब्दों से महान् कर्म करने की प्रेरणा दी गयी थी। यही तो महान् परमेश्वर को पाने में समर्थ होता है। यह इन्द्र=शक्तिशाली बना हुआ व्यक्ति कभी यह नहीं सोचता कि 'मैं इस कार्य को कैसे कर पाऊँगा?' यह अपने को अकेला अनुभव ही नहीं करता। **अयं सहस्र-मानवः**=यह तो हज़ारों मनुष्यों के तुल्य है। यह एक थोड़े ही है। **कवीनाम्**=क्रान्तदर्शियों के दृष्टिकोण से **दृशः**=देखनेवाला है। यह केवल आपाततः

किसी वस्तु को न देखकर उसके तत्त्व तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। अच्छी प्रकार समझकर दृढ़ निश्चय से कार्य करेगा तभी तो किसी महान् कार्य को कर सकेगा।

मतिः=अपने दृष्टिकोण को ठीक रखने के लिए यह अपनी बुद्धि को सूक्ष्म बनाता है और **ज्योतिः**=मनन के द्वारा उस बुद्धि से प्रकाश पाने का प्रयत्न करता है। इस ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करके यह **विधर्म**=विशेषरूप से धारण करनेवाला बनता है। धारण करने की प्रक्रिया में इसका शैथिल्य इसलिए नहीं होता कि यह **ब्रध्नः**=महान् है (नि० ३.३)। इसका हृदय इतना विशाल है कि यह सभी का उपकार करता है। यह अपने **उषसः**=उष:कालों को **समीचीः**=सुन्दर गतिवाला **समैरयत्**=करता है, अर्थात् यह अपने उष:कालों को बड़े सुन्दर रूप से बिताता है।

१. **अरेपसः**=पाप से शून्य। उस समय यह किसी के प्रति अशुभ भावना को अपने अन्दर नहीं आने देता।

२. **सचेतसः**=चैतन्यता से युक्त। उष:कालों में यह स्वाध्याय के द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाता है।

३. **स्वसरे**=घर में **मन्युमन्तः**=उत्साहवाला होता है। उस समय यह प्रत्येक व्यक्ति में उत्साह भरने का ध्यान करता है।

४. **चिता गोः**=वाणियों से उपचित प्रत्येक उष:काल में यह वेदवाणियों या अन्य उत्तम वाणियों को स्मरण करने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार अपने मस्तिष्क को सुभाषितों का भण्डार बना लेता है। इन वाणियों के उचित प्रयोग से ही यह किसी भी अर्थ का निश्चय करानेवाला होने से (गमयति अर्थान् इति गो:) 'गौ:' कहलाता है, शक्तिशाली होने से 'आङ्गिरस'।

भावार्थ—मैं प्रत्येक उष:काल को सुन्दर रूप में बिताऊँ।

ऋषि:—**दैवोदासिः परुच्छेपः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्द:—**अत्यष्टिः**॥ स्वर:—**गान्धारः**॥

ज्ञानयज्ञों में नकि क्लबों (Clubs) में

४५९. एन्द्र याह्युप नः परावतो नायमच्छा विदथानीव सत्पतिरस्ता राजेव सत्पतिः। हवामहे त्वा प्रयस्वन्तः सुतेष्वा पुत्रासो न पितरं वाजसातये मंहिष्ठं वाजसातये॥ ३॥

हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमान् प्रभो! **परावतः**=दूर-से-दूर तक भटके हुए हमें उन सुदूर स्थानों से **अच्छ**=अपनी ओर **नायम्**=प्राप्त कराते हुए (नी=प्रापणे) आप **नः**=हमें **उप आयाहि**=अपने समीप प्राप्त कराइए। प्रभु जीव के समीप आते हैं या जीव प्रभु के समीप आता है—परिणाम तो एक ही है, परन्तु 'जीव में प्रभु की ओर चलने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाए' यही उत्तम है; और यही भावना 'अच्छ नायम्' इन शब्दों से व्यक्त हो रही है।

इव=हे प्रभो! हमें आप अपने समीप उसी प्रकार प्राप्त कराइए, जैसेकि **सत् पतिः**=एक उत्तम पति **विदथानि**=अपने परिवार के व्यक्तियों को ज्ञानयज्ञों में ले-जाता है। ज्ञानयज्ञों में कुछ-न-कुछ उत्तम प्रेरणा प्राप्त होती है। कितना दौर्भाग्य है उस परिवार का जो ज्ञानयज्ञों में सम्मिलित न होकर आनन्द की खोज में क्लबों में जा पहुँचते हैं। प्रभो! हमें उस प्रकार अपने समीप प्राप्त कराइए **इव**=जैसेकि **सत्पतिः राजा**=राष्ट्रों में सयनों का रक्षक राजा **अस्ता**=लोगों को अपने घरों में प्राप्त कराता है। राजा का यह कर्त्तव्य होता है कि वह इस ढङ्ग से व्यवस्था करे कि लोग बहुत भटकें नहीं। उन्हें घर पर ठहर कर सुप्रजा-निर्माण का

अवसर भी प्राप्त हो।

त्वा=तुझ प्रभु को हम **हवामहे**=पुकारते हैं, परन्तु **प्रयस्वन्तः सुतेषु**=प्रयत्नशील होते हुए सोमरस के अभिषिववाले यज्ञों में। **नः**=जैसे **पुत्रासः**=पुत्र **पितरम्**=पिता को पुकारते हैं उसी प्रकार हम **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए उस प्रभु को पुकारें। प्रभु की समीपता में मैं उसी प्रकार शक्ति का अनुभव करूँगा जैसे पुत्र पिता की समीपता में अनुभव करता है।

प्रभु सामीप्य में मेरा अङ्ग-प्रत्यङ्ग--एक-एक पर्व शक्तिवाला हो उठता है—मैं 'परुच्छेप' इस मन्त्र का ऋषि बन जाता हूँ। दैवोदासिः=यह होता तब है जब मैं उस दिव्य प्रभु का दास बनकर जीवन बिताता हूँ।

भावार्थ—मैं प्रभु का दास बनूँ और शक्ति का पुञ्ज हो जाऊँ।

ऋषिः—**रेभः काश्यपः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

पवित्र ऐश्वर्य

४६०. तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं श्रवांसि भूरि।
मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्त राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री॥ ४॥

'रेभः काश्यपः'=ज्ञानी स्तोता इस मन्त्र का ऋषि है। यह कहता है कि मैं **तम्**=उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली परमात्मा को **जोहवीमि**=पुकारता हूँ जो **मघवानम्**=पापशून्य ऐश्वर्यवाले हैं, अतएव **उग्रम्**=उदात्त हैं। वस्तुतः धन के बिना ऊँचा उठना सम्भव नहीं। धर्म के छोटे-छोटे कार्यों के लिए भी धन की आवश्यकता पड़ती है। दूसरों की सहायता धन के बिना कुछ शाब्दिक-सी रह जाती है, परन्तु धन की दृष्टि से ऊपर न उठने पर मनुष्य सुखभोग व विलास में फँस जाते हैं। 'ऐसा न हो', इसके लिए आवश्यक है कि हमारा ऐश्वर्य 'मघ' हो—पाप से अर्जित न हो। हम 'मघवान्' बनें और 'उग्र' हों।

मैं उस प्रभु को पुकारता हूँ जो **सत्रा दधानम्**=सचाई को धारण करनेवाले हैं और **अप्रतिष्कुतम्**=किसी से विरोध में प्रतिशब्दित (challanged) नहीं होते, प्रभु सत्यस्वरूप हैं और परिणामतः अजेय हैं। सत्य सदा विजयी होता है। हम भी सत्य पर दृढ़ होंगे तो अन्त में अवश्य विजयी होंगे।

मैं उस प्रभु को पुकारता हूँ जो **भूरि श्रवांसि**=धारण करनेवाले ज्ञानों का **मंहिष्ठः**=देनेवाला है **च**=और **गीर्भिः**=वेदवाणियों से **यज्ञियः**=पूजा के योग्य है। मनुष्य का धारण ज्ञान से होता है। प्रभु द्वारा दिये हुए ज्ञान को धारण करने से हम प्रभु की पूजा कर रहे होते हैं।

आ ववर्त=वे प्रभु सब ओर वर्त्तमान हैं। कौन-सा स्थान है जहाँ प्रभु की सत्ता नहीं? वे मेरे हृदय में भी वर्त्तमान हैं। प्रभु की इस सर्वव्यापकता का स्मरण **नः**=हमें **विश्वा सुपथा**=सब उत्तम मार्गों से **राये कृणोतु**=धनैश्वर्य की प्राप्ति के लिए करे-ले-चले। प्रभु का स्मरण करके हम कभी कुपथ से धन कमाने में प्रवृत्त न होंगे।

धन को सुपथ से कमाने का संकेत 'वज्री' शब्द में भी है। वे प्रभु **वज्री** हैं—(वज गतौ) सदा गतिशील हैं। हमें भी पुरुषार्थ से, पसीना बहाकर ही धनार्जन करना चाहिए। **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व'** 'पासों से मत खेलो, खेती करो' इस उपदेश में भी यही कहा गया है। धन के बिना उन्नति नहीं, परन्तु अन्याय्य धन से सब उन्नति समाप्त हो जाती है।

भावार्थ—'सर्वव्यापक प्रभु का स्मरण करो और पुरुषार्थ में लगे रहो। इस प्रकार कमाया हुआ धन ही सात्त्विक है। यह धन हमारे उत्कर्ष का कारण बनेगा और हम उस उत्कर्ष को स्थिररूप से प्राप्त करनेवाले होंगे।

ऋषि:—**परुच्छेपः दैवोदासिः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**अत्यष्टिः**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

दैवी शक्ति का वरण

४६१. अस्तु श्रौषट् पुरो अग्निं धिया दध आ नु त्यच्छर्धो दिव्यं वृणीमह इन्द्रवायू वृणीमहे। यद्ध क्राणा विवस्वते नाभा सन्दाय नव्यसे। अध प्र नूनमुप यन्ति धीतयो देवाँ अच्छा न धीतयः॥ ५॥

हे प्रभो! आपकी कृपा से **श्रौषट् अस्तु**=मेरे जीवन में श्रवण का स्थान हो—मैं सुनने के स्वभाववाला बनूँ। श्रवण ही ज्ञान-प्राप्ति का सर्वोच्च साधन है। जब मैं कानों को ज्ञान-प्राप्ति का साधन बनाता हूँ तो शिरः=मस्तकपर्यन्त ज्ञान-जल में स्नान कर रहा होता हूँ। इस श्रवण से प्राप्त ज्ञान का प्रथम परिणाम मेरे जीवन पर यह होता है कि मैं **अग्निम्**=उस प्रकाशस्वरूप परमात्मा को **धिया**=ज्ञानपूर्वक **पुरः दधे**=अपने सामने धारण करता हूँ। उस प्रभु को अपना पुरोहित (आदर्श=model) बनाता हूँ। उन्हीं के अनुसार मैं अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न करता हूँ।

प्रभु को अपना आदर्श बनाकर **नु**=अब हम **दिव्यं शर्धः**=अलौकिक बल को **आ वृणीमहे**=वरते हैं। मनुष्य अपना लक्ष्य यह बनाता है कि हमारे अन्दर दिव्यता व दिव्यशक्ति का अवतरण हो। इसके लिए हम **इन्द्रवायू वृणीमहे**=इन्द्र और वायु को पुकारते हैं। इन्द्र सब असुरों का संहार करनेवाली देवता है और **वायु**=(वा गतौ) गति का प्रतीक है। मैं अपने अन्दर किसी आसुर भावना को जागरित न होने दूँ और सदा क्रियाशील बनूँ। मेरा जीवन प्रकाशमय व कर्मनिष्ठ हो। प्रकाश और शक्ति व शक्तिजन्य क्रिया के समन्वय का नाम ही 'दिव्यता' है, यही दैवी शक्ति है—जिसको हमें अपने में अवतरण करना है। यह दिव्यता मुझे प्राप्त होती है **यत्**=जब मैं निश्चय से **विवस्वते**=(विवस्वान्=इन्द्र=सूर्य) प्रकाश और **नव्यसे**=(नव् गतौ)=गति के लिए **नाभा सन्दाय**=केन्द्र में ध्यान को बाँधकर; इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि को रोककर, **क्राणा**=उपासन करनेवाला होता हूँ। प्रभु का ध्यान मुझे प्रकाश व गति प्राप्त कराता है। इन्द्र का पर्याय यहाँ विवस्वान् है, वायु का नव्यान् (वा=नव्=गतौ)। इन्द्रवायु का वरण अथवा 'विवस्वान् व नव्यान् का वरण' एक ही बात है।

जब मैं ध्यान को केन्द्रित कर इस प्रकार प्रतिदिन भक्ति करता हूँ तब **अध**=अब मुझे **नूनम्**=निश्चय से **धीतयः**=प्रज्ञा व कर्म **उपप्रयन्ति**=समीपता से और खूब प्राप्त होते हैं **न**=जैसेकि **देवान् अच्छ**=ये देवों को लक्ष्य करके प्राप्त होते हैं। इन्द्र प्रज्ञा का प्रतीक है और वायु 'कर्म' का। प्रस्तुत मन्त्र में 'दिव्यं शर्धः' का व्याख्यान इस प्रकार है—

दिव्यं शर्धः

इन्द्र विवस्वान् वायु नव्यान्

धीतयः

प्रज्ञा कर्म

मेरा जीवन प्रज्ञा व कर्मवाला हो। यही दिव्य शक्ति की प्राप्ति का मार्ग है। इस दिव्य

शक्ति को प्राप्त करके मैं अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्तिवाला बनता हूँ, 'परुच्छेप' होता हूँ। मैं परुच्छेप बन पाया हूँ, क्योंकि 'दैवोदासिः'-देव का दास बना हूँ।

भावार्थ-मैं प्रतिदिन ध्यानाभ्यास से दिव्य शक्ति प्राप्त करूँ।

ऋषिः-**आत्रेय एवयामरुत्**॥ देवता-**मरुतः**॥ छन्दः-**जगती**॥ स्वरः-**निषादः**॥

दशकं धर्मलक्षणम्

४६२. प्र वो महे मतयो यन्तु विष्णवे मरुत्वते गिरिजा एवयामरुत्।
प्र शर्धाय प्र यज्यवे सुखादये तवसे भन्ददिष्टये धुनिव्रताय शवसे॥ ६॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'एवयामरुत आत्रेय' है। (एव=लक्ष्य, या=जाना, मरुत्=मनुष्य') इसका अर्थ है 'लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़नेवाला मनुष्य जोकि (अ+त्रि) काम-क्रोध-लोभादि तीनों वासनाओं से परे है, अतएव आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक इन सभी तापों से ऊपर उठा हुआ है। वस्तुतः लक्ष्यभ्रष्ट व्यक्ति ही त्रिविध वासनाओं का शिकार होता है और उनसे सन्तप्त होता है।

प्रस्तुत मन्त्र में मानव-जीवन का लक्ष्य दस शब्दों में वर्णित हुआ है। प्रभु कहते हैं कि **एवयामरुत्**=लक्ष्य की ओर चलनेवाले मनुष्य **वः**=तुम्हारी **मतयः**=बुद्धियाँ जोकि **गिरिजाः**= वेदवाणियों में उत्पन्न हुई हैं, अर्थात् ज्ञानमूलक हैं, वे **प्रयन्तु**=प्रकर्षेण चलें। किस ओर-

१. **महे**=(मह पूजायाम्) पूजा के लिए। मनुष्य में बड़ों के आदर की भावना हो। पाँच वर्ष तक वह 'मातृदेव' बने, आठ वर्ष तक 'पितृदेव', पच्चीस वर्ष तक 'आचार्यदेव' पचास वर्ष तक 'अतिथिदेव' और आगे 'परमात्मदेव'। यही इस विस्तृत जीवन की 'पञ्चायतन पूजा' है। पूजा ही जीवन-यज्ञ का प्रारम्भ है।

२. **विष्णवे**=(विष् व्याप्तौ) व्यापकता के लिए। मनुष्य का हृदय विशाल हो। विशालता में ही धर्म है, उदार धर्म है, अनुदार अधर्म है। विशालता में पवित्रता है, संकोच में अपवित्रता।

३. **मरुत्वते**=मरुत्वान् बनने के लिए। मरुतः प्राणाः=प्राणवान् बनना आवश्यक है। **'एवा मे प्राण मा बिभेः'** इस मन्त्रभाग से स्पष्ट है कि प्राणों के साथ निर्भीकता का सम्बन्ध है। दैवी सम्पत्ति का प्रारम्भ निर्भीकता से ही होता है। प्राण-शक्तिसम्पन्न पुरुष ही अनथक होकर लोकहित में लगा रह सकता है।

४. **प्रशर्धाय**=उत्कृष्ट बल के लिए। हमें उत्कृष्ट आध्यात्मिक बल प्राप्त करना है। दिव्य शक्ति की प्राप्ति तो हमारे जीवन का लक्ष्य ही होना चाहिए।

५. **प्रयज्यवे**=प्रयज्यु बनने के लिए। शक्ति प्राप्त करके हम 'यज्यु' बनें। हमारी शक्ति का विनियोग यज्ञों में हो। यज्ञ की मौलिक भावना 'अध्वर'-हिंसारहित कर्म है। हमारे कर्मों में हिंसा की गन्ध भी न हो।

६. **सुखादये**=उत्तम सात्त्विक आहार के लिए। सात्त्विक भोजन से हमारी बुद्धि सात्त्विक होगी और उसका विनियोग यज्ञों ही में होगा। 'खादि' का अर्थ आभूषण भी है, हम उत्तम आभूषणवाले हों। सर्वोत्तम आभूषण 'विद्या' है। हमारा जीवन उससे अलंकृत हो।

७. **तवसे**=बल के लिए। इस सात्त्विक भोजन व ज्ञान से हमें वह शक्ति प्राप्त होगी-क्या

शरीर में और क्या मस्तिष्क में जो हमारी (तु वृद्धौ) वृद्धि का ही कारण बनेगी।

८. **भन्दद् इष्टये**=(भदि कल्याणे) कल्याण चाहनेवाली इच्छा के लिए। हम शक्तिशाली बनकर कभी किसी का अकल्याण चाहनेवाले न हों।

९. **धुनिव्रताय**='दस्युओं को कम्पित करने के व्रत के लिए। समाज का कल्याण चाहते हुए हम समाज से दस्युओं को दूर करने का व्रत लें। हममें उनके दस्युत्व को समाप्त करने की भावना हो।

१०. **शवसे**=(शव गतौ), गतिशीलता के लिए। हममें गतिशीलता हो, क्योंकि अकर्मण्यता से तो कुछ भी साध्य नहीं 'कर्मशीलता ही जीवन है' इस तत्त्व को हम समझें।

भावार्थ—मैं एवयामरुत् बनूँ—यह 'दशक' मेरे जीवन का लक्ष्य हो। इसे मैं जीवन में अनूदित करूँ।

ऋषिः—**अनानतः परुच्छेपिः**॥ देवता—**पवमानः**॥ छन्दः—**अत्यष्टिः**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

अ—पिशुनता (No backbiting)

४६३. अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति सयुग्वभिः सूरो न सयुग्वभिः।
धारा पृष्ठस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः।
विश्वा यद्रूपा परियास्यृक्वभिः सप्तास्येभिर्ऋक्वभिः ॥ ७ ॥

जब मनुष्य धर्म के दस लक्षणों से युक्त होता है तब उसके चेहरे पर एक विशेष प्रकार की कान्ति होती है। उस कान्ति से वह औरों पर भी एक विशेष प्रभाव डालता है और उनके जीवन को पवित्र करता है। **अया रुचा**=इस कान्ति से, **हरिण्या**=जो सबकी दुर्भावनाओं का हरण करनेवाली है; अतएव **पुनानः**=उनके जीवनों को पवित्र करती है, यह **सयुग्वभिः**=मेल की—प्रेम की वृत्तियों से **विश्वा द्वेषांसि तरति**=सब द्वेषों को तैर जाता है। वस्तुतः ही **सूरः न**=एक विद्वान्—समझदार मनुष्य की भाँति **सयुग्वभिः**=मेल व प्रेम की वृत्तियों से इस संसार में चलता है।

इसके जीवन की सबसे सुन्दर बात यह है कि इसे **पृष्ठस्य धारा**=पीठ पीछे धारणात्मक बातें—न कि निन्दा की चर्चाएँ **रोचते**=रुचिकर होती हैं।

औरों की निन्दा न करता हुआ यह **पुनानः**=अपने जीवन को पवित्र रखता है, **अरुषः**=कभी क्रोध नहीं करता, **हरिः**=औरों के दुःखों के हरण में सदा प्रयत्नशील रहता है।

यह **विश्वा रूपा**=सब व्यक्तियों के प्रति (रूप=व्यक्ति, रूपाणि पशवः) **ऋक्वभिः**=सूक्तों से—मधुर भाषणों से **परियासि**=जाता है। **सप्तास्येभि ऋक्वभिः**=उन मधुर भाषणों से **यत्**=जो मेल की बातों को परितः प्रक्षिप्त करते हैं (षप् समवाये, अस् क्षेपणे) इसकी वाणी में माधुर्य होता है—इसकी वाणी मेल की बातें करती हैं।

इस प्रकार इसका जीवन नम्रता से परिपूर्ण, माधुर्यमय, कठोरता से शून्य होता है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह अशक्त होता है। यह अनानतः=अन्याय से कभी भी दबनेवाला नहीं होता, पारुच्छेपिः=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति से पूर्ण होता है। शक्ति के साथ माधुर्य इसके जीवन को बड़ा ही सुन्दर बना देता है। सबसे बड़ी बात यह कि यह कभी भी

पीठ पीछे किसी की निन्दा नहीं करता।

भावार्थ—अपिशुनता समाज को अत्यन्त सुन्दर बनानेवाली है।

ऋषिः—**नकुलः**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**अतिशक्वरी**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

अनन्त-प्रकाश

४६४. अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः॥ ८॥

मैं **त्यं देवं अभि**=उस देव को लक्ष्य बनाकर चलता हूँ जो वस्तुतः **देवम्**=इस संसाररूप क्रीड़ा का करनेवाला है (दीव्यति=क्रीडति)। संसार उस प्रभु का खेल है—इसे खेल समझने पर ही यह आनन्दप्रद बना रहता है। उस प्रभु की ओर जोकि **ओण्योः**=द्युलोक व पृथिवीलोक के **सवितारम्**=उत्पन्न करनेवाले हैं, **कविक्रतुम्**=जिनके एक-एक कर्म में कविता निहित है—प्रत्येक कर्म बुद्धिमत्तापूर्ण है। प्रभु की कौन-सी कृति है जो काव्यमय नहीं है?

मैं उस प्रभु की **अर्चामि**=अर्चना करता हूँ जो **सत्यसवम्**=(हृदयस्थ होकर सदा) सत्य की प्रेरणा देनेवाले हैं। **रत्नधाम्**=हमारे शरीरों में रमणीय रत्नों के धारण करनेवाले हैं। **अभि**=मैं उस प्रभु की ओर चलता हूँ जो **प्रियम्**=तृप्ति देनेवाले हैं—जिनको पाकर जीव सन्तोष का अनुभव करता हैं। **मतिम्**=वे प्रभु ज्ञान के पुञ्ज हैं, **यस्य**=जिन प्रभु की **भाः**=दीप्ति **ऊर्ध्वा**=सर्वोच्च है और **अमतिः**=अ-मित है—अपरिमेय Immeasurable है। हज़ारों सूर्यों की दीप्तियाँ भी उसकी दीप्ति की तुलना नहीं कर सकतीं। उस प्रभु की ये दीप्तियाँ=विभूतियाँ **सवीमनि**=उत्पन्न जगत् में **अदिद्युतत्**=चमक रही हैं। क्या हिमाच्छादित पर्वतों में, क्या समुद्र में, क्या पृथिवी पर और क्या आकाश को आच्छादित करनेवाले तारों में उसकी महिमा दृष्टिगोचर हो रही है। कण-कण उसकी महिमा का गायन कर रहा है।

वह प्रभु **'हिरण्यपाणि'** हैं, हितरमणीय हाथोंवाले हैं। उनका वरदहस्त हम सबके सिर पर है। **सुक्रतुः**=वे प्रभु सदा उत्तम कर्मों को करनेवाले हैं। वे **कृपा**=करुणा से **स्वः**=स्वर्गलोक को **अमिमीत**=बनाते हैं। इस स्वर्गलोक को पाता वही है जो अपने सारे घराने में सबसे आगे बढ़ जाता है। 'न-कुल' का अर्थ है—'जिसके समान कुल में कोई नहीं है। इस प्रकार उत्कर्ष का साधनेवाला ही स्वर्गलोक को प्राप्त करता है।

भावार्थ—उस प्रभु का प्रकाश अ-मित है—मेरा प्रकाश भी अमित नहीं तो परिमित तो अवश्य ही हो।

ऋषिः—**दैवोदासिः परुच्छेपिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अत्यष्टिः**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रभु का कृपापात्र

**४६५. अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसोः सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्।
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु शुक्रशोचिष आजुह्वानस्य सर्पिषः॥ १॥**

मैं **अग्निम्**=प्रकाशमय–हमें आगे ले–चलनेवाले **होतारम्**=सब–कुछ देनेवाले प्रभु का **मन्ये**=मनन और चिन्तन करता हूँ। वे प्रभु **वसोः दास्वन्तम्**=निवास के लिए आवश्यक धन देनेवाले हैं–उत्कृष्ट सम्पत्ति प्राप्त करानेवाले हैं। **सहसः सूनुम्**=बल उत्पन्न करनेवाले हैं–मैं प्रभु के सम्पर्क में आता हूँ तो मुझमें बल का संचार होता है। **जातवेदसम्**=जातं वेदा यस्मात्, उनके सम्पर्क में आने पर मुझमें बल के साथ ज्ञान का भी प्रकाश होता है। **विप्रं न**=जैसे एक ब्राह्मण के सम्पर्क में आने पर **जातवेदसम्**=मुझमें ज्ञान की वृद्धि होती है–उसी प्रकार प्रभु–सम्पर्क मेरे जीवन को ज्योतिर्मय कर देगा।

एवं, प्रभु–सम्पर्क से मुझे उत्तम धन, शक्ति व ज्ञान मिलेगा। उस प्रभु के सम्पर्क से **यः**=जो **ऊर्ध्वया**=सर्वोत्कृष्ट और सब सहारों के असफल सिद्ध होने के बाद **देवाच्या**=देवों को प्राप्त होनेवाली **कृपा**=कृपा से **देवः**=(दानात्) हमें सब उत्तमोत्तम पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं और **स्वध्वरः**=अत्युत्तम प्रकार से हमें हिंसा से बचानेवाले हैं।

जब संसार के सभी आश्रय निरर्थक सिद्ध होते हैं उस समय हमें उस प्रभु की कृपा प्राप्त होती है। सब रोगों का अन्तिम औषध प्रभु–कृपा ही है। यह कृपा हमें तब प्राप्त होती है जब हमारी वृत्ति दैवी बनती है। देव की कृपा का अधिकारी देव ही बन पाता है। यह कृपा हमें सब इष्ट पदार्थ प्राप्त कराती है और हमें सब प्रकार की हिंसाओं व अकल्याणों से बचाती है।

इस प्रभु का दर्शन हमें **घृतस्य**=मलों को दूर करनेवाली ज्ञानदीप्ति (घृ क्षरण व दीप्ति) का **विभ्राष्टिम् अनु**=प्रकाश होने पर ही हो पाएगा, जो ज्ञानदीप्ति **शुक्रशोचिषः**=चमकते हुए प्रकाशवाली है **आजुह्वानस्य**=आहुति देनेवाली, अर्थात् त्याग की भावनावाली है तथा **सर्पिषः**=(सृप् गतौ) बड़ी क्रियाशील है। वास्तविक ज्ञान होने पर मनुष्य में त्याग व क्रिया की भावना तो उत्पन्न होती ही है। यह प्रभु–दर्शन करनेवाला प्रभु का ज्ञानीभक्त प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय होता है। उसके सम्पर्क में यह अङ्ग–प्रत्यङ्ग में शक्ति का अनुभव करता हुआ 'परुच्छेप' होता है और यह तब तक 'परुच्छेप' बना रहता है जब तक कि दैवोदासिः=प्रभु के प्रति अपने को दे डालनेवाला बना रहता है।

भावार्थ–मैं देव बनूँ, जिससे मुझे प्रभु की कृपा प्राप्त हो।

ऋषिः–**गृत्समदः शौनकः**॥ देवता–**इन्द्रः**॥ छन्दः–**अतिशक्वरी**॥ स्वरः–**पञ्चमः**॥

साक्षात्कार

४६६. तव त्यन्नर्यं नृतोऽप इन्द्र प्रथमं पूर्व्यं दिवि प्रवाच्यं कृतम्।
यो देवस्य शवसा प्रारिणा असु रिणन्नपः।
भुवो विश्वमभ्यदेवमोजसा विदेदूर्जं शतक्रतुर्विदेदिषम्॥ १०॥

ज्ञान के प्रकाश से प्रभु का दर्शन करता हुआ व्यक्ति [illegible] अनुभव करता है। वह

इस सारे संसार को प्रभु का ही खेल समझता है। प्रभु नर्तक हैं, वे सारे संसार को नृत्य करा रहे हैं। **'भ्रामयान् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'**=वे प्रभु सबसे महान् मायावी हैं और इस संसार को इधर-उधर घुमा रहे हैं। यह द्रष्टा कहता है कि हे **नृतो**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नृत्य करानेवाले प्रभो! **तव**=आपका **त्यत्**=वह **अपः**=कर्म **नर्यम्**=मनुष्य के लिए कितना हितकर है! हे **इन्द्र**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभो! आपका वह **प्रथमम्**=सर्वमुख्य, सृष्टि के प्रारम्भ में किया गया अथवा अत्यन्त विस्तृत **पूर्व्यम्**=सब प्रकार से हमारा पूरण करनेवाला **दिवि**= प्रकाशविषयक (वैषयिक सप्तमी में 'दिवि' का प्रयोग है) **कृतम्**=कार्य वस्तुतः **प्रवाच्यम्**=अत्यन्त प्रशंसनीय है। वेदज्ञान प्रभु का **प्रथमम्**=सर्वमुख्य कार्य है, यह वेदज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में दिया गया है तथा अत्यन्त विस्तृत है, अर्थात् इसमें कोई भी आवश्यक विषय छोड़ा नहीं गया। प्रभु का यह वेदज्ञान-दान कर्म सर्वोत्तम है—अत्यन्त प्रशंसनीय है।

प्रभु ने ज्ञान के साथ जीव को शक्ति भी दी है, **यः**=जो भी व्यक्ति **देवस्य शवसा**=उस प्रभु से दिये गये ज्ञान व शक्ति से **असु रिणन्**=जीवन को चलाता हुआ **अपः प्रारिणाः**=कर्मों को प्रेरित करता है, वह **ओजसा**=ओज के द्वारा **विश्वं अदेवम्**=सब अदिव्य भावनाओं को **अभिभुवः**=दबा लेता है! **विदेद् ऊर्जम्**=वह प्राणशक्ति को प्राप्त करता है, **शतक्रतुः**=सैकड़ों प्रज्ञानों, संकल्पों व यज्ञमय कर्मोंवाला होता है **उ**=और **विदेद् इषम्**=अपनी इच्छाओं को प्राप्त करता है, अर्थात् एक आत्मतृप्ति का अनुभव करता है, अतृप्त नहीं रहता।

वेदवाणी के अनुसार कार्य करने के चार परिणाम हैं—आसुरी भावनाओं पर विजय, बल की प्राप्ति, शतशः प्रज्ञानमय कर्मोंवाला जीवन व आत्मतृप्ति। यह व्यक्ति प्रभु की स्तुति करता है, उल्लासमय जीवनवाला होता है और क्रियाशील होता है, अतएव इसका नाम 'गृत्समदः शौनकः' है।

भावार्थ—मुझे प्रभु का साक्षात्कार हो।

***सूचना**—यहाँ ऐन्द्रकाण्ड की समाप्ति है। इन्द्र के साक्षात्कार के साथ समाप्ति कितनी सङ्गत है! और वह भी प्रभुकृपा से ही होती है, यह प्रतिपादन कितना सुन्दर है! यही जीव का (इन्द्र का) चरम विकास है। इसी के लिए वह अपने को पवित्र बनाने का निश्चय करता है और 'पवमानकाण्ड' प्रारम्भ होता है—*

पावमानकाण्डम्

प्रभु के साक्षात्कार के साथ ऐन्द्रकाण्ड समाप्त होता है। इस साक्षात्कार की योग्यता के सम्पादन के लिए 'पवमानकाण्ड' का प्रारम्भ होता है—

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—अमहीयुः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

आकाश में होता हुआ भूमि पर

४६७. उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्या ददे। उग्रं शर्म महि श्रवः॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अमहीयुः' है—'न महीं यौति युनक्ति वा'=जो अपने साथ पृथिवी का सम्पर्क नहीं करता—भौतिक भोगों में नहीं फँसता, अतएव शक्तिशाली बना रहता है। इससे प्रभु कहते हैं कि **ते**=तेरा **अन्धसः**=इस आध्यायनीय सोम के द्वारा **उच्चा जातम्**=अत्यन्त उच्च विकास हुआ है। जो व्यक्ति सोम की रक्षा का ध्यान नहीं करता वह 'निषाद' बनता है—'निषीदति अस्मिन् पापमिति'=उसमें आसुरी वृत्तियाँ आश्रय करती हैं, परन्तु जब यह सोम-रक्षा का निश्चय कर लेता है तब यह शु+उत्+र=शक्ति की शीघ्र ऊर्ध्वगति करनेवाला 'शूद्र' हो जाता है। सोम के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्रवेश करने पर (विश् to enter) वैश्य=विश् होता है। उस-उस स्थान में क्षतों से त्राण करने के कारण यह 'क्षत्रिय' बनता है और ज्ञानशक्ति के दीप्त होने से ब्रह्म को जानने के कारण यह 'ब्राह्मण' बन जाता है। इस प्रकार सोम की महिमा से मनुष्य ऊँचा और ऊँचा उठता चलता है—इसका अत्यन्त उच्च विकास होता है, परन्तु सौन्दर्य की बात तो यह है कि **दिवि सत्**=द्युलोक में होता हुआ यह **भूमि आददे**=भूमि का ग्रहण करता है। अधिक-से-अधिक ऊँचा होता हुआ यह अत्यन्त विनीत होता हैं। दैवी सम्पत्ति का सर्वोच्च शिखर=climax 'नातिमानिता' ही तो है।

उग्रं शर्म=इसका आनन्द भी उदात्त होता है। यह राजस् व तामस् सुखों में नहीं फँसता। इसका सात्त्विक सुख उत्तरोत्तर बढ़ता ही चलता है। उस ज्ञान के क्षेत्र में विचरता हुआ यह सांसारिक सुखों की तुच्छता को अनुभव करता है।

महि श्रवः=चारों ओर इसकी महनीय कीर्ति फैल जाती है। इसका जीवन इतना सुन्दर बन गया है कि उसकी सुगन्ध चारों ओर फैलती है। लोग उसकी तेजस्विता, उसके ज्ञान व उसकी प्रशस्त मनोवृत्ति की गाथा गाते नहीं अघाते।

भावार्थ—सोम-रक्षा से मनुष्य उन्नति के शिखर पर पहुँच जाता है, विनीत बना रहता है, सात्त्विक सुख में ही आनन्द लेता है और महनीय कीर्तिवाला होता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'मधुर व्यवहार', स्वादिष्ट व मदिष्ठवृत्ति, 'उल्लासमय जीवन'

४६८. स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः॥ २॥

सुतः='उत्पन्न हुआ-हुआ' यह सोम हमारे जीवन को कैसा बनाए' इस विषय का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है। हे **सोम**=सोम! तू **स्वादिष्ठया**=अत्यन्त स्वादवाली--माधुर्यवाली **धारया**=धारा से तथा **मदिष्ठया**=अत्यन्त मदवाली–उल्लासवाली धारा से **पवस्व**=हमारे जीवन को पवित्र कर दे, हमारे जीवन में प्रवाहित हो। सोम के शरीर में सुरक्षित होने पर हमारा सामाजिक व्यवहार बड़ा मधुर होता है। हमारे व्यवहार में खिझ नहीं होती–किसी प्रकार की कटुता नहीं होती तथा हमारे निजू जीवन में उल्लास होता है। शक्ति बनी रहने से शरीर में क्षीणता नहीं आती और क्षीणता के परिणामस्वरूप होनेवाली निरुत्साहता नहीं होती।

हे सोम! तू **इन्द्राय**=जीव के परमैश्वर्य के लिए **सुतः**=उत्पन्न हुआ है। मनुष्य शक्तिशाली व स्वस्थ बनकर धन कमाने में भी सक्षम होता है, परन्तु इससे भी बढ़कर बात यह है कि यह सोम हमारे ज्ञानैश्वर्य को बढ़ानेवाला होता है।

पातवे=तू रक्षा के लिए होता है। सोम के शरीर में संयत होने पर शरीर पर रोगों का आक्रमण नहीं होता–यह सोमशक्ति सब रोगों को दूर करती है। मन में भी सोम के परिणामस्वरूप आसुरवृत्तियाँ नहीं पनपती। यह सोम मनुष्य को ईर्ष्या-द्वेष से बचाये रखता है। यह किसी प्रकार की मलिन इच्छा को मन में उत्पन्न नहीं होने देता। सोम का पान करनेवाला मनुष्य 'मधुच्छन्दाः'=मधुर इच्छाओंवाला बना रहता है, यह किसी का अहित न चाहनेवाला सभी का मित्र 'वैश्वामित्रः' होता है।

भावार्थ–सोम की धारण-शक्ति के परिणामस्वरूप १. मेरा व्यवहार मधुर हो, २.जीवन उल्लासमय हो, ३. मैं ज्ञानरूप परमैश्वर्य को पानेवाला होऊँ, और ४. अपनी रक्षा कर सकूँ--अपने को ईर्ष्या-द्वेष से बचाए रक्खूँ।

ऋषि:–**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता–**पवमानः सोमः**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

दीर्घ ओजस्वी जीवन

४६९. वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः। विश्वा दधान ओजसा ॥ ३ ॥

हे सोम! तू **वृषा**=शक्तिशाली होता हुआ **धारया**=अपनी धारणशक्ति से **पवस्व**=हममें प्रवाहित हो। सोम का शरीर में प्रवेश हमारे शरीर को शक्तिशाली बनाता है। **च**=यह सोम **मरुत्वते**=मरुत्वान् के लिए–प्राणों की साधना करनेवाले के लिए **मत्सरः**=आनन्द प्रवाहित करनेवाला होता है। प्राण-साधना के बिना सोम का पूर्णरूप से पान नहीं होता, प्राणायाम ही मनुष्य को ऊर्ध्वरेतस् बनाता है, ऊर्ध्वरेतस् बनने पर उसका शरीर नीरोग व सशक्त और मन निर्मल व आह्लादमय बनता है।

यह सोम ही **विश्वा**=सबको **ओजसा दधानः**=ओज से धारण करनेवाला होता है। सोम से केवल दीर्घायुष्य प्राप्त हो यही नहीं–यह जीवन अन्त तक शक्तिशाली भी बना रहता है।

प्राणायामरूप तप से अपना परिपाक करके ही यह सोम का पान कर पाता है, अतः यह 'भृगु' (तपस्वी) है। इसका जीवन इस सोमपान से सुन्दर व श्रेष्ठ बनता है, अतः 'वारुणि' है। इसकी पाचन-शक्ति अन्त तक ठीक बनी रहती है, अतः यह 'जमदग्नि' है।

भावार्थ–सोमपान से मैं १. 'शक्तिशाली' बनूँ २. उल्लासमय जीवनवाला होऊँ और ३. जीवन के अन्तिम क्षण तक ओजस्वी बना रहूँ।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वरेण्य–मद

४७०. यस्ते मदो वरेण्यस्तेना पवस्वान्धसा। देवावीरघशंसहा ॥ ४ ॥

इस संसार में कितने ही 'मद' हैं। धन का मद है—जो धतूरे के मद से भी कहीं बढ़कर है। बल का भी मद होता है—एक पहलवान कुछ इतराता हुआ-सा चलता है। कई बार योगसाधना करते हुए तपस्वी को अपने तप की शक्ति का भी मद हो जाता है। कइयों में विद्या का मद देखा जाता है, ये सब हेय हैं—इनका परिगणन 'काम-क्रोध; लोभ-मोह; मद-मत्सर, इन छह शत्रुओं में है। शत्रु होने से ये मद त्याज्य हैं, परन्तु प्रभु ने **अन्धसा**=अधिक-से-अधिक ध्यान देने योग्य (आध्यायनीय) सोम के द्वारा भी एक मद हममें उत्पन्न किया है। इस सोम के सुरक्षित होने पर इसका अनुभव होता है। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अमहीयु'=प्राकृतिक भोगों की कामना न करनेवाला 'आङ्गिरस'=शक्तिशाली व्यक्ति प्रभु से प्रार्थना करता है कि **यः**=जो **ते**=तेरा **अन्धसा**=सोम के द्वारा उत्पन्न **वरेण्यः मदः**=वरणीय, श्रेष्ठ मद है **तेन**=उससे **आपवस्व**=हमारे जीवनों को पवित्र कीजिए। यह सोमजनित उल्लास **देवावीः**=(देव-आवी) हमें सब प्रकार से दिव्यता की ओर ले-चलनेवाला है। इससे हममें उत्तरोत्तर दिव्यता का विकास होता है और यह सोम **अघशंसहा**=पाप के नाम को भी नष्ट करनेवाला है—इससे हमारे अन्दर पाप का नामशेष भी नहीं रहता। हमारा जीवन सचमुच पवित्र व दिव्य बन जाता है।

भावार्थ—सोमजनित 'मद' सचमुच वरणीय है। १. यह हमारे अन्दर दिव्यता को बढ़ाता है और २. पाप का नाम भी शेष नहीं रहने देता।

ऋषिः—**त्रित आप्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु गर्जते हुए आते हैं

४७१. तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः। हरिरेति कनिक्रदत्॥ ५ ॥

सोम की रक्षा करनेवाले व्यक्ति के जीवन में **तिस्रः वाचः**=तीन वाणियाँ **उदीरते**=उच्चरित होती हैं—इसके जीवन में **धनेवः गावः**=(धेट् पाने) ज्ञानदुग्ध का पान करानेवाली वेदवाणीरूप गौवें **मिमन्ति**=शब्द करती हैं, अर्थात् यह सदा उन वेदवाणियों का उच्चारण करता है और ये वेदवाणियाँ उसे तीन बातें कहती हैं—तू ज्ञानी बन, ज्ञानपूर्वक कर्म कर, इन पवित्र कर्मों को प्रभु के अर्पण करता हुआ प्रभु का उपासक बन। एवं, यह सोमपान करनेवाला व्यक्ति ज्ञान-कर्म व उपासना—तीनों को ही अपने जीवन का ध्येय बनाता है। तीनों का विस्तार करने से इसका नाम 'त्रि-त' (त्रीन्-तनोति) है। यह प्रभु को प्राप्त करनेवालों में भी श्रेष्ठ होने के कारण 'आप्त्य' है। ऐसा बनने पर इसके जीवन में सबके दुःखों का हरण करनेवाला **हरिः**=दुःखहर्त्ता—अन्धकार के हरणकर्त्ता प्रभु **एति**=आते हैं। कैसे? **कनिक्रदत्**=गर्जना करते हुए। इसे सदा प्रभु की आवाज़ स्पष्ट सुनाई पड़ती है। हम उस हृदयस्थ प्रभु की ध्वनि को सुनते हैं, क्योंकि धन-प्रधान जीवन में इस हिरण्यमय संसार की 'धनं धनं धनं' ध्वनि बड़ी ऊँची होती रहती है, परन्तु सोमपान करनेवाला व्यक्ति तो इसमें उलझता ही नहीं। उसके जीवन में प्रभु का साक्षात्कार व प्रभु से आलाप ही महत्त्वपूर्ण होता है।

भावार्थ—सोमपान करनेवाले व्यक्ति को प्रभु का साक्षात्कार होता है।

ऋषिः—**कश्यपो मारीचः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अत्यन्त मधुर बनकर (इन्दु)

४७२. इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः। अर्कस्य योनिमासदम्॥ ६॥

प्रस्तुत मन्त्र में सोम को 'इन्दु' नाम से स्मरण किया गया है। इन्द=to be powerful धातु से बना यह शब्द बतला रहा है कि यह सोम मनुष्य को अत्यन्त शक्तिशाली बनानेवाला है। इस इन्दु को सम्बोधित करते हुए मन्त्र का ऋषि 'कश्यप मारीच' कहता है कि हे **इन्दो**=शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय के लिए—इन्द्रियों की अधीनता में न चलकर उन्हें अपना उपकरण बनानेवाले और **मरुत्वते**=प्राणशक्ति-सम्पन्न मेरे लिए **मधुमत्तमः**= अत्यन्त माधुर्यवाला होकर **पवस्व**=बह या मेरे जीवन को पवित्र कर। वस्तुतः सोम का रक्षण 'इन्दु व महान्' बनने से ही सम्भव है। जितेन्द्रियता व प्राणसाधना मनुष्य को ऊर्ध्वरेतस् बनाती है। सोमरक्षा के लिए जीभ मेरे वश में होनी चाहिए। साथ ही ब्रह्मचर्य के लिए प्राणायाम अत्यन्त आवश्यक है। इन दोनों साधनों से मैं सोमरक्षा करूँगा तो यह सोम मेरे जीवन को अत्यन्त माधुर्यवाला बना देगा। **'भूयासं मधुसन्दृशः'** यह वेदवाक्य मेरे जीवन में घटित होता दिखेगा। यह माधुर्य आवश्यक है, इसके बिना मैं उस 'रस'-स्वरूप परमात्मा को कैसे पा सकता हूँ? अतः **अर्कस्य**=उस अर्चनीय परमात्मा के **योनिम्**=स्थान व पद को **आसदम्**=पाने के लिए मैं मधुर बनूँ। मधुर बनूँगा सोमरक्षा से और सोमरक्षा होगी इन्द्र और मरुत्वान् बनने से। इन्द्र बनकर मैं सब असुरों को मारनेवाला 'मारीच' बनूँ और मरुत्वान् बनकर ज्ञानदीप्ति को बढ़ाकर 'कश्यप' बनूँ। संसार के स्वाद को मारना प्रभु-प्राप्ति का स्वाद पाने के लिए आवश्यक है। यह स्वाद ज्ञान से ही आएगा।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मैं 'इन्द्र और मरुत्वान्' बनूँ—दूसरे शब्दों में 'मारीच कश्यप' बनूँ।

ऋषिः—**जमदग्निर्भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु के स्थान में पहुँच जाऊँ (अंशु)

४७३. असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः। श्येनो न योनिमासदत्॥ ७॥

सोम को यहाँ अंशु कहा है, क्योंकि यह मनुष्य को प्रभु का अंश=छोटा रूप ही बना डालता है। यह **अंशुः**=मुझे परमेश्वर का ही छोटा रूप बना देनेवाला सोम **असावि**=उत्पन्न हुआ है। यह उत्पन्न होकर १. **मदाय**=मेरे जीवन में एक विशेष मद को जन्म देनेवाला है—मेरा जीवन इससे सदा उत्साहमय बना रहता है। इस सोम से २. मनुष्य **अप्सु**=कर्मों में **दक्षः**=चतुर बनता है। **'योगः कर्मसु कौशलम्'**=कर्मों में कुशलता ही योग है। यह सोमी पुरुष कभी आकुल नहीं होता। यह **गिरिष्ठाः**=उन्नति के पर्वत-शिखर पर स्थित होता है—अथवा वाणी पर इसका पूर्ण प्रभुत्व होता है। यहाँ वाणी उपलक्षण है अन्य सब इन्द्रियों का। इस प्रकार आत्मवश्य विधेय मनवाला **श्येनो न**=प्रशंसनीय गतिवाले पक्षी की भाँति **योनिम्**=उस प्रभु के स्थान को **आसदत्**=पा लेता है। प्रभु को पाने के लिए गत मन्त्र में 'मधुमत्तमः' शब्द से १. 'माधुर्य' का संकेत हुआ है। प्रस्तुत में २. उल्लास—मन प्रसाद (मदाय), ३. कार्यकुशलता—

सिद्धि व असिद्धि में सम होकर निर्लेपता से कर्म करना तथा ४. इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनना (गिरिष्ठाः)—इन नये उपायों का उल्लेख हो गया है। उस सोम की रक्षा तो साधन है ही जो माधुर्य आदि को हमारे जीवन में उत्पन्न करता है। इस सोम की रक्षा का यह भी परिणाम होता है कि यह शरीर-यन्त्र अन्त तक ठीक रहता है—मनुष्य अन्त तक 'जमदग्नि'=बना रहता है। इस सोम की रक्षा में प्राणायामादि तपस्या भी आवश्यक है। इस तपस्या का करनेवाला 'भार्गव' है। यह जमदग्नि-भार्गव प्रभु का अंश=छोटा रूप बन जाता है। ऐसा बनानेवाला यह सोम 'अंशु' है।

भावार्थ—मैं अंशु की रक्षा द्वारा प्रभु का अंश=छोटा रूप बनूँ।

ऋषिः—**दृढच्युत आगस्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रत्न सप्तक (हरि)

४७४. पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे। मरुद्भ्यो वायवे मदः ॥ ८ ॥

हे सोम! **पवस्व**=मेरे जीवन में प्रवाहित हो अथवा मेरे जीवन को पवित्र कर। १. **दक्षसाधनः**=तू मेरी दक्षता को सिद्ध करनेवाला है। सोम के संयम से मेरा प्रत्येक कार्य कुशलता से होता है। २. **देवेभ्यः**=यह सोम मेरे जीवन में देवों के लिए होता है, अर्थात् इससे मुझमें दिव्य गुणों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, ३. **पीतये**=यह सोम मेरे पान=रक्षण के लिए हो—मैं आसुर वृत्तियों के आक्रमण से बचा रहूँ, ४. **हरे**=हे सोम! तुम तो हरि हो—मेरे सब रोगों व मलों का हरण करनेवाले हो, ५. **मरुद्भ्यः**=तुम प्राणों के लिए हितकर होते हो, अर्थात् सोम के संयम से प्राणशक्ति बढ़ती है। 'प्राणायाम से सोमरक्षा तथा सोमरक्षा से प्राणशक्ति की वृद्धि' इस प्रकार सोम और प्राण परस्परोपकारक होते हैं, ६. **वायवे**=(वा गतौ) प्राणशक्ति की वृद्धि के द्वारा यह सोम मेरी क्रिया-शक्ति को बढ़ानेवाला होता है। मेरा जीवन कर्मठ बनता है, ७. **मदः**=यह सोम मेरे मद=उल्लास व उत्साह को स्थिर रखता है।

इस प्रकार दक्षता, दिव्यता, दानववृत्ति दमन, रोगहरण, प्राणवर्धन, कर्मसामर्थ्य व उल्लास को जन्म देता हुआ यह सोम मुझे 'अग+स्त्य'=पापसमूह को नष्ट करनेवाला तथा असुरों के दृढ़-से-दृढ़ दुर्गों का च्यवन=नाश करनेवाला 'दृढ़च्युत' बनाता है।

भावार्थ—सोम के द्वारा मैं दक्षता आदि सात रत्नों से अपने जीवन को सुशोभित करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**काश्यपोऽसितो देवलः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

गिरिष्ठा व स्वान

४७५. परि स्वानो गिरिष्ठाः पवित्रे सोमो अक्षरत्। मदेषु सर्वधा असि ॥ ९ ॥

सोमः=सोम **परि-सु-आनः**=शरीर में सर्वत्र उत्तमता से प्राणशक्ति को बढ़ानेवाला है। ४९ प्रकार के वायु जो १० प्राणों के रूप से कहे जाते हैं—जिनमें 'प्राण-अपान-व्यान-उदान-समान' ये पाँच विशेषरूप से प्रसिद्ध हैं और उनमें भी 'प्राण-अपान-व्यान' का 'भूर्भुवः स्वः' के रूप में उल्लेख किया जाता है—इन तीन का भी संक्षेप 'प्राणापान' में हो जाता है और एक शब्द में इन्हें प्राण के रूप में हम स्मरण करते हैं। यह प्राण इस सोम के रक्षण

से पुष्ट होता है। यह हमें **गिरिष्ठाः**=उन्नति के शिखर पर पहुँचाता है—और **पवित्रे**=पवित्रता के निमित्त **अक्षरत्**=सब मलों को क्षरित करता है। 'मलों को दूर करके पवित्रता का उत्पादन' यह सोम का कार्य है। इसी से हमारे शरीर नीरोग रहते हैं, मन ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठे रहते हैं और मस्तिष्क उज्ज्वल बना रहता है। एवं, यह सोम **मदेषु**=मद—उत्साहजनक वस्तुओं में **सर्वधा असि**=सर्वाधिक धारण करनेवाला है। यह हमें रोगादि के जाल से और ईर्ष्या-द्वेषादि के बन्धनों से मुक्त करके 'असित' बनाता है। हमारे ज्ञान को उज्ज्वल करके हमें 'काश्यप' बनाता है तथा हमारे अन्दर दिव्यता का संचार करता हुआ हमें 'देवल' बना देता है।

भावार्थ—सोम की रक्षा से मैं जीवन में सोत्साह, पवित्र, व स्थिर बनूँ।

ऋषिः—**काश्यपोऽसितो देवलः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

क्रान्तदर्शी सोम (कवि)

४७६. परि प्रिया दिवः कविर्वयांसि नप्त्योर्हितः। स्वानैर्याति कविक्रतुः ॥ १० ॥

यह सोम **दिवः कविः**=प्रकाश के द्वारा क्रान्तदर्शी है। इसके संयम से मनुष्य की बुद्धि में जो तीव्रता आती है, उससे वह प्रत्येक वस्तु को बारीकी से देखनेवाला होता है। सूक्ष्मता से देखने के कारण ही वह उनके तत्त्वों को समझता है और उनमें उलझता नहीं। यह सोम **कविक्रतुः**=क्रान्तदर्शी बनकर कर्म करनेवाला है। क्रान्तदर्शी बनकर कर्म करते हुए उसके कर्म अनासक्ति से चलते हैं और उसके बन्धन का कारण नहीं बनते। **नप्त्योः हितः**=(न-पतत्योः) पतन की ओर न जानेवाले द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर का हित करनेवाला है। सोम की रक्षा से जहाँ शरीर का आरोग्य बना रहता है वहाँ मस्तिष्क की तीव्रता भी बनी रहती है। ऐसा यह सोम **स्वानैः**=(सु आनैः) उत्तम उत्साह के संचारों द्वारा **परि**=चारों ओर **प्रिया वयांसि**=प्रिय व मधुर (वी गतौ) गतियों को **याति**=करता है, अर्थात् यह संयमी पुरुष सदा उत्साहयुक्त होकर अत्यन्त मधुर कर्मों में व्यापृत रहता है।

क्रान्तदर्शी होने से यह संयमी पुरुष 'काश्यप' है, न उलझने के कारण 'असित' है और अपने अन्दर दिव्य गुणों को बढ़ाने के कारण 'दे-वल' है।

भावार्थ—हम सोम के संयम से ज्ञान के दृष्टिकोण से क्रान्तदर्शी बनें, हमारे कर्म प्रज्ञापूर्वक हों और हम शरीर व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से अक्षीणशक्ति हों।

पञ्चमी दशतिः

ऋषिः—**श्यावाश्वः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उत्साह-यश-श्री

४७७. प्र सोमासो मदच्युतः श्रवसे नो मघोनाम्। सुता विदथे अक्रमुः ॥ १ ॥

सोमासः=सोम **प्र**=प्रकर्षेण (खूब) **मदच्युतः**=उत्साह के टपकानेवाले हों। सोम के कारण हमारा जीवन उल्लासमय हो—हम कभी निराशा की बातें न करें। ये सोम **मघोनाम्**=(मा अघ) पापांशशून्य ऐश्वर्यवाले **नः**=हमारे **श्रवसे**=यश के लिए हों। उत्साह-सम्पन्न पुरुष ऐश्वर्य को प्राप्त करता ही है—वह ऐश्वर्य सुपथा अर्जित हुआ करता है और इसके दानादि उत्तम

कार्य में विनियोग से मनुष्य यश का भागी बनता है। **'जुहोत प्र च तिष्ठत'**='दान दो और प्रतिष्ठा पाओ' इस वेदवाक्य के अनुसार यह संयमी पुरुष कमाता है—देता है और प्रतिष्ठा पाता है। जितना देता है उतना ही अधिक कमाता भी है। वस्तुतः **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए ये सोम **विदथे**=(विद् लाभे)=धन के लिए **अक्रमुः**=गतिशील होते हैं। सोम मनुष्य को उस पुरुषार्थ के योग्य बनाता है जिससे यह सोमी खूब कमाता है। इसकी सब इन्द्रियाँ गतिशील बनी रहती हैं—गतिशील बने रहने से ही यह 'श्यावाश्व'=गतिशील इन्द्रियरूप घोड़ोंवाला कहलाता है (श्यैङ् गतौ)।

भावार्थ—मैं सोमी बनूँ। सोम मुझे उत्साह, यश और श्री प्राप्त कराए।

ऋषिः—**त्रित आप्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान-कर्म-उपासना

४७८. प्र सोमासो विपश्चितोऽ पो नयन्त ऊर्मयः। वनानि महिषाइव॥ २॥

सोम के संयम से मैं 'विपश्चित्' बनता हूँ। 'वि-पश्-चित्'=विशेषरूप से सूक्ष्मता के साथ देखकर मैं प्रत्येक पदार्थ का चिन्तन करनेवाला बनता हूँ। इससे मन्त्र में कार्य-कारण का अभेद करते हुए सोम को ही विपश्चित् कहा गया है। **सोमासः**=ये सोम **प्र**=खूब **विपश्चितः**=ज्ञानी हैं या मुझे ज्ञानी बनानेवाले हैं। **ऊर्मयः**=हमारे अन्दर उत्साह की तरङ्गों को भरनेवाले ये सोम **अपो नयन्त**=हमें कर्मों को प्राप्त कराते हैं, अर्थात् सोम के द्वारा मेरा जीवन प्रकाशमय होता है और मैं बड़े उत्साह से कर्मों में—लोकसंग्रह के कार्यों में प्रवृत्त होता हूँ। ज्ञानी बनकर कर्मशील होता हूँ। एवं, ज्ञानपूर्वक होने से ही मेरे ये कर्म पवित्र होते हैं। इन पवित्र कर्मों के द्वारा ही तो मुझे प्रभु की उपासना करनी है। **महिषा इव**=(मह पूजायाम्) प्रभु की पूजा करनेवालों के समान ये सोम मुझे **वनानि**=(वन संभक्ति) संभजनों व उपासनाओं को **नयन्त**=प्राप्त कराते हैं, मेरा जीवन इन पवित्र कर्मों को प्रभु-चरणों में निवेदित करता हुआ उपासनामय बनता है।

सोम के द्वारा 'ज्ञान-कर्म-उपासना' इन तीनों का ही विस्तार करने से ये 'त्रित' है। प्रभु को प्राप्त कराने से 'आप्त्य' है। **'ज्ञानपूर्वक कर्म'** करने से उपासना तो स्वतः ही हो जाती है, अतः यह ज्ञान और कर्म का विस्तार करनेवाला 'द्वित' भी कहलाता है और ज्ञान का विस्तार इसको क्रियावान् बना ही देता है, अतः ज्ञान का विस्तार करनेवाला यह 'एकत' नामवाला हो जाता है। 'एकत' का ही विस्तार 'द्वि-त' है' और 'द्वित' का 'त्रित'। एवं, यह त्रित अपने को प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाता हैं।

भावार्थ—मैं सोमी बनूँ। सोम मुझे ज्ञान-कर्म-उपासना का विस्तार करनेवाला बनाकर 'त्रित-आप्त्य' बनाए।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शक्ति-यश-प्रेम

४७९. पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने। विश्वा अप द्विषो जहि॥ ३॥

'अमहीयुः'=जो अपने साथ पृथिवी को—पार्थिव भोगों को नहीं जोड़ता, अर्थात् पार्थिव भोगों में नहीं फँसता वह 'आङ्गिरस'=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्तिवाला पुरुष प्रार्थना करता है कि **इन्दो**=हे शक्ति का संचार करनेवाले सोम! **पवस्व**=तू मेरे जीवन को पवित्र कर। **सुतः**=उत्पन्न

हुआ-हुआ तू **वृषा**=शक्तिशाली बनानेवाला है। तू **नः**=हमें **जने**=अपने समाज में **यशसः कृधी**=यशस्वी कर और **विश्वा द्विषः**=द्वेष की सब भावनाओं को **अपजहि**=हमसे दूर कर।

सोम के संयम से जीवन पवित्र बनता है। पवित्र ही नहीं, शक्तिशाली भी होता है। इस पवित्रता और शक्ति के परिणामस्वरूप यह अमहीयु कोई भी ऐसा कर्म नहीं करता जो उसके अपयश का कारण बने। स्वार्थ की भावनाओं से ऊपर उठकर यह लोकहित के लिए कर्म करता है और परिणामतः इसके यश की गन्ध चारों ओर फैलती है। यह किसी के साथ द्वेष भी नहीं करता। इसका जीवन सबके प्रति प्रेम के बर्तावाला होता है।

भावार्थ—सोम के संयम से मैं पवित्र, शक्ति-सम्पन्न, यशस्वी तथा निर्द्वेष बन जाऊँ।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

द्रविण=शक्ति, दीप्ति, दर्शन

४८०. वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे। पवमान स्वर्दृशम्॥ ४॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'भृगु' है—जो अपना परिपाक करता है। यह भृगु तपः-परिपाक से अपने जीवन को पवित्र करता है। यह कहता है कि हे **पवमान**=मेरे जीवन को पवित्र करनेवाले सोम! तू **हि**=निश्चय से **भानुना**=दीप्ति के साथ **वृषा**=मुझे द्रविण-(पराक्रम)-सम्पन्न करनेवाला **असि**=है। सोम के संयम से उत्पन्न शक्ति ज्ञान की दीप्ति से युक्त होती है। सोम शरीर को बलवान् बनाता है तो साथ ही मस्तिष्क को भी ज्ञान की दीप्ति से युक्त करता है। शक्ति कार्य करती है तो दीप्ति कार्यों में गलती व मालिन्य नहीं आने देती। भृगु कहते हैं कि हे सोम! **द्युमन्तम्**=दीप्तिवाले **त्वाम्**=तुझे **हवामहे**=हम पुकारते हैं। सोम को हम इसलिए चाहते हैं कि यह हमारे जीवन को **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'**=अन्धकार से प्रकाश की ओर ले-चलता है। पवमान=यह पवित्र करनेवाला तो है ही। सोम! तू मुझे असत् से सत् की ओर ले-चल। संयमी पुरुष कोई असत्कार्य नहीं करता। मुझे पवित्र बनाकर हे सोम! तू **स्वः**=उस स्वयं देदीप्यमान् ज्योतिर्मय प्रभु को **दृशम्**=देखने के योग्य बनाता है। एवं, सोम से मेरे जीवन में तीन परिणाम होते हैं—द्रविण, दीप्ति व दर्शन। शक्ति (द्रविण) का संचयन करने से हम निर्बलता की अयोग्यता को अपने से दूर करते हैं। यह दर्शन ही हमारे जीवन की अन्तिम साधना है। **'मृत्योर्मामृतं गमय'**=हे सोम! तू मुझे प्रभु का दर्शन कराके मृत्यु से बचाकर अमरता का लाभ कराता है। यह दर्शन मुझे इसलिए प्राप्त हुआ है कि पवमान सोम ने मेरे सब मालिन्य को दूर कर दिया है।

भावार्थ—मैं प्राणसाधना करके 'द्रविण व दीप्तिसम्पन्न' बनकर प्रभु-दर्शन करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**कश्यपो मारीचः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सदा सावधान

४८१. इन्दुः पविष्ट चेतनः प्रियः कवीनां मतिः। सृजदश्वं रथीरिव॥ ५॥

इन्दुः=मुझे शक्तिशाली बनानेवाला सोम **पविष्ट**=मुझे पवित्र बनाता है। **चेतनः**=यह मुझमें चेतना उत्पन्न करता है—मैं जागरित हो जाता हूँ, जीवन-यात्रा में मैं सावधान होकर चलता हूँ—नशे में नहीं हो जाता। अपने स्वरूप को पहचानता हूँ तथा अपने लक्ष्य को भूल नहीं जाता। यह सोम **कवीनां प्रियः**=क्रान्तदर्शियों को प्रीणित करनेवाला होता है। संयमी पुरुष

अपने अन्दर तृप्ति व आनन्द का अनुभव करता है। वस्तुतः आनन्द बाह्य वस्तुओं में नहीं है। **मतिः**=यह सोम मननशील बनाता है—बुद्धि को तीव्र करता है। यह मननशीलता इसे न्याय्यमार्ग से भटकने नहीं देती। इस प्रकार यह संयमी न्याय्यमार्ग से न भटकता हुआ **रथीः इव**=उत्तम रथी की भाँति **अश्वं सृजत्**=इन्द्रियरूप घोड़ों को इस शरीररूप रथ में जोड़ता है।

रथी सोया हुआ न हो, चेतन हो, साथ ही तत्त्वज्ञानियों की दृष्टिवाला होकर अन्दर-ही-अन्दर आनन्द का अनुभव करता हो और वह मननशील भी हो तो कभी भटकने की आशंका हो सकती है? यह 'कश्यप' है—अपने मार्ग को देखता है और उस मार्ग में आनेवाले विघ्नों को नष्ट कर डालता है, इसलिए यह 'मारीच' है—सब विघ्नों को मार डालनेवाला। विघ्नों को दूर कर आगे बढ़ता हुआ यह लक्ष्य-स्थान पर पहुँच ही जाता है।

भावार्थ—मैं सदा जाग्रत् रहूँ—अपने लक्ष्य को भूल न जाऊँ।

ऋषिः—**कश्यपो मारीचः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

घोड़ों (ज्ञान-कर्म-वीरता) का रथ में जोतना

४८२. असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया। शुक्रासो वीरयाशवः॥ ६॥

ये **सोमासः**=सोम **वाजिनः**=ज्ञान को दीप्त करनेवाले हैं, और वाजी होते हुए ये इस शरीररूप रथ को **गव्या**=ज्ञानेन्द्रियों से **प्र असृक्षत**=अच्छी प्रकार संयुक्त करते हैं। ये सोम ही **शुक्रासः**=शीघ्रता से कार्य करनेवाले होते हुए **अश्वया**=कर्मेन्द्रियों से इस रथ को संसृष्ट करते हैं और अन्त में **आशवः**=सारे शरीर में व्याप्त होनेवाले (अश् व्याप्तौ) ये सोम इसे **वीरया**=वीरता की भावना से युक्त करते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के योग से ज्ञान में वृद्धि होती है, कर्मेन्द्रियों के योग से शक्ति की और वीरता की भावना से हृदय में सद्गुणों की। इस प्रकार ये सोम 'ज्ञान, शक्ति व सद्गुणों' से हमें आप्यायित करनेवाले होते हैं। मस्तिष्क में ज्ञान, शरीर में शक्ति और हृदय में वीरता [virtue] ही तो त्रिविध विकास है। यह विकास करनेवाला 'कश्यप मारीच' है—तत्त्वज्ञानी भी है, विघ्नों को मारकर आगे बढ़नेवाला भी।

भावार्थ—मैं अपने शरीर-रथ में इन्द्रियरूप घोड़ों को ठीक से जोड़कर आगे बढ़ता चलूँ।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

स्थिरता व ध्रुवता

४८३. पवस्व देव आयुषगिन्द्रं गच्छतु ते मदः। वायुमा रोह धर्मणा॥ ७॥

हे सोम! तू मुझमें **देवः**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाला है। तू **आयुषक्**=मुझे आजीवन **पवस्व**=पवित्र कर डाल। सोम वस्तुतः मनुष्य को सोम=शान्त बनानेवाला है। इससे जीवन में स्थिरता बढ़ती है। अशान्ति तभी होती है जब मल की अभिवृद्धि होती है। रोग दूर करके यह सोम शरीर की शान्ति देता है और मानस मलों को दूर करके यह मन की अशान्ति को दूर भगा देता है। यह शान्त मानस व्यक्ति 'निध्रुवि'=निश्चय से अपने स्थान पर ध्रुवता से रहनेवाला होता है। 'काश्यप'=ज्ञानी होने से यह व्यर्थ की व्यग्रता में नहीं फँसता।

अव्यग्रता व मनःप्रसाद के साथ यह अपने जीवन-पथ पर चलता है और सोम से कहता है कि **ते मदः**=तेरे द्वारा उत्पन्न ये मद **इन्द्रं गच्छतु**=(गमयन्तु)=मुझे परमात्मा को प्राप्त

करानेवाला हो। धन का मद विलास की ओर ले-जाता है, शरीर की शक्ति का मद निर्बलों पर अत्याचार की ओर, योग का बल विभूतियों के प्रदर्शन की ओर और ज्ञान का मद विरोधी को पराजित करने की भावना की ओर। यह सोम का ही मद है जो हमें प्रभु की ओर ले-चलता है।

हे सोम! तू **धर्मणा**=अपनी धारकशक्ति से **वायुम्**=(अनु) प्राणों की साधना के अनुपात में **आरोह**=ऊर्ध्वगतिवाला हो। प्राणायाम के द्वारा इस सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है—मनुष्य ऊर्ध्वरेतस् बनाता है।

भावार्थ—सोम मुझे पवित्र करे, प्रभु को प्राप्त कराए और मेरे जीवन का धारण करनेवाला हो।

ऋषिः—**आङ्गिरसोऽमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

लोकहितकारी ज्ञान

४८४. पवमानो अजीजनद् दिवश्चित्रं न तन्यतुम्। ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत्॥ ८॥

पवमानः=हमारे जीवन को पवित्र करनेवाला यह सोम **दिवः**=द्युलोक के **चित्रम्**=अद्भुत **तन्यतुम्**=विद्युत्-प्रकाश के समान **ज्योतिः**=ज्ञान के प्रकाश को **अजीजनत्**=उत्पन्न करता है। कौन-से ज्ञान के प्रकाश को? जो **वैश्वानरम्**=(विश्वनरहितम्) सब लोकों का कल्याण करनेवाला है तथा **बृहत्**=(बृहि वृद्धौ) लोकवृद्धि का कारण है।

आधुनिक युग में ज्ञान की वृद्धि हो रही है, परन्तु यह ज्ञान-वृद्धि अणु-बम्बों आदि का निर्माण करके लोकहित के लिए कल्याणकारी प्रमाणित नहीं हो रही। ज्ञान बढ़ा है, परन्तु यह लोकवृद्धि का कारण न बनकर लोकसंक्षय का कारण हो गया है। संयमी पुरुषों का ज्ञान हितकर व वृद्धिकर होता है। जैसे आकाश में बिजली चमकी और सूचिभेद्य तम में भी मार्ग दिख गया, इसी प्रकार संयमी के मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान-विद्युत् का प्रकाश होता है और उसे गूढ़-से-गूढ़ विषय भी स्पष्ट हो जाते हैं। यह अज्ञान-ग्रन्थियों को सुलझाता हुआ उस ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करता है जो सभी का हितकर व वृद्धिकर होता है। संयमी होने से यह उस ज्ञान का दुरुपयोग नहीं करता, उसे अपने भोगों की वृद्धि का साधन नहीं बनाता। यह तो है ही 'अमहीयु'=पार्थिव भोगों को न चाहनेवाला, इसी से यह 'आङ्गिरस' है और इसी से यह अपने ज्ञान को 'वैश्वानर, बृहत्' बना पाया है।

भावार्थ—सोम से मुझे वह ज्योति प्राप्त हो जो सभी की अभिवृद्धि का हेतु बने।

ऋषिः—**काश्यपोऽसितो देवलः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मधु की धारा

४८५. परि स्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा। मधो अर्षन्ति धारया॥ ९॥

इन्दवः=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम **परि-सु-आनासः**=चारों ओर—सारे शरीर में, अङ्ग-प्रत्यङ्ग में उत्तम प्राणशक्ति का संचार करनेवाले हैं। ये सोम **बर्हणा गिरा**=वृद्धि की

कारणभूत वेदवाणी के साथ—ज्ञान की वाणी के साथ **मदाय**=उल्लास के लिए होते हैं। सोम से मुझे ज्ञान के साथ शक्ति प्राप्त होती है, मेरा प्रत्येक अङ्ग प्राणशक्ति-सम्पन्न होता है, मेरा जीवन सात्त्विक व उल्लासमय होता है। इस उल्लास को प्राप्त व्यक्ति **मधोः धारया अर्षन्ति**=माधुर्य की धारा के साथ गति करते हैं। ये जिस भी व्यक्ति के सम्पर्क में आते हैं उसे मधुरता का ही अनुभव होता है। इनके व्यवहार में धारणशक्ति होती है—इनके व्यवहार से औरों का पोषण होता है। यहाँ धारा शब्द का प्रयोग इसलिए भी है कि जैसे जल की धारा न रुकते हुए, न चिपटते हुए, अनासक्ति से आगे और आगे बढ़ती जाती है, उसी प्रकार ये व्यक्ति भी अपने कार्यक्रम में आगे और आगे चलते जाते हैं। ये किसी भी वस्तु से बद्ध नहीं होते—ये 'अ-सित' हैं, समझदार होने से 'काश्यप' और दिव्य गुणोंवाले होने से 'देवल' हैं।

भावार्थ—मैं मधु की धारा के साथ बहता चलूँ।

ऋषिः—**काश्यपोऽ सितो देवलः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ब्रह्मचर्य (Aspiring to be great)

४८६. परि प्रासिष्यदत् कविः सिन्धोरूर्मावधि श्रितः। कारुं बिभ्रत् पुरुस्पृहम्॥ १०॥

कविः=यह क्रान्तदर्शी सोम **परिप्रासिष्यदत्**=मेरे जीवन में चारों ओर बहता है। मुझे तत्त्व को जाननेवाली दृष्टि प्राप्त होती है और मेरी प्रत्येक इन्द्रिय गहराई तक पहुँचनेवाली होती है। यह सोम **सिन्धोः**=सारे रुधिर-प्रवाह को बहानेवाली, मानस-सरोवर में भावना की **ऊर्मौ**=तरङ्गों से **अधिश्रितः**=सेवित होता है, अर्थात् इस सोम के कारण मेरे मानस में ऊँची-ऊँची भावनाओं की तरंगें उठती हैं। वस्तुतः जिस व्यक्ति का हृदय तरंगित नहीं होता वह कोई महान् कार्य भी नहीं कर पाता। सोम मनुष्य के मस्तिष्क को तीव्र ज्ञान की ज्योतिवाला बनाता है तो उसके हृदय को ऊँचे-ऊँचे संकल्पों से भर देता है। ये ज्ञान और संकल्प मिलकर उसे महान् कार्यों को करने योग्य बनाते हैं।

यह सोम उसी पुरुष का **बिभ्रत्**=धारण करता है जो १. **कारुम्**=शिल्पमयता से वस्तुओं का निर्माता होता है और **पुरुस्पृहम्**=महान् स्पृहावाला होता है। 'कार्यों को कुशलता से करते चलना, और एक ऊँचे लक्ष्यवाला होना' ये दोनों बातें सोम के धारण में सहायक होती हैं। ऊँचे लक्ष्य की ओर चलना ही 'ब्रह्मचर्य' है—बड़े की ओर चलना। **'अति समं क्राम'**—'आगे लाँघ जा' यह वेद का आदेश है। **'बहुलाभिमानः'**=तुझमें गौरव की भावना हो। यह भावना संयम के लिए सहायक हो जाती है। महत्त्वाकांक्षा न होने पर ब्रह्मचर्य व संयम कठिन है।

भावार्थ—मैं कारु व पुरुस्पृह बनकर सोम का धारण करूँ।

अथ षष्ठप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

देव-लोग

४८७. उपो षु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम्। इन्दुं देवा अयासिषुः॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अमहीयु'=पार्थिव भोगों की कामना न करनेवाला कहता है कि **उप**=समीपता से, **उ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तम प्रकार से **जातम्**=विकास करनेवाले **इन्दुम्**=सोम को **देवाः**=देवलोग **अयासिषुः**=प्राप्त करते हैं। यदि एक बालक ब्रह्मचर्याश्रम में माता, पिता व आचार्य की समीपता में निवास करता है और गृहस्थ बनने पर विद्वान् अतिथियों के सान्निध्य को प्राप्त करता है, प्रातः-सायं प्रभु की उपासना करता है तो उस व्यक्ति का जीवन संयम-प्रवण रहता है और सोम उसके शरीर में व्याप्त होकर उसके उत्तम विकास का कारण बनता है। यह सोम **गोभिः**=ज्ञानप्रद वेदवाणियों के साथ **अप्-तुरम्**=उसके अन्दर कर्मों को त्वरा से—शीघ्रता से करानेवाला होता है। सोमी पुरुष को आलस्य नहीं व्यापता। न ही काम-क्रोध आदि वासनाएँ उसके मार्ग में विघातक होती हैं। यह **भङ्गम्**=कामादि का मर्दन करनेवाला है—उन वासनाओं को कुचल डालनेवाला है और इस प्रकार **परिष्कृतम्**=यह जीवन को बड़ा परिष्कृत—शुद्ध बनानेवाला है।

एवं, सोम के सुरक्षित होने पर जीवन में निम्न परिणाम उत्पन्न होते हैं—१. उत्तम विकास, २. ज्ञानपूर्वक शीघ्रता से कार्य करने की शक्ति ३. वासनाओं का भङ्ग और ४. जीवन का परिमार्जन। इस प्रकार जीवन को उत्तम बनानेवाले इस सोम को प्राप्त वे ही करते हैं जो 'देवाः'=देव बनने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—मैं देव बनने का निश्चय करूँ।

ऋषिः—**बृहन्मतिराङ्गिरसः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ध्यान के द्वारा

४८८. पुनानो अक्रमीदभि विश्वा मृधो विचर्षणिः। शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः॥ २॥

पुनानः=हमारे जीवनों को पवित्र करता हुआ यह सोम **विचर्षणिः**=बहुत सूक्ष्म दृष्टिवाला—तत्त्व-ज्ञानी की दृष्टि को उत्पन्न करनेवाला **विश्वा मृधः**=अन्दर घुस आनेवाली, कुचल डालनेवाली (मृध् murder) सभी काम-क्रोधादि वृत्तियों को **अभि अक्रमीत्**=आक्रान्त करता है। सोम की रक्षा से हमारा जीवन पवित्र होता है। यह सोम रोगकृमियों पर आक्रमण करके हमारे शरीरों को स्वस्थ बनाता है और वासनाओं पर आक्रमण करके हमारे मनों को निर्मल बनाता है। बुद्धि की कुण्ठा को दूर कर उसे तीव्र बनाता है। एवं, यह सोम 'वि-प्र' है—हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले सोम को देवलोग **धीतिभिः**=ध्यान के द्वारा **शुम्भन्ति**=अपने शरीर में सुशोभित करते हैं। इस सोम के शरीर में सुरक्षित रखने का सर्वमहान् उपाय प्रभु

का ध्यान ही है। सदा प्रभु का चिन्तन करनेवाला व्यक्ति वासनाओं का शिकार नहीं होता और सोम को सुरक्षित रख पाता है। इसकी रक्षा से यह बड़ी तीव्र बुद्धिवाला बनता है, अतः 'बृहन्मति' कहलाता है और शक्तिशाली बनने से 'आङ्गिरस' होता है।

भावार्थ—मैं सदा प्रभु का स्मरण करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**जमदग्निर्भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोम का धारण करते हैं

३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २र २ ३ १ २
४८९. आविशन् कलशं सुतो विश्वा अर्षन्नभि श्रियः। इन्दुरिन्द्राय धीयते॥ ३॥

इस मानव–शरीर में सोलह कलाओं का निवास है, अतएव पुरुष को 'षोडशी' कहा जाता है। 'कलाः शेरते अस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से शरीर 'कलश' है। **सुतः**=उत्पन्न हुआ–हुआ यह सोम **कलशम्**=इस शरीर में **आविशन्**=समन्तात् प्रवेश करता हुआ या व्याप्त होता हुआ **विश्वाः**=सम्पूर्ण **श्रियः**=श्रियों—उत्तमताओं—शोभाओं को **अभि अर्षन्**=प्राप्त कराता है। सोम स्वयं सोलह कलाओं में केन्द्रीभूत एक महत्त्वपूर्ण कला है। इसके ठीक होने पर अन्य सब कलाएँ ठीक होती हैं—शरीर का अङ्ग–प्रत्यङ्ग शोभामय होता है।

इन्दुः=यह अङ्ग–प्रत्यङ्ग को शक्तिशाली बनानेवाला सोम **इन्द्राय**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता के लिए **धीयते**=धारण किया जाता है, अर्थात् इस सोम का धारण इन्द्र ही करता है—वही व्यक्ति जो इन्द्रियों का दास नहीं बन जाता। 'जीभ ने चाहा और हमने खाया' ये वृत्ति हमें सोम धारण के योग्य नहीं बनाती, मैं इन्द्र बनता हूँ—सोम को धारण करता हूँ और परिणामतः 'जमदग्निः'=ठीक पाचन शक्तिवाला बना रहता हूँ और मेरी सब शक्तियों का ठीक परिपाक भी होता है, अतः 'भार्गव' होता हूँ।

भावार्थ—मैं इन्द्र=जितेन्द्रिय बनकर सोम का धारण करूँ।

ऋषिः—**आङ्गिरसः प्रभूवसुः**। देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

लक्ष्य की ओर

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र ३ २ १ २ ३ १ २
४९०. असर्जि रथ्यो यथा पवित्रे चम्वोः सुतः। कार्ष्मन् वाजी न्यक्रमीत्॥ ४॥

यथा=जैसे **रथ्यः**=रथ में जोतने योग्य उत्तम घोड़ा होता है, उसी प्रकार इस शरीररूप रथ में यह सोम **असर्जि**=जोता गया है। घोड़ों के उत्तम होने पर यात्रापूर्ति की बड़ी आशा होती है, इसी प्रकार शरीर में सोम के होने पर हमारी जीवन–यात्रा पूर्ण हो जाया करती है। यह सोम **पवित्रे**=हृदय की पवित्रता के निमित्त **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। शरीर में सोम के होने पर मन में ईर्ष्या–द्वेष आदि कलुषित भावनाएँ उत्पन्न नहीं होती—मन निर्मल बना रहता है। यह सोम **चम्वोः**=चमुओं के निमित्त **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। (चम्वोः–द्यावापृथिव्यौ) निघण्टु में 'चमू' नाम द्यावापृथिवी का है। जिस प्रकार दो सेनाएँ एक–दूसरे का आह्वान करती हुई एक–दूसरे के सामने खड़ी होती हैं (क्रन्दसी), उसी प्रकार ये द्युलोक व पृथिवीलोक हैं। इस पिण्ड में ये मस्तिष्क व शरीररूप में हैं—**पृथिवी शरीरम्, द्यौः मूर्धा।** सोम शरीर को दृढ़ बनाता है और मस्तिष्क को उग्र—तेजस्वी।

इस प्रकार मन को पवित्र, शरीर को दृढ़, व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाता हुआ यह सोम

वाजी=सतत गतिवाला होता हुआ **कार्ष्मन्**=लक्ष्य-स्थान पर पहुँचता है और **नि**=निश्चय से **अक्रमीत्**=पहुँचता है। 'सोम हमें हमारे जीवन-यात्रा के लक्ष्य पर पहुँचाता है', यह सोम का कितना महान् लाभ है। उस लक्ष्य-स्थान पर पहुँचकर हम 'प्रभु' रूप वसु=सम्पत्ति को प्राप्त करते हैं, इससे बढ़कर और अधिक उत्कृष्ट सम्पत्ति क्या हो सकती है? प्रभु के सामीप्य में अपने जीवन में शक्ति का अनुभव करता हुआ यह 'आङ्गिरस' होता है।

भावार्थ—सोम के सेवन से 'पवित्र मन, दृढ़ शरीर व उज्ज्वल मस्तिष्क' बनकर मैं जीवन के लक्ष्य-स्थान पर पहुँचनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः काण्वः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

काले आवरण को हटाते हुए

४९१. प्र यद्गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रमुः। घ्नन्तः कृष्णामप त्वचम्॥ ५॥

यत्=जब **गावः न**=गौवों के समान या वेदवाणियों के समान **भूर्णयः**=भरण करनेवाले ये सोम **प्र अक्रमुः**=गति करते हैं तब **कृष्णां त्वचम्**=काले आवरण-पर्दे को **अपघ्नन्तः**=नष्ट करते हुए गति करते हैं। सोम हमारे जीवन का भरण करनेवाले हैं, उसी प्रकार जैसे गौवों का दूध हमारे शरीर को नीरोग, मन को सात्त्विक तथा मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाता है। वेदवाणियाँ भी हमारे जीवन के पोषण में पर्याप्त स्थान रखती हैं। **त्वेषाः**=ये दीप्तिवाली हैं—इनके कारण हमारा जीवन-मार्ग प्रकाशमय बना रहता है। **अयासः**=ये निरन्तर गतिवाले हैं। सोम के शरीर में सुरक्षित होने पर यह थकता नहीं है। अनथकरूप से निरन्तर आगे बढ़ता हुआ यह मार्ग में आनेवाली रुकावटों को दूर करता जाता है। ये रुकावटें ही ज्ञान के आवरण हैं। काम, क्रोध, लोभादि आवरण काली त्वचा के रूप में हैं—सोम इनका नाश कर देता है। विघ्नों के दूर हो जाने पर, यात्रा को पूर्ण करके यह उस मेध्य=पवित्र प्रभु का 'अतिथि' बनता है, अतः इसका नाम मेध्यातिथि हो जाता है। यह ऐसा एक-एक कदम चलते-चलते कण-कण करके बन पाया है, अतः इसका नाम 'काण्व' है।

भावार्थ—हम सोम का धारण करें। ये हमारा धारण करेंगे। हमारे मार्ग को प्रकाशमय बनाएँगे। हम अनथकरूप से आगे बढ़ेंगे, सब विघ्न-बाधाओं को पार कर जाएँगे।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अदेवयु का नोदन (Giving of a shock to अदेवयु)

४९२. अपघ्नन् पवसे मृधः क्रतुवित् सोम मत्सरः। नुदस्वादेवयुं जनम्॥ ६॥

'निध्रुविः'=निश्चय से स्थिरता की मनोवृत्तिवाला काश्यप=ज्ञानी कहता है—हे **सोम**=सोम! तू **मृधः**=हिंसक कामादि को **अपघ्नन्**=नष्ट करता हुआ **पवसे**=हमारे जीवनों को पवित्र बनाता है। कामादि वासनाओं को नष्ट करके तू **क्रतुवित्**=उत्तम कर्म-संकल्पों को व यज्ञिय भावनाओं को प्राप्त करता है (विद्-लाभे)। काम-वासना की समाप्ति व यज्ञिय भावना के उदय से यह सोम **मत्सरः**=आनन्द व उल्लास का जनक है।

हे सोम! **अदेवयुम्**=देव की ओर न जानेवाले—प्रभु की कामना न करनेवाले **जनम्**=मनुष्य को **नुदस्व**=एक धक्का लगा—उसे कुछ ऐसी प्रेरणा कर कि वह भोग की वृत्ति को छोड़कर

आत्मा की ओर झुकाववाला बने। आत्मा की ओर झुक जाने पर इसकी चित्त-वृत्ति डाँवाँडोल नहीं रहती—यह 'स्थितिप्रज्ञ'-सा बन जाता है, 'निध्रुविः' हो जाता है। वस्तुतः स्थितिप्रज्ञ बनना ही ऊँचा ज्ञानी बनना है—'काश्यप' होना है।

भावार्थ—सोम १. मेरी वासना को समाप्त करता है २. यह यज्ञिय भावनाओं को मुझमें जन्म देता है। ३. उल्लास का कारण होता है और ४. मुझे 'देवयुः'—आत्मप्रवण बनाता है।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मानव हितकारी कर्म

४९३. अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचयः। हिन्वानो मानुषीरपः॥ ७॥

हे सोम! **अया**=(अनया) इस **धारया**=धारणशक्ति से **पवस्व**=मेरे अन्दर बह या मेरे जीवन को पवित्र कर **यया**=जिससे तू **सूर्यम्**=मेरी चक्षु को (सूर्यः चक्षुर्भूत्वा) **अरोचयः**=दीप्त करता है। सोम से जीवन का धारण तो होता ही है, साथ ही मनुष्य की ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और उसका दृष्टिकोण ठीक हो जाता है। प्रत्येक वस्तु को ठीक रूप में रखने के कारण वह किसी भी वस्तु में आसक्त नहीं होता और न किसी प्राणी के साथ द्वेष की भावनावाला होता है। दृष्टिकोण को ठीक करने से यह **मानुषीः**=मानव हितकारी **अपः**=कर्मों को **हिन्वानः**=प्रेरित करता है। वस्तुतः दृष्टिकोण की विकृति ही मनुष्य को स्वार्थपूर्ण—केवल अपने प्राण-पोषण के कर्मों में उलझाये रखती है। सोम के संयम का यह परिणाम है कि हमारा दृष्टिकोण ठीक बनता है और हम परार्थ में ही स्वार्थ को सिद्ध होता देखते हैं। हमें परहित के कार्यों में रस आने लगता है।

भावार्थ—सोम १. जीवन का धारण करता है—हमें दीर्घायुष्य बनाता है, २. हमारी चक्षु को दीप्त कर हमारे दृष्टिकोण को ठीक करता है ३. हमारा झुकाव लोकहित के कार्यों में हो जाता है।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

महान् कर्मों का वरण

४९४. स पवस्व य आविथेन्द्रं वृत्राय हन्तवे। वव्रिवांसं महीरपः॥ ८॥

हे सोम! **सः**=वह तू **पवस्व**=मेरे जीवन को पवित्र बना **यः**=जो तू **आविथ**=मेरी रक्षा करता है। यह सोम मुझे काम-क्रोधादि वासनाओं का शिकार होने से बचाता है। सोमी पुरुष न क्रोध करता है न ईर्ष्यालु होता है। यह सोम **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **आविथ**=(अव भागदुघे) दिव्य शक्ति के भाग—अंश से पूरित करता है, जिससे यह इन्द्र '**वृत्राय हन्तवे**'=ज्ञान के आवरणभूत वृत्र—काम को नष्ट कर सके।

परन्तु प्रश्न तो यह है कि प्रभु की दिव्य शक्ति का यह अंश प्राप्त किसे होता है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **महीः अपः वव्रिवांसम्**=महान् अथवा महनीय—प्रशंसनीय कर्म करनेवाले इन्द्र को यह दिव्य शक्ति प्राप्त हुआ करती है। जो भी व्यक्ति अपने जीवन में कोई महान् कर्म करने की प्रेरणा लेकर उसे मूर्त्तरूप देने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है, उसी व्यक्ति को प्रभु का यह दिव्यांश प्राप्त हुआ करता है। यह व्यक्ति महान् उद्देश्य से चलने के

कारण पार्थिव भोगों में कभी फँसता नहीं—उनकी ओर इसका झुकाव भी नहीं होता, इसलिए इसे 'अ-मही-यु'=पार्थिव भोगों को न चाहनेवाला कहा गया है। शक्तियों के जीर्ण न होने से यह 'आङ्गिरस' है।

भावार्थ—मैं महान् कर्म को अपना लक्ष्य बनाऊँ, जिससे मुझमें दिव्य शक्ति का अवतरण हो।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

नवतीर्नव का हनन या परमगति की प्राप्ति

४९५. अया वीती परि स्रव यस्त इन्दो मदेष्वा। अवाहन्नवतीर्नव॥ ९॥

हे **इन्दो**=शक्ति देनेवाले सोम! तू **अया**=इस **वीती**=मार्ग से **परिस्रव**=मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्रवाहित हो **यः**=जिससे **ते**=तेरा स्रवण-प्रवाह—**आ**=सब अङ्गों में चारों ओर **मदेषु**=मदों के निमित्त हो। सोम के शरीर में व्याप्त होने पर जीवन उल्लासमय बनता है। यह सोमी पुरुष **नवतीः**=(नव गतौ) गतिमय—चञ्चल **नव**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों व अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) को **अवाहन्**=दूर कर देता है। चञ्चलता के हनन से चञ्चल इन्द्रियों का हनन हो जाता है। शत्रुता के नाश से शत्रु के मित्र बन जाने पर शत्रु नष्ट हो जाता है। चञ्चलता के नष्ट हो जाने पर ये नवती=अत्यन्त अस्थिर इन्द्रियाँ भी नष्ट हो जाती हैं और उनके स्थान में अवस्थित इन्द्रियों व मन का उदय होता है। **'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टते तमाहुः परमां गतिम्॥'**=इस उपनिषद्-वाक्य के अनुसार यही परमगति है। अमहीयु पुरुष ही इस परमगति को जानता है। पार्थिव भोगों की कामनाएँ तो मनुष्य को अत्यन्त चञ्चल बनाये रखती हैं।

यहाँ 'नव' से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच कर्मेन्द्रियों का भी ग्रहण हो सकता है। इसमें वाक् या जिह्वा ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों में समान होने से वस्तुतः संख्या नौ ही है।

भावार्थ—मेरा जीवन सोम के द्वारा उल्लासमय हो और मैं इन अस्थिर इन्द्रियों को स्थिर करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**उचथ्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सच्चे स्तोता की सम्पत्ति

४९६. परि द्युक्षं सनद्रयिं भरद्वाजं नो अन्धसा। स्वानो अर्ष पवित्र आ॥ १०॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'उचथ्य आङ्गिरस' है=उत्तम स्तोता जो शक्ति-सम्पन्न है। यह प्रभु से अराधना करता है कि **नः**=हममें **अन्धसा**=आध्यायनीय सोम के द्वारा **रयिम्**=सम्पत्ति को **परिसनत्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्राप्त कराइए। कौन-सी सम्पत्ति को? जोकि १. **द्युक्षम्**=ज्ञान में निवास करनेवाली है और २. **भरद्वाजम्**=हममें शक्ति का भरण करनेवाली है।

इस प्रकार स्तोता की सम्पत्ति का चित्रण इन शब्दों में हुआ है कि 'वह प्रकाशमय है, और शक्ति से पूर्ण है।' आदर्श मनुष्य वही है जो पहलवान के शरीर में ऋषि की आत्मा रखता है। प्रकाश और शक्ति का चयन करनेवाला ही सच्चा स्तोता है। सोम इन दोनों ही तत्त्वों का मूल है, इसलिए यह स्तोता सोम को अन्धस्=आध्यायनीय मानता है। यह सोम से

कहता है कि **स्वान:**=उत्तम प्रकार से मुझे प्राणित करनेवाला, सब प्रकार से ध्यान देने योग्य तू **पवित्रे**=पवित्रता के निमित्त **आ अर्ष**=समन्तात् गति कर। यह कहता है कि सोम इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में व्याप्त हो और इसके द्वारा इसका शरीर पवित्र होकर प्राणित हो उठे। यदि मैं अपने जीवन को इस प्रकार बनाता हूँ तभी मैं प्रभु का सच्चा स्तोता होता हूँ।

भावार्थ—मैं ज्ञान, शक्ति, प्राणों के बल व पवित्रता को ही अपनी सम्पत्ति समझूँ।

द्वितीया दशति:

ऋषि:—**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

सूर्य के समान

४९७. अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान् मित्रो न दर्शत:। सं सूर्येण दिद्युते॥ १॥

सोम **अचिक्रदत्**=पुकारता है—पुकारकर मन्त्र के ऋषि 'मेधातिथि' से कहता है कि मुझे अपनाकर तो देखो। देखो कि मैं किस प्रकार १. **वृषा**=तुम्हारे लिए सुखों का वर्षक होता हूँ, किस प्रकार तुम्हें शक्ति-सम्पन्न (वृष) बनाता हूँ। २. **हरि:**=मैं तुम्हारे दु:खों का हरण करनेवाला हूँ—सब मलिनताओं को दूर भगानेवाला हूँ। तुम्हारे शरीर को शक्ति-सम्पन्न बनाता हूँ तो मन को निर्मल। ३. **महान्**=मैं तेरे हृदय को (मह पूजायाम्) पूजा की वृत्ति से परिपूर्ण करके **महान्**=उदार बनाता हूँ। ४. **मित्रो न दर्शत:**=मेरे द्वारा तू सूर्य के समान दर्शनीय होता है—तेजस्वी बनता है। सूर्य 'मित्र' है—मृत्यु से बचानेवाला है। यह सोम भी सूर्य की भाँति ही रोगों से बचाकर मृत्यु से बचाता है और हमें सूर्य के समान तेजस्वी बनाता है।

इस सोम के द्वारा यह मेधातिथि **सूर्येण**=(सूर्य: चक्षु:) अपनी चक्षु से—दृष्टिकोण से—**संदिद्युते**=सम्यक् चमकता है। सोमी पुरुष का दृष्टिकोण बड़ा सुन्दर होता है। यह संसार में समझदारी से चलता है। मेधा के साथ चलने से यह 'मेधातिथि' कहलाता है। कण-कण करके इसने मेधा का संचय किया है, अत: यह 'काण्व' है।

भावार्थ—सोम मेरे दृष्टिकोण को सुन्दर बनाए।

ऋषि:—**वारुणिर्भृगुर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

दक्षता=कुशलता

४९८. आ ते दक्षं मयोभुवं वह्निमद्या वृणीमहे। पान्तमा पुरुस्पृहम्॥ २॥

गत मन्त्र का मेधातिथि 'भृगु'=तपस्या के द्वारा अपना परिपाक करनेवाला बनता है—तपस्या से परिपक्व होकर ही तो यह मेधा का संचय करनेवाला ज्ञानी बनेगा। यह हृदय को पवित्र करके अथवा अपने को व्रतों के बन्धनों में बाँधकर 'वारुणि' होता है और यही मेधातिथि खाने-पीने में भी ठीक दृष्टिकोण होने के कारण 'जमदग्नि' बनता है। यह प्रभु से कहता है कि हम **अद्य ते**=आज ही आपके इस सोम का **आवृणीमहे**=सर्वथा वरण—चुनाव करते हैं। इस सोम को ही सुरक्षित करने का ध्यान करते हैं, जोकि १. **दक्षम्**=मुझे दक्ष=चतुर—कार्यकुशल बनाता है। २. मैं उस सोम का वरण करूँ जोकि **मयोभुवम्**=स्वास्थ्य का सुख उत्पन्न करनेवाला है। सोम के संयम से मैं सब रोगों का अभिभव कर पाता हूँ। रोगों से दूर हो स्वास्थ्य सुख का अनुभव करता हूँ। ३. **वह्निम्**=यह सोम मुझे सब विघ्न-बाधाओं से और

अन्त में संसार से पार ले-जानेवाला है (वह=to carry)। सोम से मनुष्य में शक्ति, उल्लास व ऐसे उत्साह का संचार होता है कि पहाड़ जैसे विघ्नों में भी व्याकुल नहीं होता। ४. **पान्तम्**=यह सोम मेरी रक्षा करता है। सोम मुझे रोगों का शिकार तो होने ही नहीं देता—प्रलोभनों का शिकार होने से भी बचाता है—इससे मेरे मन में ईर्ष्या-द्वेष आदि भी नहीं उत्पन्न होते। ५. **आपुरुस्पृहम्**=यह सोम मेरे अन्दर महान् स्पृहा को जन्म देता है। मेरे अन्दर महान् कार्य कर जाने की भावना उत्पन्न होती है। वस्तुत: यह 'पुरुस्पृहता' प्रलोभनों से बचने में भी सहायक होती है।

भावार्थ—सोम मुझे दक्षता प्राप्त कराता है—मैं संसार में उत्कृष्ट स्पृहावाला बनता हूँ।

ऋषि:—**उचथ्य आङ्गिरस:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

उत्तेजना से दूर

४९९. अध्वर्यो अद्रिभि: सुतं सोमं पवित्र आ नय। पुनाहीन्द्राय पातवे॥ ३॥

हे **अध्वर्यो**=हिंसा की भावना से दूर रहनेवाले स्तोत:! **सोमम्**=तू सोम को **आनय**=समन्तात् अपने शरीर में प्राप्त करा। वस्तुत: सोम को शरीर में सुरक्षित रखने के लिए अध्वर्यु=हिंसादि की भावनाओं से ऊपर उठना आवश्यक है। किसी भी प्रकार की उत्तेजना 'सोम-रक्षा' के लिए विघातक है। इसी से ब्रह्मचारी के लिए 'शोक-मोह-क्रोध' सभी वर्जित हैं। यह सोम **अद्रिभि:**=पाषाणों के हेतु से **सुतम्**=उत्पन्न किया गया है। **'अश्मा भवतु नस्तनू:'** इस अथर्ववाक्य के अनुसार पाषाण-तुल्य दृढ़ शरीर का ही यहाँ 'अद्रि' शब्द से संकेत है। सोम की रक्षा से शरीर वज्रतुल्य बनता ही है। इस सोम को **पवित्रे**=पवित्रता के निमित्त हमें शरीर में प्राप्त करना चाहिए। यह स्थूलशरीर में से रोगरूप मलों को दूर करता है—मन के द्वेषादि मलों को हरता है तथा बुद्धि की कुण्ठा को भगाता है।

हे सोम! तू **पुनाहि**=पवित्र कर और **इन्द्राय**=इस जीवात्मा की **पातवे**=रक्षा के लिए हो। सोम के संयम से अपने को पवित्र बनाकर—प्रलोभनों से अपने को सुरक्षित करके यह सचमुच प्रभु का उत्तम स्तोता 'उचथ्य' बनता है। भोगासक्ति के अभाव में यह 'आङ्गिरस' होता है। वस्तुत: आङ्गिरस=शक्तिशाली पुरुष ही उत्तेजना से दूर व 'अध्वर्यु' बनता है और सोम की और अधिक रक्षा कर पाता है।

भावार्थ—मैं सब प्रकार की उत्तेजनाओं से दूर रहकर सोमपान करनेवाला बनूँ।

ऋषि:—**अवत्सार: काश्यप:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

तैरते हुए

५००. तरत् स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धस:। तरत् स मन्दी धावति॥ ४॥

जो व्यक्ति सोम की, जो सारे भोजन का सार है, रक्षा करता है वह 'अवत्सार' कहलाता है। यह ज्ञानी=काश्यप तो है ही। **स:**=वह संसार में आनेवाली विघ्न-बाधाओं को **तरत्**=तैरता हुआ **मन्दी**=उल्लासवाला **धावति**=दौड़ता चलता है। 'धाव्' धातु के दोनों अर्थ हैं गति और शुद्धि। यह मार्ग में आनेवाले विघ्नों का शोधन—सफ़ाया करता है और आगे बढ़ता है। यह **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए **अन्धस:**=सर्वथा ध्यान देने योग्य सोम की **धारा**=(धारया) धारणशक्ति

से आगे और आगे बढ़ता चलता है। ज्ञानी होने से रमणीय विषयों का भोग करता हुआ भी उनमें उलझता नहीं है। **सः**=वह तो **तरत्**=तेजी से तैरता हुआ **मन्दी**=सदा उत्साह में स्थित **धावति**=आगे बढ़ता ही चलता है।

भावार्थ—मैं १. तैरते हुए, २. उत्साह में कमी न आने देते हुए, ३. आगे और आगे बढ़ता चलूँ।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उल्लास व शक्तिमयी (सम्पत्ति)

५०१. आ पवस्व सहस्त्रिणं रयिं सोम सुवीर्यम्। अस्मे श्रवांसि धारय॥ ५॥

हे **सोम**=सोम! **रयिं आपवस्व**=मुझे उस सम्पत्ति को सर्वथा प्राप्त करा जो **सहस्त्रिणम्**=मेरे जीवन को सदा उल्लासवाला और **सुवीर्यम्**=मुझे उत्तम शक्तिवाला बनाती है। सम्पत्ति और समृद्धि शब्दों में यह अन्तर है कि समृद्धि जहाँ बाह्य वस्तु है वहाँ सम्पत्ति आन्तर वस्तु है। यह सम्पत्ति 'तेज-वीर्य-बल-ओज-मन्यु-सहस्' आदि शब्दों से सूचित होती है और क्रमशः अन्नमयादि कोशों को अलंकृत करती है। सोम वस्तुतः इस सम्पूर्ण सम्पत्ति का मूल है। यहाँ वीर्य व सहस् दो का ही संकेत प्रतीक रूप में है। वस्तुतः सोम से तो सारी सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं।

शक्ति और सतत प्रसाद को प्राप्त कराके हे सोम! तू **अस्मे**=हममें **श्रवांसि धारय**=ज्ञान व यश को धारण कर। मेरे जीवन से ऐसे ही कार्य हों जो कीर्तिकर हों। वस्तुतः संयमी पुरुष का जीवन-क्रम इस प्रकार सुन्दरता से चलता है कि शत्रु भी उसका यशोगान करते हैं। इसके जीवन में एक ऐसी स्थिरता होती है कि सभी उससे प्रभावित होते हैं। यह 'नि-ध्रुवि'=ध्रुव बुद्धिवाला—स्थितप्रज्ञ होता है। सदा ज्ञानमार्ग से विचरण करनेवाला 'काश्यप' होता है।

भावार्थ—सोम हमें सदा उल्लासमय, शक्तिशाली, ज्ञानी व उत्तम कीर्तिवाला बनाता है।

ऋषिः—**काश्यपोऽसितो देवलः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पुनर्यौवन (नव-यौवन)

५०२. अनु प्रत्नास आयवः पदं नवीयो अक्रमुः। रुचे जनन्त सूर्यम्॥ ६॥

सोम के संयम से **रुचे**=कान्ति व शोभा के लिए संयमी पुरुष अपने अन्दर **सूर्यम्**=(सूर्यः=चक्षुः) एक विशिष्ट दृष्टिकोण को **जनन्त**=उत्पन्न करते हैं। इस दृष्टिकोण का ही परिणाम होता है कि वे 'असित्'=विषयों से अबद्ध रहते हैं—'काश्यप'—अपने ज्ञान को उत्तरोत्तर दीप्त करते हैं—'देवल'=दिव्य गुणों को अपने अन्दर ग्रहण करते हैं। इस प्रकार का जीवन बनाने से **प्रत्नासः आयवः**=पुराण व वृद्ध होते हुए भी ये मनुष्य **नवीयः पदम्**=अत्यन्त नवीन पद—युवावस्था में **अनु अक्रमुः**=शनैः-शनैः, क्रमशः प्रवेश करते हैं। इनकी सब शक्तियाँ ठीक होकर ये फिर से नौजवान हो जाते हैं। सोम के संयम से मनुष्य धीमे-धीमे अधिकाधिक स्वस्थ होता चलता है और वस्तुतः यौवन को पुनः प्राप्त कर लेता है। आचार्य ने सोम को वह 'मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र' माना है जो सब रोगों की औषध है। देवों की भाँति मनुष्य कभी जीर्ण नहीं होता—अधिकाधिक युवा होता चलता है। वही स्तुत्यतम जीवन है (नु-स्तुतौ,

नवीयः स्तुत्यतम)।

भावार्थ—सोम का संयम 'पुनर्युवा' बनानेवाला है।

ऋषि:—**वारुणिर्भृगुर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ऊर्ध्व-गति

५०३. अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत्। सीदन् योनौ वनेष्वा॥ ७॥

हे **सोम**=सोम! तू **द्युमत्तमः**=मेरे जीवन को सर्वाधिक प्रकाशमय बनानेवाला है। सोम की ऊर्ध्वगति होकर यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और ज्ञानाग्नि दीप्त होकर मेरे जीवन को प्रकाशमय बनाती है। **रोरुवत्**=निरन्तर प्रभु के नामों का जप करता हुआ तू **द्रोणानि अभि**=ऊर्ध्वगति का लक्ष्य करके **अर्ष**=प्रवाहित हो। 'द्रुम' (वृक्ष) शब्द में द्रु धातु है जो गतिवाचक है। वृक्ष में जैसे मूल में डाला हुआ जल ऊपर शिखर तक पहुँचकर पत्ते-पत्ते को हरा-भरा करनेवाला होता है। इसी प्रकार ऊर्ध्वगतिवाला सोम मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि को ही नहीं सभी अंशों को सबल बनाता है।

हे सोम! तू **योनौ**=अपने उत्पत्ति-स्थान इस शरीर में ही **सीदन्**=स्थित होता हुआ **वनेषु**=उत्तम सम्भजनीय वस्तुओं के निमित्त **आ**=समन्तात् शरीर में व्याप्त हो। यदि सोम शरीर में ही, जहाँ वह उत्पन्न हुआ है, रहे, तो यह अपने धारक को सब सेव्य वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला होता है। वस्तुतः शरीर में जहाँ सोम उत्पन्न हुआ है, यही इसका धारण करने का सर्वोत्तम स्थान है। इसके धारण से उत्तमोत्तम गुणों की वृद्धि होती है।

इसका धारण तप की अपेक्षा करता है—आरामपसन्दगी इसके लिए विघातक है, इसका धारण करनेवाला 'भृगु'—तपस्वी है, अपना परिपाक करनेवाला है। उसका जीवन श्रेष्ठ होने से यह 'वारुणि' है। पूर्ण स्वस्थ होने से यह 'जमदग्नि' है—इसकी जठराग्नि दीप्त है।

भावार्थ—मैं प्रभु के नामों का जप करूँ और 'ऊर्ध्वरेतस्' बनूँ।

ऋषि:—**कश्यपो मारीचः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वर्षा-शक्ति-धर्म

५०४. वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः। वृषा धर्माणि दध्रिषे॥ ८॥

हे **सोम**=सोम! तू **वृषा**=हमारी सब कामनाओं का पूरण (अभिवर्षण) करनेवाला होता हुआ **द्युमान् असि**=ज्योतिर्मय है—हमारे जीवनों को तू प्रकाशमय बनाता है। हे **देव**=हमारे जीवनों को ज्योतिर्मय बनानेवाले सोम! तू **वृषा**=मुझे शक्तिशाली बनाता हुआ **वृषव्रतः**=शक्तिशाली कर्मोंवाला बनाता है। **वृषा**=मेरी प्रवृत्ति को धर्मप्रवण करता हुआ तू **धर्माणि दध्रिषे**=मेरे जीवन में धर्मों का धारण करनेवाला होता है।

सोम के संयम का पहला परिणाम मेरे जीवन में यह है कि मैं उत्तम इच्छाओंवाला होता हूँ—मेरी वे इच्छाएँ सामान्यतः पूर्ण भी हो जाती हैं। मैं अपने जीवन में 'घृत-लवण-तण्डुल व ईंधन' की चिन्ता से ही व्याकुल नहीं रहता। परिणामतः यह चिन्ता मेरी बुद्धि को अव्यवस्थित करनेवाली नहीं होती। दूसरा परिणाम यह होता है कि मैं शक्ति-सम्पन्न होता हूँ—मेरे सब कार्य शक्ति के चिह्नों को प्रकट करते हैं। तीसरा परिणाम यह होता है कि मेरी

प्रवृत्ति धर्मकर्मों के साधन का कारण बनती है।

सोम मुझे द्युमान् बनाता है, अतः मैं 'कश्यप' होता हूँ। वासनाओं की अशुभ भावनाओं को समाप्त करनेवाला होने से 'मारीच' बनता हूँ।

भावार्थ—सोम मेरी अभिलाषाओं को पूर्ण करे, मुझे शक्तिशाली बनाए तथा मेरी प्रवृत्ति को धर्म-प्रवण करे।

ऋषिः—**कश्यपो मारीचः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-प्रेरणा-श्रवण

५०५. इषे पवस्व धारया मृज्यमानो मनीषिभिः। इन्दो रुचाभि गा इहि॥ ९॥

यह सोम मेरे जीवन में **इषे**=प्रभु की प्रेरणा के लिए **पवस्व**=पवित्रता करे। सोम के धारण से वासनाओं का नाश होकर मेरा जीवन इस प्रकार पवित्र हो कि मुझे हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा सुनाई पड़े। यह सोम **मनीषिभिः**=मन को बुद्धि के द्वारा नियन्त्रित करनेवाले समझदार लोगों से **धारया**=धारण के उद्देश्य से **मृज्यमानः**=शुद्ध किया जाता है। मनीषी बनना—मन को बुद्धिपूर्ण रखना—सोम-संयम का सर्वोत्तम साधन है। धारित होकर यह हमारा धारण करता है। **धारया**=धारण के हेतु से ही तो विद्वानों ने इसका संयम किया।

इन्दो=मुझे शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **रुचा**=दीप्ति के हेतु से **गाः अभि इहि**=वेदवाणी की ओर चल। वेदवाणी 'ब्रह्म' है—इसकी ओर चलना 'ब्रह्मचर्य' है। वेदवाणी का अध्ययन मुझे सोम के संयम में भी सहायक होता है। इसी संयम से मैं प्रभु-प्रेरणा को भी सुननेवाला बनता हूँ।

भावार्थ—यह सोम मुझे पवित्र कर प्रभु-प्रेरणा को सुनने के योग्य बनाता है।

ऋषिः—**काश्यपोऽसितो देवलः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

स्व-स्थ-ता

५०६. मन्द्रया सोम धारया वृषा पवस्व देवयुः। अव्या वारेभिरस्मयुः॥ १०॥

हे **सोम**=सोम! तू **मन्द्रया धारया**=उल्लासमयी धारणशक्ति के साथ **वृषा**=मेरे जीवन को शक्तिशाली बनानेवाला है। **देवयुः**=मेरे साथ दिव्य गुणों को जोड़नेवाला है। तू **पवस्व**=मेरे जीवन को पवित्र कर और मुझमें प्रवाहित हो। तू **अव्या**=रक्षण के द्वारा और **वारेभिः**=बुराइयों व रोगों के निवारण के द्वारा **अस्मयुः**=हमें हमारे साथ जोड़नेवाला है। जब मैं अपने से जुड़ा होता हूँ तब स्व-स्थ होता हूँ। यह सोम मेरे स्वास्थ्य का कारण है—शारीरिक स्वास्थ्य का भी और मानस स्वास्थ्य का भी। वस्तुतः इस स्वास्थ्य के द्वारा ही यह मेरे उल्लास का कारण बनता है। रोग-कृमियों का नाशक होने से यह मेरा धारण करता है। शक्ति का स्रोत तो यह है ही—स्रोत क्या शक्ति ही है (वृषा)। शक्ति-सम्पन्न बनाकर ही यह मुझमें दिव्यता भरता है। यह सोम रोगों से भी मेरी रक्षा करता है और ईर्ष्या-द्वेष की वासनाओं से भी। इस सारी प्रक्रिया के द्वारा यह हमें हमारे साथ जोड़ता है—हमें 'स्व-स्थ' बनाता है। यह सोमी पुरुष 'असित' विषयों से अबद्ध, 'कश्यप'=ज्ञानी और देवल=दिव्य गुणों का उपादान करनेवाला होता है। सोम 'देवयुः' तो है ही।

भावार्थ—सोम का संयम मुझे स्वस्थ बनाये।

ऋषि:—**कविर्भार्गवः**।। देवता—**पवमानः सोमः**।। छन्दः—**गायत्री**।। स्वरः—**षड्जः**।।

सोम का महान् सुकर्म

५०७. अया सोम सुकृत्यया महान्त्सन्नभ्यवर्धथाः। मन्दान इद् वृषायसे॥ ११॥

गत मन्त्र का 'काश्यप' यहाँ 'कवि' है—यह क्रान्तदर्शी है, भार्गव है—तपस्या से अपना परिपाक करनेवाला है। यह सोम से कहता है कि हे **सोम**=सोम! तू **अया**=इस **सुकृत्यया**=उत्तम कर्म के द्वारा—मेरे जीवन को उल्लासमय, शक्तिशाली व दिव्य गुणयुक्त बनाने के द्वारा **महान् सन्**=(मह पूजायाम्) मुझे पूजाप्रवण बनाता हुआ **अभि अवर्धथाः**=सब दृष्टिकोणों से बढ़ाता है। संयमी पुरुष का जीवन प्रभुपूजा की ओर झुकाववाला होता है और उसका जीवन शरीर, मन व मस्तिष्क सभी दृष्टिकोणों से उन्नतिवाला होता है।

हे सोम! **मन्दानः इत्**=निश्चय से मुझे उल्लासमय बनाता हुआ **वृषायसे**=मेरे जीवन में शक्तिशाली के रूप में आचरण करता है। मेरा जीवन निर्बल नहीं होता। सब प्रकार की निर्बलता से दूर होकर आज मैं प्रभु को पाने के योग्य बना हूँ।

भावार्थ—सोम के द्वारा मेरी सर्वाङ्गीण उन्नति होती है।

ऋषि:—**जमदग्निर्भार्गवः**।। देवता—**पवमानः सोमः**।। छन्दः—**गायत्री**।। स्वरः—**षड्जः**।।

सदा-चेतन

५०८. अयं विचर्षणिर्हितः पवमानः स चेतति। हिन्वान आप्यं बृहत्॥ १२॥

अयम्=यह सोम **विचर्षणिः**=मुझे विशेषरूप से द्रष्टा बनाता है। मैं क्रान्तदर्शी बनकर प्रत्येक वस्तु को उसके वास्तविक रूप में देखता हूँ। इसी का परिणाम है कि उस-उस वस्तु की आपात-रमणीयता मुझे उलझा नहीं पाती। इस प्रकार यह सोम **हितः**=मेरे लिए हितकर होता है। **पवमानः**=यह मुझे पवित्र करनेवाला है और **सः**=वह **चेतति**=चेतनामय है। इस सोम के संयम से मैं मोहमयी प्रमाद-मदिरा पीकर बेसुध नहीं हो जाता, अपितु मेरी चेतना स्थिर रहती है।

इस प्रकार यह सोम मुझे सदा **बृहत् आप्यम्**=सर्वमहान्, प्राप्त करने योग्य प्रभु की ओर **हिन्वानः**=प्रेरित करता है। प्राप्त करने योग्य वस्तु 'आप्यम्' है, सर्वोत्तम आप्य प्रभु हैं। उस सर्वोत्तम 'आप्य' की प्राप्ति के लिए मुझे यह स्मृति सदा बनी ही रहनी चाहिए कि **कोऽहं, किमिहागतः**=मैं कौन हूँ, यहाँ क्यों आया हूँ? सोम इस चेतना को स्थायी रखता है और मुझे प्रभु-दर्शन कराता है। प्रभु-दर्शन के लिए दो बातें आवश्यक हैं—१. शक्ति २. चेतना। गत मन्त्र में सोम के लिए कहा था कि **वृषायसे**=यह मुझे शक्तिशाली बनाता है और प्रस्तुत मन्त्र में कहा है कि **सः चेतति**=यह मेरी चेतना को स्थिर रखता है। शक्ति का तत्त्व 'जमदग्नि' बनने में है, मेरी जाठराग्नि सदा तीव्र बनी रहे—मैं 'जमत्+अग्नि' बना रहूँ। जाठराग्नि ठीक रहने से ही सब धातुओं का ठीक उत्पादन होकर मेरी शक्ति स्थिर रहती है। चेतना के लिए 'भार्गव'—तपस्वी बनना आवश्यक है।

भावार्थ—'जमदग्नि भार्गव' बनकर तथा 'शक्ति व चेतना' का सम्पादन करके मैं प्रभु-प्राप्ति का अधिकारी बनूँ।

ऋषिः—**अयास्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अनथक

५०९. प्र न इन्दो महे तु न ऊर्मिं न बिभ्रदर्षसि। अभि देवाँ अयास्यः॥ १३॥

हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **नः**=हमारे **महे तुने**=महनीय—प्रशंसनीय ज्ञानरूप धन के लिए **ऊर्मिं न बिभ्रत्**=हृदय में तरङ्ग-सी धारण करता हुआ **प्र अर्षसि**=खूब गतिशील होता है। सोम के धारण से हृदय में गम्भीर ज्ञान के लिए उसी प्रकार उत्साह होता है जैसाकि समुद्र में तरङ्गे उठती हैं।

ज्ञान-प्राप्ति के अतिरिक्त यह सोम हमें निरन्तर **देवान् अभि**=दिव्य गुणों की ओर ले-चलता है। इससे हमारे अन्दर दैवी सम्पत्ति की वृद्धि होती है।

यह **अयास्यः**=अनथक होता है। संयमी पुरुष कभी थकता नहीं। उसके शरीर में शक्ति होती है जो उसे निरन्तर कार्य करने में समर्थ बनाती है।

सोम का मस्तिष्क पर परिणाम गम्भीर ज्ञान के लिए सामर्थ्य है, हृदय में दैवी गुणों का विकास है तथा शरीर को यह अनथक काम करने के योग्य बनाता है। मन्त्र का ऋषि ही 'अयास्य आङ्गिरस' है—न थकनेवाला शक्तिशाली पुरुष।

भावार्थ—सोम मुझे अयास्य बनाये।

ऋषिः—**आङ्गिरसोऽ महीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अन्-ऋणता (Repayment of the debt)

५१०. अपघ्नन् पवते मृधोऽप सोमो अराव्णः। गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम्॥ १४॥

यह **सोमः**=सोम हमारे जीवनों में **पवते**=प्रवाहित होता है। क्या करता हुआ? १. **मृधः अपघ्नन्**=(murderer=मृधर्) हिंसकों को दूर नष्ट करता हुआ। सोम के संयम से मानव-जीवन से 'काम-क्रोध-लोभ' दूर हो जाते हैं। ये मनुष्य के सर्वमहान् शत्रु हैं। ये उसका हिंसन करनेवाले हैं। उसकी आत्मा का हनन करनेवाले हैं। यह सोम **अराव्णः**=(दा दाने) न देने की वृत्तियों को **अप**=दूर करता है। सोम का संयम मनुष्य को उदार बनाता है—इसके जीवन में कृपणता को स्थान नहीं मिलता।

इस प्रकार कामादि का संहार तथा आदानवृत्ति के परिहार से यह जीव **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **निष्कृतम्**=आनृण्य को **गच्छन्**=जाता है। प्रभु के अनन्त उपकार हैं, उन उपकारों से अनृण होने का प्रकार एक ही है कि हम लोभादि से बचें और प्रभु से दिये धन को लोकहित में विनियुक्त करें—प्रभु ने वस्तुतः धन दिया ही इसीलिए है—उसका प्रभु की इच्छानुसार विनियोग ही प्रभु की उपासना है—यही प्रभु के उपकारों का प्रत्युपकार है। प्रभु पूर्ण हैं; मैं भी प्रभु के प्राणियों की यत्किञ्चित् पूर्णता के लिए प्रभु से दी हुई शक्तियों का प्रयोग करूँ। स्वयं भोगों में न फँस जाऊँ—'अ-मही-यु'=पार्थिव भोगों के प्रति अनासक्त बनूँ। इससे मैं 'आङ्गिरस'=शक्तिशाली बन पाऊँगा।

भावार्थ—हम प्राणियों की सेवा करके प्रभु के ऋण से अनृण होने का प्रयत्न करें।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—**बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः॥** देवता—**पवमानः सोमः॥** छन्दः—**बृहती॥** स्वरः—**मध्यमः॥**

सप्त-ऋषि

५११. पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि।
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्ययः॥ १॥

सोम=हे सोम! तू **धारया**=धारण के हेतु से **पुनानः**=मेरे शरीर को पवित्र कर डालता है। तू इस शरीर में मलों का संचय नहीं होने देता, न रोग होते हैं, न शक्ति क्षीण होती है। उत्तरोत्तर शक्ति का संचय होकर मैं 'भरद्वाज'—अपने में शक्ति को भरनेवाला बनता हूँ। शक्ति के साथ मस्तिष्क की पवित्रता से मैं ज्ञान-सम्पन्न 'बार्हस्पत्य' बनता हूँ। मेरे स्वस्थ शरीर में मन भी स्वस्थ होता है। मेरा दृष्टिकोण ठीक होता है, मैं संसार के तत्त्व को देखता हूँ 'कश्यप' बनता हूँ। आलस्य इत्यादि की भावनाओं को मारनेवाला 'मारीच' होता हूँ। ऐसा व्यक्ति सारे संसार को क्रियाशील देखता हुआ, क्रिया को ही संसार का मूलतत्त्व समझता हुआ, **अपो वसानः अर्षसि**=कर्मों को धारण करता हुआ गति करता है। **'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'**=ब्रह्मज्ञानियों में क्रियावान् ही श्रेष्ठ है।

हे सोम! तू **आ**=सब ओर—सब इन्द्रियों में **रत्नधा**=रमणीयता को धारण करनेवाला है। मेरी एक-एक इन्द्रिय को तू रमणीय बनाता है। रमणीय इन्द्रियोंवाला मैं 'गोतम'=प्रशस्तेन्द्रिय कहलाता हूँ। इन्द्रियों के सब दोषों का त्याग करनेवाला मैं त्यागियों में गिनने योग्य 'राहूगण' (रह त्यागे) बनता हूँ।

हे सोम! तू **ऋतस्य**=ऋत के **योनिम्**=उत्पत्ति स्थान परमात्मा में **सीदसि**=स्थित होता है। 'ऋत और सत्य प्रभु के दीप्त तप से ही उत्पन्न होते हैं। यह सोम का संयम करनेवाला भौमः=इस भूमि का व्यक्ति होता हुआ भी 'अत्रि'=काम-क्रोध-लोभ—तीनों से ऊपर उठकर तीनों कष्टों से अतीत प्रभु के अंक का आश्रय करता है।

उत्सः=यह सोमी पुरुष तो एक प्रेम का स्रोत—झरना ही है।

देवः=तू दीप्त है, तू ज्ञान से सभी को द्योतित करनेवाला है (देवो दीपनाद् वा द्योतनाद्वा)। दीप्त ज्ञानाग्निवाला यह 'जमदग्नि' है—इसकी ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है। यह भार्गव—ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाला होता है।

हिरण्ययः=इसका जीवन स्वर्णिम (Golden) हो जाता है। यह किसी भी अति (Extreme) में न पड़कर सदा मध्यमार्ग से चलता है—यही तो वास्तविक संयम है। इस संयम का पुतला यह 'वसिष्ठ' है—सर्वोत्तम वशी है।

इस प्रकार सोम मेरे सभी ऋषियों को ठीक रखनेवाला है।

भावार्थ—सोम के संयम से मैं सप्तर्षियों का आराधन करूँ।

ऋषिः—**बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः॥** देवता—**पवमानः सोमः॥** छन्दः—**बृहती॥** स्वरः—**मध्यमः॥**

सोम को व्याप्त करना

५१२. परीतो षिञ्चता सुतं सोमो य उत्तमं हविः।
दधन्वाँ यो नर्यो अप्स्वा३न्तरा सुषाव सोममद्रिभिः॥ २॥

परीतः=(व्याप्त) जिस प्रकार सोम सारे शरीर में व्याप्त रहे इस प्रकार इस **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए **सोमः**=सोम को **सिञ्चत्**=सिक्त करो। उस सोम को **यः**=जो **उत्तमं हविः**=सर्वोत्तम आदान करने योग्य वस्तु है। (हु=आदान अथवा अदन)। यह सोम सचमुच सर्वोत्तम अदन=भक्षण के योग्य है (ब्रह्म=महत्—उत्तम, चर=भक्षण)। यही ब्रह्मचर्य है। यह धारण किया हुआ **दधन्वान्**=हमारा धारण करनेवाला है। **यः**=जो सोम **नर्यः**=नरों के लिए हितकर है। सोम से बढ़कर हितकर अन्य वस्तु तो है ही नहीं।

सोम धारण के लिए **'अप्सु आ अन्तरा'**=हमें सदा कर्मों में स्थित रहने का प्रयत्न करना है। 'कर्मों में लगे रहना' मनुष्य को वासना से बचाता है और वासना से ऊपर उठकर ही वह सोम की रक्षा कर पाता है। 'कर्मों में लगे रहना' साधन है, 'सोम-रक्षा' साध्य। प्रभु ने **सोमम्**=सोम को **सुषाव**=उत्पन्न किया है। क्यों? **अद्रिभिः**=न विदारण के योग्य—स्थिर—शरीर, मन व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से। सोमरक्षा के द्वारा शरीर स्थिर—दृढ़ बनता है, मन स्थिर व वासनाओं से अनाक्रान्त बनता है तथा मस्तिष्क बड़ा परिशुद्ध व स्थिर विचारोंवाला होता है। एवं, 'सोमरक्षा' साधन है और 'शरीर, मन व मस्तिष्क की स्थिरता' साध्य।

भावार्थ—सोम के धारण के लिए मैं सदा कर्ममय रहूँ। यह सोम मेरे शरीर, मन व मस्तिष्क को स्थिर बनाएगा। सोम के धारण के लिए उसे सम्पूर्ण रुधिर में व्याप्त रखना आवश्यक है।

ऋषिः—**बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः॥** देवता—**पवमानः सोमः॥** छन्दः—**बृहती॥** स्वरः—**मध्यमः॥**

अदृश्य सोम

५१३. आ सोम स्वानो अद्रिभिस्तिरो वाराण्यव्यया।
जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः सदो वनेषु दध्रिषे॥ ३॥

हे सोम! तू **अद्रिभिः**=अविदारणीय—स्थिर शरीर, मन व मस्तिष्क के द्वारा **आ सु आनः**=सारे शरीर को उत्तमता से प्रीणत करनेवाला है। जब यह सोम सारे रुधिर में व्याप्त हो जाता है तब **तिरः**=अदृश्य हो जाता है। सारे शरीर में व्याप्त हुआ-हुआ सोम चाहे दिखता नहीं, परन्तु यह **वाराणि**=रोग का निवारण करता है। सोम के शरीर में स्थिर होने पर रोग आ ही नहीं पाते, आ भी जाएँ तो शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। **अव्यया**=इस सोम को प्रभु ने हमारे रक्षण के उद्देश्य से शरीर में रक्खा है। यह हमारे मन को वासनाओं से बचाता है। वार होने से शरीर को नीरोग रखता है और **'अ नि अय'** होने से मन को निर्व्यसन'।

जनः न=जैसे एक मनुष्य **पुरि**=नगरी में प्रवेश करता है उसी प्रकार यह सोम **चम्वोः विशत्**=द्यावा-पृथिवी में, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर में प्रवेश करता है। शरीर में प्रवेश कर यह उसे दृढ़ बनाता है, मस्तिष्क में प्रवेश करके उसे तेजस्वी बनाता है। **हरिः**=शरीर व मन के मलों का हरण करके यह उन्हें नीरोग व निर्मल करता है। **सदा उ**=सदा निश्चय से **वनेषु**=वननीय–सेवनीय उत्तम वस्तुओं का **दध्रिषे**=धारण करता है।

सोम मलों को दूर करता है—सेवनीय वस्तुओं को प्राप्त कराता है। 'घृत' का ऋणात्मक कार्य मलों का क्षरण है और धनात्मक कार्य 'दीप्ति प्राप्त कराना' (घृ क्षरणदीप्त्योः)। इसी प्रकार सोम का ऋणात्मक कार्य 'मलों का हरण' और धनात्मक कार्य 'वननीय वस्तुओं का प्रापण है'। बुराई को दूर करके अच्छाई को यह प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सोम मेरे शरीर को दृढ़ व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाए।

ऋषिः—**बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

आनन्दमयकोश की ओर

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
५१४. प्र सोम देववीतये सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा।
३ १ २र ३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अंशोः पयसा मदिरो न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम्॥ ४॥

हे **सोम**=सोम! तू **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए होता है (वीतिं=प्राप्ति)। **प्र**=अपने इस कार्य को तू प्रकर्ष के साथ करता है। तेरे संयम का परिणाम होता है कि संयमी पुरुष दिव्य गुणों से इस प्रकार **पिप्ये**=आप्यायित हो जाता है **न**=जैसे **सिन्धुः**=समुद्र **अर्णसा**=जल से। जैसे समुद्र जल से भरता चलता है, उसी प्रकार संयमी पुरुष दिव्य गुणों से पूर्ण होता जाता है। दिव्यता को भरता हुआ यह सोम धीरे-धीरे मनुष्य को देव ही बना डालता है। जीव महादेव का ही छोटा रूप बन जाता है—अंश (miniature) हो जाता है। इसी कारण सोम को अंशु=अंश बनानेवाला कहा गया है। **अंशोः**=इस सोम की **पयसा**=(पय गतौ) शरीर में सर्वत्र गति से **मदिरः न**=मनुष्य मदिर-सा (उन्मत्त-सा) हो जाता है। उसके जीवन में ऐसा उल्लास होता है कि सामान्य मनुष्य उसे स्वस्थ नहीं समझता। यह संयमी **जागृविः**=जागरित होता है। दुनिया सोई है—पर यह जागता है। 'मैं कौन हूँ?, यहाँ क्यों आया हूँ? मुझे कहाँ जाना है?' इत्यादि प्रश्न सामान्य मनुष्य के अन्दर उत्पन्न ही नहीं होते। इस संयमी के सामने ये प्रश्न सदा रहते हैं। यह उनको कभी भूलता नहीं, परिणामतः अपने को भी नहीं भूलता। यह योगी तो निरन्तर **मधुश्चुतं कोशम्**=मधु को टपकानेवाले—आनन्दमयकोश की **अच्छ**=ओर चला आ रहा है। सामान्य लोगों की बहिर्मुख यात्रा है, इसकी यात्रा अन्तर्मुख है, लोग बाहर जा रहे हैं—यह अन्दर जा रहा है। लोग विषयों की ओर तो ये विषयों से दूर आत्मा की ओर, क्योंकि विषयों में अशान्ति है, आत्मा में शान्ति।

भावार्थ—सोम के संयम से मुझमें दिव्य गुण उत्पन्न हों, मैं मदिर व जागृवि बनूँ, आनन्दमयकोश की ओर चलूँ।

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

नीरोगता व उल्लास

५१५. सोम उ ष्वाणः सोतृभिरधि ष्णुभिरवीनाम्।
अश्वयेव हरिता याति धारया मन्द्रया याति धारया॥ ५॥

सोमः=सोम **उ**=निश्चय से **सु आनः**=उत्तम प्राणशक्ति का संचार करनेवाला है। **सोतृभिः**=सोम के उत्पन्न करनेवालों से अथवा उत्पादक कार्य करनेवालों से और **अवीनां स्नुभिः**=रक्षणों के प्रवाहों से यह सोम **अधियाति**=ऊपर की ओर जाता है। वस्तुतः सोम की रक्षा का उपाय उत्पादक कार्यों में लगे रहना ही है। जो व्यक्ति अपने को आसुर भावनाओं से बचाते हैं, उन लोगों के अन्दर इस सोम का प्रवाह ऊर्ध्वगतिवाला होता है। एवं, सोम-रक्षा के उपाय दो हैं १. उत्पादक कार्यों में लगे रहना और २. वासनाओं से अपनी रक्षा करना।

यह सुरक्षित सोम **अश्वया**=सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त (अशू व्याप्तौ) **इव**=सी **हरिता**=सब रोगों व मलों का हरण करनेवाली **धारया**=धारणशक्ति से **याति**=शरीर में गति करता है। जब यह सोम सुरक्षित रहता है तब सारे रुधिर में व्याप्त होकर सब रोगों को दूर करनेवाला बनता है। जब यह सोम **मन्द्रया धारया**=उल्लासमयी धारणशक्ति से **याति**=संयमी को प्राप्त होता है तब मन भी स्वस्थ व सानन्द चलता है। 'शरीर में नीरोगता व मन में उल्लास' ये सोम के परिणाम हैं।

भावार्थ—सोम मेरे जीवन में नीरोगता व उल्लास भर दे, उसके लिए मैं उत्पादक कार्यों में लगा रहूँ और यथासम्भव वासनाओं से अपने को बचाऊँ।

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

चक्करों से दूर

५१६. तवाहं सोम रारण सख्य इन्दो दिवेदिवे।
पुरूणि बभ्रो नि चरन्ति मामव परिधीँरति ताँ इहि॥ ६॥

हे **सोम**=सोम! **अहम्**=मैं **तव**=तेरी **सख्ये**=मित्रता के निमित्त **रारण**=प्रभु के नामों का जप करता हूँ। वस्तुतः सोम की मित्रता का साधन प्रभु के नाम का जप ही है। प्रभु नाम स्मरण से मनुष्य वासना से बच पाता है और सोम की रक्षा में समर्थ होता है। हे **इन्दो**=मुझे शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **दिवे-दिवे**=प्रतिदिन **पुरूणि**=अनेक वासनाएँ **माम्**=मुझे **निचरन्ति**=नीचे दबाती हैं (trample upon me) हे **बभ्रो**=मेरा भरण करनेवाले सोम! तू मुझे **अव**=उनसे सुरक्षित कर। प्रभु-नाम का स्मरण मुझे वासनाओं से बचाएगा, वासनाओं से बचकर मैं सोम की रक्षा कर पाऊँगा और सोमरक्षा से ईर्ष्या-द्वेष आदि की भावनाएँ मुझे दबा न सकेंगी।

इस संसार में मनुष्य एक चक्र में फँस जाता है। कोई धन के, कोई विलास और कोई

प्रमाद के। ये उसका घेरा बन जाती हैं—इन्हें परिधियाँ कहते हैं। 'नेमि' परिधि का ही पर्याय है। 'हिरण्यनेमयः' वे पुरुष हैं जो धन के ही चक्कर में हैं। हे सोम! तू **तान् परिधीन्**=उन परिधियों को **अति इहि**=पार कर जा।

'दिवे-दिवे' शब्द की भावना प्रतिदिन है। सोमरक्षा के लिए भी संकल्प आवश्यक है। प्रतिदिन का संकल्प ही हमें सोमरक्षा में समर्थ बनाएगा।

भावार्थ—वासनाएँ मुझे दबाती हैं—संयमी बन मैं इनको कुचल दूँ।

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

पिशंग-रयि की प्राप्ति (प्रभु की वाणी का श्रवण)

५१७. मृज्यमानः सुहस्त्या समुद्रे वाचमिन्वसि।
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं पवमानाभ्यर्षसि॥ ७॥

यह सोम **सुहस्त्या**=शोभन कर्मों के द्वारा—कर्मों को कुशलता से करने के द्वारा **मृज्यमानः**=शुद्ध किया जाता है। मनुष्य कर्मों में लगा रहे और कर्मों को भी उत्तमता से करे, ऐसा करने से यह वासनाओं का शिकार नहीं होता और उसका सोम शुद्ध बना रहता है। हे सोम! शुद्ध रहता हुआ तू **समुद्रे**=(स-मुद) प्रसन्न, 'निर्मल' हृदयान्तरिक्ष में **वाचम्**=वाणी को **इन्वसि**=प्रेरित करता है। हृदयस्थ प्रभु की वाणी को हम तभी सुनते हैं जब हमारा मन सब प्रकार से निर्मल हो। इस वाणी के श्रवण-योग्य बनकर हे सोम! तू **रयिम्**=उस ज्ञानरूप सम्पत्ति की **अभि**=ओर **अर्षसि**=गति करता है जो १. **पिशंगम्**=हमें सब प्रकार से पापशून्य बनाती है (पिश्=free from sin)। ज्ञान हमारे सब कर्मों को पवित्र कर अपवित्रता को भस्म कर देता है। २. **बहुलम्**=यह ज्ञानरूप सम्पत्ति बहुल है—विशाल है ३. **पुरुस्पृहम्**=यह ज्ञानरूप सम्पत्ति मुझमें महती स्पृहा पैदा करनेवाली है—मेरे जीवन का लक्ष्य अत्यन्त ऊँचा बनता है। यह सोम **पवमानः**=पवित्र करनेवाला है। पवित्र करनेवाला होने से ही हमें यह हृदय की वाणी को सुनने योग्य बनाता है। कलुषित हृदय में प्रभु-वाणी सुनाई नहीं देती। प्रभु-वाणी को सुनने योग्य होने पर हमें वह ज्ञान प्राप्त होता है जो पापशून्य, विशाल व उच्चाकांक्षावाला है।

भावार्थ—मैं सोम के संयम से प्रभु की वाणी को सुननेवाला बनूँ।

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

उत्साह का संचार

५१८. अभि सोमास आयवः पवन्ते मद्यं मदम्।
समुद्रस्याधि विष्टपे मनीषिणो मत्सरासो मदच्युतः॥ ८॥

समुद्रस्य=प्रसादगुणयुक्त हृदय के **अधिविष्टपे**=स्थान में, अर्थात् निर्मल अन्तःकरण में **मनीषिणः**=मन को [illegible] **मत्सरासः**=उल्लास [illegible]वाले **मदच्युतः**=मद

व उल्लास का सारे समाज में संचार 'वर्षा' करनेवाले **सोमास:**=सोम की रक्षा के द्वारा सोम के पुञ्ज बने हुए **आयव:**=गतिशील मनुष्य **मद्यम्**=मद=मस्ती से युक्त **मदम्**=उल्लास को **अभिपवन्ते**=सर्वत्र प्रवाहित करते हैं।

'कामो हि समुद्र:' इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार समुद्र का अर्थ काम है। उस काम का स्थान है 'हृदय'। समुद्र शब्द उस हृदय के लिए भी प्रयुक्त होता है जो उल्लासमय है। इस उल्लासमय कामना के अधिष्ठान—हृदय में जो मनीषी लोग हैं, अर्थात् जो मन का पूर्ण संयम करनेवाले हैं—अतएव उल्लासमय हैं—वे औरों के जीवनों में भी उत्साह का संचार करते हैं। ये सोम के पुञ्ज सर्वत्र एक मस्तीवाले उल्लास को प्रवाहित करते हैं। ये न स्वयं निराश होते हैं न इनके सम्पर्क में आनेवाले लोग निराश हुआ करते हैं।

भावार्थ—हम संयमी बनें और हमारे जीवन में एक मस्ती हो।

ऋषि:—**बार्हस्पत्यो भरद्वाज:, कश्यप:, राहूगणो गोतमो:, भौमोऽत्रि:, विश्वामित्र:, जमदग्नि:, वसिष्ठ:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**बृहती**॥ स्वर:—**मध्यम:**॥

हमारा जीवन माधुर्यमय हो

५१९. पुनान: सोम जागृविरव्या वारै: परि प्रिय:।
त्वं विप्रो अभवोऽङ्गिरस्तम मध्वा यज्ञं मिमिक्ष ण:॥ ९॥

हे **सोम**=सोम! तू **पुनान:**=हमारे जीवनों को पवित्र करता है, जागृवि:=हमारी चेतना को स्थिर रखता है। संयमी पुरुष 'अपने स्वरूप व अपने जीवन के लक्ष्य' को कभी भूलता नहीं। इसी का यह परिणाम होता है कि वह कभी भी सांसारिक प्रलोभनों में नहीं फँसता। यह सोम **अव्या**=रक्षण के द्वारा, सब प्रकार के राग-द्वेषादि अशुभ भावों से तथा **वारै:**=सब रोगों के निवारण के द्वारा **परि-प्रिय:**=हमारे शरीर में सर्वत्र तृप्ति व कान्ति पैदा करनेवाला है (प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च)। जिस समय मनुष्य ईर्ष्या-द्वेषादि से दूर होता है तथा शरीर में किसी प्रकार का रोग नहीं होता, उस समय मनुष्य एक अद्भुत सन्तोष अनुभव करता है।

इस प्रकार हे सोम! **त्वम्**=तू **विप्र: अभव:**=विशेषरूप से मेरा पूरण करनेवाला है, मेरी सब प्रकार की न्यूनताओं को दूर करनेवाला है। तू **अङ्गिरस्तम:**=मुझे अत्यन्त मेधावी बनानेवाला है अथवा **'ये अङ्गारा आसन् ते अङ्गिरसोऽभवन्'** इस वाक्य के अनुसार तू हमें प्रज्वलित अङ्गारे के समान देदीप्यमान् व शक्तिसम्पन्न बनानेवाला है। प्रभु के 'वरेण्य भर्ग'=वरणीय तेज को प्राप्त करके जीव प्रभु के समान ही चमकने लगता है।

इतना तेजस्वी हो जाने के बाद सौन्दर्य इसी में है कि हमारा जीवन नम्र हो, अत: मन्त्र में कहते हैं कि हे सोम! तू **न:**=हमारे जीवन-यज्ञ को (पुरुषो वाव यज्ञ:) **मध्वा**=माधुर्य से **मिमिक्ष**=सिक्त कर दे। हमारा जीवन माधुर्यमय हो। हमारी कोई भी क्रिया किसी के लिए कटुता लिये हुए न हो।

भावार्थ—मैं तेजस्वी व मधुर बनूँ।

ऋषिः—भरद्वाजः कश्यपो गोतमोऽत्रिर्विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठः॥ देवता—पवमानः सोमः॥
छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

सहस्रधार सोम का शोधन

५२०. इन्द्राय पवते मदः सोमो मरुत्वते सुतः।
सहस्रधारो अत्यव्यमर्षति तमी मृजन्त्यायवः॥ १०॥

सोमः=सोम **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय के लिए **मदः**=उल्लासजनक होकर **पवते**=शरीर में प्रवाहित होता है। सोम के संयम के लिए इन्द्रियों को वश में करना आवश्यक है। रसना का संयम किये बिना क्या कभी ब्रह्मचर्य सम्भव है? 'इन्द्र' प्रातः, मध्याह्न व सायं तीनों सवनों में सोम का पान करता है, अर्थात् बाल्य, यौवन व वार्धक्य में सोम को सुरक्षित रखता है, इसलिए उसका जीवन मद=उल्लास लिये हुए है। यह सोम **मरुत्वते**=प्राणवाले के लिए **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। प्राणसाधना करनेवाला पुरुष ही इस सोम की ऊर्ध्वगति कर पाता है।

धारण किया हुआ यह सोम **सहस्रधारः**=हज़ारों प्रकार से धारण करनेवाला होता है। यह जीवात्मा की सभी शक्तियों को विकसित करनेवाला होता है। यह सोम **अव्यम्**=रक्षा करनेवाले पुरुष को **अति अर्षति**=अतिशयेन प्राप्त होता है। प्रतिदिन कण-कण संग्रह करके भी यह राशिभूत हो जाता है। **ईम्**=निश्चय से **तम्**=उस सोम को **आयवः**=गतिशील पुरुष **मृजन्ति**=शुद्ध करते हैं। गतिशीलता से वासना को स्थान नहीं मिलता और वासना के अभाव में यह सोम शुद्ध बना रहता है। शुद्धता के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है।

भावार्थ—मैं सहस्रधार सोम का शोधन करूँ। इसके लिए क्रियाशील बना रहूँ।

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

सब वरणीय वस्तुओं की प्राप्ति

५२१. पवस्व वाजसातमोऽभि विश्वानि वार्या।
त्वं समुद्रः प्रथमे विधर्म देवेभ्यः सोम मत्सरः॥ ११॥

हे **सोम**=सोम! तू **वाजसातमः**=सर्वाधिक शक्ति प्राप्त करानेवाला है, **विश्वानि वार्या**=हमें सब वरणीय वस्तुओं की ओर **अभि पवस्व**=ले-चल। सोम के संयम से शक्ति और सभी वरणीय वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। हे सोम! **त्वम्**=तू **समुद्रः**=उल्लास से युक्त है, **विधर्मन्**=विशेषरूप से धारण करनेवाली वस्तुओं में तू **प्रथमे**=प्रथम स्थान में स्थित है। धृति, क्षमा, दम आदि धर्म के सभी अङ्ग मनुष्य का धारण करनेवाले हैं, परन्तु उन सबका भी मूल यह 'सोम' ही है। जितने वरणीय गुण हैं, उन्हें प्राप्त करानेवाला यह सोम ही है। दैवी सम्पत्ति हमारा धारण करती है—दैवी सम्पत्ति को यह सोम ही हमें प्राप्त कराता है। एवं, मुख्य धारक यही है। हे सोम! **त्वम्**=तू **देवेभ्यः**=देवों के लिए—दैवी सम्पत्ति को प्राप्त व्यक्तियों के लिए **मत्सरः**=उल्लास देनेवाला है। वस्तुतः मन में दिव्यता होने पर जीवन उल्लासमय होता ही है। मैं सोमी बनकर जीवन में एक मस्ती से चलता हूँ, मुझे संसार निराशामय तथा उदास प्रतीत नहीं होता।

भावार्थ—मैं सोम-संयम के द्वारा शक्ति, वरणीय वस्तुओं, प्रसन्नता व विशेष उल्लास को प्राप्त करूँ।

ऋषि:—**बार्हस्पत्यो भरद्वाजः, कश्यपः, राहूगणो गोतमोः, भौमोऽत्रिः, विश्वामित्रः, जमदग्निः, वसिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

पवित्रता

५२२. पवमाना असृक्षत पवित्रमति धारया।
मरुत्वन्तो मत्सरा इन्द्रिया हया मेधामभि प्रयांसि च॥ १२॥

धारया=धारण के उद्देश्य से (हेतु में तृतीया) इसलिए कि सोम हमारे शरीर में ही संयत रहे, उसका नाश न हो, ये **पवमानाः**=पवित्र करनेवाले सोम **अतिपवित्रं असृक्षत**=बहुत पवित्र बनाये गये हैं। वासना-जनित उष्णता ही इन्हें अपवित्र करती है। इससे इन्हें शून्य रखने का प्रयत्न किया गया है। यदि सचमुच हम इन पवमानों को पवित्र बनाये रक्खें तो ये १. **मरुत्वन्तः**=हमारी प्राणशक्ति को बढ़ानेवाले होते हैं—ये हमें प्रशस्त प्राणोंवाला बनाते हैं। २. **मत्सराः**=ये हमारे अन्दर उल्लास को जन्म देते हैं। हमारा जीवन एक विशेष मस्तीवाला होता है। ३. **इन्द्रियाः**=ये सोम हमारी एक-एक इन्द्रिय को शक्ति-सम्पन्न बनाते हैं (इन्द्रियं=बलम्) ४. **हयाः**=(हय गतौ) सोम के संयम से हमारी गतिशीलता बढ़ती है, हम स्फूर्ति-सम्पन्न होते हैं। ५. **मेधाम् अभि**=ये सोम हमें मेधाबुद्धि की ओर ले-चलते हैं **च**=और ६. **प्रयांसि अभि**=इनके द्वारा हम इस योग्य बनते हैं कि 'काम-क्रोध-लोभ' का नियमन कर सकें। 'नियन्त्रित काम-क्रोध-लोभ' हमारे उत्थान का कारण होंगे। नियन्त्रित काम से ही वेदाधिगम व यज्ञादि कार्य हुआ करते हैं। नियन्त्रित क्रोध से हमें पाप के प्रति घृणा होती है और नियन्त्रित लोभ हमें सद्गुणों के अर्जन में सन्तुष्ट होकर कभी रुकने नहीं देता।

भावार्थ—मैं सोम को सदा पवित्र रखूँ, जिससे सोम मुझे पवित्र बनानेवाला हो।

चतुर्थी दशतिः

ऋषि:—**उशनाः काव्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

कामयमान क्रान्तदर्शी

५२३. प्र तु द्रव परि कोशं नि षीद नृभिः पुनानो अभि वाजमर्ष।
अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोऽच्छा बर्ही रशनाभिर्नयन्ति॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'उशना काव्य' है—यह कामनावाला है, परन्तु क्रान्तदर्शी है। क्रान्तदर्शी होने से ही इसकी कामना पवित्र है। यह सोम को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे सोम! **तु**=नष्ट होने के बजाय तू **प्र-द्रव**=प्रकृष्ट गतिवाला हो—तेरी अधोगति न होकर ऊर्ध्वगति हो और **कोशं परि निषीद**=इस पञ्चकोशमय शरीर में ही सर्वतः स्थित हो। **नृभिः**=मनुष्यों से **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ तू **वाजम्**=वाज को **अभि अर्ष**=लक्ष्य करके गतिवाला हो। अन्नमयकोश में तू गति (वाज गतौ) प्राप्त करा, प्राणमयकोश में शक्ति

(वाज=power), मनोमयकोश में त्याग की भावना (वाज=sacrifice) तथा विज्ञानमयकोश में ज्ञान (वाज=ज्ञान) देनेवाला हो। **अश्वम्**=शक्तिशाली घोड़े की **न**=(इव) भाँति **वाजिनम्**=शक्तिशाली **त्वा**=तुझे **मर्जयन्तः**=शुद्ध करते हुए **रशनाभिः**=लगामों व संयमों के द्वारा **बर्हिः अच्छ**=हृदयान्तरिक्ष की ओर ले-जाते हैं। घोड़े को लगाम से उद्दिष्ट स्थान पर ले-जाया जाता है। इसी प्रकार 'वाक्, मन व कर्म' के संयमों से सोम को ऊर्ध्वगतिवाला किया जाता है। यह सोम हमें हृदय में प्रभु-दर्शन के योग्य बनाता है। सोम की रक्षा संयम से ही सम्भव है। 'रशनाभिः' यह बहुवचन उन्हीं वाणी, शरीर व मन के संयम का उल्लेख कर रहा है। इस संयम के लिए ही कामना को शुद्ध रखना आवश्यक है और कामना की शुद्धि बिना क्रान्तदर्शित्व सम्भव नहीं, अतः 'उशना काव्य' ही सोम की ऊर्ध्वगति कर पाता है।

भावार्थ—मैं संयम से सोम को ऊर्ध्वगतिवाला करूँ।

ऋषिः—**वृषगणो वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

धार्मिक जीवन

५२४. प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति।
महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन्॥ २॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'वृषगणो वासिष्ठ' है—(वृष=धर्म) जिसका जीवन धर्ममय है, इतना धर्ममय कि मानो धर्म ही शरीर हो गया है—वह धर्म का पुञ्ज है। धर्मात्माओं में विशेषरूप से उसकी गिनती होती है। वह उत्तम वशी है—अथवा शरीर में सर्वोत्तम निवास करनेवाला है। इस व्यक्ति के जीवन में हम निम्न बातें देखते हैं—

१. **उशना इव काव्यं प्रब्रुवाणः**=रुचिपूर्वक प्रभु के अजरामर काव्य—वेद का उच्चारण करता है। मनुष्यकृत काव्य समय पाकर मध्यम दीप्तिवाले हो जाते हैं। यह वेदरूप काव्य अजरामर है—इसकी दीप्ति शाश्वत है। धर्म के ज्ञान का यही स्रोत है। वेद में जिसकी प्रेरणा दी गयी है वही तो धर्म है **चोदना लक्षणो धर्मः**। यह धार्मिक जीवनवाला व्यक्ति वेद-पाठन को अपना प्रथम धर्म समझता है।

२. **देवः**=वेद का स्वाध्याय इसके जीवन में पवित्रता लाता है। अपने जीवन में दिव्य गुणों को बढ़ाता हुआ यह 'देव' बन जाता है।

३. **देवानाम्**=सूर्यादि ३३ देवों के—सभी प्राकृतिक पदार्थों के **जनिमा**=प्रादुर्भाव व विकास को **विवक्ति**=यह विशेषरूप से उच्चारित करता है। इन पदार्थों के विकास में यह उस निर्माता प्रभु की महिमा देखता है। यह विज्ञान उसे प्रभु की सत्ता में दृढ़ विश्वासी बनानेवाला होता है।

४. **महिव्रतः**=यह अपने जीवन में किसी-न-किसी महान् व्रत को लेकर चलता है। व्रती जीवन ही वस्तुतः धर्ममय जीवन हुआ करता है। बिना व्रतग्रहण के हम कभी धार्मिक नहीं बन सकते।

५. **शुचिबन्धुः**=यह पवित्र धनवाला होता है (बन्धु=धनम्—नि० २.१०)। सबसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक धर्म 'शुचिबन्धुत्व' ही है। यजुर्वेद में अन्तिम निर्देश 'नय सुपथा राये' ही है—धन को उत्तम मार्ग से कमाना। मनु ने इसी को शुचिता माना है—**योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न**

मृद्वारि शुचिः शुचिः।

'शुचिबन्धु' शब्द का अर्थ पवित्र मित्रोंवाला भी है। वस्तुत: जीवन के निर्माण में मित्रों का बड़ा हाथ होता है। अच्छे मित्र जीवन को अच्छा बना देते हैं और बुरे बुरा।

६. **पावकः**=यह जिनके भी सम्पर्क में आता है, उनके जीवन को पवित्र बना डालता है। अग्नि में पड़कर सोना निखर उठता है, इसके सम्पर्क में आकर लोगों का जीवन पवित्र हो जाता है।

७. **पदा वराहः**=गतिशीलता के द्वारा यह सुन्दर दिनवाला (वर+अहन्) होता है। **'सुदिनत्वमह्नाम्'** दिन की भद्रता जीवन का कितना श्रेष्ठ द्रविण है।

८. यह **रेभन्**=स्तुति करता हुआ **अभ्येति**=उस प्रभु की ओर चलता है। सदा प्रभु के स्मरण से इसके सामने लक्ष्य-दृष्टि बनी रहती है, अत: यह मार्ग से विचलित न होकर प्रभुरूप लक्ष्य की ओर बढ़ता चलता है।

भावार्थ—वेदाध्ययन को प्राथमिक धर्म बनाकर मैं अपने जीवन को धर्म-प्रधान बनाऊँ।

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु के मार्ग पर

५२५. तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः॥ ३॥

'पराश्शृणाति इति पराशरः'=शत्रुओं को सुदूर नष्ट करनेवाला शाक्त्य=शक्ति का पुत्र, अर्थात् शक्ति का पुञ्ज यह ऋषि **वह्निः**=सब वेदवाणियों का धारण करनेवाला **तिस्रः वाचः**=ऋग्, यजुः, सामरूप तीनों वाणियों को **प्र ईरयति**=प्रेरित करता है। स्वयं उनका निरन्तर उच्चारण करता है और लोगों में उनका प्रचार करता है, लोगों को ज्ञान-कर्म व उपासना तीनों का बड़ा उत्तम उपदेश देता है। **ब्रह्मणः**=उस प्रभु को **ऋतस्य धीतिम्**=सत्य का धारण करनेवाली **मनीषाम्**=बुद्धि को, ज्ञान को **प्रेरयति**=प्रचारित करता है। प्रभु से दी हुई यह वेदवाणी सत्य का ही धारण करनेवाली है—यह मनुष्य को नियमित जीवन बिताने का (ऋत का) उपदेश देती है। यह पराशर स्वयं उस वेदवाणी का धारण करके औरों को उसका उपदेश देता है।

१. **गावः**=वेदवाणियाँ **गोपतिम्**=इन्द्रियों के पति को (गावः=इन्द्रियाणि) **पृच्छमानाः**=पूछती हुई **यन्ति**=प्राप्त होती हैं। जिस प्रकार कोई व्यक्ति पूछते-पूछते किसी के घर जा पहुँचता है, उसी प्रकार ये वेदवाणियाँ जितेन्द्रिय के समीप पहुँच जाती हैं। दूसरे शब्दों में, यदि मैं जितेन्द्रिय बनूँगा तो ये वेदवाणियाँ मुझे प्राप्त होंगी, इनका अर्थ समझने के लिए जितेन्द्रिय होना आवश्यक है। **मतयः**=यह मननशील मनुष्य **वावशानाः**=प्रभु-प्राप्ति की प्रबल इच्छावाले **सोमं यन्ति**=सोम नामक प्रभु को प्राप्त करते हैं। प्रभु सोम हैं, सोम बनकर ही मनुष्य भी उसे प्राप्त करनेवाला होगा।

प्रभु की प्राप्ति के मार्ग में विघ्न तो पग-पग पर आएँगे ही। यह पराशर उन विघ्नों को दूर करता हुआ प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता चलता है। यह शाक्त्य है—कोई भी विघ्न ऐसा नहीं जिसे यह अपनी शक्ति से दूर न कर पाए।

भावार्थ—मैं जितेन्द्रिय बनूँ, जिससे वेदवाणियों का आश्रय होऊँ।

ऋषि:—**वसिष्ठो मैत्रावरुणि:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:**॥

इस घर से उस घर में

५२६. अस्य प्रेषा हेमना पूयमानो देवो देवेभिः समपृक्त रसम्।
सुतः पवित्रं पर्येति रेभन् मितेव सद्म पशुमन्ति होता ॥ ४ ॥

'वसिष्ठ मैत्रावरुणि' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है—उत्तम निवासवाला अथवा वशियों में श्रेष्ठ जो प्राणापान की साधना करता है। यह **अस्य प्रेषा**=इस प्रभु की प्रेरणा से और **हेमना**=(हि गतौ) गतिशीलता—क्रियाशीलता के द्वारा **पूयमानः**=अपने जीवन को पवित्र बनाता हुआ **देवः**=मनुष्य से देव बन जाता है। जीवन की पवित्रता के लिए दो साधन हैं, १. प्रभु की प्रेरणा को सुनना और २. क्रियाशील जीवन बिताना।

इस मार्ग पर चलने से पवित्र और पवित्रतर होता हुआ यह देव बनता है और **देवेभिः**=दिव्य गुणों के द्वारा **रसम्**=(रसो वै सः) उस आनन्दमय प्रभु के **समपृक्त**=सम्पर्क में आता है। देवो 'देवेभिरागमत्' (ऋ०) वे प्रभु देव हैं--देवाधिदेव हैं। वे दिव्य गुणों से ही हमें प्राप्त होते हैं।

सुतः=प्रेरणा को प्राप्त हुआ—हुआ यह व्यक्ति **रेभन्**=सदा उस प्रभु का स्तवन करता हुआ **पवित्रम्**=उस पूर्ण पवित्र प्रभु को **पर्येति**=सर्वथा प्राप्त होता है। उसी प्रकार **इव**=जैसे **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **मिता**=मापकर—स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से आवश्यक लम्बाई—चौड़ाई से बनाये हुए **पशुमन्ति**=गौ आदि (अश्व, अजा, अवि) पशुओंवाले **सद्म**=घरों में प्रवेश करता है।

यहाँ उपमा के द्वारा घरों के विषय में दो बातें कही गयी हैं—१. वे ठीक माप से बने हुए हों तथा २. गौ इत्यादि उत्तम पशुओं की उसमें स्थिति हो। **'उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः'** घर में गौवें, बकरी व भेड़ें हों। **'स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते'**—गौओं और घोड़ों से हमारे घर शान्ति की वृद्धिवाले हों। एवं, घरों का संकेत करके घर में रहनेवालों के लिए 'होता' शब्द से बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही गयी है कि वे दानपूर्वक अदन करनेवाले हों—यज्ञशेष खानेवाले हों।

यह होता का जीवन भी तो प्रभु—प्रेरणा को सुनने पर ही बनेगा। **पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्**=शक्तिशाली होता हुआ याचक के लिए दे ही, यही तो प्रभु की प्रेरणा है। होता बनकर यह इस घर को बड़ा सुन्दर बनाता है और परिणामतः इस जीवन की समाप्ति पर इस घर से यह उस प्रभुरूप वास्तविक घर में प्रवेश करता है।

भावार्थ—मैं प्रभु—प्रेरणा को सुनूँ तथा पवित्र बनकर पवित्र प्रभु को प्राप्त करूँ। इस घर से उस घर में प्रवेश करूँ। मेरा वास्तविक घर तो प्रभु ही है।

ऋषि:—**प्रतर्दनो दैवोदासि:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:**॥

सोम हमें मनुष्य ही नहीं अपितु देव बनाता है

५२७. सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥ ५ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्र-तर्दन' है—प्रकर्षेण विघ्नों का हिंसन करनेवाला। यह 'दैवोदासि' है—देव का—उस प्रभु का अनन्य दास है, भक्त है। यह प्रभु-भक्ति के द्वारा संयमी जीवनवाला बनता है। इसके जीवन में **सोमः**=सोम—वीर्यशक्ति—Vitality **पवते**=प्रवाहित होती है और उसके जीवन को पवित्र बनाती है। यह **मतीनाम्**=मननशक्तियों की **जनिता**=उत्पन्न करनेवाली होती है। वस्तुतः इसके अभाव में मनुष्य पशुओं की भाँति पश्यति=देखता है—कार्यों को विचारपूर्वक नहीं करता। उपाय-अपाय को सोचकर कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता। '**मत्वा कर्माणि सीव्यतीति मनुष्यः**' इस यास्कवचन के अनुसार सोम मनुष्य को मनुष्य बनाता है। **जनिता दिवः**=यह सोम दिव्यता को जन्म देनेवाला होता है, मनुष्य से भी ऊपर उठाकर यह हमें देव बनाता है। हमारा जीवन प्रकाशमय होता है। देव बनने का मुख्य अभिप्राय यह है कि **जनिता पृथिव्याः**=यह सोम हमारे अन्दर विस्तार (प्रथ-विस्तारे) उत्पन्न करता है। हम संकुचित मनोवृत्ति से नहीं चलते। एवं, मननशीलता, दिव्यता—प्रकाश और विस्तार—उदारता ये गुण समुदित होकर हमारे वैयक्तिक जीवन को बड़ा सुन्दर बना देते हैं।

सामाजिक क्षेत्र में सोम उसमें **जनिता अग्नेः**=अग्नि को जन्म देता है—उसे उत्साहवाला बनाता है। समाज में उत्साही व्यक्ति ही आशा व उन्नत भावनाओं का संचार करता है। उन्नत व उत्साहमयी भावनाओं के साथ यह सोम **जनिता सूर्यस्य**=गतिशीलता को जन्म देनेवाला होता है। सूर्य की भाँति इसे अनथक श्रमशील बनाता है। इन क्रियाओं में विघ्नों का आना स्वाभाविक है। यह सोम इसे इन विघ्नों का ध्वंस करनेवाला बनाता है **जनिता इन्द्रस्य**=इसके अन्दर इन्द्रतत्त्व का विकास करता है। 'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य'=सब बल के कार्य इन्द्र के हैं। इन्द्र असुरों का संहार करता है। सोम के द्वारा हम भी इन्द्र बनते हैं और विघ्नरूप आसुर वृत्तियों का विनाश करनेवाले होते हैं। **उत**=और यह सोम **विष्णोः जनिता**=विष्णु का जन्म देनेवाला है। 'विष्णु' धारण की देवता है। संयमी पुरुष व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र व संसार का धारण करनेवाला होता है। 'उत्साह, गतिशीलता, शक्ति व धारक वृत्ति' इन सामाजिक गुणों को लेकर यह प्रतर्दन सचमुच लोकसंग्रह करनेवाला होता है।

भावार्थ—सोम मुझे वैयक्तिक व सामाजिक उन्नति के योग्य बनाये।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

क्या पाप क्षमा होते हैं? वरुण न कि सिन्धु, पाशोंवाला, न पसीजनेवाला

५२८. अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधामङ्गोषिणमवावशन्त वाणीः।
वना वसानो वरुणो न सिन्धुर्वि रत्नधा दयते वार्याणि॥ ६॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि मैत्रावरुणी वसिष्ठ कहता है कि—**वाणीः**=वेदवाणियाँ (वाणीः वाण्यः) **अवावशन्त**=पुकार-पुकार कर कह रहीं हैं कि **अभि**=उस प्रभु की ओर चलो जो १. **त्रिपृष्ठम्**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों का आधार है—जिस प्रभु की भक्ति से त्रिविध उन्नति सम्भव होती है, २. **वृषणम्**=जो हमारे सब कोशों में शक्ति को प्राप्त करानेवाला है। अन्नमयकोश में तेजस्, प्राणमयकोश में वीर्य, मनोमयकोश में ओज व बल, विज्ञानमयकोश में मन्यु=ज्ञान तथा आनन्दमयकोश में सहस् देनेवाले प्रभु ही हैं। ३. **वयोधाम्**=प्रभु आयु के धारण करनेवाले हैं—दीर्घजीवन प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु की उपासना का अभाव ही असमय

मृत्यु का कारण बनता है। ४. **अङ्गोषिणम्**=वे प्रभु दीर्घ जीवन ही प्राप्त नहीं कराते, वे दीर्घ जीवन के साथ **अंगूष**=आघोषवाले हैं। हृदयस्थरूप से हमें वेदवाणियों का ज्ञान दे रहे हैं। यह हमारा कितना दुर्भाग्य है कि हम उस वेदवाणी को सुनते नहीं। वे प्रभु तो उन वेदों के द्वारा ५. हमें निरन्तर **वना वसानः**=ज्ञान की रश्मियाँ प्राप्त करा रहे हैं (वन=रश्मि—नि० १-५-८)। हमें क्या करना है, किस बात से निवृत्त होना है, इसका ज्ञान प्रभु दे रहे हैं। वेद वस्तुतः सृष्टि के प्रारम्भ में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान देने के लिए ही तो उच्चरित हुआ था। अब यदि मैं अध्ययन न करके कर्त्तव्याकर्त्तव्य को नहीं जान पाता और अकर्त्तव्यों में ग्रसित हो जाता हूँ तो मुझे यह न भूलना चाहिए कि वे प्रभु ६. **वरुणः**=पाशी हैं—**'ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः। छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु।'** वरुण के ये पाश अनृत की ओर जानेवाले को जकड़ते हैं, इनसे तो सत्यवादी ही बच सकते हैं। यदि मैं यह सोचूँ कि प्रार्थना व विनती के द्वारा मैं पाप क्षमा करा लूँगा तो यह मेरा भ्रम है। वे प्रभु ७. **न सिन्धुः**=(स्यन्द-प्रस्रवणे) पिघलनेवाले नहीं। मेरी प्रार्थना से उनका हृदय पसीजेगा नहीं। वे प्रभु कुछ क्रूर नहीं हैं। यदि मैं कर्त्तव्य का पालन करूँगा तो वे प्रभु ८. **विरत्नधा**=विशेष-विशेष रत्नों को धारण करानेवाले हैं। सब रमणीय वस्तुओं के देनेवाले हैं। दण्ड देते हुए वे 'रुद्र' प्रतीत होते हैं, वास्तव में हैं तो वे 'शिव' ही। इन दण्डों को भी वे हमारे कल्याण के लिए ही देते हैं। ९. वे **वार्याणि दयते**=सब वरणीय (desirable) वस्तुएँ हमें प्राप्त कराते हैं। पाप क्षमा नहीं, परन्तु पापमोचन तो वे प्रभु ही कराते हैं। दण्ड आदि की व्यवस्था से वे हमारी पाप-प्रवृत्ति को ही दूर कर देते हैं। निष्पाप होकर हम 'वसिष्ठ' बनते हैं—उत्तम निवासवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु वरुण हैं, न कि सिन्धु। पाप-क्षमा न कर वे पापमोचन की व्यवस्था करते हैं।

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

हृदय में, मस्तिष्क में

१ २ ३१ २ ३ १ २र ३१२ ३ १ २र ३ २

५२९. अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मं जनयन्प्रजा भुवनस्य गोपाः।

१ २ ३ २३ २ ३ २ ३ १ २ ३१ २र ३ १ २र

वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे स्वानो अद्रिः॥ ७॥

समुद्रः=सदा आनन्द के साथ निवास करनेवाला प्रभु **प्रथमे**=इस अत्यन्त विस्तृत **विधर्मन्**=भौतिक आधार से शून्य विस्तृत अन्तरिक्ष में (अस्कम्भाने=विधर्मन्=खम्भे से रहित) **प्रजाः**=प्रजाओं को **जनयन्**=जन्म देता हुआ तथा **भुवनस्य गोपाः**=सब भुवनों का रक्षक **अक्रान्**=सबको लाँघकर विद्यमान है (अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्)। वस्तुतः यह अन्तरिक्ष कितना विशाल है? इसकी तो कोई सीमा ही प्रतीत नहीं होती। फिर इतना विशाल यह लोक बिना किसी भौतिक स्तम्भ के अपनी स्थिति में विद्यमान है। सचमुच ही ये आश्चर्य की बात है। लोक-लोकान्तर इसके आधार से हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि यह किसके आधार से है? इसका आधार वस्तुतः वही सब प्रजाओं को जन्म देनेवाले तथा सब लोकों के रक्षक प्रभु ही हैं, जो इस सम्पूर्ण सृष्टि को लाँघकर भी विद्यमान् हैं।

वह परमात्मा **वृषा**=शक्तिशाली है, हमें प्रत्येक कोश को शक्ति देनेवाला है। हमपर

शक्तियों की वर्षा करता हुआ वह **बृहत् सोमः**=सारे संसार का वर्धन करनेवाला परमात्मा **पवित्रे**=हमारे पवित्र हृदयों में तथा **अधिसानो अव्ये**=मेरु पर्वत के शिखररूप सुरक्षित स्थान (मस्तिष्क) में **वावृधे**=बढ़ता है। प्रभु का दर्शन हृदय व मस्तिष्क में होता है। हृदय आत्मा का निवासस्थान है तो मस्तिष्क कार्यालय है। आत्मा उस प्रभु का दर्शन इन दोनों स्थानों पर ही कर सकता है।

वे प्रभु **स्वानः**=हृदयस्थरूप से उच्च स्वर से वेदमन्त्रों का आघोष कर रहे हैं। वे 'अङ्गोषिन्' हैं। वे प्रभु **अद्रिः**=अविदारणीय, अविनश्वर हैं। उनका यह वेद-ज्ञान भी अनश्वर है। इसके अनुसार हम अपना जीवन बनाएँगे तो वे प्रभु हमारे लिए शिव-ही-शिव हैं, अन्यथा हमें उनके रुद्ररूप का अनुभव करना होता है। 'प्रार्थना से हम पाप क्षमा करा लेंगे' ऐसा तो हमें भ्रम होना ही नहीं चाहिए। वे प्रभु तो अद्रि हैं, अपने न्याय-मार्ग से किसी भी प्रकार विचलित नहीं किये जा सकते।

भावार्थ—उस प्रभु की वेदवाणी को सुननेवाला व्यक्ति सब वासनाओं को नष्ट करनेवाला 'पराशर' तथा शक्ति-सम्पन्न 'शाक्त्य' होता है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शुद्ध करनेवाली गौ

५३०. कनिक्रन्ति हरिरा सृज्यमानः सीदन् वनस्य जठरे पुनानः।
नृभिर्यतः कृणुते निर्णिजं गामतो मतिं जनयत स्वधाभिः॥ ८॥

आसृज्यमानः हरिः=उत्पन्न किया जाता हुआ वह अज्ञान का हरण करनेवाला परमात्मा **वनस्य**=(वन् संभक्तौ) उत्तम भक्त के **जठरे**=मध्य में, हृदय में **सीदन्**=निवास करता हुआ **पुनानः**=उसे पवित्र बनाने के हेतु से (हेतौ शानच्) **कनिक्रन्ति**=वेदशब्दों का पुनः-पुनः उच्चारण करता है। प्रभु तो अजरामर हैं, सर्वव्यापक हैं। हाँ! अज्ञानियों के लिए उनका होना न होना बराबर होता है, परन्तु जब कभी हमारे ज्ञान के चक्षु कुछ खुलते हैं तब वे प्रभु मानो हमारे लिए भी उत्पन्न-से हो जाते हैं। वे तो सदा से ही थे, परन्तु हमारे लिए तो आज ही हुए। ये प्रभु अपने भक्तों के हृदय में निवास करते हैं। उन्हें और अधिक पवित्र बनाने के लिए वेदशब्दों का पुनः-पुनः उच्चारण कर उन्हें ज्ञान-जल द्वारा शुद्ध कर डालते हैं। ये प्रभु **नृभिः**=अपने को आगे ले चलनेवाले इन भक्तों से **यतः**=वश में किये हुए उनके हृदयों में **निर्णिजं गाम्**=निश्चय से पूर्ण शुद्ध करनेवाली इस वेदवाणीरूप गौ को **कृणुते**=करते हैं। जो भी मनुष्य जितेन्द्रिय बन अनन्यमना होकर प्रभु का स्मरण करते हैं वे प्रभु को अपने वश में करनेवाले बनते हैं। भक्त प्रभु के सिवाय किसी से प्रेम नहीं करता, तो प्रभु भी भक्तों को अत्यन्त प्रेम करनेवाले क्यों न हों? वेद कहता है कि मनुष्यो! प्रभु तुम्हारे हृदय में है। तुम्हें चाहिए कि—

अतः=इस प्रभु से **स्वधाभिः**=आत्मार्पण के द्वारा **मतिम्**=बुद्धि व ज्ञान को **जनयत**=उत्पन्न करो। 'अतः' यह पञ्चम्यन्त प्रयोग नियम से विद्या पढ़ने में होता है। हमें बिना अनध्याय के उस महान् गुरु के चरणों में उपस्थित होना है। 'स्वधा' शब्द पितरों के प्रति अर्पण के लिए आता है—'पितृभ्यः स्वधा'। हमें इस प्रभु को पिता समझते हुए निःशंकभाव से—बिना

झिझक के—शतशः प्रश्न करते हुए ज्ञान को बढ़ाना चाहिए। ज्ञान 'परिप्रश्नेन' (all round
questioning) शतशः प्रश्नों से ही तो बढ़ता है। हम ज्ञान के पात्र उतने—उतने अधिक होते
जाएँगे जितना—जितना कि हमारा समर्पण पूर्ण होगा। कण—कण करके हमारा ज्ञान बढ़ता ही
चलेगा। हम 'प्रस्कण्व' मेधावी होंगे।

भावार्थ—मैं अपने हृदय में उस प्रभु की सत्ता का अनुभव करूँ और उनके प्रेम का
पात्र बनकर ज्ञानी बनूँ।

ऋषिः—**उशनाः काव्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

पवित्र हृदय में प्रभु

५३१. एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमो वृषा वृष्णः परि पवित्रे अक्षाः।
सहस्रदाः शतदा भूरिदावा शश्वत्तमं बर्हिरा वाज्यस्थात्॥ ९॥

हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के
एषः=यह **स्यः**=समीप—से—समीप, दूर—से—दूर वर्त्तमान **सोमः**=प्रभु हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के
अधिष्ठाता जीव! १. **मधुमान्**=रसमय है। प्रभु को अपनाने पर तेरा जीवन रसमय होगा।
अद्भुत आनन्द प्राप्त होगा जो वाणी का विषय नहीं है। 'एतत्' शब्द समीप का और 'तत्'
दूर का वाचक है। वे प्रभु सर्वत्र हैं, अधिक—से—अधिक दूर और अधिक—से—अधिक समीप।
२. **वृषा**=वे प्रभु शक्तिशाली हैं, हमें सब कोशों में शक्तिशाली बनानेवाले हैं और **वृष्णः**=
शक्तिशाली पुरुष के **पवित्रे**=पवित्र हृदय में **परि अक्षाः**=व्याप्त होते हैं। शक्ति मनुष्य को
पवित्र बनाती है—पवित्र हृदय प्रभु का निवासस्थान होता है।

अपने हृदय को पवित्र बनाकर मैं उस प्रभु का निवास—स्थान बनता हूँ तो वे प्रभु ३.
सहस्रदाः=(स+हस्+दा) मुझे आनन्दमय जीवन प्राप्त कराते हैं, ४. **शतदाः**=पूरे सौ वर्ष का
दीर्घ जीवन देते हैं और ५. **भूरिदावा**=आशा से भी अधिक धन (भूरि=more) प्राप्त करानेवाले
हैं। संक्षेपतः उपासना से आनन्द, दीर्घजीवन व ऐश्वर्य—सभी उपलब्ध होते हैं। उपासना के
लाभ देखकर कौन उस प्रभु का उपासक न बनेगा? 'काव्य'=क्रान्तदर्शी—वस्तुओं के वास्तविक
स्वरूप को देखनेवाला व्यक्ति तो उस प्रभु की अवश्य कामना करेगा। ऐसी कामना करनेवाला
यह 'उशनाः'—कहलाता है। यह कहता है कि **आवाजी**=मुझे प्रत्येक कोश में शक्ति देनेवाला
वह प्रभु **शश्वत्तमम्**=सदा **बर्हिः**=मेरे पवित्र हृदय में, जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर
दिया गया है, **अस्थात्**= ठहरे—विराजमान हो। मैं प्रभु के सामीप्य से सामीप्य मुक्ति का
आनन्द तो अनुभव करूँ ही।

भावार्थ—वे प्रभु मेरे जीवन को रसमय कर देते हैं। मैं उन्हीं की कामना करनेवाला
उशना बनूँ।

ऋषिः—**प्रतर्दनो दैवोदासिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दिव्यता का अवतरण

५३२. पवस्व सोम मधुमाँ ऋतावापो वसानो अधि सानो अव्ये।
अव द्रोणानि घृतवान्ति रोह मदिन्तमो मत्सरः इन्द्रपानः॥ १०॥

वीर्य=vitality के वाचक सोम का सदा आरोहण ही होना चाहिए (ऊर्ध्वगमन) न कि अवरोहण। प्रस्तुत मन्त्र में अवरोहण की प्रार्थना है, अतः स्पष्ट है कि यहाँ 'सोम' से परमात्मा का ग्रहण है। इस परमात्मा का हम अपने में अवरोहण कर पाते हैं, तो कहते हैं कि—

१. हे सोम! **पवस्व**=हमारे जीवनों को पवित्र कीजिए। २. **मधुमान्**=आप रस हैं—हमारे जीवन को भी रसमय—माधुर्यमय बना दीजिए, ३. **ऋतावा**=प्रभु 'ऋत' का अवन रक्षण करनेवाले हैं। प्रभु का उपासक प्रत्येक क्रिया को ऋत=ठीक ही करता है—उसका जीवन मर्यादावाला होता है। ४. **अधि सानो अव्ये**=मेरुपर्वत के (रीढ़ की हड्डी के) शिखर पर सुरक्षित स्थान में—अर्थात् मस्तिष्क में **अपो वसानः**=यह कर्मों को धारण करनेवाला है। अभिप्राय यह है कि प्रभु का उपासक सदा सोचकर कर्म करता है।

इस प्रकार प्रभु की उपासना से हमारे जीवन में पवित्रता, माधुर्य, मर्यादा तथा विवेकपूर्वक क्रियाशीलता आदि गुणों का विकास होता है। इसी से हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! आप **द्रोणानि घृतवन्ति अवरोह**=हमारे (द्रु अभिगतौ) सदा क्रियाशील—क्रिया के द्वारा लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए, मन में मालिन्य के क्षरण—विनाशवाले तथा मस्तिष्क में दीप्तिवाले (घृ=क्षरण+दीप्ति) शरीर में अवतीर्ण होओ। यदि हम ऐसा कर सके तो वे प्रभु हमारे लिए १. **मदिन्तमः**=अत्यन्त आनन्दमय होते हैं—हमें आनन्द की अद्भुत अनुभूति प्राप्त करानेवाले हैं। २. **मत्सरः**=आनन्दपूर्वक क्रिया करनेवाले वे प्रभु हमें भी कर्म में श्रम नहीं अपितु विश्राम का अनुभव कराते हैं। हमें कर्म में आनन्द आने लगता है। ३. **इन्द्रपानः**=वे प्रभु जितेन्द्रिय के रक्षक भी तो हैं। हम प्रभु की रक्षा के पात्र बनते हैं। प्रभु से सुरक्षित यह इन्द्र सभी आसुर वृत्तियों को कुचलता हुआ प्रतर्दन कहलाता है और प्रभु का अनन्य भक्त होने से यह 'दैवो-दासि' है।

भावार्थ—मैं अपने में प्रभु की दिव्यता का अवतरण करूँ। उसके लिए गति—नैर्मल्य व दीप्ति को सिद्ध करूँ।

पञ्चमी दशतिः

ऋषिः—**प्रतर्दनः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु सेनानी हैं—मैं उनका सैनिक

१ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५३३. प्र सेनानीः शूरो अग्रे रथानां गव्यन्नेति हर्षते अस्य सेना।
३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
भद्रान्कृण्वन्निन्द्रहवान्त्सखिभ्य आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते॥ १॥

'प्रतर्दन' प्रभु का अपने में अवतरण करता है और प्रभु अब उसके सेनापति बनते हैं। तब वह **सेनानीः**=सेनापति **शूरः**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं। जीव भी प्रभु से प्रेरित होकर ही शत्रुओं का हनन किया करता है। **रथानां अग्रे**=रथों के अग्रभाग में वह सेनानी स्थित है। शरीर ही रथ है, इसका उत्तमाङ्ग सिर है। मस्तिष्क में स्थित हुए-हुए ये प्रभु **गव्यन्**=वेदवाणियों का उच्चारण करते हुए **प्रएति**=गति कर रहे हैं। प्रभु ज्ञान देते हैं—जीव उसकी आज्ञा-अनुसार क्रियाशील होता है।

उस प्रभु के आह्वान के अनुसार चलती हुई **अस्य सेना**=प्रभु की यह सेना **हर्षते**=हर्ष का अनुभव करती है। प्रभु के सैनिक आनन्द में न होंगे तो कौन आनन्द में होगा? प्रेयमार्ग प्रारम्भ में चमकता हुआ उत्तरोत्तर क्षीणकान्ति होता जाता है। श्रेयमार्ग में उत्तरोत्तर आनन्द बढ़ता ही जाता है—वहाँ अन्त में दु:खों का पूर्ण अन्त है।

इस मार्ग पर अपने पीछे आते हुए **सखिभ्य:**=अपने मित्रों को उत्साहित करने के लिए **भद्रान्**=बड़े शुभ **इन्द्रहवान्**=सेनापति की पुकारों को **कृण्वन्**=करता है (लट्—शतृ)। प्रभु सेनापति हैं। सेनापति को सैनिकों को उत्साहित करना ही चाहिए। इस प्रकार समय-समय पर उत्साहित किये जाते हुए ये सैनिक विजयी बनते हुए लक्ष्य-स्थान पर पहुँच ही जाते हैं। प्रभु सेनापति हों, और सैनिक हार जाए यह कभी सम्भव है?

विजयी बनकर जब योद्धा अपने शिविर में पहुँचते हैं तब कवच उतार देते हैं, इसी प्रकार इन विजयी योद्धाओं के **रभसानि वस्त्रा**=इन जबर्दस्त शरीररूप वस्त्रों को **सोम:**=वह परमात्मा **आदत्ते**=वापस ले-लेता है। शरीर 'वस्त्र' है—यह विजयी बनने तक मिलता ही रहेगा। विजय-प्राप्ति के बाद प्रभु इसे वापस ले लेंगे—यही मोक्ष है। आज सचमुच 'दैवोदासि प्रतर्दन' नाम सार्थक हुआ है।

भावार्थ—प्रभु सेनानी है—मैं उनका सैनिक।

ऋषि:—**पराशर: शाक्त्य:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:**॥

अध्यात्म संग्राम में विजय

५३४. प्र ते धारा मधुमतीरसृग्रन् वारं यत्पूतो अत्येष्यव्यम्।
पवमान पवसे धाम गोनां जनयन्त्सूर्यमपिन्वो अर्कैः॥ २॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'पराशर शाक्त्य' है—शत्रु को नष्ट करनेवाला और शक्तिसम्पन्न। यह काम-क्रोधादि को नष्ट करने में तत्पर है। **अव्यम्**=रक्षण करनेवालों में सर्वोत्तम ज्ञान के **वारम्**=विघ्नभूत काम को यह पराशर नष्ट करने के लिए सतत प्रयत्न में लगा है। काम ज्ञान का शत्रु है—और ज्ञान काम का विध्वंस करनेवाला। ज्ञान-जल कामाग्नि को उसी प्रकार बुझा देता है जैसे प्रचण्ड सूर्य की किरणें बादल को छिन्न-भिन्न कर देती हैं। प्रभु इस पराशर से कहते हैं कि **यत्**=जब **अव्यं वारम्**=इस सर्वोत्तम रक्षक ज्ञान के विघ्नभूत (वृ=वृत्र, वार) काम को **पूत:**=ज्ञान से पवित्र हुआ तू (**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**) **अत्येषि**=लाँघ जाता है, तब **ते**=तेरी **मधुमती: धारा असृग्रन्**=योग की अन्तिम भूमिका में उत्पन्न होनेवाली आनन्दरस टपकानेवाली धाराएँ उत्पन्न होती हैं। यह आनन्द की वर्षा तुझे इस मार्ग में और स्थिर होने की प्रेरणा देती है।

पराशर नम्रतापूर्वक प्रभु से कहता है कि हे प्रभो! **पवमान**=आप ही तो मुझे पवित्र करनेवाले हैं। १. **गोनां धाम पवसे**=मेरी इन्द्रियों को तेज प्राप्त कराते हैं, २. **सूर्यं जनयन्**=आप ही मुझमें ज्ञान-सूर्य का उदय करनेवाले हैं। आपकी कृपा से ही मेरा ज्ञान सूर्य की भाँति चमकता है—मेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान का सूर्य आपके द्वारा ही तो उदित किया जा रहा है और ३. हे प्रभो! आप ही मेरे हृदय को **अर्कैः**=स्तुतिमन्त्रों से—स्तोमों से—भक्ति की भावनाओं से **आपिन्व:**=भर रहे हैं—पूरित कर रहे हैं। मेरे शरीर में तेजस्विता, मस्तिष्क में

ज्ञानाग्नि की प्रचण्डता तथा हृदय में भक्ति की भावनाएँ—ये सब आपसे ही तो पैदा की जा रही हैं। यह अत्यन्त विनीत पराशर प्रभु की गोद में क्यों न पहुँचेगा?

भावार्थ—मैं काम का संहार कर, प्रभुकृपा से इस अध्यात्म-युद्ध का विजेता बनूँ। प्रभु सेनानी हों और मैं हार जाऊँ, यह कैसे हो सकता है?

ऋषिः—**इन्द्रप्रमतिर्वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मैं रसमय बनकर उस 'रस' को पी जाऊँ

५३५. प्र गायताभ्यर्चाम देवान्त्सोमं हिनोत महते धनाय।
स्वादुः पवतामति वारमव्यमा सीदतु कलशं देव इन्दुः॥ ३॥

प्रस्तुत मन्त्र में 'इन्द्रप्रमति वासिष्ठ' के जीवन का चित्रण है। इन्द्र—प्रकृष्ट मतिवाला है—उत्तम बुद्धिवाला है। वासिष्ठ—काम-क्रोध को वशीभूत करनेवाला है। यह जीवन के निम्न सूत्रों से ऐसा बना है—

१. **प्रगायत**=उस प्रभु का खूब ही गायन करो। सोते-जागते सदा उस प्रभु का स्मरण करो। यह स्मरण और गायन हमें अधर्म से बचाएगा और हमारे सामने सदा लक्ष्य-दृष्टि बनी रहेगी।

२. **अभ्यर्चाम देवान्**=हम देवों की अर्चना करें। बड़े व्यक्तियों के आदर की भावना हममें सदा बनी रहे। 'माता-पिता, आचार्य व अतिथियों' का आदर करनेवाले बनें—ये हमारे लिए देव हों।

३. **सोमं हिनोत महते धनाय**=ज्ञानरूप महान् धन के लिए संयमी बनकर हम सोम को अन्दर प्रेरित करनेवाले हों। vitality व वीर्यशक्ति हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग को स्वस्थ बनानेवाली होकर ज्ञानाग्नि का ईंधन बने। रुपया-पैसा तो विषय-ग्रसित पुरुष भी कमा सकता है।

४. **स्वादुः**=अत्यन्त माधुर्यमय जीवनवाले बनकर हम **अव्यं वारम्**=सर्वोत्तम रक्षणीय वस्तु ज्ञान के विघ्नभूत काम को **अतिपवताम्**=लाँघ जाएँ। काम को जीतने का वास्तविक उपाय जीवन को मधुर बनाना ही है—प्राणिमात्र के लिए मैं माधुर्य लिये हुए होऊँ। संकुचित प्रेम ही काम है—यही व्यापक होकर माधुर्य बन जाता है।

५. जब मैं अपने जीवन को उल्लिखित प्रकार से बनाता हूँ तब मेरा यह शरीर सचमुच 'कलश' बनता है। 'कलाः शेरते अस्मिन्' इसमें सोलह-की-सोलह कलाओं का प्रवेश होता है और इस **कलशः**=सुन्दर सकल शरीर में **इन्दुः देवः**=वह सर्वशक्तिमान् सर्वैश्वर्य-सम्पन्न दिव्य प्रभु **आसीदतु**=आकर विराजमान हों। मेरा शरीर प्रभु का निवास-स्थान बने। इस दिन प्रभु से ज्ञान प्राप्त करता हुआ मैं 'प्रमति' क्यों न बनूँगा?

भावार्थ—स्तुति, बड़ों का आदर, संयम तथा माधुर्य मेरे जीवन को प्रभु के निवास के योग्य बनाएँ।

ऋषिः—**वसिष्ठो मैत्रावरुणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु की ओर

५३६. प्र हिन्वानो जनिता रोदस्यो रथो न वाजं सनिषन्नयासीत्।
इन्द्रं गच्छन्नायुधा संशिशानो विश्वा वसु हस्तयोरादधानः॥ ४॥

'वसिष्ठ' जब काम-क्रोध को वशीभूत करके प्रभु की ओर चलता है तब इसका जीवन ऐसा बनता है–

१. **प्र हिन्वानः**=यह सोम को अपने शरीर में प्रकर्षेण व्याप्त करता है। इससे उसे रस का अनुभव होता है।

२. **जनिता रोदस्योः**=यह द्यावापृथिवी का विकास करनेवाला होता है। यह शरीर के स्वास्थ्य का भी पूरा ध्यान करता है और मस्तिष्क के विकासवाला भी होता है।

३. **रथः न**=शरीर को यह जीवन-यात्रा के लिए रथ ही बनाये रखता है–इसे वह भोग भोगने का साधन नहीं बनाता।

४. **वाजं सनिषन्**=शरीर में गति, प्राणों में शक्ति, मन में त्याग तथा बुद्धि में ज्ञान को धारण करता हुआ यह **अयासीत्**=आगे और आगे बढ़ता जाता है। किधर?

५. **इन्द्रं गच्छन्**=यह उस परमैश्वर्यवाले प्रभु की ओर निरन्तर चल रहा है।

६. **आयुधा संशिशानः**=इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप आयुधों को यह निरन्तर तीव्र कर रहा है। प्रभु-प्राप्ति के मार्ग में कितने ही विघ्न हैं। आसुर भावनाओं से संग्राम के लिए यह अपने अस्त्रों को तीव्र रखता है।

७. **विश्वा वसु हस्तयोः आदधानः**=सम्पूर्ण धनों को यह हाथों में धारण किये हुए है। ऐश्वर्य की कमी नहीं, परन्तु यह उसमें फँसता नहीं। योगी भी विभूतियों को लेकर चलता है तथा कामादि असुर विघ्नरूप में उपस्थित होते ही हैं, परन्तु योगी उनमें फँसता नहीं।

भावार्थ–वसिष्ठ बनकर हम प्रभु की ओर चलें। मार्ग में आनेवाले विघ्नों को जीतने के लिए हम अपने अस्त्रों को तीव्र रखें।

ऋषिः–**वासिष्ठः कर्णश्रुत्**॥ देवता–**पवमानः सोमः**॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः**॥

साधन-त्रयी

५३७. तक्षद्यदी मनसो वेनतो वाग् ज्येष्ठस्य धर्मं द्युक्षोरनीके।
आदीमायन् वरमा वावशाना जुष्टं पतिं कलशे गाव इन्दुम्॥ ५॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'वासिष्ठ कर्णश्रुत्' है। जो संयमी है, वह 'वासिष्ठ' है। संयमी होता हुआ 'कर्णश्रुत्' है–कानों से ध्यानपूर्वक सुननेवाला। यह कर्णश्रुत् **यत् ई**=जब निम्न तीन बातों को करता है **आत्**=तभी **ईम्**=निश्चय से **गावः**=इसकी इन्द्रियाँ **आवावशानाः**=प्रबल कामना करती हुई **कलशे**=इस स-कल शरीर में उस **वरम्**=सर्वोत्कृष्ट **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन के योग्य **पतिम्**=रक्षक **इन्दुम्**=सर्वशक्तिशाली प्रभु को **आयन्**=प्राप्त होती हैं। 'आवावशानाः' शब्द इस बात को सुव्यक्त कर रहा है कि प्रबल कामना होने पर ही वे प्रभु मिलेंगे। कोई भी वस्तु अनिच्छा से प्रयत्न होने पर प्राप्त नहीं होती, 'मुमुक्षुत्व'=संसार के बन्धनों से छुटने की प्रबल इच्छा प्रभु-प्राप्ति के लिए प्रथम साधन है। 'कलशे' शब्द की भावना यह है कि हम जिस शरीर में प्रभु का दर्शन करना चाहते हैं उसे 'सकल'=सर्वकला सम्पूर्ण बनाने का प्रयत्न करें। वे 'षोडशी' प्रभु तो तभी मिलेंगे यदि हम भी सोलह कला सम्पूर्ण बनने का प्रयत्न करें। अस्तु, वे तीन बातें निम्न हैं–

१. **वेनतः**=कामयमान मेधावी पुरुष से जब **मनसः**=मन से—हृदय से—इच्छापूर्वक **वाक्**=वेदवाणी **तक्षत्**=अपने अन्दर निर्माण की जाती है। हम हृदय को पवित्र करेंगे तभी ये वेदवाणियाँ हमारे हृदय में प्रभु द्वारा उच्चरित होंगी। हमारे अन्दर इस बात की प्रबल कामना हो और हृदय से इस वेदज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

२. **ज्येष्ठस्य धर्मम्**=बड़े के धर्म को जब **तक्षत्**=अपने में बनाता है। बड़े का धर्म क्या है? बड़ा बनना—क्षुद्रता=meanness—कमीनेपन से ऊपर उठना। 'उदार' ही तो धर्म है। काम-क्रोध से पराजित न होना यह है—बड़प्पन।

३. **द्युक्षोः**=दिव्यता में निवास करनेवाले के (द्यु-क्षु) **अनीके**=मुख में—अग्रभाग में या शक्ति में **तक्षत्**=अपने को बनाता है। उत्तरोत्तर दिव्यता को अपने अन्दर बढ़ाने का प्रयत्न करने पर हम देव बनकर उस देवाधिदेव को क्यों न प्राप्त करेंगे? 'ज्ञान को बढ़ाना' उस 'सर्वज्ञ' के समीप पहुँचने के लिए आवश्यक है ही।

भावार्थ—हम ज्ञान, धर्म तथा दिव्यता के द्वारा प्रभु की ओर बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—**नोधा गोतमः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

एकाग्रता व आत्मनिष्ठा

५३८. साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो धनुत्रीः।
हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी॥ ६॥

दुःख-सुख से ऊपर उठ जानेवाले इस **धीरस्य**=धीर पुरुष की **धीतयः**=ध्यानवृत्तियाँ—अन्तःकरण की वृत्तियाँ १. **साकमुक्षः**=(साकम् उक्षः) सदा साथ रहनेवाली होती हैं। सामान्यतः मनुष्य का मन विविध विषयों के ध्यान में भागता रहता है—कभी पर्वतों, कभी समुद्रों और कभी दिशाओं में भटकता रहता है (मनो जगाम् दूरकम्), परन्तु धीर पुरुष इसे इधर-उधर भागने से रोककर एकाग्रवृत्तिवाला बनाता है। उसकी चित्तवृत्ति आत्मा के साथ निवास करनेवाली होती है—वस्तुतः 'स्व-स्थ' तो यही पुरुष है। फिर २. **मर्जयन्त**=धीर की चित्तवृत्तियाँ उसे (मृज् शुद्धौ) शुद्ध बनाती हैं। विषय-पङ्क में न उलझकर यह शुद्ध बना रहता है। ३. **स्व-सारः**=धीर की चित्तवृत्तियाँ 'स्व'=आत्मा की ओर 'सारः=चलनेवाली होती हैं, अतएव ४. **धनुत्रीः**=विशेष प्रेरणा की प्राप्त करानेवाली होती हैं। इन विशेष प्रेरणाओं को प्राप्त इस विशिष्ट जीवनवाले धीर पुरुष का चरित्र निम्न विशेषताओं से युक्त होता है—५. **हरिः**=यह औरों के दुःखों का हरण करनेवाला होता है, ६. **पर्यद्रवत्**=यह जहाँ भी कष्ट देखता है उसी स्थान पर पहुँचता है, यह **परि**=चारों ओर **अद्रवत्**=गति करता है, 'परिव्राजक' बनता है ७. उस-उस स्थान पर पहुँचकर **सूर्यस्य जाः**=यह ज्ञान के सूर्य का प्रकाशक होता है। लोगों के अज्ञान-अन्धकार को दूर करता है। ८. यह **द्रोणम्**=नानाविधि कष्टों से उप-द्रुत—पीड़ित संसार के प्रति **ननक्षे**=जाता है, अर्थात् अपनी ही समाधि के आनन्द में न फँसकर लोगों के दुःखों व अज्ञानों को दूर करने में समय व्यतीत करता है ९. यह **अत्यः न**=सतत गतिशील घोड़े के समान होता है। आराम को तिलाञ्जलि देकर यह लोकहित में लगा हुआ है—थकता नहीं, **वाजी**=शक्तिशाली जो है। वस्तुतः आत्मा के साथ रहनेवाली ध्यानवृत्तियों ने इसके जीवन को बड़ा शक्तिशाली बना दिया है। प्रेयमार्ग में क्षीणता है, श्रेयमार्ग में शक्ति। इस

शक्ति को प्राप्त करके यह 'सर्वभूतहिते रतः' है, उसके लिए सतत गतिशील है।

उल्लिखित नौ बातों से युक्त जीवनवाला 'नवधा'=नोधा है। प्रभु की दृश्य नव=स्तुति को धारण करनेवाला है (नू=स्तुतौ)।

भावार्थ—मेरा जीवन एकाग्रता व दिव्यशक्ति के द्वारा लोकहित में अर्पित हो।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शुभ गुणों में स्पर्धा

५३९. अधि यदस्मिन् वाजिनीव शुभः स्पर्धन्ते धियः सूरे न विशः।
अपो वृणानः पवते कवीयान् व्रजं न पशुवर्धनाय मन्म॥ ७॥

यत्=यह सत्य है कि **अस्मिन्**=इस **वाजिनि**=शक्तिशाली पुरुष में **शुभः धियः**=शुभ कर्म या शुभ प्रज्ञाएँ **अधि**=आधिक्येन **स्पर्धन्ते इव**=स्पर्धा-सी करती हैं। सब प्रज्ञाएँ उस शक्तिशाली पुरुष में स्थान पाने के लिए लालायित-सी रहती हैं। वस्तुतः वीरता सब शुभ गुणों का आधार है। इस शक्तिशाली को आधार बनाने के लिए गुण स्पर्धावाले होते हैं। **न**=जैसे **विशः**=प्रजाएँ **सूरे**=सूर्य में। सूर्य के प्रकाश के लिए जैसे प्रजाएँ लालायित होती हैं उसी प्रकार गुण शक्तिशाली पुरुष के लिए।

यह शक्तिशाली पुरुष **अपः वृणानः**=कर्मों का वरण करता है—सदा कर्मनिष्ठ होता है। **पवते**=कर्मनिष्ठता के द्वारा अपने को पवित्र बनाता है। **कवीयान्**=यह अत्यधिक क्रान्तदर्शी होता है, वस्तुओं के तत्त्व को देखता है। **पशुवर्धनाय**=('कामः पशुः, क्रोधः पशुः') काम-क्रोध पशु हैं। इनके वर्धन=छेदन के लिए **मन्म**=ज्ञान को **व्रजम् न**=बाड़े की भाँति बनाता है। जैसे बाड़े में बन्द करके पशु को हम वश में कर लेते हैं, इसी प्रकार ज्ञानरूप बाड़े में हम काम-क्रोधरूप पशुओं को वशीभूत कर लेते हैं। वशीभूत काम पुरुषार्थ है—यह हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाने के लिए आवश्यक है। घोड़ा बेक़ाबू होता है तो सवार को घसीटता है, परन्तु क़ाबू हुआ-हुआ वही उसे उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचाता है। इसी प्रकार वशीभूत काम की बात है। उच्छृङ्खल काम हमें कुचल डालता है—नियन्त्रित काम प्रभु-प्राप्ति में सहायक होता है। यह काम-क्रोध का वशीकरण कण-कण करके, चींटी की चाल से धीमे-धीमे ही होगा, अतः इसका साधक 'कण्व' कहलाता है। धीमे-धीमे इसका जीवन उदात्त, उदात्ततर व उदात्ततम—घौर होता जाता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन को ऐसा बनाएँ कि सब गुण हमें अपना आधार बनाएँ।

ऋषिः—**मन्युर्वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञान की तरङ्गें—ज्ञान का प्लावन

५४०. इन्दुर्वाजी पवते गोन्योघा इन्द्रे सोमः सह इन्वन्मदाय।
हन्ति रक्षो बाधते पर्यरातिं वरिवस्कृण्वन् वृजनस्य राजा॥ ८॥

कामादि पशुओं के संहार के लिए जब मनुष्य ज्ञानरूप बाड़ा बनाता है तब उसका जीवन निम्न प्रकार से चलता है—१. **इन्दुः**=(इन्द् To be powerful) यह शक्तिशाली बनता है।

कामादि वासनाएँ ही मनुष्य की शक्ति को जीर्ण करती हैं। २. **वाजी**=यह शक्ति इसे रोगों से युद्ध करने में समर्थ बनाती है। इसकी वीर्यशक्ति (vitality) रोगकृमियों के विरोध में युद्ध करती है (Wages a war)। एवं, इसका अन्नमयकोश वज्र-तुल्य दृढ़ होता है, तो प्राणमयकोश रोगकृमियों के संहार की शक्तिवाला होता है। ३. **पवते**=इसका मन पवित्र होता है, और ४. **गो नि ओघाः**=इसके विज्ञानमयकोश में ज्ञान की वाणियों का प्लावन-(flood)-सा आ जाता है, अर्थात् इसकी बुद्धि सूक्ष्म होकर इसका ज्ञान बहुत ही बढ़ जाता है। ५. इन चारों कोशों में उत्कर्ष के साथ सबसे बड़ी बात यह होती है कि इस **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय व्यक्ति में **सोमः**=वह शान्तरूप प्रभु **सह**=साथ रहते हुए **इन्वन्**=सदा इसे प्रेरणा देते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि **मदाय**=इसके जीवन में मद व उल्लास होता है।

इस शक्ति के मद में यह ६. **हन्ति रक्षः**=सब राक्षसी वृत्तियों को समाप्त कर देता है। **अरातिम्**=न देने की वृत्ति को **परिबाधते**=सर्वतः कुचल देता है। इसका जीवन अशुभ वृत्तियों से शून्य होकर पवित्र हो जाता है। पवित्र हृदय होकर यह ७. **वरिवः**=प्रभु की पूजा **कृण्वन्**=करता है और **वृजनस्य**=सब दोषों का वर्जन करनेवाली शक्ति का **राजा**=स्वामी होता है। शक्ति से इसका जीवन चमकता है। इस जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि यह 'गोन्योघाः'=ज्ञानजल के प्लावनवाला होता है। ज्ञानातिरेक से ही इसका नाम 'मन्युः' (ज्ञानी) हो गया है। यह 'वासिष्ठ' है—काम-क्रोध को वश में किये हुए है।

भावार्थ—मैं ज्ञान-जल में तैरनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु हों मेरे प्राण हों

५४१. अया पवा पवस्वैना वसूनि माँश्चत्व इन्दो सरसि प्र धन्व।
ब्रध्नश्चिद्यस्य वातो न जूतिं पुरुमेधाश्चित्तकवे नरं धात्॥ ९॥

अया=इस **पवा**=पावन क्रिया से **एना वसूनि**=इन वास के साधनभूत शरीर, मन व बुद्धि आदि को **पवस्व**=पवित्र कर। गत मन्त्र में 'गोन्योघाः'=ज्ञान के प्लावनवाला बनने का उल्लेख है, 'सह'=परमेश्वर के साथ रहने का संकेत है और 'वरिवः कृण्वन्'=उसकी पूजा करने का वर्णन है। यही वस्तुतः अपने को पवित्र बनाने की प्रक्रिया है। इसी मार्ग पर चलने से मनुष्य इस शरीर के अङ्गभूत वसुओं को पवित्र बनाये रख सकता है। 'अया पवा' में 'अया' शब्द सर्वनाम होता हुआ गत मन्त्र की पवन-क्रिया का ही संकेत करता है। हमें ज्ञान व भक्ति से अपने को पूर्ण पवित्र बनाने का ध्यान करना है।

प्रभु कहते हैं कि अपने को पवित्र बनाकर हे **इन्दो**=शक्तिशाली जीव! तू **मांश्चत्वे**=कर्म में तथा **सरसि**=(सरं इति वाङ्नाम—नि० १.११.५५) ज्ञान में **प्रधन्व**=प्रकर्षेण गतिवाला हो। निघण्टु में (१.१४.१८) 'मांश्चत्व' का अर्थ 'अश्व' दिया है। यह अश्व कर्म का प्रतीक है। '**अनध्वा वाजिनां जरा**'='न चलना' घोड़ों को बूढ़ा कर देता है। इससे 'अश्व' को कर्म का प्रतीक बनाया गया है। 'मांश्चत्व' शब्द मन् तथा चर् धातु के मेल से बना है, कर्म सदा मननपूर्वक करने योग्य है, इसलिए भी इसे 'मांश्चत्व' कहा गया है। ज्ञानाधिदेवता को 'सरस्वती' कहते हैं, अतः स्पष्ट है कि 'सरस्' नाम ज्ञान का है। मनुष्य को पवित्रता से

शक्ति का सम्पादन करके मननपूर्वक कर्म [मांश्चत्वे] और ज्ञान में [सरस्] प्रवृत्त होता है तथा मनुष्य को अपना जीवन ऐसा बनाना है कि **ब्रध्नः चित्**=वह महान् परमात्मा ही **यस्य**=उसका **वातः न**=प्राण की भाँति हो (He must live in God)। प्रभु को वह अपना जीवन समझे। प्रभु स्वाभाविकी क्रियावाले हैं, क्रिया इसका भी स्वभाव बन जाए। वस्तुतः **पुरुमेधाः**=पालक-पूरक बुद्धिवाला मनुष्य **चित्**=निश्चय से **तकवे**=गति के लिए **जूतिम्**=वेग को **न रन्धात्**=कभी पृथक् नहीं करता, अर्थात् बड़ी स्फूर्ति के साथ यह सदा कार्यों में लगता है। कार्यों में लगे रहने से इसके जीवन में दो परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। यह शरीर में रोगों को उत्पन्न नहीं होने देता हुआ 'आङ्गिरस' बना रहता है और मन में बुरी भावनाओं को कुचलने में समर्थ होकर 'कुत्स' कहलाता है।

भावार्थ—मैं सदा मननपूर्वक कार्य करनेवाला बनूँ, मैं ज्ञान में विचरूँ तथा प्रभु ही मेरे प्राण हों।

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अपां गर्भ बनना, तीन महान् कार्य (The greatest achievement)

५४२. महत् तत् सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान्।
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः॥ १०॥

सोमः=सौम्य स्वभाववाला अथवा शक्ति का पुञ्ज **महिषः**=सदा प्रभु की पूजा करनेवाला **तत्**=उस **महत्**=कर्म को **चकार**=करता है, **अपां यत् गर्भः**=कर्म ही जिसके गर्भ में है, अर्थात् सदा कर्म करनेवाला बनकर **देवान् अवृणीत**=दिव्य गुणों का वरण करता है। यह कभी अकर्मण्य नहीं होता और परिणामतः इसकी दिव्यता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। **अकर्मा दस्युः**=कर्म न करनेवाला दिव्यता के क्षय से दस्यु बन जाता है। कर्म करने से दिव्यता की वृद्धि होती है—साथ ही शक्ति भी बढ़ती है, परन्तु यह **पवमानः**=अपने को पवित्र करनेवाला व्यक्ति **ओजः**=अपनी इस शक्ति को **इन्द्रे**=उस प्रभु में **अदधात्**=स्थापित करता है। इसे उस शक्ति का गर्व नहीं होता। यह प्रभु को ही शक्ति का स्रोत मानता है। शक्ति की वृद्धि के साथ यह **'इन्दुः'**=शक्तिशाली अथवा परमैश्वर्य-सम्पन्न जीव **सूर्ये**=उस चराचर के प्राणभूत—सब गतियों के मूल प्रभु में **ज्योतिः**=प्रकाश को **अजनयत्**=उत्पन्न या विकसित करता है।

भावार्थ—सोम के द्वारा तीन महान् कार्य किये जाते हैं—१. 'अपां गर्भः' सर्वदा क्रियाशील बनकर यह दिव्य गुणों का वरण करता है। २. यह अपनी शक्ति का गर्व नहीं करता तथा ३. प्रभु के विषय में अपने ज्ञान को अधिकाधिक विकसित करता है। अपनी जीवन-यात्रा के मार्ग में आये हुए विघ्नों को कुचलता हुआ 'पराशर' बनता हुआ यह 'शाक्त्य' होता है—शक्ति का पुतला बनता है।

ऋषिः—**कश्यपो मारीचः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अध्यात्मसंग्राम में सेनापति

५४३. असर्जि वक्वा रथ्ये यथाजौ धिया मनोता प्रथमा मनीषा।
दश स्वसारो अधि सानो अव्येऽजन्ति वह्निं सदनेष्वच्छ॥ ११॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कश्यपो मारीचः' है—'ज्ञानी व वासनाओं का विध्वंस करनेवाला'।

इसके द्वारा **यथा**=जैसे **आजौ**=युद्ध में किसी सेनापति को नियुक्त किया जाता है उसी प्रकार **रथ्ये**=इस शरीररूप रथ में चलनेवाले **आजौ**=अध्यात्म-संग्राम में वह प्रभु **असर्जि**=सेनापति बनाया जाता है, जो–

१. **वक्वा**=सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान का उच्चारण करनेवाला है। इस समय भी वह वेदवाणी का उच्चारण तो करता है, परन्तु मैं उसे सुन तभी पाता हूँ जब 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' बनूँ।

२. **धियां मनोता**=जो निराकार होने के कारण बुद्धि से ही विचारा जा सकता है। **'दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'। 'मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु'।** वह प्रभु सूक्ष्म बुद्धि तथा मन से ही जाना जाता है।

३. **प्रथमा मनीषा**=जो अत्यन्त विस्तृत बुद्धि व ज्ञान ही है। प्रभु ज्ञान की ही तो चरम सीमा है। **'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'**=ज्ञान का तारतम्य जहाँ विश्रान्त होता है–वे ही तो प्रभु हैं।

इस प्रभु को जब हम सेनापति बनाते हैं तब वे **दश**=दस इन्द्रियाँ जो अभी तक विषयों से अभिभूत हो जाती थीं, अब वे विषयासक्त न होकर **स्व-सारः**=आत्मतत्त्व की ओर चलने लगती हैं और हमें **सानोः**=मेरुपर्वत के **अव्येअधि**=अत्यन्त सुरक्षित शिखर पर पहुँचाती हैं। शरीर में मेरुदण्ड ही मेरुपर्वत है, इसके शिखर पर आत्मा का कार्यक्षेत्र है। मस्तिष्करूप कार्यालय में स्थित आत्मा प्रभु का दर्शन करता है। इस प्रकार ये इन्द्रियाँ **मृजन्ति**=हमें अधिक और अधिक शुद्ध बनाती चलती हैं। इस शुद्धता के द्वारा वे भक्तों को **सदनेषु**=इन शरीररूप घरों में **वह्निं अच्छ**=मोक्ष प्राप्त करानेवाले प्रभु की ओर ले-चलती हैं।

भावार्थ–अध्यात्म-संग्राम में प्रभु को सेनानी बनाकर मैं विजयी बनूँ।

ऋषिः–**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता–**पवमानः सोमः**॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः**॥

ज्ञातुं-द्रष्टुं-प्रवेष्टुं च (ज्ञान-दर्शन-प्रवेश)

५४४. अपामिवेदूर्मयस्तर्तुराणाः प्र मनीषा ईरते सोममच्छ।
नमस्यन्तीरुप च यन्ति सं चाच विशन्त्युशतीरुशन्तम्॥ १२॥

प्रभु को सेनापति बनाने पर **अपाम् ऊर्मयः इव**=जलों की तरङ्गों के समान **मनीषाः**=बुद्धियाँ **तर्तुराणाः**=सब विघ्न-बाधाओं की हिंसा करती हुई (तुर्वि हिंसायाम्) अथवा त्वरा से कार्यों को सिद्ध करती हुई (त्वर) **इत्**=निश्चय से **सोमम् अच्छ**=उस प्रभु की ओर हमें **प्र ईरते**=प्रकर्षेण प्रेरित करती हैं। बुद्धियों के द्वारा ही हमें ज्ञान प्राप्त होता है, मन का शासन करनेवाली बुद्धि हमें प्रभु-प्रवण करती हैं। ज्ञान के बढ़ने के साथ ज्यों-ज्यों हम उस महान् प्रभु की महिमा को सर्वत्र व्याप्त देखते हैं त्यों-त्यों हमें कण-कण में उस प्रभु की सत्ता का आभास होने लगता है–इस दर्शन का ही परिणाम होता है कि **नमस्यन्तीः**=उस प्रभु के प्रति हम नतमस्तक होते हैं। **उप च यन्ति**=और अब हम उस प्रभु की ओर चल देते हैं। इस मार्ग पर आगे बढ़ते हुए भक्त एक दिन **समाविशन्ति**=उस प्रभु में प्रवेश कर जाते हैं। नष्ट नहीं होते तद्रूप हो जाते हैं। प्रभु से इनका भेद नहीं रहता। भेद में ही तो भय है–ये अभय स्थिति में पहुँच जाते हैं। पहुँचते तभी हैं यदि **उशतीः**=उस प्रभु की प्राप्ति की [illegible]वाले बने रहते हैं। ये

उस प्रभु को पाते हैं जो **उशन्तम्**=सदा अपने प्रिय मित्र जीव का भला चाहते हैं। प्रभु तो हमारा कल्याण ही चाहते हैं—उसके लिए सब आवश्यक साधन भी जुटा देते हैं। हमारी ही कामना प्रबल नहीं होती तो हम प्रभु के मेल से वञ्चित रह जाते हैं। प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चाहे हम धीमे-धीमे बढ़ें—रुकें नहीं तो लक्ष्य तक पहुँचेंगे ही। कण-कण करके आगे बढ़नेवाला यह 'प्रस्कण्व' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। थोड़ा-थोड़ा संग्रह करते चलना ही मेधाविता भी तो है—इसलिए भी यह प्रस्कण्व=मेधावी कहलाया है। उपदेशों से हमें प्रभु का ज्ञान होता है—तप, स्वाध्याय व ईश्वर-प्रणिधान से उसका दर्शन होता है और अन्त में विषयों के प्रति पूर्ण अरुचि तथा प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना से प्रभु से मेल होता है।

भावार्थ—हमारे जीवनों में भी यही ज्ञान-दर्शन व प्रवेश (मेल) का क्रम सतत चलता चले।

षष्ठप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—**अन्धीगुः श्यावाश्विः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

जिह्वा-रस से दूर

५४५. पुरोजिती वो अन्धसः सुताय मादयित्नवे।
अप श्वानं श्नथिष्टन सखायो दीर्घजिह्व्यम्॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अन्धीगु श्यावाश्वि' है। अन्ध उस संन्यासी को कहते हैं जिसने अपनी इन्द्रियों को पूर्णरूप से वश में किया है। 'अन्धः गावो यस्य' उस साधु की भाँति हैं ज्ञानेन्द्रियाँ जिसकी, ऐसा यह व्यक्ति 'अन्धीगुः' है। 'अन्धीगुः बनने के लिए ही वस्तुतः इसने (श्यैङ् गतौ) सदा कर्मेन्द्रियों को कर्मव्याप्त रक्खा है। यह अन्धीगु **अन्धसः**=आध्यायनीय सोम के **पुरोजिती**=(जित्यै)=पूर्ण विजय के हेतु से कहता है कि हे **सखायः**=मित्रो! **वः**=तुम्हारे **दीर्घजिह्व्यम्**=दीर्घ जिह्वावाले **श्वानम्**=कुत्ते को **अपश्नथिष्टन्**=अपने से दूर हिंसित कर दो। **'जहि श्वयातुम्'** मन्त्रभाग में भी यही कहा गया है कि कुत्ते के मार्ग को छोड़ दो। कुत्ता जिह्वालौल्य का प्रतीक है—वह टुकड़े को अपने सजातीय से छीनने के लिए लड़ता है। वान्त=कै का भी अशन कर जाता है। इस जिह्वा के असंयम का परिणाम उपस्थ का असंयम है। जिह्वा के रस में फँसा हुआ व्यक्ति कभी भी सोम का पूर्ण संयम नहीं कर सकता।

पर प्रश्न तो यह है कि इस सोम के संयम की आवश्यकता ही क्या है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि १. **सुताय**=उत्पादन के लिए सोम का संयम आवश्यक है। संयमी पुरुष ही कुछ निर्माण का कार्य कर सकते हैं। २. **मादयित्नवे**=प्रसन्न बनाने के लिए यह संयत सोम साधन बनता है। संयमी पुरुष का जीवन उल्लासमय होता है—वह कभी मुरझाए हुए चेहरेवाला नहीं दिखता। एवं, 'हमारा जीवन सदा उल्लासमय हो' और 'हम कुछ-न-कुछ निर्माणात्मक कार्य कर पाएँ' इन दोनों बातों के लिए संयम की आवश्यकता है और उस संयम के लिए जिह्वारस को कुचलना आवश्यक है। जिह्वारस से बचेंगे और कर्म में लगे रहेंगे तो ज्ञानेन्द्रियों पर अवश्य प्रभुत्व पा लेंगे। यह पाँचों 'ज्ञानेन्द्रियों को अवस्थित करनेवाला'

व्यक्ति ही अन्धीगु है।

भावार्थ—मैं जिह्वा का संयम साधूँ।

ऋषिः—**नहुषो मानवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

नहुष-मानव (मिलनसार मनुष्य)

५४६. अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानो अर्षति।
पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद्रोदसी उभे॥ २॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'नहुष मानव' है। मननपूर्वक प्रत्येक कर्म को करनेवाला यह (नह बन्धने) औरों के साथ अपने जीवन को सम्बद्ध करके चलता है। अपनी ही मौज में मस्त न होकर यह औरों के साथ सहानुभूति रखता है—उनके दुःख में दुःखी होता है, सुख में सुखी। इसका जीवन भोग-प्रवण न होने से ही **अयम्**=यह **पूषा**=अपने स्थूलशरीर को ठीक पुष्ट रख पाता है—इसका शरीर दुर्बल नहीं होता। भोग ही तो रोगों व क्षीणता के कारण होते हैं। यह उनसे दूर ही है। इसका प्राणमयकोश **रयिः भगः**=चान्द्रमस् तत्त्व व सौर तत्त्व की शक्तिवाला होता है। 'रयि' चन्द्रमा है, 'भग' सूर्य है, सूर्य प्रजाओं का प्राण है, प्राण के स्थान में भग का प्रयोग ठीक ही है। इन दोनों तत्त्वों के समन्वय पर ही पूर्ण स्वास्थ्य निर्भर है। शरीर के विकास व दोषों के दूरीकरण व नैर्मल्य का परिणाम यह होता है कि यह **सोमः**=सौम्यता को धारण करता है—अभिमान से शून्य होता है और अपने मनोमयकोश को **पुनानः**=पवित्र करता हुआ **अर्षति**=(ऋष् गतौ) ऋषि बनता है—तत्त्वद्रष्टा होता है। इस तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने के उपरान्त यह **विश्वस्य**=सब **भूमनः**=(यो वै भूमा तत्सुखम्) सुख का **पतिः**=पति होता है। विज्ञानमयकोश में ज्ञान की दीप्ति के उपरान्त ही आनन्दमयकोश में सुखानुभव होता है।

इस प्रकार अपने पञ्चकोशों का ठीक विकास करता हुआ यह 'नहुष' **उभे रोदसी**=दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक को **व्यख्यत्**=प्रकाशित करता है। इसके यश का प्रकाश सर्वत्र फैलता है, इतना ही नहीं, यह सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश फैलाता है। ज्ञान के प्रकाश द्वारा अन्धकार को दूर कर सभी के जीवनों को सुखी व उन्नत बनाने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को सुन्दर बनाकर औरों के मङ्गल में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**ययातिर्नाहुषः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

हम दिव्यता में आनन्द लें

५४७. सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः।
पवित्रवन्तो अक्षरन्देवान्गच्छन्तु वो मदाः॥ ३॥

औरों के साथ अपने जीवन को सम्बद्ध करके चलनेवाला 'नाहुष' सदा गतिमय रथवाला (वायोरिव रथं 'याति' यस्य सः) 'ययाति' इस मन्त्र का ऋषि है। इन ययातियों का जीवन निम्न प्रकार का होता है—

१. **सुतासः**=ये सदा निर्माणात्मक कार्य ही करते हैं, इनका जीवन ध्वंस के लिए नहीं होता। अ-ध्वर=यज्ञमय जीवन हिंसा व तोड़-फोड़ से रहित होना ही चाहिए।

२. **मधुमत्तमाः**=ये अत्यन्त माधुर्य को लिये हुए होते हैं। इनकी वाणी से कभी कोई कटु शब्द उच्चरित नहीं होता। वे मधुर-ही-मधुर शब्दों का प्रयोग करते हैं।

३. **सोमाः**=ये सौम्य, विनीत व अतिमानिता से दूर होते हैं। अभिमान इनकी दिव्यता को कभी कलंकित नहीं करता। नम्रता से ये सदा उन्नत बने रहते हैं। अभिमान के कारण ये लोगों के द्वेष्य नहीं बनते।

४. **इन्द्राय**=सौम्य बने रहने के लिए ये सदा उस परमैश्वर्यवान् प्रभु के लिए **मन्दिनः**=(मन्दतेः स्तुतिकर्मणः) स्तुति करनेवाले होते हैं। प्रभु की स्तुति ही इनकी उदात्तता को स्थिर रखती है।

५. **पवित्रवन्तः**=ज्ञानवाले बनते हैं। ज्ञान के कारण ही तो ये सुखों में फँसकर स्वार्थी नहीं हो जाते।

६. **अक्षरन्**=ज्ञान के द्वारा ये मलों को अपने से दूर करते हैं। उत्तरोत्तर पवित्रता का साधन ही इनके जीवन का उद्देश्य होता है। ये अपवित्र वस्तुओं में आनन्द का अनुभव नहीं करते। प्रभु के इस आदेश को ये नहीं भूलते कि **वः मदाः**=तुम्हारे आनन्द **देवान् गच्छन्तु**=दिव्य गुणों की ओर चलें, अर्थात् तुम अच्छी बातों में आनन्द लेने का प्रयत्न करो। इसीलिए यह 'ययाति नाहुष' जीवन की साधना, दिव्य गुणों की प्राप्ति व निर्माणात्मक कार्यों में आनन्द लेने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—मैं दिव्यता की वृद्धि में आनन्द लेनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**मनुः सांवरणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

ठीक चुनाव (A right choice)

५४८. सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः।
मित्राः स्वाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः॥ ४॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति पर कहा गया है कि हम दिव्यता में आनन्द लेने का प्रयत्न करें। वस्तुतः संसार में दो ही मार्ग हैं—एक दिव्यता का और दूसरा भौतिकता का। ये ही श्रेय व प्रेय कहे गये हैं। हमें इनमें चुनाव करना है। उपनिषद् कहती है कि **'तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः'**=धीर पुरुष सब दृष्टिकोणों से इनका विवेक करता है और विवेक करके श्रेय का ग्रहण करता है। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि भी 'मनु' है—विचारनेवाला है और विचार का ही परिणाम है कि यह 'सांवरण' है=सम्यक्-उत्तम-वरणवाला है—प्रेय को न चुनकर यह श्रेय का ही वरण करता है। यह श्रेयोमार्ग पर चलनेवाला अपने जीवन को निम्न प्रकार का बनाता है—

१. **सोमाः**=ये सौम्य—विनीत होते हैं—विनीतता से ही तो ये उन्नत हैं। अभिमान से इनकी दिव्यता कलंकित नहीं होती।

२. **पवन्ते**=ये गतिशील होते हैं और अपने को पवित्र बनाते हैं। वस्तुतः गतिशीलता ही इनके जीवन को पवित्र करनेवाली है।

३. **इन्दवः**=पवित्रता के कारण—भोगग्रसित न होने के कारण ये शक्तिशाली हैं।

४. **अस्मभ्यं गातुवित्तमाः**=हमारे लिए बड़े उत्तम प्रकार से मार्ग का ज्ञान देनेवाले व मार्ग को प्राप्त करानेवाले हैं। इनके शब्द ही नहीं इनका जीवन हमारे लिए पथ-प्रदर्शन का काम करता है।

५. **मित्राः**=ये सचमुच हमारा हित चाहनेवाले होते हैं, हित चाहने के कारण ही इनके वाक्यों का हमारे हृदयों पर विशेष प्रभाव होता है।

६. **स्वानाः**=(सु+आनाः) ये अपने उपदेशों से हम सबके अन्दर उत्साह का संचार करते हैं। अत्यन्त पतित भी इनके सम्पर्क में आकर उत्साह से पाप को तैरने में प्रवृत्त होता है।

७. **अरेपसः**=स्वयं इनका जीवन निर्दोष होता है तभी यह औरों को प्रभावित कर पाता है।

८. **स्वाध्यः**=जीवन को निर्दोष बनाने के लिए ये उत्तम ध्यानवाले होते हैं। (सुष्ठु ध्यानवन्तः) प्रभु का ध्यान इन्हें पापों से बचाए रखता है।

९. **स्वर्विदः**=ये उस स्वर=स्वयंप्रकाश ब्रह्म को प्राप्त (विद्) करनेवाले होते हैं—ब्रह्मनिष्ठ होते हैं। ब्रह्मनिष्ठ गुरु ही गुह्य अन्धकार—हृदय के अज्ञान को दूर करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—हम संसार में श्रेय का ही वरण करें। प्रेय का वरण कर भटकते ही न रह जाएँ।

ऋषिः—अम्बरीषो वर्षागिर ऋजिष्वा भरद्वाजः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

उत्तम सांसारिक जीवन

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५४९. अभी नो वाजसातमं रयिमर्ष शतस्पृहम्।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्दो सहस्रभर्णसं तुविद्युम्नं विभासहम्॥ ५ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अम्बरीषो वर्षागिर ऋजिष्वा भरद्वाजः' है। (अम्ब to sound) ये आये-गये का 'आइए, बैठिए' इत्यादि मधुर शब्दों से स्वागत करता है, अतएव 'अम्बरीष' है। इसकी वाणी (गिर्) माधुर्य की वर्षा करनेवाली होने से यह 'वार्षागिर' है। (ऋजु) सदा सरल मार्ग से चलने (श्वि) के कारण यह 'ऋजिष्वा' है—इस मार्ग पर चलकर अपने में शक्तिसंचय करनेवाला यह 'भरद्वाज' है। यह प्रभु से आराधना करता है—**इन्दो**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **नः**=हमें **रयिम्**=सम्पत्ति की **अभि**=ओर **अर्ष**=ले-चलिए। सम्पत्ति के बिना यह आतिथ्य भी तो नहीं कर सकता। कोई भी लोकहित का कार्य यह सम्पत्ति से ही तो करेगा। सब सम्पत्ति के स्वामी वे प्रभु हैं—वे लोकहित के कार्यों के लिए मुझे अपनी सम्पत्ति का अंश प्राप्त कराएँ।

परन्तु यह सम्पत्ति कहीं काले धन के रूप न होकर हमारे लिए सदा—

१. **वाजसातमम्**=(सन्=प्राप्त कराना)—शक्ति प्राप्त करानेवाली हो। सम्पत्ति प्राप्त करके भी मैं कर्म करूँ और शक्तिसम्पन्न बना रहूँ।

२. **शतस्पृहम्**=हमारी सम्पत्ति शतशः पुरुषों से स्पृहणीय हो। मैं सम्पत्ति का अर्जन

परपीडन से न करूँ और उसका विनियोग सार्वजनिक कार्यों के लिए भी करूँ, जिससे लोग मेरे लिए कहें कि 'सम्पत्ति हो तो ऐसी ही हो'।

३. **सहस्रभर्णसम्**=मेरी सम्पत्ति से सहस्रों पुरुषों का भरण-पोषण चलता हो। मैं 'केवलादी' बनकर 'केवल+अघ (पाप)' न बन जाऊँ।

४. **तुविद्युम्नम्**=महान् ज्योति को लिये हुए मेरी सम्पत्ति हो। सामान्यतः 'सरस्वती व लक्ष्मी' में विरोध समझा जाता है। मेरी सम्पत्ति ज्ञान की सहायिका हो। सम्पत्ति मेरे घर को एक सुन्दर पुस्तकालय से अलंकृत कर दे।

५. **विभासहम्**=ज्ञान प्राप्त कराके यह मुझे क्षमाशील बनाए। धन के मद में मैं अहंकार में रत न हो जाऊँ, औरों की कमियों को सह सकूँ—क्षमा की वृत्ति को अपनानेवाला बनूँ।

भावार्थ—मैं धन-सम्पन्न होकर भी शक्ति-सम्पन्न, न्यायमार्ग पर चलनेवाला, औरों का पोषण करनेवाला, ज्ञानप्रवण और क्षमाशील बना रहूँ।

ऋषिः—**रेभसूनू काश्यपौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

अ-हिंसा

५५०. अभी नवन्ते अद्रुहः प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
वत्सं न पूर्व आयुनि जातं रिहन्ति मातरः॥ ६॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि रेभ=स्तोता, सूनू=प्रेरणा को सुननेवाले तथा काश्यप=ज्ञानी हैं। ये **अद्रुहः**=सब प्रकार के द्रोहों से ऊपर उठते हुए, किसी की हिंसा करना न चाहते हुए, सभी के मङ्गल की भावना से **प्रियम्**=जीवमात्र के साथ प्रेम करनेवाले **इन्द्रस्य काम्यम्**=जितेन्द्रिय जीव से चाहने योग्य उस प्रभु के प्रति **अभिनवन्ते**=जाते हैं, (नव गतौ)—उसकी स्तुति करते हैं (नु स्तुतौ) या उसके प्रति नतमस्तक होते हैं (नम)। सदा प्रभु का स्तवन करनेवाले कभी भी किसी के प्रति द्वेष की भावना नहीं रख सकता। प्रभु का भक्त तो 'सर्वभूतहिते रतः' होता है। प्रभु की कृपा से वह सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त है तो उसे प्रभु के प्राणियों के कल्याण में प्रवृत्त होना ही चाहिए। गत मन्त्र में एक 'पवित्र+धन-सम्पन्न घर का' चित्रण हुआ था। प्रस्तुत मन्त्र में उस घर में उत्पन्न 'योग-प्रवण' (प्रभु-भक्त) का चित्रण करते हैं कि 'वह किसी से भी कभी द्वेष नहीं करता'।

'क्या पापी से भी हमें घृणा न हो?' इस प्रश्न का उत्तर वेद इस प्रकार से देता है कि **न**=जिस प्रकार **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए **पूर्वे आयुनि**=प्रथम अवस्था में वर्त्तमान **वत्सम्**=बछड़े को **मातरः**=उसकी माताएँ—गौएँ **रिहन्ति**=चाटती हैं। बछड़े का शरीर मलिन होता है—परन्तु उसकी माता उसे चाट-चूटकर शुद्ध कर देती है। इसी प्रकार हमें भी प्राणियों से घृणा न करके बड़े कोमल उपायों से उसे शुद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। हम पाप को दूर करने का प्रयत्न करें, न कि पापी को समाप्त करने का। पाप को दूर करना ही वस्तुतः पापी को समाप्त करना है। गौ को जैसे बछड़े से प्रेम है, उसी प्रकार प्रेम की भावना से पूर्ण होने पर मैं पापी को अपनी ओर आकृष्ट करके पाप को समाप्त कर पाऊँगा।

भावार्थ—मैं अहिंसावृत्ति का पोषण करूँ, तदर्थ प्रभु का स्तोता बनूँ।

ऋषिः—रेभसूनू काश्यपौ॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

आत्मरूप शरवाला धनुष (प्रणवो धनुः)

५५१. आ हर्यताय धृष्णवे धनुष्टन्वन्ति पौंस्यम्।
शुक्रा वि यन्त्यसुराय निर्णिजे विपामग्रे महीयुवः॥ ७॥

शुक्राः=जो व्यक्ति अपने जीवन को (शुच् दीप्तौ) शुद्ध बनाते हैं या शक्तिशाली (शुक्र=वीर्यम्) बनाते हैं, वे **हर्यताय**=(हर्य=कान्ति) कामना के योग्य—जीव से चाहने योग्य **धृष्णवे**=हमारे कामादि शत्रुओं का धर्षण करनेवाले प्रभु के लिए **पौंस्यम्**=(पूञ्+तुमुन्) पवित्र किये हुए आत्मरूप तीरवाले **धनुः**=धनुष को **आतन्वन्ति**=खूब तानते हैं। उपनिषदों में इस धनुष का रूपक इस रूप में दिया है—**प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्**=ओंकार धनुष है, आत्मा ही बाण है, ब्रह्म उसका लक्ष्य है। बड़ी सावधानी से उसका वेध करना चाहिए। शर जिस प्रकार लक्ष्य में प्रविष्ट हो जाता है, इसी प्रकार आत्मरूप शर भी ब्रह्मरूप लक्ष्य में प्रविष्ट हो जाए। वास्तव में ही **शुक्राः**=अपने को शुद्ध बनानेवाले ये उपासक **असुराय**=(असून् राति) प्राणों के प्राण, प्राणों के दाता उस प्रभु के लिए **वियन्ति**=विशेषरूप से जाते हैं और उसी में प्रवेश कर जाते हैं (अभिसंविशन्ति)। इस प्रभु में प्रवेश के द्वारा वे **निर्णिजे**=पूर्णरूप से अपने शोधन के लिए समर्थ होते हैं (णिजिर्=शुद्धि)। वे प्रभु सहस्त्रधार=पवित्र हैं, उनमें यह उपासक सर्वथा शुद्ध हो जाता है।

इस प्रकार अपना शोधन करनेवाले ये व्यक्ति **विपाम् अग्रे**=मेधावियों के प्रमुख होते हैं। **महीयुवः**=ये भौतिक सुखों की आसक्ति से ऊपर उठ चुके होते हैं। महनीय प्रभु से मेल चाहनेवाले के लिए यह आवश्यक ही है।

भावार्थ—मैं प्रवणरूप धनुष के द्वारा आत्मरूप शर से ब्रह्मरूप लक्ष्य का वेधन करूँ।

ऋषिः—वर्षागिराम्बरीषौ॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

ठीक चुनाव, ठीक प्रगति

५५२. परि त्यं हर्यतं हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण।
यो देवान्विश्वाँ इत्परि मदेन सह गच्छति॥ ८॥

'अम्बरीष'=आये-गये का मधुर शब्दों में स्वागत करनेवाला 'वर्षागिर'=जिसकी वाणी से मधु टपकता है, वह अपने जीवन को उस व्यक्ति जैसा बनाता है **यः**=जो **विश्वा देवान्**=सब दिव्य गुणों की ओर **इत्**=सचमुच **मदेन सह**=आनन्द के साथ **परिगच्छति**=जाता है। दिव्य गुणों में आनन्द लेनेवाला व्यक्ति उस उत्तम मार्ग पर उत्साह से चलता है और लक्ष्य-स्थान पर अवश्य ही पहुँचता है, परन्तु इस मार्ग पर प्रसन्नतापूर्वक चलना तभी सम्भव हो सकता है जब हम अपने जीवन का ठीक चुनाव कर लें। इसी ठीक चुनाव का उल्लेख मन्त्र के पूर्वार्द्ध में है। ये लोग **त्यम्**=उस **हर्यतम्**=काम्य—कामना करने के योग्य—चाहने योग्य **हरिम्**=सब दु:खों के हरनेवाले तथा **बभ्रुम्**=भरण-पोषण करनेवाले प्रभु को **वारेण**=वासनाओं के वारण

के द्वारा **परिपुनन्ति**=ज्ञान का विषय बनाते हैं—प्रभु का चिन्तन करते हैं। प्रभु सर्वव्यापक होने से हमारे अन्दर भी विद्यमान हैं ही, परन्तु सामान्यतः हमें प्रभु का आभास नहीं होता। जब काम-क्रोध का निवारण करके हम अपने ज्ञान को आवृत नहीं होने देते तब हमें प्रभु की प्रतीति होती है। उसमें जो आनन्द व शान्ति प्राप्त होती है, वह सांसारिक ऐश्वर्यों से भरपूर होने पर भी प्राप्त नहीं हो सकती। यह व्यक्ति विचार कर अब ठीक निश्चय करता है और प्रेय की बजाय श्रेयमार्ग को ही चुनता है। ठीक चुनाव करने के पश्चात् वह आनन्दपूर्वक इस दिव्यता की प्राप्ति के मार्ग पर बढ़ता है। संसार की चकाचौंध से इसकी आँखें चुँधयाती नहीं, यह प्रसिद्धि या यश का भूखा नहीं बनता। अप्रसिद्धि में ही रहकर, चुपचाप लोक-सेवा करता हुआ, यह दिव्यता के मार्ग पर आगे-और-आगे बढ़ता ही जाता है।

भावार्थ—मेरा चुनाव ठीक हो और तब उस श्रेयमार्ग पर मैं प्रसन्नता से आगे बढ़ूँ।

ऋषिः—**प्रजापतिर्विश्वामित्रो वाच्यो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

महान् विघ्न का अपाकरण

१ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २र
५५३. प्र सुन्वानायान्धसो मर्तो न वष्ट तद्वचः।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २र
अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः॥ १॥

गत मन्त्र में प्रेय और श्रेय में ठीक चुनाव करनेवाले व्यक्ति का उल्लेख था। उसने संसार की चमक को देखकर अपने मन में लालच उत्पन्न नहीं होने दिया। यह अपने उपास्य प्रभु का अनुकरण करके, छोटे रूप में, 'प्रजा-पति' बना, औरों का रक्षक बना। सभी का मित्र होने पर 'वैश्वामित्र' कहलाया, सभी की प्रशंसा प्राप्त करके 'वाच्य' (one who is praised) हुआ। यह कहता है कि **भृगवः**=(भ्रस्ज पाके) अपना परिपाक करनेवाले तपस्वियो! **अराधसम्**=सिद्धि न होने देनेवाले—सिद्धि के विघ्नभूत **श्वानम्**=लोभवृत्ति को **उ**=निश्चय से **अपहत**=दूर (विनष्ट) करो, **न मखम्**=यज्ञिय भावना को नहीं। स्वार्थ व लोभ मनुष्य को आगे नहीं बढ़ने देते। वे सिद्धि के मार्ग के सर्वमहान् विघ्न हैं—उनका अपाकरण सिद्धि के लिए आवश्यक है। जितना-जितना हम लोभ को जीतते हैं उतना-उतना सिद्धि के समीप पहुँचते हैं। प्रभु यज्ञ हैं, उन्हें हम अपने अन्दर यज्ञिय भावना को विकसित करके ही तो पा सकेंगे।

हे **मर्तः**=मनुष्यो! **अन्धसः**=आध्यातव्य परमात्मा के **प्रसुन्वानाय**=अपने अन्दर खूब विकास करनेवाले के लिए **तद्वचः**=वेदों के वे अर्थवादरूप वचन, जिनमें विविध यज्ञों की फल-श्रुतियों का उल्लेख हुआ है, **न वष्ट**=रुचिकर=काम्य नहीं होते। वह अर्थवाद वाक्यों में फँसकर सांसारिक ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए उन-उन साधनों को नहीं जुटाता रहता। वह तो प्रभु का ध्यान करता है—प्रभु के प्राणियों का हित करता है। लोभ से दूर रहता है—यज्ञिय भावना को नष्ट नहीं होने देता। परिणामतः सिद्धि प्राप्त करता है।

भावार्थ—लोभ को दूर करके मैं लक्ष्य का लाभ करने में समर्थ होऊँ।

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—**कविर्भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

कवि भार्गव का जीवन

५५४. अभि प्रियाणि पवते चनोहितो नामानि यह्वो अधि येषु वर्धते।
आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नधि रथं विष्वञ्चमरुहद् विचक्षणः॥ १॥

कवि शब्द का अर्थ है क्रान्तदर्शी—वस्तुओं को गहराई तक देखनेवाला। इसी भावना को मन्त्र की समाप्ति पर 'विचक्षणः' शब्द से कहा गया है—**वि**=विशेषरूप से, विविध दृष्टिकोणों से, बारीकी से **चक्षणः**=देखनेवाला। यह विचक्षण अपना जीवन निम्न प्रकार से बिताता है—

१. **चनो हितः**=(चनस्=Delight, satisfaction, pleasure) सदा आनन्द में निहित, जो सदा आत्मतृप्त है, वह **प्रियाणि नामानि**=प्रिय लगनेवाले नामों को **अभिपवते**=पवित्र करता है—निरन्तर विचार के द्वारा, 'तदर्थभावन' द्वारा उन्हें परिमार्जित कर डालता है। अथवा अन्तर्भावितण्यर्थ पवते का प्रयोग होने पर अर्थ इस प्रकार होगा कि उन नामों से अपने को **अभि**=अन्दर-बाहर दोनों ओर से **पावयति**=पवित्र कर डालता है। किन-नामों के द्वारा? **यह्वः**=वह सबसे जाया गया और पुकारा गया प्रभु (यातश्च हूतश्च) **येषु**=जिनमें **अधिवर्धते**=अधिकाधिक बढ़ता है—अर्थात् जिन नामों के अन्दर उस प्रभु की भूरि-भूरि महिमा वर्णित हुई है। वस्तुतः इन नामों के निरन्तर अर्थभावन से ही तो वह अपने जीवन के लक्ष्य को भी स्थिर कर पाया है और उस लक्ष्य की ओर चलकर अपने जीवन को पवित्र कर सका है। उसने क्या किया है—

२. **रथं अधि अरुहत्**=रथ पर अधिष्ठातृरूपेण आरूढ़ हुआ है। यह शरीर ही रथ है—इसपर वह अधिष्ठाता बनकर बैठा है, अर्थात् वह पूर्णरूपेण उसके वश में है। इसी का परिणाम है कि यह रथ—

(क) **सूर्यस्य**=सूर्य का हुआ है, अर्थात् अत्यन्त प्रकाशमय है। इसकी छत के समान मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य का उदय हुआ है। इसने विचक्षण व कवि होने के नाते प्रत्येक वस्तु को ठीक ही रूप में देखा है।

(ख) **बृहतो बृहन्**=यह रथ बड़े-से-बड़ा है—खूब बढ़ा हुआ है। इसका हृदयरूप मध्य विशाल है उसमें सभी के बैठने के लिए स्थान उपलभ्य है तभी तो यह सम्पूर्ण वसुधा को अपना कुटुम्ब बना पाया है।

(ग) **विष्वञ्चम्**=यह रथ विविध दृष्टिकोणों से उत्तम प्रकार से पूजित है (वि षु अञ्चम्), अर्थात् इसमें किसी एक अङ्ग का विकास किया गया हो ऐसी बात नहीं है। इसका प्रत्येक अङ्ग सुन्दर बना है और इसीलिए सबने इसे सराहा है।

इस प्रकार इस शरीररूप रथ में इस कवि का मस्तिष्क ज्ञानसूर्य से जगमगा रहा है, इसका मन विशाल और विशालतर हो गया है और इसने इसके प्रत्येक अङ्ग को सबल बनाया है।

भावार्थ—कवि प्रभु के नामों का जप करता है और अपने जीवन को अधिकाधिक

सुन्दर बनाता है।

ऋषिः—**कविर्भार्गवः**।। देवता—**पवमानः सोमः**।। छन्दः—**जगती**।। स्वरः—**निषादः**।।

कवि की कान्त-कामना

५५५. अचोदसो नो धन्वन्त्विन्दवः प्र स्वानासो बृहद् देवेषु हरयः।
वि चिदश्नाना इषयो अरातयोऽर्यो नः सन्तु सनिषन्तु नो धियः॥ २॥

कवि इस प्रकार कामना करता है कि—

१. **नः**=हमारे **इन्दवः**=(**बिन्दवः**)=सोम=वीर्य के कण **अचोदसः**=(not excited, restrained, calm, prevented) अनुत्तेजित हुए-हुए, संयम में रखे हुए-हुए शान्त व निरुद्ध होकर **प्र-धन्वन्तु**=उच्चता की ओर गति करनेवाले हों और इस प्रकार हमें पवित्र बना डालें।

२. **हरयः**=हमारी इन्द्रियाँ (हरणात् हरयः) **देवेषु**=दिव्य गुणों में **बृहत् प्रस्वानासः**=खूब गर्जनेवाली हों। हमारी इन्द्रियों से दिव्य गुणों का उच्चारण हो रहा हो, अर्थात् एक-एक इन्द्रिय शुभ कार्य में ही प्रवृत्त हो।

३. **इषयः**=(इष्=विष्= wish) नाना प्रकार की इच्छाएँ, कामनाएँ जोकि **अरातयः**=अपनी ही आवश्यकताएँ बढ़ जाने से हमें दान भी नहीं देने देतीं (अविद्यमाना रातिर्याभ्यः), अतएव हमारी शत्रु हैं। ये वासनाएँ **चित्**=निश्चय से **वि-अश्नाना**=विहीन भोजनवाली हों। इनको भोजन न प्राप्त हो और ये भूखी ही मर जाएँ। निराहार देही के विषय निवृत्त हो जाते हैं। यही तो उपवास का दर्शन है। यह उपवास वासनाओं से दूर कर हमें प्रभु के समीप **वास**=निवास देनेवाला होता है।

४. **नः अर्यः सन्तु**=उल्लिखित प्रकार से वासनाओं को दूर करके हमारे सब व्यक्ति स्वामी (अर्य) इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय हों और अन्त में—

५. **नः**=हम सबकी **धियः**=बुद्धियाँ **सनिषन्तु**=संविभागपूर्वक सेवन करने के विचारवाली हों। जितेन्द्रिय ही संविभाग के विषय का पालन कर सकता है। अजितेन्द्रिय की तो अपनी ही भूख समाप्त नहीं होती। उसे क्या संविभाग करना?

यह पञ्चविध कामना कितनी सुन्दर है? परन्तु इसे कवि ही कर सकता है, जिसने कि आपातरमणीय विषयों की गहराई तक जाकर उनके खोखलेपन को देख लिया है। दूसरों को तो विषयों की चमक आकृष्ट कर ही लेती है।

भावार्थ—कवि की उपर्युक्त कान्त-कामना की हम भी कामना करें।

ऋषिः—**कविर्भार्गवः**।। देवता—**पवमानः सोमः**।। छन्दः—**जगती**।। स्वरः—**निषादः**।।

कवि का निवासस्थान व कार्यप्रणाली

५५६. एष प्र कोशे मधुमाँ अचिक्रददिन्द्रस्य वज्रो वपुषो वपुष्टमः।
अभ्यृ३तस्य सुदुघा घृतश्चुतो वाश्रा अर्षन्ति पयसा च धेनवः॥ ३॥

१. **एषः**=यह कवि **प्र-कोशे**=सर्वोत्कृष्ट आनन्दमयकोश में निवास करता हुआ **मधुमान्**=

माधुर्यवाला होता है। यह मधु-जैसा ही हो जाता है। अन्नमयादि कोश ही तो हमें द्वैत में रखते हैं। आनन्दमयकोश में पहुँचकर यह एकत्व का दर्शन करता है और शोक-मोह से ऊपर उठकर किसी से भी घृणा नहीं करता (ततो न विजुगुप्सते)।

२. **अचिक्रदत्**=यह प्राणिमात्र के कल्याण के लिए सदा प्रभु का आह्वान करता है (Sends his constant prayers unto God) (क्रद्+यङ् का लुङ्)। इसका जीवन प्रार्थनामय होता है, अतएव वासनाशून्य। वासनाओं को तो मानो यह रुला देता है कि हम कहाँ रहेंगी? इसी का परिणाम है कि—

३. **इन्द्रस्य वज्रः**=यह इन्द्र बनता है। जितेन्द्रिय—इन्द्रियों का अधिष्ठाता। इसका शरीर वज्रतुल्य दृढ़ हो जाता है। यह तो हुआ कवि का निजू जीवन। इसके सामाजिक जीवन में **वाश्राः अभि अर्षन्ति**=इसकी आवाजें (उपदेश-वाणियाँ) चारों ओर तीव्रता से पहुँचती हैं (अर्ष=rush)। यह परिव्राट् जो हुआ। कैसी वाणियाँ? (क) **ऋतस्य**=सत्य की। यह असत्य तो कभी बोलता ही नहीं, (ख) **सुदुघा**=उत्तमता से पूरण करनेवाली। इसकी वाणी जले पर नमक छिड़कनेवाली न होकर घावों को भरनेवाली होती हैं, (ग) **घृतश्चुतः**=दीप्ति का स्रावण करनेवाली, अर्थात् उत्साह भरनेवाली अथवा ज्ञान देनेवाली, **च**=और (घ) **पयसा**=वृद्धि के द्वारा **धेनवः**=पान करानेवाली—तृप्त करानेवाली। इसकी वाणियाँ वृद्धि का ही कारण बनती हैं, ह्रास का नहीं। यह धर्म का प्रचार अत्यन्त श्लक्ष्ण व मधुर वाणी से करता है।

भावार्थ—कवि सदा आनन्दमयकोश में निवास करता है और मधुर शब्द ही बोलता है।

ऋषिः—**सिकतानिवावरीऋषिगणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सिकता निवावरी

५५७. प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा सख्युर्न प्र मिनाति सङ्गिरम्।
मर्यइव युवतिभिः समर्षति सोमः कलशे शतयामना पथा॥ ४॥

'सिकता' शब्द ब्राह्मणग्रन्थों में 'रेतः' का पर्याय है। यह ऋषिका अपने को शक्ति का पुञ्ज बनाती है और इसी उद्देश्य से निवावरी=निश्चय से प्रभु का वनन=उपासन-सम्भजन करती है। प्रभु-उपासना से वासनाएँ दूर रहती हैं और शक्ति की रक्षा सम्भव होती है। यह इसी निश्चय पर पहुँची है कि १, **इन्दुः**=(बिन्दुः) शक्ति का धारण करके शक्ति का पुञ्ज बननेवाला व्यक्ति ही उ=निश्चय से **इन्द्रस्य**=प्रभु के **निष्कृतम्**=शुद्ध पद को अथवा अनृणता को **प्र अयासीत्**=प्रकर्षेण प्राप्त होता है। २. **सखा**=यह प्रभु का मित्र **सख्युः**=अपने मित्र प्रभु की **सङ्गिरम्**=उत्तम वाणी को अथवा प्रभु के साथ की गयी प्रतिज्ञा को **न प्रमिनाति**=नहीं तोड़ता है। सच्चा मित्र प्रतिज्ञा नहीं तोड़ता। ३. यह **मर्यइव**=उस मनुष्य की भाँति जोकि **युवतिभिः समर्षति**=युवतियों के साथ गति करता है और उनके साथ होने से उचित मर्यादित नम्रता (modesty) से चलता है, उसी प्रकार **सोमः**=सोम व विनीत होता है तथा ४. **कलशे**=शरीररूप कलश में **शतयामना पथा**=शतशः नियन्त्रणोंवाले, प्रतिदिन लिये जानेवाले अल्पव्रतों के नियमवाले मार्ग से चलता है। इसने कितने ही व्रतों में अपने को संयत किया हुआ होता है। यह संयम=बन्धन ही इसके बन्धन-छेद का कारण बनता है। यह संयम ही इसके शरीर को भी १६ कला सम्पन्न बना 'कलश' इस सार्थक नामवाला करता है।

भावार्थ—शक्ति का धारण, प्रभु से की गयी प्रतिज्ञाओं का पालन, उचित विनीतता व व्रतमय जीवन ये चार बातें हमें परम-पद को प्राप्त कराने में साधन होती हैं।

ऋषिः—**कविर्भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

कवि का कार्यक्षेत्र

५५८. धर्ता दिवः पवते कृत्व्यो रसो दक्षो देवानामनुमाद्यो नृभिः।
हरिः सृजानो अत्यो न सत्वभिर्वृथा पाजांसि कृणुषे नदीष्वा॥ ५॥

यह कवि १. **दिवः**=ज्ञान का **धर्ता**=धारण करनेवाला होकर **पवते**=अपने को पवित्र करता है—और गतिमय होता है। ज्ञान के द्वारा यह अपने जीवन को पवित्र बनाता ही है, साथ ही गतिशील होता हुआ उस प्रकाश को सर्वत्र फैलाता है। २. **कृत्व्यः**=यह सदा क्रियाशील होता है—कर्म करनेवालों में उत्तम।

यह वासनाओं से निवृत्त होता है—कर्म से नहीं। ३. **रसः**=इसकी कार्यप्रणाली में माधुर्य होता है। इसकी क्रियाएँ व उपदेश सभी रसमय होते हैं। ४. **देवानाम् दक्षः**=विद्वानों में भी निपुण, यह अपने कार्य को दक्षता से करता है। ५. **अनुमाद्यः नृभिः**=मनुष्यों से यह सदा अनुमाद्य होता है। यह ऐसी दक्षता से कार्य करता है कि मनुष्य आनन्द-ध्वनियों से गूँज उठते हैं (There are always loud cheers whenever he speaks)। मनुष्य उसे देखकर प्रसन्न होते हैं (Men are delighted to see him)। ६. **हरिः**=इसका लक्ष्य सदा जन-दुःख-हरण होता है। दुःख-हरण से ही यह हरि कहलाता है। ७. **सृजानः**=इसीलिए यह स्वभावतः निर्माणात्मक कार्यों में लगा रहता है। तोड़-फोड़ के कार्य नहीं करता। ८. **अत्यो न सत्वभिः**=यह इतना कार्य इसलिए कर पाता है कि यह बल में घोड़े के समान होता है। कार्य के अभाव में यह निरानन्दता अनुभव करता है। यह निरन्तर गतिशीलता में ठीक रहता है (अत् सातत्यगमने)। ८. यह अपना कार्यक्षेत्र **आ नदीषु**=(Crying with pain) चारों ओर से दुःख से कराहती प्रजाओं में बनाता है। यह हिमालय की कन्दराओं में जाकर समाधि का आनन्द नहीं लेने लगता। इन प्रजाओं में यह **पाजांसि**=अपनी शक्तियों को **कृणुते**=विनियुक्त करता है और इस कार्य में **वृथा**=यह अनायास ही प्रवृत्त होता है। अपने किसी निज लाभ के लिए यह उस कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, बिना किसी स्वार्थ ही लगा रहता है।

भावार्थ—कवि निःस्वार्थभाव से जनहित के कार्यों में सदा प्रवृत्त रहते हैं।

ऋषिः—**सिकतानिवावरीऋषिगणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगति**॥ स्वरः—**निषादः**॥

बुद्धि के धनी का प्रभु में प्रवेश (Crossing of three rivers)

५५९. वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सोमो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः।
प्राणा सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्द्यविशन्मनीषिभिः॥ ६॥

'सिकता निवावरी' समझती है कि १. **मतीनाम्**=बुद्धियों की **वृषा**=शक्तिवाला **पवते**=अपने जीवन को पवित्र बनाता है। २. **विचक्षणः**=यह विशेष-सूक्ष्म दृष्टिवाला होता है, अतएव **सोमः**=विनीत होता है। ज्ञान के ये दो परिणाम निश्चित हैं—सूक्ष्मता और विनीतता। ३.

यह पवित्र व विनीत व्यक्ति **अह्नाम्**=(अ+हन्) जिनका नष्ट करना कठिन है उन अभिमान की भावनाओं का **उषसाम्**=(उष् दाहे) अन्दर ही सन्तप्त करनेवाली काम-वासनाओं को तथा **दिवः**=लोभ के कारण उत्पन्न द्यूतवृत्ति का **प्रतरीतः**=तैर जानेवाला होता है। ज्ञान के कारण यह अभिमान, काम व लोभ का शिकार नहीं होता। ४. इन वासनाओं का शिकार न होकर यह **सिन्धुनां प्राणा**=(सिन्धुनाम्=अपाम्=रेतसाम्) वीर्यशक्ति का अपने में (प्रा=पूरणे) पूरण करनेवाला होता है। इस प्रकार अपने जीवन को 'ज्ञानमय, पवित्र, विनीत, निर्वासन व शक्ति-सम्पन्न' बनाकर यह ५. **कलशान्**=शरीरधारियों के प्रति **अचिक्रदत्**=पुकार-पुकार कर धर्म का उपदेश देता है और इस प्रकार लोकसंग्रह करता हुआ ६. **मनीषिभिः**=सदा मननशील विद्वान् मित्रों के साथ चर्चा करता हुआ **इन्द्रस्य**=उस प्रभु के **हार्दि**=हृदय में **आविशत्**=प्रवेश करता है। वैसे तो प्रभु सभी के हृदयों में सदा से हैं, परन्तु इस विनीत ज्ञानी का हृदय तो वासनाओं का निवास-स्थान न रहकर प्रभु का ही निवास-स्थान हो जाता है। और यह सदा इस प्रभु के हृदय में प्रवेश करता है। इस अन्तिम वाक्य का अर्थ इस रूप में भी कर सकते हैं कि वह प्रभु के रहस्य को समझने लगता है।

भावार्थ—हम 'अभिमान, काम व लोभ' के समुद्रों को तैरनेवाले बनें।

सूचना—*इस मन्त्र में 'अहन्, उषस् व दिव्' तीन शब्दों का प्रयोग अत्यन्त प्रसिद्ध अर्थ में न होकर अभिमान, काम व लोभ के लिए हुआ है।*

ऋषिः—**रेणुर्वैश्वामित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगति**॥ स्वरः—**निषादः**॥

रेणुः वैश्वामित्रः

५६०. त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरे सत्यामाशिरं परमे व्योमनि।
चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत॥ ७॥

इस मन्त्र का ऋषि **रेणु**=गतिशील, नदी की भाँति स्वाभाविक, सरल, निरन्तर गतिवाला, सदा नीचे और नीचे, अर्थात् अधिक और अधिक विनीत बनता हुआ यह व्यक्ति **वैश्वामित्रः**=सभी के साथ स्नेहवाला है। यह स्वाभाविक नम्रता, पूर्णगति और प्रेम उसे इस योग्य बनाते हैं कि **सप्त धेनवः**=सात छन्दों में चलनेवाली ये वेदवाणियाँ (ज्ञान-दुग्ध का पान कराने से ये वेद-वाणियाँ धेनु हैं) **अस्मै**=इस वैश्वामित्र रेणु के लिए **त्रि**=आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक भेद से तीन प्रकार से **आशिरम्**=वासनाओं को शीर्ण करनेवाले **सत्याम्**=सत्यज्ञान को **परमे व्योमनि**=उत्कृष्ट मूर्धारूप द्युलोक में **दुदुह्रिरे**=पूर्ण करती हैं (दुह प्रपूरणे)। गति, नम्रता और सभी के साथ स्नेह—ये तीन ऐसे उत्तम गुण हैं जो रेणु के मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण कर देते हैं। गति से भूलोक को, नम्रता से भुवर्लोक को तथा स्नेह को सबके साथ व्यापक बना देने से यह स्वर्लोक को जीतता है। अब **चत्वारि अन्या भुवनानि**=चार दूसरे, महः, जनः, तपः, सत्यम्' लोकों का **निर्णिजे**=शोधन व पोषण करने के लिए यह रेणु **चारुणि**=सुन्दर कर्मों को **चक्रे**=करता है और **यत्**=जब यह **ऋतैः**=बिल्कुल ठीक समय व स्थान पर क्रियाओं के द्वारा **अवर्धत**=बढ़ता है, तब उन लोकों का आक्रमण करता ही है। अन्त में वह सत्यलोक में पहुँचता है। यह सत्यलोकवास ही उसका अन्तिम पग होता है। ऋत-पालन के बिना यहाँ कैसे पहुँचा जा सकता है?

भावार्थ—हम रेणुवत् वेदवाणी के द्वारा ज्ञान का दोहन कर, सुन्दर कर्मों को करते हुए और ऋत को पालते हुए सत्यलोक में अवस्थित हों।

ऋषिः—**वेनो भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

वेनो भार्गवः

५६१. इन्द्राय सोम सुषुतः परि स्रवापामीवा भवतु रक्षसा सह।
मा ते रसस्य मत्सत द्वयाविनो द्रविणस्वन्त इह सन्त्विन्दवः॥ ८॥

'वेन शब्द का अर्थ 'प्रबल इच्छावाला' है। प्रभु-प्राप्ति की प्रबल इच्छा होने के कारण यह भार्गवः=अपना उत्तम परिपाक करनेवाला है। यह 'वेन भार्गव' अपनी शक्ति को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि १. हे **सोम**=सोम! तू **सुषुतः**=उत्तम भोजनों से उत्पन्न हुआ-हुआ **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **परिस्रव**=मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में परिस्रुत हो। मैं तेरा विनियोग सांसारिक सुखों की प्राप्ति में न करके प्रभु-प्राप्ति में करूँ। २. प्रसङ्गवश **अमीवा**=सब रोग व रोग के कीटाणु **अपभवतु**=दूर हों। वीर्यशक्ति रोगकृमियों का संहार करके मुझे रोगों से बचानेवाली हो। ३. **रक्षसा सह**=सब राक्षसी वृत्तियों के साथ मेरे रोग दूर भाग जाएँ। वीर्य के अपव्यय से जहाँ शरीर के अन्दर रोग उत्पन्न हो जाते हैं, वहाँ मन में भी अशुभ विचार आ जाते हैं। मनुष्य अपने रमण के लिए औरों का क्षय करने लगता है। यह रमण के लिए क्षय ही 'रक्षस्' वृत्ति कहलाती है। जीवन के संयमी होने पर हमारे अन्दर ये अशुभ वृत्तियाँ नहीं पनपतीं।

इस **ते**=तुझ सोम के **रसस्य**=रस का **द्वयाविनः**=प्रभु व लोक दोनों की ओर जाने की कामनावाले लोग **मा मत्सत्**=आनन्द प्राप्त न कर सकें। वस्तुतः संसार की कामना के साथ प्रभु का ध्यान सांसारिक वस्तुओं की वृद्धि के लिए ही होता है। यह सकाम 'प्रभु का ध्यान' उसे विषयों से बचा नहीं पाता। क्या ये सांसारिक सुख-भोग सचमुच द्रविण हैं? वेद कहता है नहीं। **इह**=इस संसार में **इन्दवः**=सोम-कणों को अपने में सुरक्षित करके शक्तिशाली बननेवाले लोग ही **'द्रविणस्वन्तः'**=उत्तम द्रविणवाले **सन्तु**=हों, उन्होंने ही उत्कृष्ट परमार्थ धन को कमाया है। द्वयावी पुरुषों को प्रभु से भोगादि सामग्री प्राप्त होती है, परन्तु इन्दुओं को तो प्रभु ही प्राप्त हो जाते हैं। वेन की प्रबल कामना यही थी कि मैं प्रभु को पा सकूँ। आज उसकी यह इच्छा परिपूर्ण हुई है। उसने अपना परिपाक भी तो किया था।

भावार्थ—हममें प्रभु-प्राप्ति के लिए प्रबल कामना हो और उसके लिए हम अपना परिपाक करें।

ऋषिः—**वसुर्भारद्वाजः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

वसुः भारद्वाजः

५६२. असावि सोमो अरुषो वृषा हरी राजेव दस्मो अभि गा अचिक्रदत्।
पुनानो वारमत्येष्यव्ययं श्येनो न योनिं घृतवन्तमासदत्॥ ९॥

'वसुः' शब्द का अर्थ है 'उत्तम निवासवाला' और 'भारद्वाजः' का अर्थ है जिसने

मस्तिष्क में ज्ञान को, मन में त्याग को तथा शरीर में क्रियाशीलता को भरा है। इसका जीवन कैसा है?

१. **असावि**=यह उत्तम विकास कर चुका है (He has grown), उन्नति के शिखर पर पहुँच चुका है, परन्तु इतना उन्नत होते हुए भी यह **सोमः**=विनीत है। उन्नत, परन्तु नत।

२. **अरुषः**=यह क्रोध से शून्य है। कभी क्रोध में नहीं आता, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह निर्बल है। यह वसु तो क्रोध न करता हुआ **वृषा**=अत्यन्त शक्तिशाली है। वस्तुतः शक्तिशाली होने से ही वह क्षमाशील—अक्रोधी है।

३. **हरिः**=यह औरों के दुःखों का हरण करनेवाला है, **राजा इव**=जैसे राजा प्रजा के दुःखों को दूर करता है, उसी प्रकार यह औरों के दुःखों को दूर करने में लगा रहता है।

४. **दस्मः**='औरों के दुःखों को दूर कर सकूँ', इसीलिए यह सब विषय-विकारों को अपने से दूर रखता है (दसु उपक्षये)—सर्वविकारों का यह उच्छेप्ता होता है।

५. **अभि**=विषय-विकारों को दूर करने को लक्ष्य में रखकर ही यह **गाः अचिक्रदत्**=शुभ शब्दों व नामों का उच्चारण करते हुए मन को शुभ बनाता है।

६. **पुनानः**=सदा शुभ वेदवाणियों का उच्चारण करता हुआ यह अपने जीवन को पवित्र बना लेता है। प्रभु और जीव में यही तो भेद था कि प्रभु शुद्ध और अपापविद्ध थे तो जीव मलिन कर्मों को भी कर बैठता था। आज वसु ने अपने को शुद्ध कर डाला है। शुद्ध करके यह **वारम्**=(भेदम्, वृङ् संभक्तौ—division) भेदक पंक्ति को **अत्येषि**=लांघ गया है। प्रभु जैसा-ही बन गया है।

७. **श्येनो न**=प्रशंसनीय गतिवाला होकर—सदा उत्तम कर्मों में लगा रहकर यह **योनिम्**=जगत् के मूलकारणभूत प्रभु की गोद में **आसदत्**=बैठा है। जो गोद **अव्ययम्**=अव्यय है—जिसमें पहुँच जाने पर फिर विविध योनियों में आना नहीं होता। (अ+वि+अय) तथा **घृतवन्तम्**=जो दीप्तिमय (घृ दीप्तौ) है, जहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश है—अन्धकार नहीं। यही तो शुक्लमार्ग की 'चरम सीमा' है।

भावार्थ—हम भी वसु की भाँति उन्नत होकर नम्र बनें, क्रोध न करते हुए शक्तिशाली हों, औरों के दुःखों का हरण करें, व्यसनों से दूर रहें। मुख से मन्त्रों को उच्चरित करें। पवित्र होकर प्रभु-जैसे बनें और उसकी प्रकाशमय गोद में पहुँचें।

ऋषिः—**भालन्दनो वत्सप्रीः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

वत्सप्रीः भालन्दः

५६३. प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दवोऽसिष्यदन्त गाव आ न धेनवः।
बर्हिषदो वचनावन्त ऊधभिः परिस्रुतमुस्त्रिया निर्णिजं धिरे॥ १०॥

वदतीति वत्सः=वेदवाणियों का उच्चारण करता है—प्रीणाति इति प्रीः—प्रभु को प्रसन्न करता है और भालं ददाति=अपने व्याख्यानों से प्रभु का जीवित-जागरित चित्रण करता है। यह भालन्द सदा—

१. **प्र देवम्**=उस प्रकृष्ट महादेव की **अच्छ**=ओर गतिवाला होता है। २. **मधुमन्तः**=ये

सदा माधुर्यवाले होते हैं। ३. **इन्दवः**=शक्तिशाली होते हैं। ४. **धेनवः गावः नः**=नवप्रसूतिका गौवों के समान औरों का पोषण करते हुए (धेट् पाने) **आ असिष्यदन्**=बड़ी स्निग्ध गतिवाले होते हैं। ये बिना किसी को ठोकर लगाये शान्तिपूर्वक जीवन-पथ पर बढ़ते चले जाते हैं। ५. **बर्हिषदः**=ये उस हृदय में निवास करनेवाले होते हैं जो वासनाओं को उखाड़ देने से 'बर्हि' नामवाला हुआ है, अर्थात् ये सदा निर्मल हृदय में आसीन होते हैं। ६. **वचनावन्तः**=ये अपने वचनों के बड़े पक्के होते हैं। ७. **उस्त्रियाः**=ज्ञान की रश्मियोंवाले ये लोग **ऊधभिः परिस्त्रुतम्**=रसों को चुवाते हुए **निर्णिजम्**=शोधन को, **धिरे**=धारण करते हैं, अर्थात् ये व्यक्ति सदुपदेशों व सन्मन्त्रों द्वारा औरों के जीवनों को भी पवित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु इनके वे उपदेश माधुर्य को टपकानेवाले शब्दों में दिये जाते हैं। इनकी वाणी से रस चू रहा होता है। रस-स्राविणी वाणियों से ये सब मलों को स्रुत करने, बहाने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—हमारी एक-एक क्रिया हमें प्रभु की ओर ले-जा रही हो, हम माधुर्यवाले, परन्तु शक्तिशाली हों, औरों का भी पालन करें। पवित्र हृदयवाले हों, वचन के पक्के हों, औरों को धर्म का ज्ञान रसस्रावि-शब्दों में दें।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनिकः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

अलंकृत करते हैं

५६४. अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मध्वाभ्यञ्जते।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमप्सु गृभ्णते॥ ११॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गृत्समद शौनक' है। (गृणाति इति गृत्सः, माद्यति इति मदः, शुनति इति शुनः स एव शौनकः) प्रभुस्तवन करता है, प्रसन्न रहता है और गतिशील होता है। ये गृत्समद शौनक लोग **अञ्जते**=अपने जीवनों को अलंकृत करते हैं **वि-अञ्जते**=विशेषरूप से अलंकृत करते हैं और **समञ्जते**=सम्यक्तया पूर्णरूपेण अलंकृत करते हैं।

जीवनों को अलंकृत करने के लिए वे **क्रतुं रिहन्ति**=यज्ञ का स्वाद लेते हैं। यज्ञ कहते हैं 'लोकहित के कर्मों को'। उन कर्मों में ये लोग आनन्द लेते हैं, उन्हें प्रसन्नतापूर्वक करते हैं। मनुष्य कर देता है—वह भी लोकहित का कार्य है, परन्तु मनुष्य को वह देना पड़ता है—उसमें उसे आनन्द नहीं, कष्ट का अनुभव होता है, परन्तु जब इन कार्यों में हम आनन्द लेने लगते हैं, तब हमारा जीवन अलंकृत हो जाता है।

अब, अपने जीवनों को विशेषरूप से अलंकृत करने के लिए वे **मध्वा**=माधुर्य से **अभ्यञ्जते**=पूर्णरूपेण अपने को लिप्त कर लेते हैं। इनका आना-जाना, बोलना—सब माधुर्यमय हो जाता है। क्रोधरूप राक्षस का वहाँ नामावशेष भी नहीं रहता। उनका मनःप्रसाद उनके चेहरे पर भी झलकता है।

जीवन के सौन्दर्य को अन्तिम रूप (Finishing touch) देने के लिए, पूर्णता तक पहुँचाने के लिए ये लोग **पशुम्**=काम को (कामः पशुः) **अप्सु**=कर्मों में **गृभ्णते**=निग्रहीत करते हैं। ये सदा कर्मव्यापृत रहकर काम को जीत लेते हैं। उस काम को जोकि **सिन्धोः**=स्पन्दनशील जीवन के—नाना योनियों में विचरण करनेवाले प्राणी के **उच्छ्वासे**=श्वास

लेना प्रारम्भ करने पर ही **पतयन्तम्**=आ टपकता है और **उक्षणम्**=उसे सींच डालता है, अर्थात् उसकी रग-रग में व्याप्त हो जाता है। बाल्यकाल के प्रारम्भ में बिन्दुरूप यह काम यौवन में उन्हें मारने लगता है। बीजरूप यह काम एक महान् वृक्ष बंन जाता है। इस काम को **हिरण्यपावा**=हिरण्यं वै ज्योतिः, हिरण्यं सोमः, सोम=शक्ति व ज्ञान का पान करनेवाले लोग सदा कार्यव्यापृत रहने के द्वारा समाप्त करने के लिए यत्नशील होते हैं।

यज्ञों से ये लोभ को जीतते हैं, माधुर्य से क्रोध को और कार्यव्यापृतता से काम को। इन तीनों नरकद्वारों को जीतकर ये अपने जीवनों को अत्यन्त सुन्दर बना लेते हैं।

भावार्थ—हम भी गृत्स बनकर प्रभु के, न कि प्रकृति के, स्तोता बनकर लोभ के विजेता बनें। मद—सर्वदा प्रसन्न बनकर क्रोध को जीतें। शुनक—सदा क्रियाशील होकर काम को समाप्त कर दें।

ऋषिः—**पवित्र आङ्गिरसः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

पवित्र आङ्गिरस

५६५. पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद् वहन्तः सं तदाशत॥ १२॥

काम-क्रोध व लोभ को जीतकर पवित्र बना हुआ 'हिरण्यपावा' बनकर 'आङ्गिरस' शक्तिशाली हुआ यह पवित्र आङ्गिरस प्रार्थना करता है कि हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के पति प्रभो! **ते**=आपका **पवित्रम्**=पवित्र करनेवाला स्वरूप **विततम्**=चारों ओर व्याप्त है—विस्तृत है। आप **प्रभुः**=अत्यन्त प्रभाववाले हैं। स्वयं पूर्ण पवित्र होते हुए औरों को पवित्र करनेवाले हैं। **विश्वतः**=सब ओर से **गात्राणि पर्येषि**=हमारे शरीरों को व्याप्त किये हुए हैं। अपनी पवित्रता को निरन्तर हममें संचरित कर रहे हैं, परन्तु **अतप्ततनूः**=जिसने अपने शरीर को तपाया नहीं, जो अपने जीवन को तपस्वी नहीं बना पाया, अतएव **आमः**=अपरिपक्व है वह **तत्**=उस पवित्र प्रभु को न **अश्नुते**=नहीं पाता। **शृतासः इत्**=केवल वे ही जोकि (शृ पाके) अपना पाक करते हैं, **संवहन्तः**=उत्तम प्रकार से जीवन-यात्रा को चलाते हैं **तत्**=उस प्रभु को **आशत्**=प्राप्त होते हैं। परिपक्व होने पर ही मनुष्य प्रभु को पाता है और फिर आवागमन के चक्र से छूट जाता है।

भावार्थ—हम पवित्र प्रभु में समाकर पवित्र हो जाएँ। इस समा जाने के लिए ही अपने आपको तीव्र तपस्वी बनाएँ।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—**अग्निश्चाक्षुषः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

परमकल्याण के लिए

५६६. इन्द्रमच्छ सुता इमे वृषणं यन्तु हरयः। श्रुष्टे जातास इन्दवः स्वर्विदः॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का छन्द 'उष्णिक्' है (उत् स्निह)—उत्कृष्ट स्नेह का यह संकेत कर रहा है। 'उत्कृष्ट स्नेह' करनेवाला व्यक्ति ही 'अग्नि'=आगे बढ़नेवाला होता है। जीवन का सूत्र 'आगे बढ़ना' यही होना चाहिए। ऐसा सूत्र बनानेवाला सफल तभी होता है जब वह 'चाक्षुष'

होता है—प्रत्येक वस्तु को सूक्ष्मता से देखता है।

इस व्यक्ति का ध्येय होता है कि **इमे**=ये **सुताः**=सात्त्विक भोजन से उत्पन्न हुए सोम **इन्द्रम् अच्छ**=उस प्रभु की ओर **यन्तु**=चलें, जो प्रभु **वृषणम्**=शक्तिशाली हैं—हमपर सुखों की वर्षा करनेवाले हैं। यह सोम हमें उस 'बृहत् सोम'=परमात्मा से मिलाता है।

ये सोम **हरयः**=हमारे सब दुःखों का हरण करनेवाले हैं। ये शरीर में रोगकृमियों को उत्पन्न ही नहीं होने देते और उत्पन्न रोगकृमियों का संहार कर हमारी व्याधियों का हरण करते हैं। शक्तिशाली बनाकर हमारे मनों को भी निर्मल कर देते हैं, बुद्धि की कुण्ठा को दूर करते हुए ये सचमुच **श्रुष्टे**=परमकल्याण के लिए ही (श्रुष्टी=सुख—नि०) **जाताः**=आविर्भूत हुए हैं। इनका उत्पादन प्रभु ने हमारे परमसुख के लिए किया है, क्योंकि **इन्दवः**=ये शक्तिशाली बनानेवाले हैं। सोम हमें पवित्र भी करते हैं और सशक्त भी बनाते हैं। इस प्रकार ये हमें **स्वः विदः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति—प्रभु को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—सोम मुझे 'बृहत् सोम' को प्राप्त कराए।

ऋषिः—**चक्षुर्मानवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

ज्योतिर्मय बल

५६७. प्र धन्वा सोम जागृविरिन्द्रायेन्दो परि स्रव। द्युमन्तं शुष्ममा भर स्वर्विदम्॥ २॥

प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को देखनेवाला 'चक्षुः' इस मन्त्र का ऋषि है। यह 'मानव'—ज्ञानी तो है ही। यह कहता है कि हे सोम! तू **प्रधन्व**=प्रकृष्ट गतिवाला हो। तेरी गति निचले मार्ग की ओर न होकर उत्तर व उत्कृष्ट मार्ग की ओर हो। इसी साधना को करता हुआ तू 'उत्तरायण' (उत्तर मार्ग) में अपने अन्तिम क्षणों को बिता। यह उत्तरायण ही 'शुक्ल—मार्ग' है—प्रकाशमय है।

हे **सोम**=सोम! तू मुझे **जागृविः**=इस प्रकाशमय मार्ग में स्थापित करता हुआ सदा चेतनामय=जाग्रत् बनाए रख। मैं मोहमयी प्रमाद—मदिरा के नशे में उन्मत्त न हो जाऊँ। हे **इन्दो**=मुझे शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **इन्द्राय**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **परिस्रव**=परिस्रुत हो। तू मुझे निरन्तर उस प्रभु के समीप और समीप प्राप्त करानेवाला हो।

इस लोकयात्रा में तू **शुष्मम्**=कामादि सब अन्तःशत्रुओं का शोषण करनेवाली उस शक्ति को मुझमें **आभर**=भर दे जो **द्युमन्तम्**=प्रकाशमय है। मेरा बल ज्ञान के प्रकाश से युक्त हो। ऐसा ही बल **स्वर् विदम्**=मुझे उस प्रभु को प्राप्त कराएगा। प्रभु 'स्वर्' हैं—स्वयं राजमान हैं। मैं भी ज्ञान से राजमान होकर उस प्रभु को पाता हूँ।

भावार्थ—संयम के द्वारा मनुष्य सोम की रक्षा करता है। यह सोम संयमी को 'ज्योतिर्मय बल' प्राप्त कराता है, जिससे यह उस परम ज्योति को प्राप्त होता है।

ऋषिः—**पर्वतनारदौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

निश्छल, निर्मल जीवन—मिलकर प्रभु का गान

५६८. सखाय आ नि षीदत पुनानाय प्र गायत। शिशुं न यज्ञैः परि भूषत श्रिये॥ ३॥

अपने को पवित्रता से निरन्तर पूर्ण करनेवाला (पर्व पूरणे) 'पर्वत' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि

है। अपने को पवित्र बनाकर यह अन्य 'नरों' को भी पवित्र बनाने का प्रयत्न करता है, अतः 'नारद' कहलाता है।

जीवन की पवित्रता के सम्पादन के लिए यह प्रस्ताव करता है कि **सखायः**=मित्रो! **आ**=चारों ओर से आकर **नि**=नम्रता से **षीदत**=बैठो। **पुनानाय**=उस पवित्र करनेवाले प्रभु के लिए **प्रगायत**=खूब गान करो। प्रभु के गुणों का गान हमारे जीवनों को पवित्र बनाएगा। स्तुति इस लक्ष्य को सदा हमारे सामने उपस्थित रखती है। अपने जीवन को **शिशुं न**=बच्चे की भाँति (Child like) निश्छल, निश्छिद्र, निर्दोष बनाने का एकमात्र मार्ग यही है। इस मार्ग की विशेषता यह है कि यह हमसे बच्चे के अज्ञान को दूर करता है और उसकी निष्कपटता को हमें प्राप्त कराता है। हमें मूर्ख=childish न बनाता हुआ बच्चे की भाँति=child like बना देता है।

इस प्रकार तुम **यज्ञैः**=स्वार्थपरता से शून्य कर्मों के द्वारा अपने जीवनों को **श्रिये**=शोभा के लिए **परिभूषत**=अलंकृत करो। प्रभु यज्ञरूप हैं—उन्होंने तो 'आत्मदा'—अपने को भी जीव-हित के लिए दे डाला है, प्रभु की स्तुति करते हुए हम भी अपने को यज्ञिय कर्मों द्वारा ऊपर उठानेवाले बनें। स्वार्थशून्यता ही हममें दिव्यता भरेगी और हमारा जीवन अधिकाधिक श्रीसम्पन्न बनेगा, तभी हम औरों को भी उस श्री का प्रकाश प्राप्त करा पाएँगे।

भावार्थ—यज्ञों से हमारा जीवन श्रीसम्पन्न हो।

ऋषिः—**पर्वतनारदौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

प्रभु-प्राप्ति-रसास्वादन

५६९. तं वः सखायो मदाय पुनानमभि गायत। शिशुं न हव्यैः स्वदयन्त गूर्तिभिः ॥ ४ ॥

पर्वत ऋषि पुनः कहते हैं कि **सखायः**=मित्रो! **तं पुनानम्**=उस निरन्तर पवित्र करते हुए प्रभु का **वः मदाय**=अपने उल्लास के लिए **अभिगायत**=सदा गायन करो। प्रभु को जितना जपूँगा, उतना ही पवित्र बनूँगा। यह पवित्रता मेरे जीवनयापन को उल्लासमय बनाएगी। प्रभु के स्मरण से मेरा जीवन **शिशुं न**=बच्चे की भाँति पवित्र बना रहता है।

इन सभी बातों का ध्यान करते हुए समझदार व्यक्ति **हव्यैः**=(यज्ञैः) अपने जीवन को हव्य बनाने के द्वारा—अपनी सम्पत्तियों को लोकहित के यज्ञ में आहुत करने के द्वारा तथा **गूर्तिभिः**=(स्तुतिभिः) प्रभु के गुणों के गान द्वारा **स्वदयन्त**=प्रभु-प्राप्ति के आनन्द का रस लेते हैं। प्रभु की समीपता में ये अद्भुत आनन्द का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—निःस्वार्थ लोकसेवा व प्रभु-स्तवन मेरे जीवन को रसमय बना दें।

ऋषिः—**त्रित आप्त्यः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

अथ द्विता (ज्ञान के पश्चात्)

५७०. प्राणा शिशुर्महीनां हिन्वन्नृतस्य दीधितिम्। विश्वा परि प्रिया भुवदध द्विता ॥ ५ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'त्रित'=ज्ञान, कर्म व उपासना—तीनों का विस्तार करनेवाला है, अतएव यह 'आप्त्य' प्रभु को प्राप्त करनेवालों में साधु है।

यह **शिशुः**=(शो तनूकरणे) बुद्धि को सूक्ष्म करने का प्रयत्न करता है। सात्त्विक भोजन

व आसनों के व्यायाम को यह इसी उद्देश्य से अपनाता है कि बुद्धि को तीव्र कर सके। बुद्धि को तीव्र करके यह **महीनाम्**=महनीय—महत्त्वपूर्ण वेदवाणियों का (मही=वाणी) **प्राणः**=अपने में भरनेवाला होता है (प्रा=पूरणे)। इन वेद-वाणियों को अपनाने का परिणाम यह है कि यह अपने में **ऋतस्य दीधितिम्**=सत्य की किरणों को **हिन्वन्**=प्राप्त करनेवाला व बढ़ानेवाला होता है।

इस प्रकार प्रकाश के क्षेत्र में पहुँचने से यह कटुता के जगत् से ऊपर उठकर माधुर्यमय संसार में प्रवेश करता है **विश्वा परिप्रिया भुवत्**=चारों ओर सबका प्रिय बनता है। **'प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्'**=यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र सभी का प्रिय होता है। अज्ञान के कारण ही सारी कटुता व लड़ाई है—अज्ञान गया—कटुता गयी। यह 'त्रित' बुद्धि को तीव्र करके वेदवाणियों के द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाता है।

अध=अब ज्ञान को खूब बढ़ाने के पश्चात् यह **द्विता**=(द्वौ तनोति) कर्म और उपासना का विस्तार करनेवाला बनता है। ज्ञानपूर्वक किये गये कर्म पवित्र होते हैं, और इन्हीं पवित्र कर्मों के द्वारा प्रभु की उपासना होती है (**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः**)। ज्ञानपूर्विका श्रद्धा मनुष्यों को परस्पर प्रेम करना सिखाती है, इसीलिए यहाँ मन्त्र में ज्ञानपूर्वक कर्म व उपासना पर बल दिया गया है।

भावार्थ—हमारे कर्म व हमारी उपासना ज्ञान से अनुप्राणित हों।

ऋषिः—**मनुराप्सवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

दिव्यता का प्रापक सोम

५७१. पवस्व देववीतय इन्दो धाराभिरोजसा। आ कलशं मधुमान्त्सोम नः सदः॥ ६॥

गत मन्त्र में ज्ञान-प्राप्ति पर बल दिया गया है—उसी के लिए सर्वमहान् साधन का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है। ज्ञान-प्राप्ति का मूल ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य से सुरक्षित सोम हमारी ज्ञानाग्नि को सूर्य के समान द्योतित करता है, इसलिए विचारशील पुरुष—'मनु' सदा इसी मार्ग पर चलता है। वह कहता है कि **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले हे सोम! तू **धाराभिः**=अपनी धारणशक्तियों से तथा **ओजसा**=विकास के मूलकारणभूत ओज के द्वारा **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **पवस्व**=हमारे जीवनों में प्रवाहित हो तथा उन्हें पवित्र कर। सोम से ही जीवन का धारण है—**'जीवनं बिन्दुधारणात्'**। यही हमारे शरीर में सब प्रकार की उन्नतियों के विकास का हेतु है। हममें उत्तरोत्तर दिव्यता की वृद्धि करने के साथ यह सोम **मधुमान्**=माधुर्यवाला है, हमारे जीवनों को मधुर बनाता है—इसके कारण परस्पर व्यवहार में कटुता नहीं आती, अतः मनु कहता है कि **सोम**=हे सोम! तू **नः**=हमारे **कलशम्**=इस सोलह कलाओं के आधारभूत शरीर में **आसदः**=समन्तात् स्थित हो। यह सोम शरीर में ही व्याप्त हो जाए। शरीर के धारण व विकास में व्यय होकर यह उसे सोलह कला सम्पूर्ण बनानेवाला हो। प्रभु षोडशी हैं—मुझे भी सोम षोडशी (सोलह कलाओंवाला) बनाकर प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाला हो।

मनु इस सोम का संचय 'आप्सव' बनकर करता है। 'अप्सु कर्मसु भव आप्सवः'=जो सदा कर्मों में लगा रहता है वह 'आप्सव' है। कर्म-व्यापृत रहना ही वासना से बचने का

उपाय है।

भावार्थ—मैं कर्म-व्यापृत होकर सोम की रक्षा करूँ। यह सोम मुझे दिव्यता प्राप्त कराए।

ऋषिः—**अग्निश्चाक्षुषः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

ज्ञान के शिखर पर

५७२. सोमः पुनान ऊर्मिणाव्यं वारं वि धावति। अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत्॥ ७॥

जो व्यक्ति संसार के घटनाचक्र को बारीकी से देखता है वह 'चाक्षुष' है। यह कहीं भी न उलझता हुआ आगे बढ़ता जाता है, 'अग्नि' है। यह **सोमः**=शक्ति का पुञ्ज तथा विनीत **पुनानः**=अपने को निरन्तर पवित्र बनाने के स्वभाववाला **ऊर्मिणा**=अपने हृदय में उत्कर्ष को प्राप्त करने की उमंगों से **अव्यम्**=(अवनं अवः, तत्र साधुः) सर्वोत्तम रक्षणीय ज्ञान की **वारम्**=रुकावट, अर्थात् कामादि वासनाओं को **विधावति**=विशेषरूप से नष्ट कर डालता है। इन वासनाओं को समाप्त करके ही यह **वाचः अग्रे**=वाणी के—ज्ञान के शिखर पर पहुँचता है। यह **पवमानः**=औरों को भी पवित्र बनाने के हेतु से **कनिक्रदत्**=उन ज्ञानवाणियों का खूब उच्चारण करता है—इस ज्ञान का औरों को भी उपदेश देता है।

भावार्थ—स्वयं ज्ञानी बनकर औरों को ज्ञान प्राप्त कराना ही मानव का लक्ष्य होना चाहिए।

ऋषिः—**द्वित आप्त्यः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

गुरु शुश्रूषा

५७३. प्र पुनानाय वेधसे सोमाय वच उच्यते। भृतिं न भरा मतिभिर्जुजोषते॥ ८॥

प्रपुनानाय=ज्ञान के द्वारा पवित्र करनेवाले **वेधसे**=मेधावी—ब्रह्मा के समान निर्माण के कार्य में लगे हुए **सोमाय**=सौम्यता के पुञ्ज आचार्य के लिए (आचार्यो मृत्युः वरुणः सोम ओषधयः पयः) हमसे **वचः उच्यते**=प्रशंसा के शब्द कहे जाते हैं। आचार्य सदा शिष्य के जीवन को पवित्र करने के लिए प्रयत्नशील होता है। ब्रह्मा की भाँति वह भी एक महान् निर्माण के कार्य में लगा है—इसपर मनुष्य के निर्माण का उत्तरदायित्व है। अत्यन्त उन्नत ज्ञान में स्थित होता हुआ भी यह विनीत है। शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह गुरु के लिए सदा प्रशंसात्मक शब्दों का उच्चारण करे। गुरु-निन्दा करना तो दूर रहा—उसका श्रवण भी पाप है। सत् शिष्य गुरु की प्रशंसा करता है—प्रशंसा ही नहीं **भृतिं न आ भर**=एक भृत्य की भाँति सेवा करनेवाला होता है।

'गुरु शुश्रूषा' शब्द के दोनों ही अर्थ हैं—गुरु की सेवा व गुरु से सुनने की इच्छा। सच्छिष्य सेवक होता है, परन्तु ज्ञान के श्रवण में प्रमाद नहीं करता। एवं, सेवा व सुनना दोनों का ही विस्तार करने से यह 'द्वित' है।

ऐसा ही शिष्य ज्ञान प्राप्त करनेवालों में उत्तम होता है, अतः 'आप्त्य' है। यह शिष्य उस आचार्य की सेवा करता है जो **मतिभिः**=ज्ञानों के द्वारा **जुजोषते**=शिष्य का प्रीतिपूर्वक सेवन करता है।

शिष्य भी 'द्वित' हो—सेवा करे और सुने। गुरु भी 'द्वित' हो—प्रेम की भावनावाला हो

और ज्ञान का सतत विकास करे। इस प्रकार दोनों द्वित होंगे तो ज्ञान को प्राप्त करने-करानेवाले ये 'आप्त्य' कहलाएँगे।

भावार्थ—'सेवा भी, सुनना भी' यह शिष्य के जीवन का सूत्र है।

ऋषिः—**काश्यपौ पर्वतनारदौ काश्यपे शिखण्डिन्यावप्सरसौ वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य

५७४. गोमन्न इन्दो अश्ववत् सुतः सुदक्ष धनिव। शुचिं च वर्णमधि गोषु धारय॥ ९॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'पर्वत'—अपने ज्ञान का पूर्ण करनेवाला तथा 'नारद'=नरसमूह को पवित्र करनेवाला है। ये 'काश्यपौ'=ज्ञानी तथा 'अप्सरसौ'=सुन्दर रूपवाले अथवा निरन्तर कर्मों में सरण करनेवाले हैं, अतएव 'शिखण्डिन्यौ' (शिखाम् अयति)=शिखर तक पहुँचनेवाले हैं। इस शिखर तक पहुँचने के लिए इन्होंने सब उन्नतियों के मूल 'संयम' को अपनाया है। संयमी बनने का प्रयत्न करते हुए ये 'सोम' से कहते हैं—

हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **नः**=हमारे लिए **गोमत्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला तथा **अश्ववत्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला होकर **धनिव**=हमारे शरीर में गति कर। 'गमयन्ति अर्थान्' इस व्युत्पत्ति से ज्ञानेन्द्रियाँ 'गो' शब्द वाच्य हैं और 'अश्नुवते कर्मसु' इस व्युत्पत्ति से कर्मेन्द्रियाँ अश्व हैं। सोम इन दोनों को ही शक्तिशाली बनाता है। यह सोम **सुदक्ष**=उत्तम बलवाला है। सोम का संयम करनेवाला मनुष्य संसार में दक्षता से चलता है।

हे सोम! तू **गोषु**=हमारी ज्ञानेन्द्रियों में **शुचिं वर्णम्**=दीप्तरूप को **अधिधारय**=आधिक्येन धारण कर। तू उन्हें खूब चमका दे। इन सुन्दर रूपवाली इन्द्रियों को धारण करनेवाला यह सचमुच अप्सरस्=सुन्दर रूपवाला है।

भावार्थ—सोम सुरक्षित होकर हमें उन्नति के शिखर पर ले-जानेवाला हो।

ऋषिः—**काश्यपौ पर्वतनारदौ काश्यपे शिखण्डिन्यावप्सरसौ वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

प्रभु के रंग में रंगा जाना

५७५. अस्मभ्यं त्वा वसुविदमभि वाणीरनूषत। गोभिष्टे वर्णमभि वासयामसि॥ १०॥

प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि पूर्वोक्त हैं। वे यह अनुभव करते हैं कि किस प्रकार प्रभु ने सोम के उत्पादन के द्वारा उन्हें उत्तम कर्मेन्द्रियाँ, उत्तम दक्षता=बल तथा उज्ज्वल रूप प्राप्त कराया है। ये सब वस्तुएँ (वसु)=निवास के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं, अतः ये कहते हैं कि **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **वसुविदम्**=उत्तम पदार्थों को प्राप्त करानेवाले **त्वा**=आपको **वाणीः**=वेदवाणियाँ **अभि अनूषत**=सब ओर से, सब दृष्टिकोणों से स्तुत करती हैं। वेदों में विविध रूपों में उस प्रभु के गुणों का गान है। ऋषि लोग उन वाणियों के अर्थों का विचार करते हुए कहते हैं कि हे प्रभो! **गोभिः**=तत्त्वज्ञान देनेवाली इन वेदवाणियों के द्वारा **ते वर्णम्**=तेरे वर्ण को **अभिवासयामसि**=अपने में सर्वतः धारण करने का प्रयत्न करते हैं। तेरे रूप से अपने

को आच्छादित करने के लिए यत्नशील होते हैं। 'तेरे रंग में रंगे जाएँ' यही हमारी कामना होती है।

प्रभु का वर्ण=रूप क्या है? "आदित्यवर्णम्"=मैं उस प्रभु को 'आदित्य' के समान वर्णवाला जानता हूँ। 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'=ब्रह्म सूर्य के समान ज्योति है। उस ब्रह्म के ज्योतिर्मय रूप—वरेण्य भर्ग—को मैं भी धारण करता हूँ। प्रकाशतम मार्ग पर चलना मानव-जीवन का लक्ष्य है। यही 'शुक्ल-मार्ग' है—उत्तरायण है—मोक्षमार्ग है। ब्रह्म 'विशुद्धचित्' हैं—मैं भी ज्ञानी बनूँ।

भावार्थ—वेदवाणियों का अध्ययन करता हुआ मैं प्रभु के 'ज्ञानमय दीप्तरूप' का धारण करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**अग्निश्चाक्षुषः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

सरलता व यशोयुक्त वीरता

५७६. पवते हर्यतो हरिरति ह्वरांसि रंह्या। अभ्यर्ष स्तोतृभ्यो वीरवद्यशः॥ ११॥

हर्यतः=जाने योग्य और चाहने योग्य (हर्य गतिकान्त्योः) वह **हरिः**=सब दुःखों का हरण करनेवाले प्रभु **रंह्या**=बड़े वेग से, अर्थात् शीघ्र ही **ह्वरांसि**=कुटिलताओं के **अतिपवते**=पार ले-जाते हैं। वे प्रभु हम सबकी अन्तिम शरण हैं। संसार में अन्य सब शरण नश्वर हैं, केवल प्रभु ही अन्त में सहायक होते हैं, इसलिए वे ही जानने योग्य हैं—वे ही चाहने योग्य हैं। इस प्रभु का स्मरण करनेवाला व्यक्ति छलछिद्र से दूर तथा सरल होता है। सरलता ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है।

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'चाक्षुष' है—सब मार्गों को ठीक प्रकार से देखनेवाला। वह कुटिलता व सरलता के मार्गों का ठीक से निरीक्षण करके सरलता के मार्ग को अपनाता है, इसीलिए यह 'अग्नि'=आगे और आगे बढ़ता जाता है।

यह प्रभु से आराधना करता है कि **स्तोतृभ्यः**=अपने स्तोताओं के लिए **वीरवत् यशः**=वीरता से पूर्ण यश **अभ्यर्ष**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—मैं अपने अन्दर सच्चे स्तोता के लक्षणों को धारण करने का प्रयत्न करूँ। स्तोता वीर होता है और वीरता के सदुपयोग से यशस्वी होता है।

ऋषिः—**द्वित आप्त्यः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

सरसता, सौम्यता, स्तुति

५७७. परि कोशं मधुश्चुतं सोमः पुनानो अर्षति। अभि वाणीर्ऋषीणां सप्ता नूषत॥ १२॥

शरीर में आनन्दमयकोश का नाम ही 'मधुश्चुत् कोश' है। **सोमः**=शक्ति व सौम्यता का पुञ्ज बननेवाला व्यक्ति **पुनानः**=अपने को पवित्र बनाता हुआ **मधुश्चुतं कोशं**=माधुर्य का क्षरण करनेवाले आनन्दमयकोश की ओर **परिअर्षति**=सब प्रकार से गति करता है। अन्नमय आदि कोशों से ऊपर उठकर यह आनन्दमयकोश में स्थित होने का प्रयत्न करता है। 'शक्ति, सौम्यता व पवित्रता' इस अन्तर्मुख यात्रा के पाथेय हैं—मार्ग के भोजन हैं।

इस आनन्दमयकोश में स्थित होने पर **ऋषीणाम्**=तत्त्वद्रष्टाओं की **सप्ता वाणीः**=सप्त

द्वारों में (कर्णौ, नासिके, चक्षणी, मुखम्) अवकीर्ण वाणी **अभि अनूषत**=सदा स्तुति ही करती है। ये किसी के लिए निन्दात्मक शब्दों का प्रयोग नहीं करते। ये आनन्दमयकोश में रहते हैं और आनन्दप्रद शब्दों को ही बोलते हैं।

अन्तिम मन्त्रभाग का अर्थ इस रूप में भी हो सकता है कि इनकी सात छन्दों में उच्चारण की जाती हुई वाणियाँ सदा उस प्रभु का स्तवन करती हैं। एवं, यह आनन्द में रहता है और उस आनन्दमय प्रभु का स्तवन करता है।

इन दोनों तत्त्वों को विस्तृत करनेवाला यह सचमुच 'द्वित' है। द्वित होने से ही यह 'आप्त्य'=प्रभु को प्राप्त करानेवालों में उत्तम भी है।

भावार्थ—हम निचली भूमिकाओं से ऊपर उठकर उच्च भूमिकाओं में विचरनेवाले बनें।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

सोम-स्तवन

५७८. पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो मदः। महि द्युक्षतमो मदः॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गौरिवीति'=सात्त्विक भोजनवाला, अतएव 'शाक्त्य' शक्ति का पुतला, सात्त्विक भोजन से उत्पन्न 'सोम'=vitality को सम्बोधित करता हुआ कहता है—**सोम**=हे शक्तिप्रद सोम! तू **इन्द्राय**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनने का प्रयत्न करनेवाले मेरे लिए **मधुमत्तमः**=अत्यन्त माधुर्यवाला होकर **पवस्व**=मेरे शरीर में प्रवाहित हो। शरीर में तेरी व्याप्ति के द्वारा मेरा जीवन अत्यन्त माधुर्यमय हो। सोम-सम्पन्न पुरुष कभी कड़वी वाणी का प्रयोग नहीं करता—इसका कोई भी व्यवहार कटुता को लिये हुए नहीं होता। हे सोम! तू **क्रतुवित्तमः**= मुझे अधिक-से-अधिक क्रतु=कर्मशक्ति, संकल्पशक्ति तथा ज्ञान प्राप्त करानेवाला है। सोम के रक्षण से मेरा मस्तिष्क ज्ञानपूर्ण, हृदय उत्तम संकल्पों से युक्त तथा मेरा अङ्ग-प्रत्यङ्ग अधिक कार्यक्षम होता है। **मदः**=इस सोम से मेरा जीवन उल्लासमय बना रहता है—मैं कभी निराशा व निरुत्साह में नहीं डूब जाता। **महि**=यह सोम मुझे (मह=पूजायाम्) पूजा-प्रवण बनाता है—मेरा झुकाव देवपूजा की ओर रहता है। **द्युक्षतमः**=इसके द्वारा मेरा जीवन सदा प्रकाश-ज्ञान में (द्यु) स्थित (क्षि) होता है। इस प्रकार **मदः**=मेरा जीवन सदा हर्ष, आनन्द व रस से परिपूर्ण रहता है।

भावार्थ—सोम के संयम से मैं सदा 'ज्ञानावस्थित-चेताः' बनूँ।

ऋषिः—**ऊर्ध्वसद्मा आङ्गिरसः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

ऊर्ध्व-सद्मा

५७९. अभि द्युम्नं बृहद्यश इषस्पते दिदीहि देव देवयुम्। वि कोशं मध्यमं युव॥ २॥

गत मन्त्र में सोम के लाभों का वर्णन करते हुए गौरिवीति ने कहा था कि सोम मुझे ज्ञानावस्थित चित्तवाला बनाता है। ज्ञान में स्थित यह व्यक्ति ऊपर और ऊपर उठता हुआ 'ऊर्ध्व-सद्मा' बनता है। यह अन्नमयकोश को अपना घर न बनाकर आनन्दमयकोश को

अपना घर बनाता है। इसका शरीर—अङ्ग-प्रत्यङ्ग—सदा लोच—लचकवाला, रसमय बना रहता है, अत: यह 'आङ्गिरस' होता है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि—

१. **अभिद्युम्नम्**=मुझे ज्योति की ओर ले-चलिए। मैं अधिकाधिक प्रकाश को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

२. **बृहद् यश:**=मुझे सदा यशस्वी जीवन प्राप्त कराइए। मेरी विद्या विवाद के लिए न होकर ज्ञान के लिए, मेरा धन मद के लिए न होकर दान के लिए और मेरी शक्ति पर-पीड़न के लिए न होकर पीड़ितों के रक्षण के लिए विनियुक्त हो।

३. **इषस्पते**=हे प्रभो! आप सब प्रेरणाओं के पति हैं। मुझे आप अपनी प्रेरणाओं का सुननेवाला बनाइए।

४. **देव**=सब दिव्य गुणों से सम्पन्न प्रभो! **देवयुम्**=आप देव को अपने साथ जोड़ने की कामनावाले मुझे **दिदीहि**=सब बन्धनों से मुक्त कीजिए, बन्धनों से मुक्त होकर ही में आपसे मिल सकूँगा।

ऊर्ध्वसद्मा की इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु उसे प्रेरणा देते हैं कि **मध्यमं कोशम्**=अपने मध्यम कोश को, अर्थात् मनोमयकोश को **वियुव**=अधर्म से पृथक् करके धर्म में विशेषरूप से संयुक्त कर। **'सं मा भद्रेण पृङ्क्तम्, वि मा पाप्मना पृङ्क्तम्'**=इस प्रार्थना को तू अपने जीवन में मूर्त्तरूप दे। मन की साधना से तेरी ये प्रार्थनाएँ पूरी होंगी।

भावार्थ—ऊर्ध्वसद्मा अपने जीवन में ज्ञान, यश, प्रभु-प्रेरणा व दिव्य गुणों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

ऋषि:—**ऋजिश्वा भारद्वाज:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वर:—**ऋषभ:**॥

प्रभु की भावना से अपने को ओत-प्रोत करो

५८०. आ सोता परि षिञ्चताश्वं न स्तोममप्तुरं रजस्तुरम्। वनप्रक्षमुदप्रुतम्॥ ३॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'ऋजिश्वा भारद्वाज' है—सरलमार्ग से चलनेवाला, अतएव कुटिलता से दूर। कुटिलता से दूर होने के कारण ही वस्तुत: यह 'भारद्वाज' है—अपने में शक्ति को भर पाया है। कुटिल व्यक्ति का मन व मस्तिष्क सदा चिन्ताओं से पूर्ण रहता है, अतएव उसमें नैसर्गिकरूप से शक्ति की कमी हो जाती है। कुटिल व्यक्ति प्रकृति की ओर चलता है—ऋजु प्रभु की ओर। यह अपने सब मित्रों को यही प्रेरणा देता है कि **आ**=सर्वथा **सोत**=उस प्रभु की भावना को अपने में उत्पन्न करो—उसका चिन्तन करो, **परिषिञ्चत**=उसके चिन्तन से ही अपने को सींच लो—तुम्हारे रग-रग में प्रभु की भावना समायी हो। उस प्रभु को तुम सदा याद करो जो—

१. **अश्वम्**=(अश् व्याप्तौ) सर्वव्यापक है। सर्वत्र विद्यमान होता हुआ यदि वह हमारे कर्मों का सतत द्रष्टा है तो हमें आच्छादित करके हमारी रक्षा भी कर रहा है।

२. **न: स्तोमम्**=हमारे द्वारा स्तुति करने योग्य है। प्रभु की स्तुति से हमारे सामने हमारे जीवन का लक्ष्य सदा उपस्थित रहता है और हम अपने जीवन का उत्थान करनेवाले होते हैं।

३. **अप्तुरम्**=वे प्रभु हमें उत्तम कर्मों की (अप्) प्रेरणा देनेवाले हैं। वस्तुत: उसे दयालुरूप

में स्मरण करना· हमें अपने को दया की भावना से भरने के लिए प्रेरित करता है और इसी प्रकार उसका न्यायकारित्व हमें न्यायकारी बनने का ध्यान कराता है।

४. **रजस्तुरम्**=वह प्रभु हमें प्रकाश प्राप्त कराते हैं, जिससे उस प्रकाश में हम सदा उत्तम कर्म करनेवाले बनें।

५. **वनप्रक्षम्**=(वन=संविभाग)—वे प्रभु संविभाग की भावना से हमारा सम्पर्क करनेवाले हैं। 'हम सब एक प्रभु के पुत्र हैं'—यह भावना ही हमें संविभाग का पाठ पढ़ाती है। जब वे प्रभु हम सबके पिता हैं तब हम सब एक हुए। एक घर में रहनेवाले हम क्या मिलकर न खाएँगे?

६. **उदप्रुतम्**=वे प्रभु अपनी करुणा से हमारे अन्दर भी करुणा-जल (उद्) को उँडेलनेवाले हैं (प्रु)। प्रभु का स्मरण हमें 'करुणार्द्र हृदय' बनाता है।

भावार्थ—मैं सदा प्रभु में निवास करूँ।

ऋषिः—कृतयशा आङ्गिरसः॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—ककुबुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

उस वसुओं के धारण करनेवाले को

५८१. एतमु त्यं मदच्युतं सहस्रधारं वृषभं दिवोदुहम्। विश्वा वसूनि बिभ्रतम्॥ ४॥

प्रभु को अश्वम्=सर्वव्यापक रूप में स्मरण करनेवाला ऋजिश्वा सदा यश के ही कार्य करता है, अतः वह इस मन्त्र का ऋषि 'कृतयशाः' बन जाता है। भोगासक्त न होने से यह सदा 'आङ्गिरस'=रसमय बना रहता है। यह कहता है कि स्मरण करो—

एतम्=इस प्रभु को उ=निश्चय से **त्यम्**=उसे जोकि **मदच्युतम्**=हमपर हर्ष की वर्षा करनेवाले हैं। **सहस्रधारम्**=हज़ारों प्रकार से हमारा धारण करनेवाले हैं। **वृषभम्**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले हैं। **दिवोदुहम्**=शक्ति के साथ हममें **दिवः**=प्रकाश का **दुहम्**=पूरण करनेवाले हैं।

शक्ति और ज्ञान दोनों को अपने में जोड़नेवाला 'भारद्वाज बार्हस्पत्य' है अथवा 'कृतयशा' (यशः=ज्ञान आङ्गिरस) है। इन दोनों को सङ्गत करने के द्वारा ही वे प्रभु **विश्वा वसूनि बिभ्रतम्**=हमें सब उत्तम पदार्थों के—निवास के लिए आवश्यक साधनों के—प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से मैं सब वसुओं का धारण करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—राजर्षिर्ऋणञ्चयः॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**यवमध्यागायत्री**॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु के शिक्षणालयों में

५८२. स सुन्वे यो वसूनां यो रायामानेता य इडानाम्। सोमो यः सुक्षितीनाम्॥ ५॥

'ऋणञ्चय' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है—यह 'ऋण' (ऋ गतौ) प्राप्तव्य वसुओं का चय=संग्रह करता है। 'राजर्षि' अपने जीवन को बड़ा नियमित (Regulated) बनाता है और ऋषि=तत्त्वद्रष्टा बनता है। इस प्रकार यह ऋणञ्चय राजर्षि बनकर आङ्गिरस होता है।

यह कहता है कि हमसे **सः**=वह प्रभु **सुन्वे**=अपने में उत्पन्न किया जाता है—स्मरण किया जाता है **यः**=जो **वसूनाम्**=सब उत्तम पदार्थों का **आनेता**=प्राप्त करानेवाला है। **यः**=जो प्रभु **रायाम्**=निर्माण के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त करानेवाले हैं। भौतिक शरीर के

निर्माण व धारण के लिए भौतिक सम्पत्तियों की आवश्यकता है ही। **यः**=जो **इडानाम्**=(इ-डा=A law) विधान की प्रतिपादिका वेदवाणियों के प्राप्त करानेवाले हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान देकर उस प्रभु ने हमें उन वस्तुओं व धनों के यथोचित प्रयोग का निर्देश किया जिससे इनका अयोग व अतियोग कहीं हमारी हानि का कारण न बन जाए। इस प्रकार वे प्रभु ऐसे हैं **यः**=जो **सुक्षितीनाम्**=उत्तम भूमिकाओं के **सोमः**=निर्माण करनेवाले हैं। अन्नमयकोश आदि पञ्चकोश ही इस जीवन-भवन की भूमिकाएँ हैं। प्रभु इनके अत्यन्त सुन्दर निर्माण की व्यवस्था करते हैं। क्षिति का अर्थ 'मनुष्य' भी है। प्रभु अपने शिक्षणालय में 'वसु' धन व 'वेदज्ञान' को प्राप्त कराके उत्तम मनुष्यों का निर्माण करते हैं। यह हमारा दुर्भाग्य ही होगा यदि हम उस शिक्षणालय में प्रविष्ट नहीं होते।

भावार्थ—मैं प्रभु के शिक्षणालय का विद्यार्थी बनूँ।

ऋषिः—**शक्तिर्वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

मैं उत्तीर्ण घोषित किया जाऊँ

५८३. त्वं ह्या३ङ्ग दैव्य पवमान जनिमानि द्युमत्तमः। अमृतत्वाय घोषयन्॥ ६॥

प्रभु के शिक्षणालय में अपने जीवन को शक्ति-सम्पन्न बनाकर यह 'शक्ति' नामवाला हो गया है। यह काम-क्रोध को जीतने के कारण 'वासिष्ठ' है। यह प्रभु से निवेदन करता है कि—

हे प्रभो! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **अङ्ग**=(अगि गतौ) मेरे जीवन में सब उत्कृष्ट गति के साधक हैं, **पवमान**=आपके स्मरण से मेरा जीवन पवित्र होता है, आप **द्युमत्तमः**=सर्वाधिक प्रकाशमय हैं। आचार्य ने विद्यार्थी के जीवन में 'पवित्रता व ज्ञान प्रकाश' ही भरना होता है। परमेश्वर से उत्कृष्ट आचार्य सम्भव ही कहाँ है? इस शिक्षणालय में रहकर प्रभु के प्रति समर्पण द्वारा यदि सचमुच इनमें दिव्यता—दैवी सम्पत्ति का विकास हो जाता है तो इन्हें अन्य जन्म लेने की आवश्यकता नहीं रह जाती। **दैव्य जनिमानि**=दिव्यता के विकासवाले मनुष्य को वे प्रभु **अमृतत्वाय घोषयन्**=अमरता के लिए उद्घोषित करते हैं। ये व्यक्ति जन्म-मृत्यु के चक्र से ऊपर उठकर मुक्त हो जाते हैं, ब्रह्मसंस्थ होकर अमरता को पा लेते हैं।

भावार्थ—मैं सदा उत्तीर्ण होता हुआ अमरता की ओर बढ़ूँ।

ऋषिः—**उरुराङ्गिरसः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**काकुभः प्रगाथः (ककुबुष्णिक्)**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

विशालता

५८४. एष स्य धारया सुतोऽव्या वारेभिः पवते मदिन्तमः। क्रीडन्नूर्मिरपामिव॥ ७॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'उरुः आङ्गिरस' है। यह शब्द 'ऊर्णुञ् आच्छादने' धातु से बना है। यह प्राणिमात्र को अपने प्रेम से आच्छादित करने का प्रयत्न करता है। अपने प्रेम को विशाल बनाकर ही यह वासना से ऊपर उठकर 'आङ्गिरस'=शक्तिशाली हुआ है।

यह इस निश्चय पर पहुँचा है कि **एषः**=यह **स्यः**=वह प्रसिद्ध सोम=वीर्य (vitality) **धारया**=जीवन के हेतु से **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। इसको शरीर में ही खपाकर हमें अपने

अङ्ग-प्रत्यङ्ग को 'स्वस्थ, सबल व सशक्त' बनाना है। यह सोम हमें **अव्या**=रक्षण में सर्वोत्तम-ज्ञान के मार्ग में आनेवाली रुकावटों (Bars) से **पवते**=परे ले-जाता है-उनसे हमें ऊपर उठा देता है। वस्तुतः यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसे दीप्त कर देता है। ज्ञान की प्राप्ति के साथ **मदिन्तमः**=यह हमें अत्यन्त मद व उल्लास को प्राप्त करानेवाला है। **इव**=जैसे **अपाम् उर्मिः**=जलों की तरङ्ग **क्रीडन्**=क्रीड़ा करती हुई होती है उसी प्रकार यह मनुष्य सारी क्रियाओं को 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'=गुणों की परस्पर होती हुई क्रीड़ा ही समझता है। क्रीड़ा में उत्साह है-निराशा नहीं। सोम-सम्पन्न व्यक्ति गिरकर भी उत्साह-शून्य नहीं होता।

भावार्थ-प्रेम को विशाल बनाकर हम वासना पर विजय पाएँ।

ऋषिः-**उरुराङ्गिरसः**॥ देवता-**पवमानः सोमः**॥ छन्दः-**काकुभः प्रगाथः (सतोबृहती)**॥
स्वरः-**मध्यमः**॥

प्रभुरूपी कवचवाला

५८५. य उस्त्रिया अपि या अन्तरश्मनि निर्गा अकृन्तदोजसा।
अभि व्रजं तत्निषे गव्यमश्व्यं वर्मीव धृष्णवा रुज।
ओ३म् वर्मीव धृष्णवा रुज॥ ८॥

गाः=वेदवाणियों को **निर् अकृन्तत्**=खूब विश्लिष्ट करता है, एक-एक शब्द को छाँट-छाँटकर उसमें निहित भाव को देखने का प्रयत्न करता है। यह वेदवाणियों का तर्क ऋषि के द्वारा अध्ययन करता है। तर्क से अनुसन्धान करता हुआ यह उन **उस्त्रियाः**=ज्ञान की किरणों को प्राप्त करता है **ये**=जो **अपि याः**=उस प्रभु को प्राप्त करानेवाली हैं। ये ज्ञान-किरणें वे हैं जो **अन्तः अश्मनि**=(अश्मा भवतु नस्तनूः) आङ्गिरस के पाषाणतुल्य दृढ़ शरीर के अन्दर निवास करती हैं। ऋजिष्वा का यह ज्ञान **ओजसा**=ओज के साथ होता है।

इस प्रकार का जीवन बना सकना इसके लिए इसलिए सम्भव हुआ है कि यह **व्रजम्**=एक बाड़े को **अभितत्निषे**=विस्तृत करता है, जो बाड़ा **गव्यम्**=ज्ञानेन्द्रियरूप गौओं को घेरने के लिए है, और जो बाड़ा **अश्व्यम्**=कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को घेरता है। यह इन्द्रियों को उस-उस विषय से रोककर आत्मवश करने का प्रयत्न करता है। इस जितेन्द्रियता ने ही इसे ऋषि का मस्तिष्क तथा मल्ल का शरीर प्राप्त कराया है। अब यह आङ्गिरस ज्ञान का कवच (ब्रह्म वर्म ममान्तरम्) पहनकर कामादि शत्रुओं का पूर्ण संहार करता है। **वर्मी इव**=कवचवाले की भाँति हे **धृष्णो**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले! **आरुज**=तू इनका पराजय कर डाल। 'परन्तु इस विजय का कहीं तुझे गर्व न हो जाए, अतः **ओ३म् वर्मीव**=उस प्रभुरूप कवच को धारण करनेवाला बनकर **धृष्णो**=हे धर्षण करनेवाले! **आरुज**=शत्रुओं को भङ्ग कर, अर्थात् इस विजय को तू अपनी विजय मत समझ बैठ। यह सब उस प्रभु की शक्ति व कृपा से ही हुआ है, ऐसा जान।

भावार्थ-मैं प्रभु को अपना कवच बनाकर अन्तः शत्रुओं को छिन्न-भिन्न कर दूँ। मेरा ज्ञान ओजस्विता से युक्त हो। वज्र-तुल्य दृढ़ शरीर मेरी ज्ञान की किरणों का अधिष्ठान हो।

आरण्यकाण्डम् : षष्ठोऽध्यायः

अथ षष्ठप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः

प्रथमा दशतिः

ऋषिः—**बार्हस्पत्यः शंयुः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

गृहस्थाश्रम के बाद

५८६. इन्द्र ज्येष्ठं न आ भर ओजिष्ठं पुपुरि श्रवः।
यद्दिधृक्षेम वज्रहस्त रोदसी ओभे सुशिप्र पप्राः॥ १॥

वैदिक संस्कृति में गृहस्थ के बाद मनुष्य को वानप्रस्थ बनना होता है। यह वानप्रस्थ 'शंयु'=शान्ति को अपने साथ जोड़ता है। 'बार्हस्पत्यः' ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनने का प्रयत्न करता है। नगरों से दूर शान्त वातावरण में यह प्रभु से प्रार्थना करता है—

इन्द्र=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **नः**=हममें उस **श्रवः**=ज्ञान को **आभर**=सर्वतः भरिए जो १. **ज्येष्ठम्**=उत्कृष्ट है। मैं ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करानेवाली 'पराविद्या' प्राप्त करना चाहता हूँ। २. **ओजिष्ठम्**=यह ज्ञान मुझे अत्यन्त ओजस्वी बनानेवाला है। ३. **पुपुरि**=(पृ=पालन व पूरण) यह ज्ञान मेरा पालन व पूरण करनेवाला है। यह मुझे वासनाओं के आक्रमण से बचाता है और मेरी न्यूनताओं को दूर कर मेरा पूरण करता है।

हे **वज्रहस्त**=(वज गतौ) क्रियाशील हाथवाले और **सु-शिप्र**=शोभन शिरस्त्राणवाले प्रभो! आप हमें यह ज्ञान इसलिए प्राप्त कराइए **यत्**=जिससे **दिधृक्षेम**=हम कामादि शत्रुओं का धर्षण—पराभव करने में खूब समर्थ हों। हे प्रभो! आप **उभे रोदसी**=दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक का **पप्राः**=पूरण करते हैं। हाथों की क्रियाशीलता पृथिवीलोक, अर्थात् शरीर को शक्तिशाली बनाती है तथा शोभन शिरस्त्राण (ज्ञान की रक्षा) द्युलोक, अर्थात् मूर्धा को उज्ज्वल बनाता है (येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा)।

एवं वनस्थ निरन्तर ज्ञान-प्राप्ति में लगा है। यह ज्ञान के द्वारा अपनी न्यूनताओं को दूर कर अपना पूरण कर रहा है। यह पूर्ण होकर ही 'ब्रह्माश्रमी' (संन्यासी) बन पाएगा।

भावार्थ—मैं उस ज्ञान को प्राप्त करूँ जो मुझे शान्ति प्राप्त करने में समर्थ बनाए।

ऋषिः—**मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

निर्धनता, अपयश व असफलता से दूर

५८७. इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधिक्षमा विश्वरूपं यदस्य।
ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद्राध उपस्तुतं चिदर्वाक्॥ २॥

'शंयु'=शान्ति-प्राप्ति की साधना करता हुआ 'वसिष्ठ' बना है। यह काम-क्रोध को

पूर्णरूप से वश में कर पाने के लिए ही 'मैत्रावरुणि'=प्राणापान की साधना करनेवाला बना है। यह प्रभु की स्तुति निम्न शब्दों में करता है—

इन्द्रः=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **जगतः**=इस सारे ब्रह्माण्ड का—सम्पूर्ण प्राकृतिक पदार्थों का तथा **चर्षणीनाम्**=मनुष्यों का—श्रमशील प्राणियों का **राजा**=शासक है। इन्हें दीप्त करनेवाला है (राजृ दीप्तौ)। कहीं भी, जो कुछ दीप्ति दीखती है वह उस प्रभु की ही है। **आधिक्षमा**=इस पृथिवी पर **यत् विश्वरूपम्**=जो अनेक रूपोंवाली धन-धान्य सम्पदा है, वह **अस्य**=इसकी है। सब सम्पत्ति का स्वामी प्रभु ही है।

ततः=अपने उस सम्पदा के भण्डार से प्रभु **दाशुषे**=अपना समर्पण करनेवाले के लिए **वसूनि**=निवास के लिए उत्तम धनों को **ददाति**=देते हैं। वे प्रभु **अर्वाक्** अपने प्रति समर्पण करनेवाले जीव के लिए **चित्**=निश्चय से **उपस्तुतम्**=स्तुत्य—प्रशंसनीय **राधः**=धन को **चोदत्**—प्रेरित करते हैं। प्रभु से दिया गया यह धन १. वसु के लिए पर्याप्त होता है, २. **उपस्तुतम्**=सदा स्तुत्य साधनों से कमाया जाता है और ३. **राधः**=यह अवश्य सफलता (सिद्धि) प्राप्त करानेवाला होता है। प्रभु-भक्त अपने जीवन में निर्धनता, अपयश व असफलता की परवाह नहीं करता।

भावार्थ—मैं उस प्रभु का भक्त बनूँ जो मुझे सफलता प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान किसे प्राप्त होता है?

२ ३२ ३२ ३१२ ३रउ ३ २३क २र १ २ ३१ २ ३२
५८८. यस्येदमा रजोयुजस्तुजे जने वनं स्वः। इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत्॥ ३॥

'प्रभु गुणों से लिप्त होते हों' ऐसा तो है नहीं, परन्तु सृष्टि के निर्माण, धारण व प्रलय के शब्दों में प्रभु को भी रज, सत्त्व व तम से संयुक्त रूप में स्मरण किया जाता है। सृष्टि के निर्माण-समय में वे रज से युक्त होते हैं—इसी समय निर्माण के कार्य के कारण ये 'ब्रह्मा' कहलाते हैं। सृष्टि के निर्माण के साथ वे सर्वतोमुख होते हुए मानो अपने चतुर्दिक् मुखों से अपने मानस पुत्रों को वेदज्ञान भी प्राप्त कराते हैं। उस **रजो-युजः**=रजोगुण से युक्त **यस्य**=जिस ब्रह्म का **आ**=समन्तात् विस्तृत **इदम्**=यह ज्ञान है, वह **तुजे जने**=देनेवाले (तुज्=giving) मनुष्य को प्राप्त होता है। लोभ ज्ञानप्राप्ति का महान् विघ्न है। लोभ से बुद्धि विचलित हो जाती है। **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का यह ज्ञान १. **वनम्**=सेवनीय है—संभजनीय है, सत्य होने से उपादेय है। २. **स्वः**=यह प्रकाशमय है—अथवा सुख देनेवाला है। ३. **रन्त्यम्**=यह अत्यन्त रमणीय है। प्रारम्भ में वह रमणीय प्रतीत नहीं होता, परन्तु अभ्यास से वह अधिकाधिक सुन्दर लगने लगता है। ४. **बृहत्**=यह (बृहि वृद्धौ) हमारी सर्वतोमुखी वृद्धि का हेतु है।

इस ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य दिव्य गुणों का विकास करता हुआ 'वामदेव' बन जाता है और प्रशस्तेन्द्रिय बनकर 'गोतम' कहलाता है।

भावार्थ—तुज्=देनेवाले बनकर हम प्रभु के उस ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें जो हमें सुखी, सुन्दर व समृद्ध बनाएगा।

ऋषिः—**शुनःशेपः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**गायत्री**॥

पाशों का निराकरण

५८९. उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथादित्य व्रते वयं तवानागसो अदितये स्याम॥ ४॥

जब मनुष्य अपने जीवन में आराम व सुख को लक्ष्य बनाकर चलता है तब यह 'शुनःशेप'=सुख का निर्माण करनेवाला (शुनं=सुखं, शेप्=to create) पतन=गर्त की ओर चलता है—'आजीगर्ति' (अज गतौ, गर्त=गढा)।

प्रारम्भ में यह मानस पवित्रता व प्रभु-महिमा के दर्शन के लिए शास्त्रों का अध्ययन न करके आमोद-प्रमोद के लिए पढ़ने लगता है। यह इसका 'ज्ञानसंग' कहलाता है। यह एकदम भौतिक बन्धन तो नहीं, पर है बन्धन ही। यही यहाँ 'उत्तम बन्धन' कहलाता है और पाशों के अधिष्ठाता वरुण' से प्रार्थना की गयी है कि हे **वरुण**=अनृतवादियों को जालों में जकड़नेवाले प्रभो! **अस्मत्**=हमसे इस **उत्तमं पाशम्**=उत्तम बन्धन को **उत्**=बाहर (out) करो। हमें इस बन्धन से बाहर निकाल दो।

सुख को लक्ष्य बनानेवाला मनुष्य नाना प्रकार की व्यवस्थाओं में लगा हुआ भी शान्त नहीं हो पाता। कभी कुछ और कभी कुछ वह करता ही रहता है। यह उसका 'कर्मसङ्ग' कहलाता है। इसे दूर करने के लिए प्रार्थना करते हैं कि हे वरुण! हमारे इस **मध्यमम्**=मध्यम बन्धन को **वि-श्रथाय**=ढीला कीजिए। व्यर्थ हाथ-पैर पटकना छोड़कर हम 'शान्त-भाव' से जीवन यापन कर सकें। भाग-दौड़ में न होकर 'शनैःचर' हों।

सुख की ओर बढ़नेवाला मनुष्य सम्पत्ति जुटाकर नौकरों से कार्य कराता हुआ स्वयं आराम लेने लगता है। इस समय इसका जीवन 'प्रमाद, आलस्य व निद्रा' में चलता है। 'खाना, सोना', बस यही इसका कार्य रह जाता है। यह इसका निकृष्ट बन्धन है। इसलिए प्रार्थना करते हैं कि **अधमम्**=इस निकृष्ट बन्धन को भी **अव**=हमसे दूर कीजिए।

निद्रा व आलस्य को परे फेंककर **अथ**=अब हे **आदित्य**=आदानकर! खारे समुद्र से भी शुद्ध जल का ग्रहण करनेवाले सूर्य! **वयम्**=हम **तव व्रते**=तेरे व्रत में चलकर—तेरे व्रत में स्थिर होकर **अनागसः**=निष्पाप होते हुए **अदितये**=बन्धनों से मोक्ष के लिए **स्याम**=समर्थ हों। सूर्य निष्कामवृत्ति से अपने पथ पर आगे और आगे बढ़ता चलता है, हम भी इसी क्रिया को अपनाएँ।

भावार्थ—सूर्य के सतत-सरणरूप व्रत में चलता हुआ मैं अपने को सभी पाशों से मुक्त कर सकूँ।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

संग्राम में विजय के लिए

५९०. त्वया वयं पवमानेन सोम भरे कृतं वि चिनुयाम शश्वत्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ५॥

'सब प्रकार के बन्धनों को तोड़कर सूर्य के व्रत में चलता हुआ मनुष्य विजयी न हो' यह कैसे हो सकता है? अतः गत मन्त्र का 'शुनःशेपः' यहाँ 'कुत्स' (कुथ हिंसायाम्) शत्रुओं का संहार करनेवाला हो जाता है। 'सूर्य के व्रत में चलता हुआ' यह सूर्य की भाँति ही चमकने लगता है और अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला 'आङ्गिरस' बनता है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि—

हे **सोम**=(स उमा)—ज्ञान के भण्डार प्रभो! **पवमानेन**=अपने ज्ञान से पवित्र करनेवाले **त्वया**=आपसे मिलकर **वयम्**=कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले हम **भरे**=काम-क्रोधादि के साथ निरन्तर चल रहे अध्यात्म संग्राम में (भृ भर्त्सने) **शश्वत्**=सदा **कृतम्**=सफलता को **विचिनुयाम**= विशेषरूप से संचित करनेवाले हों। प्रभु के आश्रय के बिना इस संग्राम में विजय पाना सम्भव नहीं। प्रभु अपने ज्ञान से मुझे पवित्र करते हैं और उत्तरोत्तर पवित्र होते चलना ही इस संग्राम का विजय है। 'विजय मुझे प्रभु ही प्राप्त कराएँगे' इसमें सन्देह नहीं। प्रभु से प्राप्त कराई जानेवाली यह विजय बड़ी शानदार होगी यदि हम भी निम्न प्रकार से प्रयत्नशील होंगे। **नः तत्**=हमारी इस विजय को **मामहन्ताम्**=अत्यन्त गौरवपूर्ण बना डालें। कौन—

१. **मित्रः वरुणः**=प्राण और अपान, अर्थात् हमारा पहला कर्त्तव्य यह है कि हम प्राणापान की साधना करें। इन्द्रियों, मन व बुद्धि पर आक्रमण करनेवाले अन्तःशत्रुओं को दग्ध करने का मूलसाधन प्राणायाम ही है। इससे इन्द्रियों के दोष उसी प्रकार दग्ध हो जाते हैं, जैसे तपाये हुए धातुओं के मल।

२. **अदितिः सिन्धुः**=अहिंसा की वृत्ति (दो अवखण्डने) और शक्ति का सागर। यह अदिति=अहिंसा सिन्धु=शक्ति के समुद्र के साथ है। निर्बलता के साथ अहिंसा का निवास नहीं। 'सिन्धु' जलों का वाचक है। अध्यात्म में जल शक्ति के रूप में है (आपः रेतो भूत्वा०)। **'शक्तौ क्षमा'** शक्ति के साथ क्षमा हमारे जीवनों को अलंकृत करती है और हमें विजयी बनाती है।

३. **पृथिवी उत द्यौः**=पृथिवी और द्युलोक—शरीर और मस्तिष्क। 'पृथिवी च दृढा'=दृढ शरीर ही शरीर है। वायु के नाममात्र झोंके से हिल जानेवाला—रोग-पीड़ित हो जानेवाला शरीर भी क्या शरीर है? 'द्यौः उग्रा' हमारा मस्तिष्क विज्ञान के नक्षत्रों व ब्रह्मज्ञान के सूर्य से दीप्त हो। 'हम शरीर को पृथिवी तुल्य दृढ़ और मस्तिष्क को द्युलोक के समान तेजस्वी बनाएँ' यही हमारा तृतीय प्रयत्न होगा और हम प्रभु-कृपा से शत्रुओं को तीर्ण कर जाएँगे, 'कुत्स' बन पाएँगे।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से प्राणायाम, पवित्रता व 'प्रज्ञान' में लगे हुए हम शत्रुओं को जीतनेवाले बनें।

ऋषिः—**वामदेवो गोतमः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**एकपदाजगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

शक्ति का पुञ्ज बन जाएँ

४९१. इमं वृषणं कृणुतैकमिन्माम्॥ ६॥

यह 'एकपाद जगती' छन्द का मन्त्र है। एक ही चरण में इसमें सारे ब्रह्माण्ड की याचना हो गयी है। 'वृद्धा-जरती-न्याय' के अनुसार यहाँ एक ही वाक्य में सब-कुछ माँग लिया गया

है। 'मैं अपने युवा पुत्रों को सोने के पात्रों में प्रातराश करती पाऊँ। इस वाक्य में वृद्धा ने १. मृत पति का नवजीवन २. अपना यौवन ३. उत्तम सन्तान व ४. सम्पत्ति सभी वस्तुएँ माँग ली। इसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में 'वामदेव गोतम' सभी दिव्य गुणों को तथा प्रशस्त इन्द्रियों को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करता है—

इमं माम्=इस मुझे—गत मन्त्र के उत्तरार्ध में संकेतित प्रयत्न करनेवाले मुझे **इत्**=निश्चय से **एकं वृषणम्**=अद्वितीय शक्तिशाली **कृणुत**=कर दो—बना दो। शक्ति के साथ सब गुणों का निवास है। गुण (virtue) वीरत्व है और दुर्गुण (evil)—अवीरता। शक्ति संयम साध्य है और संयम सब गुणों का मूल है। शक्ति होने पर सब दिव्य गुण आ जाते हैं। इस बात का संकेत प्रस्तुत मन्त्र के 'विश्वेदेवाः' देवता से भी हो रहा है। याचना शक्ति की है—विषय 'सब दिव्य गुणों की प्राप्ति' है। शक्ति से ही सब दिव्य गुणों को अपनाकर हमें 'वामदेव' बनाना है। यह सुन्दर दिव्य गुणोंवाला वामदेव प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। 'इसकी सब इन्द्रियाँ पवित्र हैं', अतः यह गोतम है।

भावार्थ—प्रभु 'तेजपुञ्ज' हैं। मुझे तेजस्वी बनाएँ। मैं भी 'तेजपुञ्ज' बनने का प्रयत्न करूँ।

ऋषिः—**आङ्गिरसोऽ महीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'इन्द्र, यज्यु, वरुण और मरुत्' बनना

५९२. स न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः। वरिवोवित् परि स्रव ॥ ७ ॥

हे **वरिवोवित्**=उपासना की वृत्ति (वरिवस्=पूजा) अथवा धन (वरिवः=wealth) प्राप्त करानेवाले प्रभो! **सः**=आप **नः**=हमें **परिस्रव**=उपासना की वृत्ति व धन प्राप्त कराइए। किन हमारे लिए—

१. **इन्द्राय**=इन्द्र—इन्द्रियों के अधिष्ठाता के लिए। वस्तुतः मनुष्य चित्तवृत्ति का निरोध करके ही प्रभु की उपासना कर पाता है और इस उपासक के योगक्षेम के लिए प्रभु इसे आवश्यक धन प्राप्त कराते हैं।

२. **यज्यवे**=यज्यु—स्वार्थ की भावना से रहित होकर कर्म करनेवाले के लिए। स्वार्थ के साथ प्रकृति के प्रति आसक्ति है—वहाँ प्रभु की ओर झुकाव नहीं।

३. **वरुणाय**=पाशी के लिए—अपने को यम-नियम के बन्धनों में बाँधनेवाले के लिए। जो अपने को यम-नियमों के बन्धन में बाँधता है वह विषय-बन्धन से मुक्त हो जाता है। यही प्रभु का सच्चा उपासक होता है।

४. **मरुद्भ्यः**=मरुतों—(मरुतः प्राणः) प्राणापान की साधना करके प्राणों का पुञ्ज बननेवालों के लिए प्रभु उपासना की वृत्ति व धन प्राप्त कराते हैं। उपासना की वृत्ति मोक्ष के लिए और धन सांसारिक चिन्ता से मुक्त रहकर आत्मोन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ सकने के लिए।

उल्लिखित सब शब्दों की मूलभावना पार्थिव भोगों से ऊपर उठने की है। **इन्द्र**=जितेन्द्रिय, **यज्यु**=निःस्वार्थ लोकहित में लगनेवाला व्यक्ति, **वरुण**=यम-नियमों के बन्धनों में बद्ध, **मरुत्**=प्राणापान की साधना में लगा व्यक्ति स्पष्ट ही 'अ-मही-यु' है—पार्थिव भोगों से ऊपर उठा हुआ है। पार्थिव भोगों से ऊपर उठकर यह 'आङ्गिरस' तो है ही।

भावार्थ—हम पार्थिव भोगों से ऊपर उठकर ही प्रभु के सच्चे उपासक हो सकते हैं।

ऋषिः—**आङ्गिरसोऽ महीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पूजा और विभाग

५९३. एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम्। सिषासन्तो वनामहे॥ ८॥

पार्थिव भोगों में न फँसने के लिए यह 'अमहीयु' प्रभु का **अर्य**=स्वामिन् शब्द से सम्बोधन करता है। यह अमहीयु प्रार्थना करता है कि **एना**=इन **विश्वानि**=सब **मानुषाणाम्**=मनुष्यों के लिए हितकर **द्युम्नानि**=प्रकाशमय—'जिन धनों ने हमारे मस्तिष्क को अस्वस्थ नहीं कर दिया' उन्हें **सिषासन्तः**=बाँटते हुए और बाँटने के द्वारा—यज्ञों के द्वारा प्रभु की उपासना करते हुए **वनामहे**=सेवन करते हैं। **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**=इसलिए त्याग की भावना से ही हम भोग करते हैं। हम केवलादी नहीं बनते, केवल अपने लिए पकानेवाले नहीं बनते।

जिस समय मनुष्य 'अमहीयु' नहीं रहता उसी समय वह इस 'विभाग द्वारा पूजा' की भावना से दूर हो जाता है। देव लोग यज्ञ से उस यज्ञरूप प्रभु की उपासना करते हैं, परन्तु असुर अपने ही मुख में आहुति देते हुए, उदरम्भरि बन प्रभु की उपासना से कोसों दूर रहते हैं। उस समय ये भोग हमारे ज्ञान पर पर्दा डाल देते हैं और हमारे ये धन 'द्युम्न=प्रकाशमय' नहीं रहते।

भावार्थ—संविभाग द्वारा ही हम प्रभु के उपासक बनते हैं।

ऋषिः—**आत्मा**॥ देवता—**अन्नम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वह प्रभु ही हमारा 'अन्न' हो

५९४. अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इदेवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥ ९॥

प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **ऋतस्य**=सत्य-ज्ञान से परिपूर्ण वेदवाणी का **प्रथम-जा**=सृष्टि के प्रारम्भ में सबसे पहला उत्पत्तिस्थान **अस्मि**=हूँ। प्रभु ने ही अग्नि आदि ऋषियों को हृदयस्थरूपेण वेदज्ञान दिया। जीव का ज्ञान नैमित्तिक है—उसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु की आवश्यकता है। हमने अपने गुरुओं से ज्ञान प्राप्त किया और उन्होंने अपने गुरुओं से। इस प्रकार यह गुरु-परम्परा हमें प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ तक पहुँचाती है, जिस समय **देवेभ्यः**=सब विद्वानों से **पूर्वम्**=पहले होनेवाला वह प्रभु श्रेष्ठ—अरिप्र (निर्दोष) ऋषियों को ज्ञान देता है। वह ज्ञान जो **अमृतस्य**=मोक्ष को हमारी ओर **नाम**=झुकानेवाला है (नमयति)।

वस्तुतः **यः**=जो भी **मा**=मेरे प्रति अपने को **ददाति**=देता है **सः**=वह **इत्**=ही **एव**=इस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा **आवत्**=अपनी रक्षा करता है। ज्ञान उसे वासनाओं का शिकार नहीं होने देता। यह भोगों में फँसता ही नहीं। उस व्यक्ति के लिए प्रभु कहते हैं कि **अहम् अन्नम्**=मैं ही अन्न हूँ—वह मेरा ही सेवन करता है—मेरा ही उपासक होता है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति इन पार्थिव भोगों में फँस जाते हैं वे नाना प्रकार से स्वादु

अन्नों को खाने लगते हैं, उन **अन्नम् अदन्तम्**=स्वाद से अन्नों को खाने में लगे हुओं को **अद्मि**=मैं खा जाता हूँ। ऐसे व्यक्तियों के लिए प्रभु 'रुद्र' होते हैं और ये स्वाद से अन्नों को खानेवाले व्यक्ति अन्त में उस प्रभु से रुलाये जाते हैं।

भोगों में न फँसकर, ज्ञानप्रधान जीवन बिताते हुए हम चित्तवृत्ति के निरोध से अपने स्वरूप को देखें (तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्) और इस मन्त्र के ऋषि 'आत्मा' बनें। वास्तविक अन्न यह 'आत्मा' ही है। इसी 'अन्न' का इस मन्त्र में वर्णन है। इसी से मन्त्र 'अन्न' देवताक है। 'इस अन्न का सेवन हमारे त्रिविध कष्टों को समाप्त करनेवाला होगा' इस बात की सूचना मन्त्र के छन्द 'त्रि-ष्टुप्' शब्द से भी आ रही है। (Stoping of the three)।

भावार्थ—मैं आत्मदर्शन करूँ। आत्मा ही मेरा अन्न हो—मैं उसी का सेवन करूँ। इस अन्न के सेवन से मेरे त्रिविध कष्ट दूर हों।

द्वितीया दशतिः

ऋषिः—**आङ्गिरसः श्रुतकक्षः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

देदीप्यमान पयः

५९५. त्वमेतदधारयः कृष्णासु रोहिणीषु च। परुष्णीषु रुशत् पयः ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'श्रुतकक्ष'=ज्ञान को अपनी शरण बनानेवाला अतएव 'आङ्गिरस' शक्तिशाली है। प्रभु के प्रति समर्पण के द्वारा गत मन्त्र में ज्ञान-प्राप्ति का उल्लेख था। ज्ञान प्राप्त करनेवाले इस 'श्रुतकक्ष' से प्रभु कहते हैं कि **त्वम्**=तू **एतत्**=इस **रुशत्**=देदीप्यमान **पयः**=आप्यायित करनेवाले ज्ञान को **अधारयः**=सब प्रजाओं के अन्दर धारण कर। किन प्रजाओं में—

१. **कृष्णासु**=तमोगुण की प्रधानता के कारण अन्धकार में रहनेवालों में। स्वयं ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान को औरों तक पहुँचाना ही श्रुतकक्ष का उद्देश्य होना चाहिए। स्वयं ज्ञानी बनकर अकेले मुक्त होने के लिए उद्यत होना ठीक नहीं है। अज्ञान में वर्त्तमान इन प्रजाओं को जब श्रुतकक्ष मधुर शब्दों में समझाने का प्रयत्न करता है तब कृष्ण-प्रजाएँ उसे अपना गुरु बनाकर आदर देती हैं। अज्ञान का रंग काला है, अतः इन प्रजाओं को 'कृष्णा' नाम दिया गया है।

२. **रोहिणीषु**—उन प्रजाओं में जो सत्त्वगुण प्रधानता के कारण रोहणशील, उन्नतिशील हैं। ये ज्ञान की बातों को रुचिपूर्वक सुनती हैं। ये अपने आचार्यों का ज्ञान-ग्रहण द्वारा सम्मान करती हैं। इनके अतिरिक्त—

३. **परुष्णीषु**=(कुटिलगामिनी इति यास्कः) कुटिलगामिनी प्रजाओं में भी ज्ञान का प्रचार करना है। ये रजोगुण प्रधान होती हैं और अर्थ को ही उद्देश्य बनाकर चलती हैं। नानाविध वासनाओं से आक्रान्त होने से इन्हें ज्ञान रुचिकर नहीं होता। ये ज्ञानदाता से प्रेम के स्थान में उसपर क्रोध करती हैं। इनके द्वारा उसे अधिकाधिक कष्ट दिये जाते हैं, परन्तु यह उन्हें ज्ञान देने में अपने प्राणों की भी बाज़ी लगा देता है। उनका अमङ्गल न चाहता हुआ यह उन्हें ज्ञानदुग्ध पिलाता ही रहता है। पयः=ज्ञान है, क्योंकि यह आप्यायित करनेवाला है। ज्ञान का पुञ्ज होने से आचार्य भी 'पयः' कहलाया है।

भावार्थ—हम श्रुतकक्ष बनकर सब प्रजाओं को ज्ञान देनेवाले बनें।

ऋषिः—**आङ्गिरसः पवित्रः**॥ देवता—**पवमानः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

ज्ञान का प्रचारक

**५९६. अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा मिमेति भुवनेषु वाजयुः।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः॥ २॥**

'ज्ञान के प्रचारक का जीवन कैसा होता है?' इस बात का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में है। यह प्रचारक १. **अरूरुचत्**=खूब चमकता हुआ—स्वास्थ्य व ज्ञान की ज्योति से बड़ी शोभावाला प्रतीत होता है २. **उषसः**=अज्ञानान्धकार व वासनओं को जला देनेवाले (उष दाहे) ज्ञान का **पृश्निः**=(स्पृशतेः) स्पर्श करनेवाला होता है, अर्थात् अपने ज्ञान-नेत्र से कामादि वासनाओं को भस्म करनेवाला होता है, ३. **अग्रियः**=इसका जीवन 'आगे और आगे बढ़ते चलना' इस सूत्र को अपनानेवाला होता है, ४. **उक्षा**=(उक्ष सेचने) यह प्रजाओं पर ज्ञान की वर्षा के द्वारा सुखों का सेचन करनेवाला होता है, ५. **मिमेति**=ज्ञान देने के हेतु यह मन्त्रों का उच्चारण करता है, ६. **भुवनेषु वाजयुः**=अपने सभी कोषों में यह 'वाज' को जोड़ने का प्रयत्न करता है। 'शरीर में गति, प्राणमयकोश में शक्ति, मनोमयकोश में त्याग, विज्ञानमयकोश में ज्ञान—यह सब 'वाज' ही हैं।

७. **अस्य मायया**=इसके ज्ञान-प्रचार से **मायाविनः**=बड़े-बड़े ठग भी **ममिरे**=कुछ बन जाते हैं। यह अहिंसा के द्वारा उपदेश देता हुआ, मधुर शब्दों से उनमें अभीष्ट परिवर्तन लाने में समर्थ होते हैं।

८. **नृचक्षसः**=ये मनुष्य को बारीकी से देखते हैं। उसकी मनोवृत्ति को समझकर ही तो ये उन्हें हृदयस्पर्शी उपदेश दे पाते हैं। ९. **पितरः**=इस प्रकार ये सभी के पितर=रक्षक बन जाते हैं। १०. **गर्भमादधुः**=हिरण्य नामक परमात्मा को ये सदैव अपने हृदयों में धारण करते हैं। यह प्रभु-स्मरण इन्हें उत्कर्ष की ओर ले-चलता है। इनका नाम 'पवित्र' हो जाता है। पवित्र होने से यह 'आङ्गिरस' बनता है।

भावार्थ—हमारा जीवन प्रचारक के उल्लिखित गुणों से युक्त हो।

ऋषिः—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्र कहलाने योग्य कौन?

५९७. इन्द्र इद्धर्योः सचा सम्मिश्ल आ वचोयुजा। इन्द्रो वज्री हिरण्ययः॥ ३॥

गत मन्त्र का 'पवित्र' यहाँ मधुच्छन्दाः=मधुर इच्छाओंवाला वैश्वामित्रः=प्राणिमात्र का मित्र है। ऐसा बनने के लिए यह **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **इत्**=निश्चय से **हर्योः सचा**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को सदा साथ-साथ रखता है। शरीररूप रथ से उन्हें इधर-उधर भटकने नहीं देता। **सम्मिश्लः**=यह इन इन्द्रियों को सम्यक् मिश्रित करनेवाला होता है। इन्हें सदा उत्तम कार्यों में लगाये रखता है। **वचोयुजः**=यह इन इन्द्रियरूप घोड़ों को वेदवाणी के अनुसार **आ**=सर्वथा कार्यों में युक्त करता है। वेदानुकूल जीवन बनाने से यह इन्द्र

वज्री=वज्रतुल्य शरीरवाला बनता है और **हिरण्ययः**=मस्तिष्क में ज्योतिर्मय होता है। वेद की प्रेरणा के अनुसार मनुष्य तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में अवस्थित होता हुआ मस्तिष्क को प्रकाश से पूर्ण करता है और शरीर को आमय-शून्य बनाता है। निरामय शरीर सारवान् बनता हुआ वज्रतुल्य दृढ़ होता है।

ज्ञानी और पूर्ण स्वस्थ मनुष्य किसी से द्वेष नहीं करता। यह सचमुच 'वैश्वामित्रः' होता है, सबके लिए मङ्गल-ही-मङ्गल चाहता हुआ यह 'मधुच्छन्दा' कहलाता है।

भावार्थ—हम शरीर से वज्री हों, मस्तिष्क से हिरण्यय।

ऋषिः—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उदात्त रक्षण

५९८. इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्त्रप्रधनेषु च। उग्र उग्राभिरूतिभिः॥ ४॥

इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव जब इन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न करने लगता है तब उसे यह अनुभव होता है कि यह मन तो अत्यन्त चञ्चल है, इसे वश में करना सम्भव नहीं है। इसलिए हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली, सब शत्रुओं का द्रावण करनेवाले प्रभो! **वाजेषु**=वासनाओं के साथ होनेवाले संग्रामों में (When we wage a war against them) **नः**=हमारी **अव**=रक्षा कीजिए। इन्द्रियाँ और मन विषयों के प्रति रागवाले होकर उनकी ओर भागते हैं और मैं उन्हें रोकता हूँ। आप मेरी रक्षा करेंगे तभी मैं इन्हें रोक पाऊँगा। **च**=और **सहस्त्रप्रधनेषु**=सैकड़ों प्रकार से मेरा विदारण करनेवाले इन संग्रामों में **उग्र**=तेजस्वी प्रभो! **उग्राभिः**=उत्कृष्ट **ऊतिभिः**=रक्षणों से आप हमें **अव**=सुरक्षित कीजिए। ये विषय प्रबल हैं, परन्तु आपके सम्पर्क में आकर मैं प्रबल हो जाता हूँ। 'काम' प्रद्युम्न=उत्कृष्ट बलवाला है। यह प्रिय लगता है, परन्तु आप प्रियतम हैं। आपके साथ होने पर सब वैषयिक आनन्द तुच्छ हो जाते हैं और मैं उनका शिकार नहीं होता।

विषयों की प्राप्ति के लिए की जानेवाली सब कुटिलताओं से ऊपर उठकर मैं 'मधुच्छन्दा वैश्वामित्र' हो जाता हूँ। वस्तुतः काम व्यापक होकर विश्वप्रेम का रूप धारण कर लेता है। वही आदर्श जीवन होता है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मैं अध्यात्म-संग्रामों में विजयी बनूँ।

ऋषिः—**प्रथो वासिष्ठः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

रमणीयतर स्वरूप

५९९. प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामानुष्टुभस्य हविषो हविर्यत्।
धातुर्द्युतानात् सवितुश्च विष्णो रथन्तरमा जभारा वसिष्ठः॥ ५॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रथः वासिष्ठः' है। मन्त्र का प्रारम्भ भी 'प्रथः' तथा अन्त 'वसिष्ठः' शब्द से हुआ है। यह अकस्मात् हो गया हो, ऐसा नहीं है। यह 'प्रथ वासिष्ठ' **रथन्तरम्**=अतिशयेन रमणीय रूप को अथवा उत्कृष्ट शरीररूप रथ को **आजभार**=प्राप्त करता है। इसे प्राप्त करने के लिए निम्न साधना करनी होती है—

१. **प्रथः च**=(प्रथ=विस्तारे) यह अपने को विशाल हृदय बनाता है। संकुचित हृदय में मलिनताएँ होती हैं–विशाल हृदय में पवित्रता। **'महः पुनातु हृदये'**=विशालता हमें हृदय में पवित्र बनाये। **'उदारं धर्ममित्याहुः'**=उदार ही धर्म है। इस प्रकार **यस्य**=जिसके जीवन में **प्रथः**=विस्तार होता है, वही रमणीयता को प्राप्त करता है, परन्तु विस्तार के लिए आवश्यक है कि यह विस्तार केवल शरीर का न होकर मन व बुद्धि का भी हो। इसी से कहते हैं कि २. **सप्रथः च**=जिसके जीवन में **स**=समानरूप से शरीर, मन व बुद्धि का **प्रथः**=विस्तार होता है—यह सम विकासवाला व्यक्ति ही रमणीय रूप को पाता है। केवल शरीर का विकास हमें पहलवान बना देता है—केवल मन की शुद्धता हमें करुणा का विषय बनाती है और केवल ज्ञान हमें 'साक्षर' न बना 'राक्षस' बना देता है। ३. रमणीयता के लिए तीसरी आवश्यकता यह है कि **आनुष्टुभस्य**=वेदवाणी के अधिष्ठाता प्रभु का **नाम**=स्तवन हमारी जिह्वा पर हो। हम सदा प्रभु का स्मरण करें। प्रभु–स्मरण हमें अहंकारादि विकारों से सुरक्षित करेगा। ४. रमणीय वह बनता है **यत्**=जो **हविषः हविः**=हवि का भी हवि बनता है, अर्थात् अत्यन्त त्यागशील होता है। रमणीयता के लिए विकास, समविकास, प्रभु का नामस्मरण व त्याग चार साधन हैं।

इस रमणीय स्वरूप को **वसिष्ठः**=काम–क्रोध को वश में करनेवाला ही पाता है। किससे—

१. **धातुः**=सब वस्तुओं का निर्माण करनेवाले धाता=विधाता=ब्रह्मा (creator) से।

२. **द्युतानात्**=सृष्टि को उत्पन्न करके (द्यु)=ज्ञान का (तानात्) विस्तार करनेवाले से। सृष्टि की रचना करके प्रभु मनुष्य को ज्ञान देते हैं, जिसके अनुसार उसे अपना जीवन बनाना होता है।

३. **सवितुः च**=उस सविता से जो सम्पूर्ण विकास व ऐश्वर्य का मूल है। वेदज्ञान के द्वारा प्रभु हमें समृद्धि के सब साधनों का उपदेश करते हैं।

४. **विष्णोः**=उस व्यापक परमेश्वर से। विशालता में ही सौन्दर्य है वसिष्ठ प्रभु को इन नामों से स्मरण करता हुआ स्वयं भी निर्माण, ज्ञान–विस्तार, ऐश्वर्य व व्यापक मनोवृत्ति का व्रत लेता है और इन व्रतों के द्वारा अपने जीवन को अधिकाधिक रमणीय बनाता चलता है। विष्णु की भाँति व्यापक बनने के कारण इसका नाम ही 'प्रथ' हो गया है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम रमणीयतर स्वरूप को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः**॥ देवता—**वायुः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अग्निहोत्र करनेवाले के लोक में

६००. नियुत्वान् वायवा गह्ययं शुक्रो अयामि ते। गन्तासि सुन्वतो गृहम्॥ ६॥

'वायुरनिलममृतमथेदम्—शरीर को धारण करनेवाला आत्मा 'वायु' है। इसके इन्द्रियरूप घोड़े 'नियुत' कहलाते हैं—जिन्हें पाप से पृथक् करना है (यु=अमिश्रण) और पुण्य से जोड़ना है (यु=मिश्रण)। 'मतुप्' प्रत्यय भी प्रशस्त अर्थ में यहाँ आया है। प्रभु इसे सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे **वायो नियुत्वान्**=प्रशस्त इन्द्रियरूप घोड़ोंवाले! तू **आगहि**=हमारे समीप आ। **अयम्**=यह मैं **ते**=तेरे लिए **शुक्रः**=शुद्धस्वरूप का कर्त्ता होकर **अयामि**=तुझे प्राप्त होता

हूँ। जीव प्रयत्न करता है तो उसे प्रभु का साहाय्य प्राप्त होता है। जीव प्रभु की ओर चलता है तो प्रभु भी उसे प्राप्त होते हैं। जीव इन्द्रियों को शुद्ध करने का प्रयत्न करता है तो प्रभु भी उसकी शुचिता करनेवाले होकर उसे प्राप्त होते हैं। प्रभु से मिलकर जब यह शोधन-क्रिया चलती है तब प्रभु जीव से कहते हैं कि तू **सुन्वतः गृहम्**=सुन्वन् के घर को—यज्ञशील पुरुषों के लोक को **गन्तासि**=जानेवाला होगा। 'अग्निहोत्रहुतो यत्र लोकः=जहाँ अग्निहोत्र करनेवाले जाते हैं, वहाँ तू भी जाएगा।

यह 'नियुत्वान् वायु' ही गृत्स=प्रभु का सच्चा स्तोता है, इसका जीवन मद=आनन्दमय बनता है और शौनकः=यह गतिशील होता है।

भावार्थ—हम नियुत्वान् बनें। अपने इन्द्रियरूप घोड़ों को अशुभ से हटाकर शुभ में प्रेरित करें।

ऋषिः—**नृमेधपुरुमेधौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

पृथिवी का प्रथव, दिव् का स्तम्भन

६०१. यज्जायथा अपूर्व्य मघवन्वृत्रहत्याय। तत्पृथिवीमप्रथयस्तदस्तभ्ना उतो दिवम्॥ ७॥

अपूर्व्य=अपने में प्रभु की भावना का पूरण करनेवालों में उत्तम **मघवन्**=पाप के लवलेश से शून्य जीव! **यत्**=जब तू **वृत्रहत्याय**=वृत्र के नाश के लिए **जायथा**=सन्नद्ध होता है **तत्**=तब **पृथिवीम्**=पृथिवी को=अपने इस पार्थिव शरीर को **अप्रथयः**=विस्तृत करता है **उत उ**=और निश्चय से **तत्**=तभी **दिवम्**=द्युलोक को, अर्थात् अपने मस्तिष्क को **अस्तभ्नाः**—स्थिर करके—'स्थितप्रज्ञ' होता है।

'वृत्र' वासना है। वासना का विनाश शरीर के स्वास्थ्य के लिए भी आवश्यक है और मस्तिष्क की तीव्रता व स्थिरता के लिए भी। इस वासना-विनाश के लिए जीव प्रभु की भावना को अपने अन्दर भरने का यत्न करता है। जहाँ प्रभु की भावना है—उस हृदय में वासना कहाँ?

वासना से बचने के लिए यह 'नृमेध व पुरुमेध' बनता है—केवल स्वार्थमय जीवन न बिताकर यह औरों के सम्पर्क में आता है और इसका सम्पर्क उनका पालन व पूरण करनेवाला होता है। यह लोकहित में लगना ही प्रभु की भावना को अपने अन्दर भरना है। इससे शरीर स्वस्थ बनता है और बुद्धि स्थिर। यही पृथिवी का प्रथव है और द्युलोक का स्तम्भन। वैदिक साहित्य में 'पृथिवी शरीरम्, मूर्ध्नो द्यौः'—'पृथिवी' शरीर है और 'द्युलोक' मस्तिष्क।

भावार्थ—मैं वृत्रहत्या के—वासना-विनाश के द्वारा स्वस्थ शरीर व स्थिर बुद्धि बनूँ।

तृतीया दशतिः

ऋषिः—**वामदेवो गोतमः**॥ देवता—**प्रजापतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

वर्चस्वी, यशस्वी और पयस्वी

६०२. मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत्पयः।
परमेष्ठी प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु॥ १॥

जीव प्रार्थना करता है **परमेष्ठी**=सर्वोच्च स्थान में स्थित **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का

रक्षक परमात्मा **मयि**=मुझमें **वर्चः**=वर्चस्—शरीर में रोगों से युद्ध करके शरीर को स्वस्थ बनानेवाली शक्ति को **दृंहतु**=दृढ़ करे। मेरा शरीर पत्थर की भाँति दृढ़ हो। यह वज्रतुल्य हो। इसपर वायु व ऋतुओं के छोटे-मोटे आक्रमणों का प्रभाव न पड़े।

अथ उ=अब इस स्वस्थ शरीर में **यशः**=(सत्यम्) यश का निवास हो। मेरी इन्द्रियाँ कोई ऐसा कार्य न करें जो यश देनेवाला न हो। मैं अपने कार्यों से चमकूँ। **अथ उ**=इसके अतिरिक्त **यज्ञस्य यत् पयः**=यज्ञ का जो वर्धन है, उसे प्रभु मुझमें दृढ़ करें। औरों के क्षय के द्वारा वर्धन राक्षसीवृत्ति है। साधुवृत्तिवाला पुरुष कभी भी औरों के क्षय से अपने को नहीं बढ़ाता। इसका वर्धन यज्ञ-सम्बद्ध होता है—यह अन्यों के हित में अपना हित देखता है। 'ओप्यायी वृद्धौ' से पयः शब्द बना है—अतः इसका वर्धन अर्थ ही यहाँ सङ्गत है।

ये 'वर्चस्, यशस् व पयस्' मुझे परमेष्ठी ने प्राप्त कराने हैं। मेरा लक्ष्य परम-स्थान में स्थित होने का होगा तभी मैं इन्हें पा सकूँगा। प्रभु 'प्रजापति' हैं, मैं भी प्रजापालन का व्रत लूँगा तभी मेरा वर्धन 'यज्ञ का वर्धन' होगा। परमेष्ठी प्रजापति **इव**=जैसे **दिवि**=द्युलोक में **द्याम्**=प्रकाशमय सूर्य को **दृंहति**=दृढ़ करता है, उसी प्रकार प्रभु मुझमें 'वर्चस्, यशस् व पयस्' को दृढ़ करें। ऐसा होने पर मैं 'वामदेव गोतम' बनूँगा—प्रशस्त दिव्य गुणोंवाला व उत्तम इन्द्रियोंवाला।

भावार्थ—प्रभुकृपा मुझे वर्चस्वी, यशस्वी व पयस्वी बनाये।

ऋषिः—**राहूगणो गोतमः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

निरभिमानिता (अभिमान का अभाव)

६०३. सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः।
आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व॥ २॥

मनुष्य जितना-जितना त्रिष्यता की ओर बढ़ता चलता है उतना-उतना बुराइयों को छोड़ने से वह 'राहूगण'=त्यागियों में गिनने योग्य हो जाता है (रह त्यागे)। अन्तिम अवगुण 'अभिमान' है, इसे भी छोड़कर यह अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियोंवाला 'गोतम' बन गया है।

प्रभु इसे प्रेरणा देते हैं कि **अभिमातिषाहः**=अभिमान का भी पराभव करनेवाले **ते**=तेरे **पयांसि**=वृद्धि के कार्य **सम्**=मिलकर हों, अर्थात् तू केवल अपनी वृद्धि से ही सन्तुष्ट न हो, सभी की उन्नति में अपनी उन्नति समझ। **उ**=और **वाजाः**=धनादि की शक्तियाँ भी **संयन्तु**=मिलकर प्राप्त हों। शरीर का एक ही अङ्ग अधिकतावाला हो तो शरीर सुन्दर नहीं दीखता। **वृष्ण्यानि**=तुम्हारे शक्ति-सम्पादन के कार्य भी **सम्**=मिलकर हों। तुम्हारी 'वृद्धि, धन, शक्ति' ये सभी सम्मिलित हों। अहंकार इस कार्य में सबसे अधिक विघातक है, अतः तू अभिमाति को—अहंभाव को पराभूत कर डाल, कुचल डाल। तू अत्यन्त विनीत बन और हे **सोम**=अहंकार को नष्ट करनेवाले 'गोतम'! तू **अमृताय**=मोक्ष के लिए—इस जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठने के लिए **आप्यायमानः**=सब गुणों के दृष्टिकोण से उन्नति करता हुआ **दिवि**=प्रकाश व ज्ञान के क्षेत्र में **उत्तमानि श्रवांसि**=उत्तम यशों को **धिष्व**=धारण कर। तू ज्ञान के दृष्टिकोण से यशस्वी बन। ज्ञान को प्राप्त करके तू ज्ञानधन प्रभु को पाएगा। यह ज्ञानी 'अभिमातिषाट्' होता है। अहं को मारकर ही प्रभु की प्राप्ति सम्भव है। जब तक 'मैं' है तब तक प्रभु नहीं है,

प्रभु प्राप्त होते हैं तो 'मैं' का विलय हो चुका होता है। 'मैं' को समाप्त करके यह राहूगण सबमें समा गया है—तभी तो यह सबकी वृद्धि में अपनी भी वृद्धि समझता है—और सबकी शक्ति में यह शक्ति अनुभव करता है—यह 'अयुत'=अपृथक् हो गया है। एकत्व देखनेवाला होकर यह प्रभु के चरणों में स्थित हो चुका है। खुदी को समाप्त कर खुदा को पा चुका है।

भावार्थ—'मैं' को समाप्त कर मैं सबके साथ मिलकर वृद्धि व शक्ति का सम्पादन करूँ।

ऋषिः—**राहूगणो गोतमः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

राहूगण गोतम ने क्या किया है?

६०४. त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः।
त्वमातनोरुर्वा३न्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ॥ ३॥

प्रभु राहूगण से कहते हैं कि—हे **सोम**=विनीत! १. **त्वम्**=तूने **इमाः**=इन **विश्वाः**=सब **ओषधीः**=दोष-दहन की प्रक्रियाओं को **अजनयः**=उत्पन्न किया है, अर्थात् तूने अपने दोषों को भस्म कर दिया है (उष् दाहे)। ओषधि भी ओषधि इसीलिए कहलाती है कि वह दोषों को जला देती है। २. **त्वम्**=तूने **अपः**=व्यापक कर्मों को **अजनयः**=अपने में विकसित किया है। यह राहूगण 'स्वार्थ' को छोड़ने के कारण व्यापक हित के दृष्टिकोण से कर्म करता है। इसके कर्म अधिक-से-अधिक भूतों का हित करनेवाले, अतएव सत्य व व्यापक होते हैं। ३. **त्वम्**=तूने **गाः**=अपने अन्दर वेदवाणियों को उत्पन्न किया है। राहूगण ने अपने कर्मों को पवित्र बनाये रखने के लिए ज्ञान का सम्पादन आवश्यक समझा और इस ज्ञान से ही वस्तुतः वह स्वार्थभाव से ऊपर उठ सका। ४. **त्वम्**=तूने **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल हृदयान्तरिक्ष को **आतनोः**=विस्तृत किया। वास्तव में एक ओर कर्म है, दूसरी ओर हृदय की विशालता है। इन दोनों के बीच में ज्ञान है। ज्ञान ने ही कर्मों को पवित्र बनाया है और हृदय को विशाल। ५. इस प्रकार हे राहूगण! **त्वम्**=तूने **ज्योतिषा**=ज्योति के द्वारा **तमः**=अन्धकार को **विववर्थ**=विवृत—दूर कर दिया है।

यह राहूगण 'अपने दोषों को जलाना, कर्मों को पवित्र करना, ज्ञान को दीप्त करना व हृदय को विशाल बनाना' इन बातों को सिद्ध करता हुआ अपने जीवन को सुन्दर बनाता है। इसके पश्चात् यह ज्ञान के प्रसार से लोक के अन्धकार को दूर करने का प्रयत्न करता है। यह पूर्ण त्याग का जीवन बिताते हुए सचमुच 'राहूगण' होता है। इसे ही हम सामान्य भाषा में संन्यासी कहते हैं।

भावार्थ—हम दोष-दहन, व्यापक कर्म, ज्ञान व विशाल हृदयता को सिद्ध करते हुए ज्ञान की ज्योति के प्रसार से अन्धकार को नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'मधुच्छन्दा' की प्रथम आराधना

६०५. अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥ ४॥

राहूगण=त्याग की वृत्तिवाला सदा 'मधुच्छन्दाः'=उत्तम इच्छाओंवाला बनता है, यह 'वैश्वामित्रः'=सभी के साथ स्नेह करनेवाला होता है। यह आराध्यदेव की स्तुति निम्न प्रकार से करता है—

मैं **इडे**=आराधना करता हूँ। मैं अपने मन, वचन, कर्म से स्तुति करता हूँ, उस प्रभु की जो १. **अग्निम्**=अग्नि हैं। सम्पूर्ण अग्रगति के साधक हैं। जिनका स्मरण मेरी उन्नति का साधक होता है। जो प्रभु अनुकूल परिस्थिति प्राप्त कराकर तथा उत्साहवर्धक प्रेरणाएँ देकर मुझे उन्नत करने में लगे हैं। २. **पुरोहितम्**=वे प्रभु (**पुरः**) सृष्टि से पहले से (**हितम्**) विद्यमान हैं **अग्रे समवर्त्तत**=वे तो सभी निर्माणों से पहले से ही हैं। **पुरः**=सर्वाधिक **हितम्**=हित करनेवाले हैं और वस्तुतः **पुरः**=हम सबके सामने **हितम्**=आदर्शरूप से उपस्थित हैं। जैसे प्रभु दयालु हैं वैसे ही हमें भी दयालु बनना है। ३. **यज्ञस्य देवम्**=वे प्रभु मेरे हृदय में यज्ञ की भावना का प्रकाश करनेवाले हैं। सदा मुझे 'देवपूजा, सङ्गतीकरण और दान की प्रेरणा देनेवाले हैं। उन्होंने ही वेदज्ञान द्वारा मुझे सभी यज्ञों=श्रेष्ठतम कर्मों का उपदेश दिया है। ४. **ऋत्विजम्**=वे प्रभु समय-समय पर उपासना करने योग्य हैं। कष्ट के आने पर तो प्रत्येक जीव प्रभु का ध्यान करता ही है। सन्तों से वे सदा स्मरणीय हैं। ५. **होतारम्**=वे सब उत्तम व आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं। हमारे शरीर, मन व बुद्धियों के विकास के लिए उन्होंने प्रत्येक सहायक पदार्थ का निर्माण किया है और उन्हें हमें प्राप्त कराया है। ६. **रत्नधातमम्**=रमणीय-ही-रमणीय पदार्थों को हमें प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु ने अन्न से रस-रुधिरादि के क्रम से सप्त धातुओं के निर्माण की व्यवस्था की है। उनमें से एक-एक कितनी रमणीय है यह वैज्ञानिक अध्ययन हमें बतलाते हैं। इन रत्नों को हम प्रायः रत्न न समझकर नासमझ किसान की भाँति पत्थर समझते हुए फेंक देते हैं। प्रभु-स्तवन हमें स्वस्थ मस्तिष्क बनाएगा और हम इन रत्नों को रत्न समझेंगे। ऐसा समझने पर हमारा जीवन रमणीय बन पाएगा।

भावार्थ—मैं भी 'मधुच्छन्दा' की भाँति प्रभु की आराधना करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मानव विकास

६०६. ते मन्वत प्रथमं नाम गोनां त्रिः सप्त परमं नाम जानन्।
ता जानती रभ्यनूषत क्षा आविर्भुवन्नरुणीर्यशसा गावः ॥ ५ ॥

अध्ययन—१. सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु के **ते**=उन मानस पुत्रों ने **प्रथमम्**=सबसे पहले **गोनाम्**=वेदवाणियों के **नाम**=वाचकता का—अर्थ का **अमन्वत्**=मनन किया—जानने का प्रयत्न किया। एक-एक शब्द के अर्थ को समझने का प्रयत्न किया जोकि इन वेदवाणियों में **त्रिः**=आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक—इन तीन दृष्टियों से **सप्त**=सात छन्दों में वर्णित हुए हैं। सात मुख्य छन्दों में वेदमन्त्र कहे गये हैं और उनमें प्रयुक्त अग्नि आदि शब्द भौतिक अग्नि, राजा तथा आत्मतत्त्व आदि के वाचक होकर त्रिविध अर्थों को प्रकट करनेवाले हैं।

आत्मज्ञान—इस प्रकार वेदवाणियों का अध्ययन करते हुए इन लोगों ने **परमं नाम**=वेदवाणियों के अन्तिम प्रतिपाद्य-विषय उस प्रभु को **जानन्**=जाना। '**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**'—सभी

वेदमन्त्र अन्त में उस प्रभु का ही प्रतिपादन करते हैं। 'प्रकृति के ज्ञान के द्वारा प्रभु को जानना' यही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। **शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्मणि गच्छति**=शब्द-ब्रह्म में निपुण होकर ही परब्रह्म को जाना जाता है।

स्तुति—ताः जानतीः=इस प्रकार इन वेदवाणियों को अच्छी प्रकार जाननेवाली **क्षाः**=पृथिवीस्थ प्रजाएँ **अभ्यनूषत**=उस प्रभु का स्तवन करती हैं। इन्हें एक-एक प्राकृतिक रचना में प्रभु की महिमा दीखती है और ये उस महान् प्रभु के प्रति नतमस्तक हो उठती हैं। इनके मुख से स्वभावतः ये शब्द निकल पड़ते हैं कि 'नमस्ते वायो'=हे सारे संसार को गति देनेवाले प्रभो! तुझे नमस्कार है।

ज्ञान-प्रसार—इन प्रभु-भक्तों का जीवन अकर्मण्य नहीं होता। ये पर्वत-कन्दराओं में स्तोत्रों का ही उच्चारण नहीं करते, अपितु ये प्राप्त ज्ञान को फैलाने के लिए यत्नशील होते हैं। **अरुणीः**=प्रकाशमयी, प्रभातकालीन सूर्य के प्रकाश की भाँति अन्धकार को दूर करनेवाली **गावः**=वाणियाँ **आविर्भुवन्**=इनसे प्रकट होती हैं। ज्ञान के प्रसार के कार्य में ये मध्याह्न के प्रचण्ड सूर्य की भाँति न होकर प्रातःकालीन अरुण प्रकाश के समान होते हैं। मधुर, श्लक्ष्ण (smooth, not harsh) वाणी से ही ज्ञान देनेवाले होते हैं।

उत्तम कर्म—ये प्रभुभक्त कोरे उपदेशक ही नहीं होते **यशसा**=इनका जीवन भी यशस्वी—उत्तम कार्यों से युक्त होता है। इनके मुख से ज्ञान का प्रकाश होता है, हाथों से उत्तम कर्मों का सम्पादन हुआ करता है। इनकी वाणी ज्ञान को और हाथ यश को फैलानेवाले होते हैं।

इस प्रकार जीवन बितानेवाले ये व्यक्ति सचमुच 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाले 'गोतम' प्रशस्तेन्द्रिय बनते हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन 'अध्ययन, आत्मज्ञान, स्तुति, ज्ञानप्रसार व यशोयुक्त' कर्मोंवाला हो।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

समान ऊर्व में निवास

२ ३ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३क २र
६०७. समन्या यन्त्युपयन्त्यन्याः समानमूर्वं नद्यस्पृणन्ति।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
तमू शुचिं शुचयो दीदिवांसमपान्नपातमुप यन्त्यापः॥ ६॥

गत मन्त्र में मानव-जीवन के विकास का उल्लेख था। उस विकास के मार्ग पर चलनेवाले मनुष्यों की संख्या विरल होती है। प्रस्तुत मन्त्र में 'अन्याः' शब्द का प्रयोग इसी भावना को द्योतित कर रहा है। **अन्याः**=कोई एक ही **आपः**=(आपो वै नरसूनवः) नर-सन्तान, अर्थात् मनुष्य **संयन्ति**=प्रभु के आदेशानुसार मिलकर चलते हैं। **'सं गच्छध्वं सं वदध्वम्'**=ऋग्वेद की समाप्ति पर प्रकृति का ज्ञान देने के पश्चात् प्रभु ने आदेश दिया था—'मिलकर चलेंगे' तभी प्रकृति तुम्हारा हित करेगी, 'फटकर चलेंगे' तो यह प्रकृति तुम्हें फाड़ देगी। प्रकृति में न फँसेंगे तो हमारा परस्पर मेल होगा—तभी हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनेंगे। मन्त्र में आगे कहते हैं कि **अन्याः**=ऐसे विरल पुरुष ही **उपयन्ति**=उस प्रभु के समीप प्राप्त होते हैं। ये इहलोक में प्रभु के समीप रहते हैं—शरीर छोड़ने के बाद उस प्रभु के समीप पहुँच ही जाते हैं। 'इस जीवन में वे प्रत्येक क्रिया करते हुए उस प्रभु का विस्मरण नहीं करते' यही प्रभु

के समीप रहने की भावना है। सोते, जागते, खाते-पीते ये सदा प्रभु का नाम स्मरण करते हैं। **नद्यः**=सदा प्रभु के गुणों का गान करनेवाले (नद् स्तुतौ) ये उपासक **समानम्**=वृद्धि और क्षय से रहित सदा एकरस **ऊर्वम्**=अत्यन्त विस्तृत उस सर्वव्यापक प्रभु में **स्पृणन्ति**=(स्पृ-to live) निवास करते हैं। **तम्**=उस **शुचिम्**=पवित्र, निर्मल, अपापविद्ध प्रभु को **दीदिवांसम्**=ज्ञान की ज्योति से दीप्त होते हुए प्रभु को, **अपां न पातम्**=कर्मों को कभी नष्ट न होने देनेवाले प्रभु को, स्वाभाविकी ज्ञान, बल व क्रियावाले उस परमात्मा को **उ**=निश्चय से **शुचयः**=पवित्र जीवनोंवाले **आपः**=ज्ञान के द्वारा अपने जीवन को व्यापक-विशाल बनानेवाले (आप्=व्याप्तौ) कर्मशील (आप्=कर्म) व्यक्ति ही **उपयन्ति**=समीपता से प्राप्त होते हैं।

ज्ञान से मनुष्य का दृष्टिकोण विशाल बनता है। इस समय इसके कर्म स्वार्थ की संकुचित दृष्टि से न किये जाकर सर्वभूतहित की दृष्टि से किये जाते हैं, अतः व्यापकता को लिये हुए होते हैं। ये व्यापक कर्म ही इसे प्रभु का सच्चा भक्त बनाते हैं। प्रकृति में विचरते हुए भी ये प्रकृति में नहीं उलझते, परिणामतः प्रकृति से सदा ऊपर उठे रहते हैं और उस प्रभु में जीवन-यापन करते हैं। यही जीवन्मुक्ति कहलाती है-यही सदेह होते हुए भी विदेह होना होता है। शरीर छोड़ने के पश्चात् **'सह ब्रह्मणा विपश्चिता'**=ये उस ज्ञानी ब्रह्म के साथ विचरते हैं।

यह प्रभु का सच्चा स्तोता होने से 'गृत्स' कहलाता है-मनःप्रसाद को अनुभव करता हुआ यह 'मद' होता है और गतिशील, कर्मनिष्ठ होने से यह 'शौनक' है।

भावार्थ-हम भी उन विरल व्यक्तियों में गिने जाएँ जो मिलकर चलते हैं, प्रभु के उपासक हैं, प्रभु में निवास करते हैं और अपने जीवन को पवित्र, ज्ञान से दीप्त व कर्मनिष्ठ बनाते हैं।

ऋषिः-**वामदेवो गोतमः**॥ देवता-**रात्रिः**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

मेरे जीवन में 'रात्रि' आये

६०८. आ प्रागाद्भद्रा युवतिरह्नः केतून्त्समीर्त्सति।
अभूद्भद्रा निवेशनी विश्वस्य जगतो रात्री॥७॥

प्रस्तुत मन्त्र में वामदेव गोतम प्रार्थना करता है कि **आ**=सब प्रकार से **प्र**=खूब **आगात्**=आये। कौन? **रात्री**=रात। कैसी रात? जो १. **भद्रा**=भद्र है २. **युवतिः**=युवति है, ३. **अह्नः**=अहन् के **केतून्**=ज्ञानों को, विचारों को **समीर्त्सति**=दबा देती है (stored up, shelved कर देती है)-दाखिल-दफ़्तर कर देती है। ४. जो **विश्वस्य जगतः**=सारे जगत् को **निवेशनी**=निवेश देनेवाली है-जिसमें मैं ही मैं रह जाऊँ ऐसी भावना नहीं है।

इस 'रात्रि' का स्वरूप क्या है? इस विषय में **'रात्रिर्वै संयच्छन्दः'** (यजु:० १५।५) यह वाक्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है-'संयम की इच्छा (छन्द)' ही यह 'रात्री' है। **'वारुणि रात्रिः'** इस ब्राह्मणग्रन्थ के वाक्य का भी अभिप्राय यही है। वरुण 'पाशी' हैं-जो मनुष्य अपने को पाशों में-व्रतों के बन्धनों में जकड़ता है वह इस रात्री को अपनाता है। शत० ९.२.३.३० में कहते हैं कि 'रात्रिर्वै कृष्णा शुक्लवत्सा तस्या असौ आदित्यो वत्सः'-कृष्णा=इन्द्रियों को विषयों से वापस आकृष्ट करनेवाली संयमवृत्ति ही रात्रि है, यह सफ़ेद वत्स-पुत्रवाली है,

'आदित्य' ही इसका पुत्र है। इस संयमवृत्ति को अपनाने से मनुष्य उस आदित्यवर्ण प्रभु को देख पाता है। इस कारण ही ('राथन्तरी वै रात्रिः' ऐ० ५.३०) रात्रि को राथन्तरी=शरीररूप रथ को उत्तम बनानेवाली कहा गया है।

भद्राः—यह रात्रि सचमुच **भद्रा**=अभद्र मनुष्य का कल्याण करनेवाली है। शतपथ (१३. १.४.३) में इसे 'क्षेमो रात्रि' शब्दों में कल्याणकर प्रतिपादित किया है। यह प्रतिदिन आनेवाली रात्रि भी मनुष्य का कल्याण करती है। रोगी अपनी पीड़ा को भूल जाता है। वस्तुतः सब विकल्पों से मुक्त कर रात्रि मनुष्य का कल्याण करती ही है। प्रस्तुत 'संयम' रूप रात्रि भी इसी प्रकार मनुष्य का कल्याण करनेवाली है।

युवतिः—यह संयमरूप रात्रि युवति है। (यु मिश्रण, अमिश्रण)—नाना प्रकार की ईर्ष्या-द्वेष की भावनाओं से यह हमें पृथक् कर देती है। संयमी पुरुष के जीवन में 'भेदवृत्ति' समाप्त हो जाती है।

अहन्='अहन्' शब्द दिन का वाचक है। यहाँ यह बड़ी कठिनता से नष्ट (हन्) करने योग्य अहंकार का वाचक है। पुत्रैषणा और वित्तैषणा को जीत लेना आसान है पर लोकैषणा को जीतना सुगम नहीं। अहंभाव Last infirmity of the noble mind है—बड़े-बड़े व्यक्तियों में भी यह निर्बलता उपलभ्य है। वेद में इसे 'नमुचि' नाम दिया है—पीछा न छोड़नेवाला। संयम की रात्रि इस अभिमान के विचारों को दबा डालती है। **सोमो रात्रिः** (श. ३.४.४.१५) इन शब्दों में याज्ञवल्क्य इस रात्रि को विनीत बतला रहे हैं। जैसे प्रस्तुत रात्रि में मनुष्य को अपने धनादि का अभिमान नहीं रहता, उसी प्रकार इस संयम की रात्रि में भी वह इस अभिमान से ऊपर उठ जाता है।

विश्वस्य—इस संयम-रात्रि में मनुष्य केवल अपने आनन्द का ध्यान कभी नहीं करता। यह सभी के आनन्द में आनन्द का अनुभव करता है। संयम की रात्रि में भी मैं केवल अपने सुख का ध्यान नहीं करता। संयम की रात्रि 'उपरमयति ध्रुवी करोति' (निरुक्त) मुझे शान्त बनाती है, मैं डाँवाँडोल नहीं रहता। भोगों की इच्छा से आन्दोलित न होने से मैं सभी के सुख में सुखी होता हूँ।

इस प्रकार यह रात्रि मुझे उत्तम गुणोंवाला बनाकर 'वामदेव' बनाती है—इसके द्वारा मैं प्रशस्तेन्द्रिय 'गोतम' बनता हूँ।

भावार्थ—मैं संयम की रात्रि द्वारा कल्याण प्राप्त करूँ, औरों से एकत्व अनुभव करूँ, अहंकार की वृत्ति को दबा दूँ तथा सभी के सुख में सुख अनुभव करूँ।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः**॥ देवता—**वैश्वानरः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

प्रभु के तेज की चर्चा

६०९. प्रक्षस्य वृष्णो अरुषस्य नू महः प्र नो वचो विदथा जातवेदसे।
वैश्वानराय मतिर्नव्यसे शुचिः सोमइव पवते चारुरग्नये॥ ८॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज बार्हस्पत्य'=दृढ़ शरीर व दीप्त मस्तिष्कवाला व्यक्ति (Who possesses a body of an athlete and the soul of a sage) कहता है कि **नः**=हमें **विदथा**=ज्ञानयज्ञों में प्रभु के **महः**=तेज का **प्रवचः**=खूब प्रवचन करें जो **प्र-क्षस्य**=(प्रकर्षेण

क्षिपति) प्रकृष्टरूप से सर्वत्र निवास कर रहे हैं–सर्वव्यापक हैं, **वृष्ण:**=शक्तिशाली हैं अथवा सुखों की वर्षा करनेवाले हैं, **अरुषस्य**=जो क्रोधशून्य–शान्त हैं। इस प्रभु के तेज का हमें इसलिए प्रवचन कर जिससे हम भी इसी तेज को अपना लक्ष्य बनाएँ। (भर्ग: धीमहि) हम भी प्रभु की भाँति व्यापक मनोवृत्तिवाले, शक्तिशाली व शान्त बनने का प्रयत्न करें। उस प्रभु को पाने का मार्ग तो उस–जैसा बनना ही है। यह ठीक है कि–

१. **जातवेदसे**=प्रत्येक पदार्थ को जाननेवाले (जातं-जातं वेत्ति) उस प्रभु के लिए **मति:**=मननशील, ज्ञानपुञ्ज व्यक्ति ही **पवते**=जाता है–प्राप्त होता है।

२. **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले उस प्रभु के प्रति **शुचि:**=पवित्र, स्वार्थ से शून्य पुरुष ही **पवते**=जाता है। प्रभु प्राणिमात्र का हित करते हैं–उस प्रभु को मैं भी 'सर्वभूतहिते रत:' होकर पा सकता हूँ। शुचि:=पवित्र–स्वार्थशून्य होकर मैं ऐसा कर सकूँगा।

३. **नव्यसे**=(नु=स्तुतौ) उस स्तुत्यतम प्रभु के प्रति **सोम: इव**=विनीतता का पुतला बना हुआ व्यक्ति ही **पवते**=जाता है। अभिमान में अपनी स्तुति है, न कि प्रभु की। जितना-जितना मनुष्य अभिमान से ऊपर उठता है उतना–उतना उस प्रभु की स्तुति करनेवाला बनता है।

४. **अग्नये**=उस आगे और आगे ले–चलनेवाले प्रभु को **चारु:**=चरणशील–सुन्दर गतिवाला पुरुष ही प्राप्त होता है। आगे बढ़ने की वृत्ति से ही हम 'अग्नि' नामक प्रभु को प्रसन्न कर सकते हैं।

भावार्थ–प्रभु को पाने के लिए हमें सदा प्रभु के तेज की चर्चा को सुनना है और मननशील, स्वार्थशून्य, विनीत, सुन्दर आचरणवाला बनने का प्रयत्न करना है।

ऋषि:–**भारद्वाज ऋजिष्वा**।। देवता–**विश्वेदेवा:**।। छन्द:–**त्रिष्टुप्**।। स्वर:–**धैवत:**।।

चार कामनाएँ

६१०. विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञमुभे रोदसी अपां नपाच्च मन्म।
मा वो वचांसि परिचक्ष्याणि वोचं सुम्नेष्विद्वो अन्तमा मदेम॥ ९॥

'ऋजिष्वा भारद्वाज' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। यह ऋजु=अपने जीवन में सरल मार्ग से गति करता है (श्वि गतौ)। सरल मार्ग से चलने के कारण ही यह व्यर्थ की उलझनों से बचा रहता है–सुख की नींद सोता है और इसीलिए स्वस्थ व सबल बना रहता है–'भारद्वाज' होता है। इसके अङ्ग–प्रत्यङ्ग में शक्ति भरी होती है। यह अपने जीवन में जहाँ ज्ञान को महत्त्व देता है, वहाँ इसके साथ इसका जीवन यज्ञमय होता है। यह प्रयत्न करता है कि इसके जीवन में कोई अयज्ञिय कर्म न हो।

यह चाहता है कि १. **विश्वे**=सब **देवा:**=भद्र पुरुष **मम**=मेरे **यज्ञम्**=यज्ञ को ही **शृण्वन्तु**=सुनें। उन्हें कभी ऐसा सुनने को न मिले कि मैंने कोई अयज्ञिय कर्म किया है।

२. मैं **उभे रोदसी**=द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों के **च**=तथा **अपां नपात्**=प्रजाओं का पतन न होने देनेवाले प्रभु के **मन्म**=ज्ञान को प्राप्त करूँ, अर्थात् पृथिवीलोक व द्युलोक का ज्ञान तो प्राप्त करूँ ही, इनके साथ मैं उस प्रभु का भी ज्ञान प्राप्त करूँ जो अपने स्मरण करनेवाली प्रजाओं का पतन नहीं होने देते। दोनों लोकों का ज्ञान प्रकृतिविद्या है तो प्रभु का ज्ञान 'ब्रह्मविद्या'। ये दोनों 'परा व अपरा' विद्याएँ हैं। दोनों का मैं पारंगत बनने का प्रयत्न

करूँ।

३. हे **विश्वेदेवाः**=भद्रपुरुषो! मैं **वः**=आपका बनकर **परिचक्ष्याणि**=त्याज्य **वचांसि**=वचनों को **मा वोचम्**=न बोलूँ, अर्थात् मैं सदा शुभ ही शब्दों को बोलूँ।

४. **वः**=आपकी **सुम्नेषु**=स्तुतियों में **इत्**=निश्चय से **अन्तमा**=अन्तिकतम होते हुए **मदेम**=हम आनन्दित हों। जैसे देव लोग प्रभु का स्तवन करते हैं, उसी प्रकार प्रभु की स्तुति करते हुए हम विद्वानों के सङ्ग में आनन्द प्राप्त करें।

भावार्थ—हमारी चार कामनाएँ हों १. हमारा जीवन यज्ञिय हो, २. हम परा व अपरा विद्या में निष्णात हों, ३. हम कभी अपशब्द न बोलें तथा ४. प्रभु की स्तुति में निरत रहें।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः**॥ छन्दः—**महापंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

यशो-लाभ, यशस्वी वक्ता

६११. यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्रबृहस्पती।
यशो भगस्य विन्दतु यशो मा प्रतिमुच्यताम्।
यशस्व्या३स्याः संसदोऽहं प्रवदिता स्याम्॥ १०॥

दिव्य गुणोंवाला प्रशस्तेन्द्रिय ऋषि 'वामदेव गोतम' प्रभु से प्रार्थना करता है कि १. **मा**=मुझे **द्यावापृथिवी**=तारारूप विज्ञानों से तथा सूर्यरूप ब्रह्मज्ञान से दीप्त मस्तिष्करूपी द्युलोक तथा पाषाण व वज्रतुल्य दृढ़ पार्थिव शरीर **यशः**=यश **प्रतिमुच्यताम्**=प्राप्त कराएँ। ज्ञान-ज्योति से चमकनेवाले मस्तिष्क और वज्रतुल्य दृढ़ शरीर के द्वारा मैं यशस्वी बनूँ। २. **मा**=मुझे **इन्द्रबृहस्पती**=सब बल कर्मों की अधिष्ठातृ देवता तथा ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता **यशः**=यश देनेवाली हो। मैं क्षत्र और ब्रह्म के कारण (बल और ज्ञान के कारण) यशस्वी बनूँ। ३. मुझे **भगस्य**=ऐश्वर्य-वीर्य-कीर्ति-श्री-ज्ञान और वैराग्य (non-attachment) का **यशः**=यश **विन्दतु**=प्राप्त हो। इस षड्विध भग को प्राप्त कर मैं अपने जीवन को यशोयुक्त करूँ। **यशः**=यश-ही-यश **मा**=मुझे **प्रतिमुच्यताम्**=प्राप्त हो।

इस प्रकार अपने जीवन को **यशसा**=यशस्वी बनाकर ही मैं **अस्याः**=इस **संसदः**=सभा का **प्रवदिता**=उत्कृष्ट वक्ता **स्याम्**=बनूँ। यदि उपदेष्टा का अपना जीवन उत्कृष्ट व यशस्वी न हो तब उसकी वाणी का कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। अपने जीवन को उत्तम बनाकर ही उपदेष्टा को सभा में प्रवचन करना चाहिए।

भावार्थ—मैं शरीर को उत्तम बनाऊँ, मस्तिष्क को उन्नत करूँ। मेरे ब्रह्म व क्षत्र का विकास हो। मैं भग के यश को प्राप्त करूँ। यशस्वी बनकर मैं प्रभावशाली उपदेष्टा बन सकता हूँ।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

हिरण्यस्तूप का उपदेश

६१२. इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम्॥ ११॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'हिरण्यस्तूप आङ्गिरस' है। 'हिरण्यं वै वीर्यम्'=हिरण्य वीर्यशक्ति का नाम है—उसकी ऊर्ध्वगति करनेवाला 'हिरण्यस्तूप' वीर्य की ऊर्ध्वगति के कारण ही एक-एक अंग में रसवाला है—'आङ्गिरस' है। यह कहता है कि मैं **नु**=अब **इन्द्रस्य**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव के **वीर्याणि**=शक्तिशाली कर्मों का **प्रवोचम्**=प्रवचन करता हूँ। **यानि**=जिन कर्मों को, जो **प्रथमानि**=अत्यन्त विस्तारवाले हैं—स्वार्थ के दृष्टिकोण से नहीं किये गये, **वज्री**=वज्रतुल्य दृढ़ शरीरवाले हिरण्यस्तूप ने **चकार**=किया है। जितेन्द्रिय बनकर जीव वज्रतुल्य दृढ़ शरीरवाला बनता है (वज्री), इसके कर्म स्वार्थ से कुछ ऊपर उठे हुए होते हैं (प्रथमानि), साथ ही इसके कर्म शक्तिशाली (वीर्याणि) होते हैं।

१. पहला कर्म तो इसने यह किया कि **अहिम् अहन्**=अहि को मार डाला। अहि का सामान्य अर्थ सर्प है—इसने सर्प को मार डाला। सर्प कुटिलवृत्ति का प्रतीक है। इसने अपने से कुटिलवृत्ति को दूर कर दिया।

२. **अनु**=इसके पश्चात् इसने **अ-पः**=(न पाति) न रक्षा करनेवाले दुष्ट मन को (अजित मन को) **ततर्द**=नष्ट कर दिया। **'अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्'** अजित मन हमारा शत्रु=Shatterer हो जाता है। इस हिरण्यस्तूप ने नष्ट करनेवाले (अ-प) दुष्ट मन का दमन कर दिया। सरल मार्ग पर चलने के लिए दुष्ट मन का दमन आवश्यक ही है।

३. दुष्ट मन के दमन के लिए इसने **पर्वतानाम्**=पाँच पर्वोंवाली अविद्या के **वक्षणाः**=प्रवाहों को **प्र अभिनत्**=विदीर्ण कर दिया है। अविद्या के नष्ट होने पर ही वासना नष्ट होगी—दुष्ट मन का दलन हो पाएगा।

भावार्थ—मैं कुटिलता का, दुष्ट मन का तथा पञ्चपर्वोंवाली अविद्या का नाश करके सरल, सुमन तथा सु-यज्ञ बनता हूँ।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उपदेष्टा का जीवन

६१३. अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
त्रिधातुरर्को रजसो विमानोऽजस्त्रं ज्योतिर्हविरस्मि सर्वम्॥ १२॥

वीर्य के संयम—उसकी ऊर्ध्वगति द्वारा अपने जीवन को 'आङ्गिरस' बनाकर मनुष्य 'विश्वामित्र'=सभी के साथ स्नेह करनेवाला और सच्चे अर्थों में 'गाथिनः'=प्रभु का स्तोता बनता है। यह अपने जीवन का निर्माण निम्न प्रकार आत्मप्रेरणा देता हुआ करता है—१. **अग्निः अस्मि जन्मना**=मुझे प्रभु ने स्वभावतः अग्नि=आगे बढ़नेवाला बनाया है। मैं अपने स्वभाव को क्यों नष्ट करूँ? 'आगे बढ़ो' यही मेरे जीवन का लक्ष्य हो। २. क्या शरीर, क्या मन और क्या बुद्धि सभी दृष्टिकोणों से आगे बढ़ता हुआ मैं **जातवेदाः**=अधिक-से-अधिक ज्ञानी—सर्वज्ञ-कल्प बनने का प्रयत्न करूँ। ३. **घृतं मे चक्षुः**=मेरी आँखों में दीप्ति हो—सर्वप्रथम स्वास्थ्य के कारण, उससे बढ़कर मनःप्रसाद के द्वारा और वास्तव में तो ज्ञान मेरी आँखों को दीप्त करनेवाला हो। ४. **अमृतं मे आसन्**=मेरे मुख में अमृत हो। मैं उस ज्ञान का प्रचार अमृतमयी वाणी से करनेवाला बनूँ। ५. मैं **त्रिधातुः**=सात्त्विक, राजस् व तामस् तीनों प्रजाओं का धारण करनेवाला बनूँ। अथवा शरीर, मन व बुद्धि तीनों को स्वाधीन करनेवाला मैं ६.

अर्कः=सूर्य की भाँति तेजस्वी बनूँ। ७. **रजसो विमानः**=मैं अपने जीवन में रजोगुण का विशेष मानपूर्वक धारण करनेवाला होऊँ। रजोगुण के नितान्त अभाव में मेरी क्रियाशीलता का ही अन्त हो जाएगा। रजोगुण के प्राबल्य में मेरा ज्ञान आवृत होने की आशंका है, अतः उसके विशेष मानपूर्वक निर्माण से ८. **अजस्रं ज्योतिः**=मैं अपने जीवन को सतत ज्योतिर्मय बनाऊँ और ९. **हविः अस्मि सर्वम्**=पूर्णरूप से अपने को हवि बना डालूँ। प्राजापत्य यज्ञ में अपनी आहुति दे दूँ। मैं सतत लोकहित में लगा रहूँ।

भावार्थ—मैं अपने जीवन को उन्नत करके प्राजापत्य यज्ञ में प्रवृत्त हो जाऊँ।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

चार आश्रम

६१४. पात्यग्निर्विपो अग्रं पदं वेः पाति यह्वश्चरणं सूर्यस्य।
पाति नाभा सप्तशीर्षाणमग्निः पाति देवानामुपमादमृष्वः॥ १३॥

'विश्वामित्र गाथिन' जब प्राजापत्य यज्ञ में प्रवृत्त होता है तब प्रजाओं को चारों आश्रमों का, जिनमें मनुष्य को जीवन यापन करना है, निम्न प्रकार से उपदेश करता है—

१. **अग्निः**=सब प्रकार की उन्नतियों का साधक, प्रकाश का प्रतीक प्रभु **अग्रं पदम्**=अग्रगति को, उन्नति को **पाति**=सुरक्षित करता है। किसकी उन्नति को? (क) **विपः**=मेधावी की और **वेः**=('वी' गति-प्रजनन-कान्ति-असनखादनेषु) गति के द्वारा अपना विकास करनेवाले की। मानव-जीवन का प्रथम प्रयाण 'ब्रह्मचर्याश्रम' है। इसमें उन्नति तो उस प्रभु की कृपा से ही होती है, परन्तु उस प्रभु की कृपा की प्राप्ति की शर्त यह है कि हम मेधावी बनने का प्रयत्न करें। हमारा कोई कार्य बुद्धि के प्रतिकूल न हो तथा हम क्रियाशील हों। हममें विकास के लिए प्रबल इच्छा हो—(कान्ति) विकास के विरोधी विघ्नों को हम दूर फेंकनेवाले हों (असन) तथा ज्ञान का उत्तरोत्तर भक्षण करते चलें (खादन=ब्रह्मचर्य)। इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम में प्रभुकृपा हमारे दो प्रयत्न चाहती है, १. हम मेधावी बनें २. हम 'वी' बनें।

२. अब गृहस्थाश्रम आता है। वह **यह्वः**=(यातश्च हूतश्च) जाने योग्य और पुकारने योग्य परमात्मा **सूर्यस्य**=सूर्य के समान निरन्तर सरण करनेवाले और आलस्य से सर्वथा शून्य गृहस्थ की **चरणम्**=गति को, आगे बढ़ने को **पाति**=सुरक्षित करता है। गृहस्थ के मौलिक कर्त्तव्य दो हैं (क) प्रभु को सदा स्मरण करना, उसे अपना आश्रय समझना और (ख) आलस्य को परे फेंककर अपने कर्त्तव्यकर्मों में लगे रहना। सूर्य की भाँति क्रियाशील होना।

३. अब वानप्रस्थाश्रम आता है। यहाँ भी **अग्निः**=वह प्रकाश का प्रतीक प्रभु **पाति**=उस वनस्थ की रक्षा करता है जो **नाभा**=केन्द्र में **सप्तशीर्षाणम्**=अपने शिरस्थ सातों ऋषियों को केन्द्रित रखता है। ये सात ऋषि 'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो चक्षु और एक मुख' हैं। वानप्रस्थ का मुख्य कर्त्तव्य 'आत्मचिन्तन' ही है—उसे अपनी ज्ञानेन्द्रियों को सदा प्रभु में केन्द्रित करने का प्रयत्न करना है। इसमें सिद्धि प्राप्त कर वह संन्यस्त होता है और वह—

४. **ऋष्वः**=(ऋष् गतौ) अन्त में सबसे जाने योग्य वह प्रभु **देवानाम्**=दिव्यता को अपने अन्दर स्थापित करनेवाले इन संन्यस्त पुरुषों के **उपमादम्**=(उप=समीप, मद=हर्ष) अपने समीप आनन्दमय स्थिति में रहने को **पाति**=रक्षा करता है। एक सन्यासी चौबीसों घण्टे उस प्रभु के

चरणों में स्थित है, अतएव आनन्द में भी स्थित है। सर्वोच्च मनःप्रसाद की साधना करके ही तो यह संन्यासी बना है। संन्यासी का मूल कर्त्तव्य 'देव' बनना व प्रभु की समीपता से दूर न होना है।

भावार्थ—मैं ब्रह्मचर्याश्रम में विप्=मेधावी व वी=गतिशील बनूँ। गृहस्थाश्रम में प्रभु को सदा पुकारता हुआ सूर्य के समान क्रिया में लगा रहूँ। वानप्रस्थ बनने पर अपनी सभी इन्द्रियों को प्रभु में केन्द्रित करने का प्रयत्न करूँ। इस प्रकार देव बनकर आदर्श संन्यासी बनूँ और सदा प्रभुचरणों में रहूँ।

चतुर्थी दशतिः

ऋषिः—**वामदेवो गोतमः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रभु-दर्शन के लिए

६१५. भ्राजन्त्यग्ने समिधान दीदिवो जिह्वा चरत्यन्तरासनि।
स त्वं नो अग्ने पयसा वसुविद्रयिं वर्चो दृशेऽदाः॥ १॥

१. प्रभु-दर्शन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हमारी जिह्वा सदा प्रभु के नाम का जप करे। **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'**=उसके नाम का जप और उस नाम के अर्थ का चिन्तन यही योग में ईश्वर-साक्षात्कार का प्रथम उपाय बताया है। मन्त्र में कहते हैं कि हे **समिधान**=तेज से प्रकाशमान प्रभो! **दीदिवः**=ज्ञान की ज्योति से देदीप्यमान **अग्ने**=सारे संसार को अग्रगति देनेवाले प्रभो! **भ्राजन्ती**=आपके नामस्मरण से चमकती हुई **जिह्वा**=जीभ सदा **अन्तः आसनि**=मुख में **चरति**=गतिशील होती है, अर्थात् मैं मुख से सदा आपके नामों का उच्चारण करता हूँ। प्रभु के नामोच्चारण से मेरी जिह्वा सदा चमकती रहती है। अपशब्दों से वह मैली नहीं होती।

२. हे **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप **वसुवित्**=निवास के लिए आवश्यक सब साधनों को प्राप्त करानेवाले **नः**=हमें **पयसा**=(प्यायतेः) आप्यायन=वृद्धि के दृष्टिकोण से **रयिम्**=धन तथा **वर्चः**=तेजस्विता **अदाः**=दीजिए, जिससे हम **दृशे**=आपका दर्शन कर सकें। प्रभुदर्शन के लिए 'नमक, तेल, ईंधन' की चिन्ता से मुक्त होना भी आवश्यक है। 'भूखे भजन न होई'। योगभ्रष्ट को प्रभु श्रीमताम्=धन-सम्पन्न घर में इसीलिए जन्म देते हैं। धन के साथ शरीर की शक्ति भी आवश्यक है। निर्बलता से शरीर रोगाक्रान्त होकर ध्यान को विचलित करनेवाला हो जाता है। धन और स्वास्थ्य का लाभ करके ही हम अपना आप्यायन=वर्धन कर सकते हैं। एवं, जहाँ प्रभु के नाम का जप आवश्यक है, वहाँ धन व तेजस्विता भी प्रभु-दर्शन के लिए सहायक हैं। मैं धन प्राप्त करके धन में आसक्त न हो जाऊँ, परन्तु इतना निर्धन भी न होऊँ कि मेरी सारी शक्ति व समय पेट की व्यवस्था करने में ही समाप्त हो जाए।

भावार्थ—उचित धन व शक्ति के साथ प्रभु-स्मरण मनुष्य को 'वामदेव गोतम'=प्रशस्त गुणोंवाला, प्रशस्तेन्द्रिय बनाता है।

ऋषिः—गौतमो वामदेवः॥ देवता—ऋतुः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

रमणीयता-ही-रमणीयता

६१६. वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः॥ २॥

जैसा मन होता है, वैसा ही संसार प्रतीत होता है। मन उदास है तो संसार भी उदास लगता है और मन प्रसन्न हो तो संसार भी प्रसन्न दीखता है।

संसार-चक्र में फँसे मनुष्य को, ऊँच-नीच से विक्षुब्ध होने पर, शतशः आशाओं के भङ्ग होने पर मन की आकुलता से सभी ऋतुएँ व्याकुल-सा करनेवाली हो जाती हैं। उसके मुख से ऐसे वाक्य सुनाई पड़ते हैं कि 'क्या आफ़त की गर्मी है? अरे! ये झड़ तो ख़त्म ही नहीं होता; पतझड़ की हवाओं ने क्या शुष्कता उत्पन्न कर दी है, सरदी तो मारे ही चली जाती है, ये शिशिर तो शीर्ण ही कर देगी, वसन्त क्या आयी—कफ़ के उपचय व प्रकोप से यह हमारा अन्त ही कर देगी।' मन की प्रसन्नता के अभाव में सभी ऋतुएँ खराब लगती हैं और मनुष्य सदा रोता ही रहता है, परन्तु स्वास्थ्य, आवश्यक धन व प्रभुनाम-स्मरण से प्रसन्न अन्तःकरणवाला व्यक्ति कहता है कि—१. **वसन्त इत् नु रन्त्यः**=अब निश्चय से वसन्त ऋतु कितनी रमणीय है। यह कुसुमों की आकरभूत ऋतु सारे संसार में हास का विकास करनेवाली है। सारा संसार कैसा खुला हुआ प्रतीत होता है। २. **ग्रीष्म इत् नु रन्त्यः**=वसन्त के बाद अब ग्रीष्म भी कितनी सुन्दर है! शरीरों से पसीने की धाराओं का प्रवाह करती हुई यह शरीर के शोधन में लगी है। सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणों से सब मल व दुर्गन्ध को भस्म करके ही रुकेगा। ३. **वर्षाणि**=सूर्य के प्रचण्ड ताप के बाद ये वर्षा की बौछारें अत्यन्त सुन्दर लग रहीं हैं। भस्मीभूत मल को ये प्रवाहित करके समुद्र में पहुँचा कर विश्राम लेंगी। ४. **अनु**=अब वर्षा की शीतल बौछारों के बाद **शरदः**=सबको शीर्ण करनेवाली यह शरद् ऋतु भी कितनी सुन्दर है! वर्षा में निर्मर्याद बढ़े हुए मलिन जल अब फिर मर्यादा में आ गये हैं और कितने स्वच्छ प्रतीत होते हैं! मयूरों का उग्र मद शान्त हो गया है—वनस्पतियों की अतिमात्र उपज भी परिमित हो गयी है। शरद् ऋतु ने सभी को विनीत-सा कर दिया है। ५. **हेमन्तः शिशिरः इत् नु रन्त्यः**=शरद् ऋतु के शोधन के बाद शरीर को फिर से उपचित करती हुई ये हेमन्त और शिशिर ऋतुएँ भी सुन्दर हैं। वस्तुतः प्रभु से समय-समय पर लायी गयी ये ऋतुएँ असुन्दर हो भी कैसे सकती हैं? प्रभु पूर्ण हैं तो उनका बनाया यह संसार क्या अपूर्ण होगा? नहीं! सब सुन्दर है—यदि मेरा मन सुन्दर है तो, अतः मुझे अपने मन को सुन्दर बनाकर 'वामदेव' बनना है—अपनी इन्द्रियों को निर्मल करके 'गोतम' बनना है।

भावार्थ—मनःप्रसाद को सिद्ध करके मैं संसार में प्रसाद को—रमणीयता को देखनेवाला बनूँ।

ऋषिः—नारायणः॥ देवता—पुरुषः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

संसार का निर्माता प्रभु

६१७. सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स भूमिं सर्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ ३॥

एक छोटी-सी घड़ी का निर्माण करनेवाला शिल्पी कितना कुशल व तीव्र मस्तिष्कवाला प्रतीत होता है। घड़े को बनानेवाला कुम्हार कितनी विलक्षण आँख की शक्तिवाला है। किसी एक साधारण-सी वस्तु के निर्माण करनेवाले को भी किस प्रकार भाग-दौड़ करनी पड़ती है? इन सब वस्तुओं का निर्माण करनेवालों के मस्तिष्क, चक्षु व पाँवों की शक्ति का ध्यान करते हुए जब एक भक्त इस अनन्त-से संसार के निर्माता का ध्यान करता है तब वह कह उठता है कि—**सहस्रशीर्षाः पुरुषः**=वह प्रभु तो अनन्त सिरोंवाला होगा। इस सारे ब्रह्माण्डरूप पुर में निवास करनेवाला (पुरि वसति) वह प्रभु कितने महान् मस्तिष्कवाला होगा? **सहस्राक्षः**=उसकी आँखे अनन्त होंगी और **सहस्रपात्**=उसके पाँव भी अनन्त होंगे। क्या कोई ऐसा स्थान भी होगा जहाँ उस प्रभु की सोचने, देखने व चलने की शक्ति का अभाव हो। नहीं! वह तो सर्वत्र व्यापक ज्ञानमय है, सर्वद्रष्टा तथा सर्वशक्तिमान् है। प्राणी के मस्तिष्क में भी उसी प्रभु की शक्ति का अंश है, आँखों में उसी प्रभु की दर्शनशक्ति काम कर रही है और पाँव में चलने की शक्ति भी उसी की दी हुई है।

इतना ही नहीं, वे प्रभु इस ब्रह्माण्ड से भी सीमित नहीं हो गये। **सः**=वे प्रभु **भूमिम्**=(भवतीति) इस उत्पन्न ब्रह्माण्ड को **सर्वतः**=चारों ओर से **वृत्वा**=आवृत करके **दशांगुलम्**=इस दशांगुल ब्रह्माण्ड को **अत्यतिष्ठत्**=लाँघ कर विद्यमान है। गर्भ जैसे माता के एक देश में होता है उसी प्रकार यह सारा ब्रह्माण्ड उस प्रभु के एक देश में है—वे प्रभु 'हिरण्यगर्भ' हैं—सारे ज्योतिर्मय पिण्डों को अपने गर्भ में लिये हुए हैं। यह सारा संसार उस प्रभु के सामने दशांगुल मात्र है। पञ्च तन्त्रात्माओं व पञ्चस्थूलभूतों का खेल होने से भी यह 'दशांगुल' है। प्रभु इस दशांगुल संसार से परे भी रह रहें हैं। जीव का हृदय भी दशांगुल कहलाता है। प्रभु का दर्शन जीव इस दशांगुल हृदय में ही करता है। प्रभु का यही 'परम परार्ध'=सर्वोत्कृष्ट निवास स्थान है।

इस प्रकार प्रभु का ध्यान करनेवाला व्यक्ति प्रभु को नार=नरसमूह है अयन=निवासस्थान जिसका, उस 'नारायण' के रूप में देखता है और स्वयं भी नरसमूह का शरण बनता हुआ 'नारायण' हो जाता है।

भावार्थ—नारायण का स्मरण करते हुए मैं नारायण ही बन जाऊँ।

ऋषिः—**नारायणः**॥ देवता—**पुरुषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

त्रिपाद् पुरुष

६१८. त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
तथा विष्वङ् व्यक्रामदशनानशने अभि॥ ४॥

वह परमात्मा 'त्रिपात्' है—(त्रीन् जन्मजरामृत्यून् पातयति) जन्म-मृत्यु, जरा से अतीत है, (त्रिषु कालेषु पद्यते प्राप्यते विद्यते) तीनों कालों में सदा रहनेवाला है, (त्रिषु लोकेषु पद्यते) तीनों लोकों में व्यापक है, (त्रीणि ऋग्यजुषं साम च पादयति प्रापयति) ऋग्यजुः सामरूप मन्त्रों का ज्ञान देनेवाला वह **त्रिपात् पुरुषः**=सर्वव्यापक परमात्मा **ऊर्ध्वः**=क्लेश, कर्म, विपाक व आशयों से अपरामृष्ट **उदैत्**=ऊपर उठा हुआ है। 'असक्तम्' वह इस संसार में सक्त नहीं है। यद्यपि वे प्रभु इस संसार में सक्त नहीं है **पुनः**=फिर भी **अस्य**=इस त्रिपात् पुरुष की

पाद:=(पद् गतौ) सारी क्रिया **इह**=इस त्रिगुणात्मक संसार में **अभवत्**=होती है। असक्त होते हुए भी वे प्रभु 'सर्वभृत् चैव' सबका भरण करनेवाले हैं ही **तथा**=इसलिए वे प्रभु **विष्वङ्**=(वि सु अञ्चति) सर्वतो व्याप्त हुए **अशनानशने**=चेतन और अचेतन—खानेवाले और न खानेवाले—उभयविधि जगत् को **अभि**=सब ओर से **व्यक्रामत्**=विक्रम के द्वारा अपने वश में स्थापित किये हुए हैं। प्रकृति पूर्ण परतन्त्र है, जीव भी कर्म करने में कुछ स्वतन्त्र होता हुआ फलभोग में परतन्त्र ही है। किसी प्रकार की आसक्ति न होने से ही उस प्रभु का शासन उत्कृष्टतम है। उस प्रभु के शासन में चलने पर मैं भी इस संसार में गतिशील रहता हुआ 'धर्मार्थ, काम' तीनों पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाला 'त्रिपात्' बनता हूँ।

भावार्थ—त्रिपात् प्रभु का स्मरण करता हुआ मैं भी त्रिपात् बनने का प्रयत्न करूँ।

ऋषि:—**नारायण:**॥ देवता—**पुरुष:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥ स्वर:—**गान्धार:**॥

सर्वाधार प्रभु

६१९. पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ ५॥

इदम्=यह **सर्वम्**=सब-कुछ **यत्**=जो **भूतम्**=हो चुका है—सिद्ध है **यत् च**=और जो **भाव्यम्**=भविष्य में सिद्ध होना है, वह सब **पुरुषे एव**=इस सारे ब्रह्माण्डरूप पुर में निवास करनेवाले प्रभु में ही है, अर्थात् सारा ब्रह्माण्ड प्रभुरूप आधार में स्थित है। सर्वभृत्—सबका भरण करनेवाले वे प्रभु ही हैं। 'हिरण्यगर्भ' होने से सब पदार्थों को उन्होंने गर्भ में धारण किया हुआ है।

सर्वा भूतानि=सब भूत **अस्य**=इस प्रभु के ही **पाद:**=चतुर्थांशमात्र हैं अथवा उसी से गति दिये जा रहें हैं, अतएव उसी के पादाक्रान्त—वशवर्ती हैं। **अस्य**=इस प्रभु का **त्रिपात्**=जगत् से अश्लिष्ट 'सत्, चित्, आनन्द' स्वरूप **अमृतम्**=अमृत है—अविनश्वर है और वह **दिवि**=सदा प्रकाश में है।

जिस दिन जीव यह समझ लेता है कि मैं उस प्रभु का ही 'पाद' हूँ—उसी से गति दिया जा रहा हूँ, उस दिन यह जीव सब क्रियाओं का अहंकार छोड़कर प्रभु के त्रिपाद्रूप को धारण करने की योग्यता प्राप्त करता है। इसका जीवन भी सत्य, चैतन्यता व आनन्द को धारण करनेवाला होता है।

भावार्थ—मैं प्रभु को अपने आधार के रूप में समझूँ।

ऋषि:—**नारायण:**॥ देवता—**पुरुष:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥ स्वर:—**गान्धार:**॥

ईशान

६२०. तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुष:।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ ६॥

जितना फैला हुआ अनन्त-सा यह ब्रह्माण्ड है **तावान्**=उतनी ही **अस्य महिमा**=इस सर्वाधार प्रभु की महिमा है।

जहाँ-जहाँ विभूति, श्री व ऊर्जा है, वह सब प्रभु की विभूति का अंश ही है। सूर्य-चन्द्र-तारे सभी उस प्रभु की दीप्ति से दीप्त हो रहे हैं (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति)। वस्तुतः हिमवान् पर्वत, समुद्र, सम्पूर्ण पृथिवी ये सब उस प्रभु की महिमा का कीर्तन कर रहे हैं। वह **पुरुषः**=सारे ब्रह्माण्ड में निवास करनेवाला प्रभु **ततः च**=उस सारे ब्रह्माण्ड से भी **ज्यायान्**=बहुत बड़े हैं। बड़े क्या वे तो अनन्त हैं, यह सान्त जगत् उस प्रभु के एक देश में ही तो है। उस प्रभु की महिमा का क्या कोई अन्त है?

वे प्रभु जहाँ इस जन्म-मृत्युवाले संसार के स्वामी हैं, वहाँ **अमृतत्वस्य उत**=मोक्षलोक के भी वे **ईशानः**=ईशान हैं। मुक्तात्मा स्वच्छन्दता से उस प्रभु में विचरते हुए भी नये जगत् का व्यापार करने में समर्थ नहीं है। उन्हें यह स्वतन्त्रता नहीं कि वे एक नया सूर्य रचकर अलग दुनिया बना डालें। उस प्रभु की व्यवस्था के अनुसार परामुक्ति की समाप्ति पर इन्हें इहलोक में लौटना है।

यत्=जो कुछ **अन्नेन**=अन्न के द्वारा **अतिरोहति**=बढ़ता है, उस शरीरादि के प्रभु ही ईशान हैं। मुझे उन्नति के साधन के लिए यह शरीर प्रभु ने साधन के रूप से प्राप्त कराया है। इसपर मेरा स्वामित्व नहीं—स्वामित्व उस प्रभु का ही है। इस तत्त्व को समझ लेने पर ही मैं (निर्भयः, निरहंकारः) होकर शान्ति का लाभ करनेवाला बनूँगा।

भावार्थ—मैं इस तत्त्व को समझूँ कि मेरे शरीर के भी ईशान वे प्रभु ही हैं।

ऋषिः—**नारायणः**॥ देवता—**पुरुषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

विराट् की उत्पत्ति

६२१. ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥ ७॥

प्रभु ने जब प्रकृति-समुद्र से ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया **ततः**=तब प्रारम्भ में एक चमकता हुआ **विराट्**=विराट् पिण्ड **अजायत**=उत्पन्न हुआ। यही वैज्ञानिकों का नेब्युला (Nebula) है।

विराजः अधि पुरुषः=इस विराट् पिण्ड का अधिष्ठाता वह सर्वव्यापक प्रभु ही था। **सः**=प्रभु से अधिष्ठित यह विराट् पिण्ड **जातः**=जब प्रादुर्भूत हुआ तो **अति**=अतिशयेन **अरिच्यत**=विरेचन-सा करनेवाला हुआ और **पश्चात्**=इस क्रिया के होने पर **भूमिम्**=प्राणियों के निवासस्थानभूत (भवन्ति भूतानि यस्याम्) लोकों को **अथो**=और **पुरः**=पालन-पूरण करनेवाले सभी पदार्थों को उसने अपने में से विवक्त कर डाला, अर्थात् लोकलोकान्तर और उनमें जीवन के लिए सब आवश्यक पदार्थ उत्पन्न हुए।

भावार्थ—हम प्रभु की निर्मित इस सृष्टि के निर्माण को समझें और इसमें उसकी महिमा को देखने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**द्यावापृथिवी**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उत्तम पालक द्यावापृथिवी

६२२. मन्ये वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ ये अप्रथेथाममितमभि योजनम्।
द्यावापृथिवी भवतं स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः॥ ८॥

व्यक्ति जितना-जितना विचारता है उतना-उतना सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की रचना-कौशल की महिमा का अनुभव करता है। उसे प्रत्येक व्यवस्था में प्रभु की कृपा दृष्टिगोचर होने लगती है। वह कहता है कि हे **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोको! तदन्तर्गत सब पदार्थो! **वाम्**=आपको **सुभोजसौ**=बड़ा उत्तम पालन करनेवाला **मन्ये**=मानता हूँ। प्रकाश व वृष्टि के द्वारा द्युलोक पृथिवी में उन अन्नों व फूल-फलों को जन्म देता है, जिनसे हमारा अत्युत्तम पोषण होता है। ये 'द्यावापृथिवी' हमारे 'माता-पिता' ही हैं। माता-पिता जैसे पुत्र का पूर्ण पोषण करते हैं उसी प्रकार ये पृथिवी और द्युलोक हमारा पोषण करते हैं। 'इनमें हमारे निवास के लिए किसी प्रकार की कमी हो' ऐसी बात नहीं। **ये**=जो **अमितम्**=अनन्त **अभियोजनम्**=कोसों तक चारों ओर **अप्रथेथाम्**=फैले हुए हैं। 'हमारे लिए' कम पड़ जाएँगे ऐसी आशंका नहीं है। पृथिवी 'वसुन्धरा' है—सभी के लिए पर्याप्त वसु इसमें विद्यमान है। यह 'रत्नगर्भा' है—यहाँ रत्नों की कोई कमी है?

'वामदेव गोतम' प्रार्थना करता है कि **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक **स्योने**=हमें सुख देनेवाले **भवतम्**=हों।

ते=वे द्यावापृथिवी **नः**=हमें **अंहसः**=पाप व कष्ट से **मुञ्चताम्**=मुक्त करें। जब अज्ञानवश हम इनमें फँस जाते हैं, इनका अन्याय से संग्रह करने लगते हैं और इनके अतियोग में ग्रसित हो जाते हैं तब हम दुःखभागी हुआ करते हैं। सुख देनेवाले द्यावापृथिवी हमारे दुःख का कारण हो जाते हैं, परन्तु यदि हम 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाले 'गोतम'=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बनेंगे तो कभी भी अंहस्=कष्ट के भागी न होंगे। हम द्यावापृथिवी को 'सुभोजसौ'=उत्तम पालन करनेवालों के रूप में ही देखें और इनकी अनन्तता का ध्यान करते हुए इनमें परस्पर शान्ति से निवास करनेवाले बनें। ये इतने विशाल हैं—यहाँ सभी के लिए स्थान है—लड़ने की आवश्यकता ही क्या?

भावार्थ—द्यावापृथिवी की विशालता और भोग-सामग्री का हम ध्यान करें।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**पुरुषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

कौन स्तुति करते हैं?

६२३. हरी त इन्द्र श्मश्रूण्युतो ते हरितौ हरी।
तं त्वा स्तुवन्ति कवयः पुरुषासो वनर्गवः॥ ९॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **हरी**=मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ **ते**=तेरे **श्मश्रूणी**=(श्म=शरीर, श्रि=आश्रय करना) शरीर में आश्रय करनेवाली हैं। इन्द्रियाँ 'हरी' कहलाती हैं, क्योंकि ये मनुष्यों का हरण करनेवाली हैं—उन्हें इधर-उधर भटकानेवाली हैं और वश में होने पर ये अज्ञान व कष्टों का हरण—निवारण करनेवाली हैं। भक्त प्रयत्न करता है कि उसकी इन्द्रियाँ प्रभु में ही निवास करें, इधर-उधर न भटकें। यह भक्त कहता है कि **उत उ**=और निश्चय से **हरी**=ये मेरी इन्द्रियाँ **ते हरितौ**=मुझे तेरी ओर ले-चलनेवाली हैं। वस्तुतः सारी साधना यही है कि हम इन्द्रियों को विषयों से हटाकर प्रभु में स्थिर करने का प्रयत्न करें।

ये भक्त **त्वाम्**=आपकी **स्तुवन्ति**=स्तुति करते हैं। कौन—

१. **कवयः**=जो क्रान्तदर्शी हैं—वस्तुओं के असली स्वरूप को देखने का प्रयत्न करते हैं।

ये गहराई तक जाकर वस्तु के तत्त्व को जानते हैं और उसका ठीक प्रयोग करते हैं। वस्तुओं का ठीक प्रयोग भी उस प्रभु का स्तवन व आदर ही है।

२. **पुरुषासः**=प्रभु का स्तवन वे करते हैं जो पुरुष हैं—जिनमें 'पौरुष' है। प्रभु का भक्त कभी अकर्मण्य नहीं होता। भक्ततम वे ही हैं जो 'सर्वभूतहिते रतः' हैं। प्रभु का हममें निवास 'पौरुष' के ही रूप में है। यदि मुझमें पौरुष नहीं तो प्रभु का भक्त क्या?

३. **वनर्गवः**=(वन=संभक्ति=संविभाग, गावः=इन्द्रियाणि)—प्रभुभक्त वे हैं जिनकी इन्द्रियाँ संविभाग का पाठ पढ़ती हैं। वे व्यक्ति जो संविभागपूर्वक खाते हैं, केवल अपने लिए नहीं पकाते—प्रभु के भक्त हैं। सारा संसार ही प्रभुभक्त का कुटुम्ब होता है। ऐसी स्थिति में वह संविभागपूर्वक क्यों न खाएगा?

एवं, प्रभुभक्त क्रान्तदर्शी होता हुआ, वस्तुओं को ठीक रूप में देखता हुआ, सदा पौरुषमय जीवनवाला होता है और पौरुष-प्राप्त सम्पत्ति का संविभागपूर्वक सेवन करता है। यह व्यक्ति 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला होता है और 'गोतम' प्रशस्तेन्द्रियोंवाला बनता है।

भावार्थ—मैं कवि, पुरुष व वनर्गु बनकर प्रभुभक्त बनूँ।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**आत्मन आशी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

वर्चस् की प्राप्ति

६२४. यद्वर्चो हिरण्यस्य यद्वा वर्चो गवामुत।
सत्यस्य ब्रह्मणो वर्चस्तेन मा सं सृजामसि॥ १०॥

हे प्रभो! **यत्**=जो **वर्चः**=तेज **हिरण्यस्य**=वीर्यशक्ति का है **तेन**=उससे **मा**=मुझे **संसृजामसि**=संयुक्त कीजिए। यह शक्ति रोगों को दूर कर रमणीयता प्राप्त कराने से सचमुच 'हिरण्य' है और वस्तुतः यही मूलशक्ति है—इसी पर अन्य शक्तियाँ निर्भर करती हैं। **वा**=और **यत्**=जो **वर्चः**=शक्ति **गवाम्**=इन्द्रियों की है, उससे मुझे युक्त कीजिए। मेरी एक-एक इन्द्रिय आजीवन सशक्त बनी रहे। अपने-अपने कार्यों को करने में इन्द्रियों की शक्ति अन्त तक ठीक बनी रहे। संक्षेप में—शरीर नीरोग हो और इन्द्रियाँ सबल **उत**=शरीर व इन्द्रियों की शक्ति के साथ जो **सत्यस्य**=सत्य का तेज है, वह मेरे मन को सबल बनाये। **ब्रह्मणः वर्चः**=ज्ञान का तेज मेरे विज्ञानमयकोश को उज्ज्वल करे।

गत मन्त्र में प्रभु के स्तोता का उल्लेख था। वह अपने जीवन को जिन वर्चस् व तेजों से अलंकृत करता है, उनका वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है। 'अनुष्टुप्' छन्द के परिणामस्वरूप ही यह 'वामदेव गोतम' अपने सब शोकों को समाप्त (stop) करनेवाला होता है। 'शरीर नीरोग है, इन्द्रियाँ शक्तिशाली हैं, शक्ति के द्वारा मन पवित्र हो गया है और ज्ञान से मस्तिष्क उज्ज्वल है, इससे अधिक और चाहिए ही क्या?

भावार्थ—मुझे शक्ति व इन्द्रियों की संसिक्तता के साथ सत्य व ज्ञान का नेत्र प्राप्त हो।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वृत्रों में शत्रु का पराभव

६२५. सहस्तन्न इन्द्र दद्ध्योज ईशे ह्यस्य महतो विरप्शिन्।
क्रतुं न नृम्णं स्थविरं च वाजं वृत्रेषु शत्रून्त्सुहना कृधी नः॥ ११॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **नः**=हमें **तत् सहः**=वह बल—वह सहनशक्ति व आनन्दमयकोश का बल **दद्धि**=दीजिए और **ओजः**=मानसबल प्राप्त कराइए। हे प्रभो! आप सहस् और ओज के पति हैं—मुझे भी सहस् व ओज दीजिए। 'सहस्' के द्वारा ही मेरा जीवन आनन्दमय होगा। मानस ओज के अभाव में मेरा किसी प्रकार का उत्थान नहीं होता। ओज 'उन्नति' का हेतु है, 'सहस्' आनन्द का। ओज और सहस् से मेरा जीवन उन्नति-पथ पर चलता है और आनन्दमय होता है। हे प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **अस्य**=इस **महतः**=महान् ब्रह्माण्ड के **ईशे**=शासक हैं—ईश्वर हैं। प्रकृतिरूप बीज से बढ़कर यह संसाररूप वृक्ष बनता है, अतः बढ़ने के कारण यह 'महत्' कहलाता है। प्रकृति के विकास की प्रथम सीढ़ी 'महत्' ही है (प्रकृतेर्महान्)। दर्शनों की परिभाषा में 'समष्टि बुद्धि' को भी महान् कहा जाता है—प्रभु ही समष्टिरूप में बुद्धितत्त्व के ईश हैं। ये बुद्धि के ईश प्रभु **विरप्शिन्** हैं—सृष्टि के प्रारम्भ में ही विशेषरूप से विविध विज्ञानों का उपदेश देनेवाले हैं। यह निर्मल वेदज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में ही उच्चारण किया गया है।

इस प्रकार वामदेव गोतम प्रभु से प्रार्थना करता है कि—१. **क्रतुं न नृम्णम्**=(न इव) हमें पुरुषार्थ के अनुसार धन प्राप्त कराएँ। 'नृम्णं' शब्द सामान्यतः सुख का वाचक है। सुख का साधन होने से धन भी 'नृम्णं' शब्द का वाच्य हो जाता है। यदि हम धन में उलझते नहीं तो यह सुख का साधन बना रहता है, परन्तु धन में वही नहीं उलझता जो धन को 'क्रतुं न'=पुरुषार्थ के अनुपात में चाहता है—'सुपथा'=उत्तम मार्ग से ही धन कमाता है और साथ ही हे प्रभो! **स्थविरं च वाजम्**=आप हममें स्थिर, सदा वर्द्धमान त्याग की भावना को भरिए। (वाज=त्याग, स्थविर=स्थिर या सदा विद्यमान)। यह त्याग की भावना मनुष्य को धन का दास नहीं बनने देती। वह धन का स्वामी बना रहता है। **'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'।**

धन का दास बनने पर धन मनुष्य के ज्ञान का आवरण (पर्दा) बन जाने के कारण 'वृत्र' (ढकनेवाला) कहलाता है—काम-विलास की इच्छा ही उससे यह सब करवाती है और विलास की इच्छा 'महान् वृत्र' है। एवं, अर्थ और काम में एक ऐसा तत्त्व है जो हमारा नाश करनेवाला होता है। इस नाशक तत्त्व को ही 'शत्रु' कहते हैं—(which shatters), मन्त्र में प्रार्थना है कि **वृत्रेषु**=ज्ञान पर पर्दा डालनेवाले इन अर्थ, काम में **शत्रून्**=जो नाशक तत्त्व हैं **नः**=हमें उन्हें **सहना**=सहन करनेवाला—पराभूत करनेवाला **कृधि**=कीजिए। नाशक तत्त्व को पराभूत करके हम 'अर्थ और काम को शत्रू न रहने दें अपितु पुरुषार्थ में परिवर्तित कर दें। 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' ये चतुर्विध पुरुषार्थ रहते हैं जब तक वे धर्म और मोक्ष से आवृत रहें। मनुष्य धर्मपूर्वक इनका अर्जन करे और मोक्ष को अपने जीवन का ध्येय बनाये। धर्मपूर्वक अर्थ कमाकर उचित कामों—आनन्दों का सेवन करता हुआ पुरुष ही मोक्ष प्राप्त करता है।

भावार्थ—हे प्रभो! मुझे सहस्, ओज, ज्ञान, पुरुषार्थानुसार धन, स्थिर त्याग की वृत्ति तथा अर्थ और काम में आसक्ति से विरति प्राप्त कराइए।

ऋषिः—**गोतमो वामदेवः**॥ देवता—**गौः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सात्त्विक गोदुग्ध का सेवन

६२६. सहर्षभाः सहवत्सा उदेत विश्वा रूपाणि बिभ्रतीर्द्व्यूध्नीः।
उरुः पृथुरयं वो अस्तु लोक इमा आपः सुप्रपाणा इह स्त॥ १२॥

गत मन्त्र की प्रार्थना को कार्यान्वित करने के लिए 'वामदेव गोतम' प्रस्तुत मन्त्र में उत्तम गौवों के अभ्युदय का उल्लेख करता है, जिससे उसके दुग्धादि सेवन से सात्त्विक ज्ञान व सात्त्विक भक्ति का विकास हो। यह प्रार्थना करता है कि हे गौवो! **सहर्षभाः**=उत्तम ऋषभों—बैलोंसहित तथा **सहवत्साः**=उत्तम बछड़ों के साथ **उदेत**=उदय को प्राप्त होओ। गौवों की उत्तम नस्ल के लिए उत्तम साँडों की आवश्यकता है ही। गौवों में दुग्ध प्रवर्तन ठीक होता रहे उसके लिए बछड़ों का होना आवश्यक है। हे गौवो! आप **विश्वा रूपाणि**=सब मनुष्यों को—प्राणियों को **बिभ्रतीः**=धारण करती हुई **द्व्यूध्नीः**=दुगने ऊधस्वाली उदित होओ। गौओं का दूध पूर्ण भोजन के रूप में बहुत उत्तम प्रकार से सब मनुष्यों का धारण करता है और यदि हम गौवों का उचित ध्यान करें तो वे दुगना दूध देनेवाली हो जाती हैं, अर्थात् उनका दूध पर्याप्त मात्रा में बढ़ाया जा सकता है। इनका दूध बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि इन्हें सदा घर में ही न बाँधे रक्खा जाए। मन्त्र में कहते हैं कि हे गौवो! **वः**=तुम्हारा **अयम्**=यह **उरुः**=विशाल **पृथुः**=विस्तृत **लोकः**=लोक **अस्तु**=हो। खुले आकाश में भ्रमण करनेवाली गौवों का दूध अधिक प्राणशक्तिवाला होता है। इन गौवों को पीने के लिए पानी भी अत्यन्त शुद्ध मिलना चाहिए। **सुप्रपाणाः**=सुख से पीने योग्य **इमाः आपः**=ये उत्तम जल **इह स्त**=यहाँ हों।

भावार्थ—मानव उत्कर्ष के लिए गौवों का उत्कर्ष आवश्यक है।

पञ्चमी दशतिः

ऋषिः—**शतं वैखानसाः**॥ देवता—**अग्निः पवमानः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पवमान के प्रध्यान से पवित्रता

६२७. अग्न आयूँषि पवस आसुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम्॥ १॥

मानव जीवन में उत्पन्न होनेवाली सैकड़ों बुराइयों को उखाड़कर नष्ट कर देनेवाला व्यक्ति 'शतं वैखानसः' है, (शतम्=सौ, वि=विशेषरूप से खन्=खोद डालना)।

यह प्रभु से आराधना करता है कि **अग्ने**=सब बुराइयों को भस्म करके उन्नति को सिद्ध करनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमारे **आयूँषि**=जीवनों को **पवसे**=पवित्र करते हो। हे प्रभो! आप **नः**=हमें **ऊर्जम्**=बल और प्राणशक्ति **च**=तथा **इषम्**=प्रेरणा व प्रकृष्ट-गति **आसुव**=प्राप्त कराइए। आपकी कृपा से हममें शक्ति हो और उस शक्ति को हम उत्कृष्ट क्रियाओं में ही नियुक्त करें। कृपया आप **दुच्छुनाम्**=दुर्वृत्ति को हमसे **आरे**=दूर **बाधस्व**=भगा दीजिए। 'दुच्छुना' दुर्वृत्ति का नाम है, क्योंकि इसे दुष्ट उपायों से भी अपना ही सुख-साधन अभीष्ट होता है। (दुत्=दुष्ट, शुनम्=सुख), परन्तु प्रभु-कृपा होने पर मनुष्य को उत्तम प्रेरणा प्राप्त होती है—अशुभवृत्तियाँ दूर होती हैं, शरीर में शक्ति का संचय होता है और जीवन पवित्र हो जाता है। एक-एक करके सब बुराइयाँ दूर हो जाती हैं और हम सचमुच 'शतं वैखानसः' बन जाते हैं। समूह में रहने के कारण 'शतं वैखानसाः' कहलाते हैं।

बाह्य अग्नि धातुओं के मलों को दूर कर देती है—प्राणायाम की अग्नि इन्द्रियों के मलों का अपाकरण करती है और प्रभु जोकि 'अग्नि पवमान' हैं, हमारे ज़ीवनों को पवित्र कर देते हैं।

भावार्थ—पवमान प्रभु के ध्यान से मेरे पाप दूर हों और मेरा जीवन पवित्र हो जाए।

ऋषिः—**विभ्राट् सौर्यः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

जीवन-यात्रा के चार प्रयाण

६२८. विभ्राड् बृहत् पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविह्रुतम्।
वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पिपर्ति बहुधा वि राजति॥ २॥

ब्रह्मचर्य—मानव-जीवन की यात्रा में प्रथम प्रयाण 'ब्रह्मचर्याश्रम' कहलाता है। इसमें मनुष्य १. **विभ्राट्**=विशेषरूप से (भ्राज=दीप्ति) दीप्त होनेवाला, चमकनेवाला बने। आचार्य द्वारा इसकी ज्ञानाग्नि पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोकरूपी तीन समिधाओं से समिद्ध की जाती है और यह ब्रह्मचारी ज्ञान की दीप्ति से चमक उठता है। इस आश्रम का मूल कर्त्तव्य 'ब्रह्म'=ज्ञान का 'चर'=भक्षण ही तो है। २. **बृहत्**=(बृहि वृद्धौ) ब्रह्मचारी को सब दृष्टिकोणों से—'शरीर-मन व बुद्धि' के विचार से—वृद्धि का सम्पादन करना है। ३. ज्ञान की दीप्ति के लिए तथा सब दृष्टिकोणों से वृद्धि के लिए ही ब्रह्मचारी **सोम्यं मधु**=सोम-सम्बन्धी मधु का **पिबतु**=पान करे। सोम=semen=वीर्य का नाम है, आहार का सार होने से यह 'मधु' है। मधु=शहद भी पुष्प-रसों का सार ही होता है। इस वीर्यरक्षा से ही यह अपनी ज्ञानाग्नि को समिद्ध करेगा। इसी से रोग-कृमियों को नष्ट करके यह शरीर को नीरोग बनाएगा और वीर्यवान् होने पर द्वेष की भावना से ऊपर उठकर निर्मल मनवाला होगा।

गृहस्थ—अब यह ब्रह्मचारी गृहस्थ में प्रवेश करता है। यहाँ इसे 'ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेव यज्ञ' नामक पाँच यज्ञों को करते हुए चलना है, परन्तु इन यज्ञों के कर्तृत्व का स्वयं गर्व न करके इसने उस प्रभु को ही इन यज्ञों के पति के रूप में देखना है। प्रभु-कृपा से ही ये पूर्ण होते हैं, वे प्रभु 'यज्ञस्य देवम्'=यज्ञों के प्रकाशक हैं, 'होतारम्'=वस्तुतः 'होता' प्रभु ही हैं। **यज्ञपतौ**=उस यज्ञों के रक्षक प्रभु में **अविह्रुतम्**=कुटिलताशून्य **आयुः**=जीवन को **दधत्**=धारण करता हुआ यह गृहस्थ जीवन-यात्रा में आगे बढ़े। एवं, गृहस्थ के लिए तीन बातें हैं—१. यज्ञमय जीवन बिताये, २. यज्ञों का गर्व न कर प्रभु को ही यज्ञपति माने, ३. कुटिलता से दूर रहे।

वानप्रस्थ—अब यह गृहस्थ 'वनस्थ' बनता है। वानप्रस्थ वह है **यः**=जो **वातजूतः**=प्राणों से प्रेरित हुआ-हुआ **त्मना**=आत्मना—अपने मन के द्वारा **अभिरक्षति**=अपनी सर्वतः रक्षा करता है। प्राणायाम की नियमित साधना से यह चित्तवृत्ति का निरोध करता है और इस निरुद्ध चित्त के द्वारा यह अपनी रक्षा करता है। **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'**=मन ही तो मनुष्यों के बन्ध व मोक्ष का कारण है। मन मित्र भी है, शत्रु भी। मन को वश में कर लिया तो यह मित्र है और यदि हम मन के वश में हो गये तो यह शत्रु है। इस मन की वृत्ति को वशीभूत करने के लिए साधकतम 'प्राणायाम' है। एवं, वनस्थ—१. प्राणायाम करता है, २. इसके द्वारा चित्तवृत्ति को वश में करने का प्रयत्न करता है, ३. रक्षित चित्त के द्वारा आसुर वृत्तियों के आक्रमण से अपनी रक्षा करता है।

ब्रह्माश्रमी—उपर्युक्त साधना के बाद आज यह मानव-जीवन यात्रा की अन्तिम मंजिल में प्रवेश करता है और यह **प्रजाः**=प्रजाओं का **पिपर्ति**=पालन व पूरण करता है। उन्हें प्रभु

का उपदेश देता हुआ कर्त्तव्य-पथ पर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करता है। उनके दोषों को उचित प्रेरणा द्वारा दूर करने का प्रयत्न करता है और यह **बहुधा**=बहुतों का धारण करनेवाला **विराजति**=विशेषरूप से दीप्त होता है।

मानवममात्र का पालन करते हुए सब प्रकार के स्वार्थों से ऊपर उठ जाने के कारण यह विशेष चमकवाला होता है। सबके पालन करनेवाले सूर्य की भाँति चमकने से यह 'विभ्राट् सौर्य:' कहलाता है और इस प्रकार अपनी जीवन-यात्रा को सफलता के साथ समाप्त करता है।

भावार्थ—हम अपनी जीवन-यात्रा के सभी प्रयाणों को उत्तमता से पूर्ण करनेवाले हों।

ऋषि:—**आङ्गिरस: कुत्स:**॥ देवता—**सूर्य:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:**॥

ब्रह्माश्रमी का ब्रह्मोपस्थान—उप-स्थान

६२९. चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ ३ ॥

गत मन्त्र का ब्रह्माश्रमी प्रजापालन के लिए सर्वत्र प्रवचन करता हुआ उस प्रभु का स्मरण इन शब्दों में करता है १. **देवानाम्**=सूर्यादि सब देवों का **चित्रं अनीकम्**=अद्भुत बल—सब देवताओं को देवत्व प्राप्त करानेवाला वह प्रभु **उदगात्**=मेरे हृदयान्तरिक्ष में उदित हुआ है। २. वह प्रभु **मित्रस्य**=द्युलोकस्थ सूर्य का **वरुणस्य**=अन्तरिक्ष-समुद्र-स्थित 'चन्द्र' का और **अग्ने:**=पृथिवीलोक में स्थित अग्निदेव का **चक्षु:**=प्रकाशक है। ये सब देव उस प्रभु के प्रकाश से ही प्रकाशित हो रहे हैं। **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**। ३. वे प्रभु **द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोक को **आ-प्रा:**=समन्तात् व्याप्त किये हुए हैं—वह प्रभु सर्वत्र परिपूर्ण हैं। ४. **सूर्य:**=सब जड़ जगत् को वे गति दे रहे हैं और चेतन-जगत् को प्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं। ५. वे **जगत: तस्थुष: च**=जङ्गम और स्थावर की **आत्मा**=आत्मा हैं। वस्तुत: यह सारा चराचर जगत् उस प्रभु का शरीर ही है—वह सबके अन्दर स्थित हुआ-हुआ अन्तर्यामिरूपेण इस सारे जगत् का नियमन कर रहा है।

इस प्रकार प्रभु का उपस्थान करनेवाला यह ब्रह्माश्रमी सर्वत्र उस प्रभु की महिमा को देखता है, अपने हृदय में भी उसी को व्याप्त अनुभव करता है। उसकी अन्तर्यामिता को अनुभव करने के कारण यह सब दुर्भावनाओं को कुचलनेवाला 'कुत्स' कहलाता है (कुथ हिंसायाम्)। सद्भावों के कारण इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का भी सद्भाव होता है और यह 'आङ्गिरस' बनता है।

भावार्थ—अन्दर-बाहर सर्वत्र प्रभु की व्याप्ति का अनुभव करते हुए हम दुर्भावनाओं व दुर्बलताओं से ऊपर उठें।

ऋषि:—**सार्पराज्ञी**॥ देवता—**सूर्य:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

जिज्ञासु

६३०. आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥ ४॥

अयम्=यह **गौः**=(गच्छति इति) पुरुषार्थशील—आलस्य से सदा दूर रहनेवाला **पृश्निः**=(प्रच्छ ज्ञीप्सायम्) ज्ञानप्राप्ति की प्रबल इच्छावाला **आ**=समन्तात् **अक्रमीत्**=क्रमण करता है। वेद में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करने के कारण जीव को 'पञ्चौदनः' कहा है। यह पञ्चौदन 'पञ्चधा विक्रमताम्', 'पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से पुरुषार्थ करे' ऐसा वेद का आदेश है। यह पृश्नि=जिज्ञासु ऐसा ही करता है। ज्ञान 'परिप्रश्नेन'=नानाविध प्रश्न (all round questioning) करने से ही प्राप्त होता है। यह पृश्नि **पुरः**=सर्वप्रथम **मातरम्**=वेदमाता को (स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्) **असदत्**=प्राप्त करता है—उसे समझने का प्रयत्न करता है। **च**=और इस वेदज्ञान के मार्ग से **पितरम्**=रक्षक प्रभु को **प्रयन्**=प्रकर्षेण प्राप्त होता है, जो प्रभु **स्वः**=स्वयं प्रकाशमान हैं।

प्रभु की प्राप्ति की कामनावाले को निम्न बातें करनी चाहिएँ—

१. **गौः**=वह गतिशील हो, 'पौरुषं नृषु' मनुष्यों में पौरुष ही प्रभु का रूप है।

२. **पृश्निः**=उसके अन्दर प्रबल जिज्ञासा हो। जिज्ञासु भक्त ही अन्त में ज्ञानी भक्त बनता है।

३. **आ अक्रमीत्**=यह सब ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानप्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करे। इस ज्ञान से इसे कण-कण में प्रभु की महिमा के दर्शन होंगे।

४. **असदत् मातरं पुरः**=यह सर्वप्रथम वेदमाता को अपनाये, क्योंकि **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'**=सारे वेद उस प्रभु का प्रतिपादन करते हैं। यह वेदवाणी माता की भाँति कल्याणी है—हमारे जीवन का निर्माण करके ज्ञान को बढ़ाकर हमें प्रभुदर्शन कराती है।

ऐसा करने पर हमें उस प्रभु का दर्शन होता है—वह ज्योतिर्मय रूप में हमारे हृदयों में प्रकट होता है। हमें पग-पग पर उस प्रभु के रक्षण-विधानों का आभास मिलता है और हम उसे 'पिता' के रूप में देखते हैं।

प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'आत्मा' है। इस आत्मा का दर्शन उसी को होता है जो अपने जीवन को 'सार्प'=गतिशील बनाता है और 'राज्ञी' इस गतिशीलता से अपने जीवन को दीप्त बनाता है। एवं, ऋषि का नाम 'सार्पराज्ञी' हो गया है।

भावार्थ—जिज्ञासु को ही प्रभु का ज्ञान होता है।

ऋषिः—**सार्पराज्ञी**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान का प्रकाश

३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २ २र ३ १ २र
६३१. अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती। व्यख्यन्महिषो दिवम्॥ ५॥

अस्य=इस (गत मन्त्र के पृश्नि) के **अन्तः**=अन्तःकरण में **रोचना**=उस प्रभु की दीप्ति **चरति**=विचरती है। गत मन्त्र में 'गतिशीलता, जिज्ञासा, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति में लगाना, वेदमाता को प्राप्त करना' इन उपायों द्वारा प्रभु-दर्शन का उल्लेख हुआ है। जिस समय इस 'सार्पराज्ञी' के हृदय में उस प्रभु का प्रकाश होता है तब यह **रोचना**=प्रभु की दीप्ति **प्राणात्**=प्राणशक्ति के द्वारा—शरीर में बल-संचार के द्वारा—**अपानती**=सब दोषों को दूर करनेवाली होती है। शरीर के मल दूर होकर नीरोगता प्राप्त होती है। इस नीरोगता के अनुभव से इसकी प्रभु-भक्ति की भावना और प्रबल होती है और **महिषः**=(मह पूजायाम्) प्रभु की

पूजा करनेवाला **दिवम्**=उस प्रकाशमय प्रभु को **व्यख्यत्**=लोकों के अन्दर प्रकाशित करता है, अर्थात् यह उस प्रभु का प्रवचन करता है।

भावार्थ—प्रभुभक्त श्रोताओं के सामने प्रभु-महिमा का व्याख्यान करता है।

ऋषिः—सार्पराज्ञी॥ देवता—सूर्यः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

निरन्तर जप

६३२. त्रिंशद्धाम वि राजति वाक् पतङ्गाय धीयते। प्रति वस्तोरह द्युभिः॥ ६॥

इस प्रभुभक्त के हृदय में **त्रिंशद् धाम**=तीसों घड़ी (अत्यन्त संयोग में यहाँ द्वितीया है) वे प्रभु **विराजति**=शोभायमान होते हैं। यह सदा प्रभु का स्मरण करता है और **वाक्**=इसकी वाणी **पतङ्गाय**=(पतन् गच्छति) ऊपर-नीचे व्यापक उस प्रभु के लिए **धीयते**=धारण की जाती है, यह सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते सदा उस प्रभु का स्मरण करता है। उस प्रभु का जप इसके श्वास-प्रश्वासों के साथ सदा चलता है। इस जप के चलने से **प्रतिवस्तोः**=प्रतिदिन (वस्तोः=दिव) **अह**=निश्चय से इसका जीवन **द्युभिः**=प्रकाशों से युक्त होता है। यह पृश्नि १. प्रभु को सदा हृदय में धारण करता है, २. वाणी से सदा उसका जप करता है और परिणामतः ३. इसका हृदय सदा प्रकाशमय रहता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, जिससे सदा प्रकाशमय रहें।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः॥ देवता—सूर्यः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

काम-क्रोधादि का विलय

६३३. अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः। सूराय विश्वचक्षसे॥ ७॥

प्रतिदिन प्रभु-स्मरण द्वारा जो व्यक्ति अपने जीवन को प्रकाशमय बनाता है वही वस्तुतः 'प्रस्कण्व'=मेधावी है। यह शनैः-शनैः-कण-कण करके अपनी ज्ञान-ज्योति को बढ़ानेवाला 'काण्व' एक दिन सूर्य की भाँति ज्ञान-ज्योति से चमकने लगता है।

इस **सूराय**=सूर्य की भाँति चमकनेवाले के लिए (अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह। अहं सूर्यइवाजनि)=मैं परमपिता के ध्यान से, प्रभु से सत्य ज्ञान को प्राप्त करनेवाला बना हूँ और सूर्य की भाँति हो गया हूँ तथा **विश्वचक्षसे**=केवल अपने को न देखकर सारे संसार को देखनेवाले के लिए **त्ये**=वे **तायवः**=(तायु=चोर—नि० ३.२४) चोरी (चोर जैसे सम्पत्ति का अपहरण करनेवाले होते हैं, इसी प्रकार अध्यात्मसम्पत्ति का उपक्षय, दसु=उपक्षये) करनेवाली आसुर वृत्तियाँ इस प्रकार **अपयन्ति**=दूर व नष्ट हो जाती हैं (अप=away) **यथा**=जैसे **अक्तुभिः**=रात के समय चमकनेवाले **नक्षत्रा**=नक्षत्र। रात्रि के समय आकाश में नक्षत्र खूब चमकते हैं, इसी प्रकार मानव-मस्तिष्क में अज्ञानान्धकार होने पर आसुर वृत्तिरूपी नक्षत्र चमका करते हैं, परन्तु ज्यों ही वहाँ ज्ञानसूर्य का उदय होता है तो (आकाश में सूर्योदय होने पर नक्षत्रों के समान) ये आसुर वृत्तियाँ भी विलीन हो जाती हैं। मनुष्य का दृष्टिकोण व्यापक हो जाता है—वह देव बन जाता है। अपना ही ध्यान न करके वह विश्व का ध्यान करनेवाला 'विश्वचक्षस्' बन जाता है। काम 'प्रेम' बन जाता है और क्रोध का स्थान 'करुणा' ले-लेती है। यही 'प्रस्कण्व'=मेधावी बनना है।

भावार्थ—मेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान का उदय हो—जिससे काम-क्रोध आदि तारों की चमक शान्त हो जाए।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान का प्रसार

६३४. अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु। भ्राजन्तो अग्नयो यथा॥ ८॥

प्रस्कण्व स्वयं ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान का प्रकाश औरों तक पहुँचाता है। इसका जीवन व इसकी वाणियाँ औरों को प्रभु का प्रकाश प्राप्त कराती हैं। **अस्य**=इस मन्त्र के ऋषि प्रस्कण्व की **केतवः**=(कित निवासे रोगापनयने च) उत्तम निवास की कारणभूत तथा रोगों को दूर करनेवाली **रश्मयः**=ज्ञान की रश्मियाँ—किरणें—**जनान् अनु**=लोगों का लक्ष्य करके **वि अदृश्रन्**=सब वस्तुओं को यथावत् दिखलाती हैं, अर्थात् प्रस्कण्व वेद में उपदिष्ट परमात्मा से दिये गये ज्ञान को लोगों में इस प्रकार प्रचारित करता है कि लोगों का निवास—रहने का ढङ्ग उत्तम होता जाए तथा वस्तुओं के यथावत् ज्ञान से उनका यथायोग करते हुए—उनके अतियोग व अयोग से बचते हुए—वे रोगों का शिकार न हों और परस्पर उनका व्यवहार ऐसा हो जैसा एक उत्तम नागरिक का होना चाहिए।

इस कण्व से दिये गये ज्ञान इस प्रकार के होते हैं **यथा**=जैसे **भ्राजन्तः**=दीप्त होती हुई **अग्नयः**=अग्नियाँ। दीप्त अग्नि जैसे सब मलों का विध्वंस कर देती हैं, इसी प्रकार इस प्रस्कण्व से प्रसारित ज्ञान की रश्मियाँ लोगों के मनों की मलिनताओं को नष्ट कर उन्हें पवित्र बना देती हैं। वह ज्ञान का प्रचार ही क्या जो हृदयान्धकार को नष्ट न करे?

भावार्थ—हम स्वयं प्रस्कण्व=प्रकृष्ट मेधावी बनकर ज्ञानरश्मियों को इस माधुर्य से फैलाएँ कि १. लोगों का निवास उत्तम हो, २. उनके रोग दूर हों, उनके मनों की मलिनताएँ ऐसे भस्म हो जाएँ जैसे चमकती अग्नि में कूड़ा-करकट भस्म हो जाता है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रचारक व प्रचार का ढङ्ग (प्रकार)

६३५. तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमाभासि रोचनम्॥ ९॥

प्रभु इस कण्व से कहते हैं कि तू सूर्य तो बना है। अब हे **सूर्य**=ज्ञान की दीप्ति से चमकनेवाले! तुझे यह ध्यान करना है कि तू १. **तरणिः असि**=काम-क्रोधादि को तैर जानेवाला है। प्रचार-कार्य में—प्राजापत्य यज्ञ में—सैकड़ों प्रकार के लोगों से तेरा वास्ता पड़ेगा। कोई कुछ कहेगा और कोई कुछ, तुझे क्रोध में नहीं आना। २. **विश्वदर्शतः**=तुझे सबका देखनेवाला बनना है, कभी अपने में ही केन्द्रित न हो जाना। तेरा आदर्श दुःखतप्त प्राणियों का आर्तिनाशन हो। तू लोकहित में आनन्द लेनेवाला बनना। ३. **ज्योतिः कृत् असि**=लोकहित के दृष्टिकोण से तू ज्ञान की ज्योति को चारों ओर फैलाना। अज्ञानग्रस्त व्यक्ति ही सब प्रकार के कष्टों के भाजन होते हैं। अविद्या सब कष्टों की जननी है, अतः इस अविद्या के नाश के लिए तुझे सदा यत्नशील होना है। ४. परन्तु इस बात को न भूलना कि तू **विश्वम्**=सम्पूर्ण संसार को—सभी लोगों को—**रोचनम्**=बड़े रुचिकर ढङ्ग से, किसी प्रकार की कड़वाहट के

बिना—बड़ी मधुरता से **आभासि**=दीप्त करता है। उपदेश में बड़ी मधुर व श्लक्ष्ण (smooth) वाणी का प्रयोग करना चाहिए।

भावार्थ—ज्ञान के प्रचार में मधुर वाणी का ही प्रयोग करना चाहिए।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु के दर्शन के लिए उपाय-त्रयी

६३६. प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान्। प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे॥ १०॥

हे प्रस्कण्व तू १. **देवानां विशः**=देव-प्रजाओं की **प्रत्यङ्**=ओर जाता हुआ **उदेषि**=उदय को प्राप्त होता है—अपने जीवन को उन्नत करता है। मनुष्य को यही चाहिए कि वह प्रतिदिन दिव्य गुणोंवाले लोगों को अपना लक्ष्य बनाकर अपने जीवन को अधिकाधिक दिव्य बनाने का प्रयत्न करे। अपने में दैवी सम्पत्ति का अवतारण ही मनुष्य का चरम उद्देश्य है। २. हे प्रस्कण्व! तू **मानुषान्**=जो मनुष्य हैं—human—दयालु हैं—जिनमें क्रूर राक्षसीवृत्ति नहीं है, उनकी **प्रत्यङ्**=ओर जाता हुआ **उदेषि**=अपने जीवन को उन्नत करता है। 'दया' वह गुण है जो मनुष्य को मनुष्य बनाती है। यही गुण मनुष्य को परमेश्वर के समीप प्राप्त कराता है। ३. हे प्रस्कण्व! तू अपने जीवन को दिव्य तथा दयालु बनाकर **विश्वम्**=संसार के सभी प्राणियों के **प्रत्यङ्**=प्रति जानेवाला बन। सभी के दुःखों को दूर करने के लिए तुझे सचेष्ट होना चाहिए। ये ही गुण तुझे **स्वर्दृशे**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योतिर्मय प्रभु के दर्शन के योग्य बनाएँगे।

भावार्थ—प्रभु का दर्शन उसी को होता है जो १. अपने अन्दर दिव्यता को बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हो, २. दयालु बने तथा ३. मानवहित के लिए सदा प्रयत्नशील हो।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु कौन-सी आँख से दीखता है?

६३७. येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि॥ ११॥

प्रभु प्रस्कण्व से कहते हैं—हे **पावक**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाले! **वरुण**=अपने को व्रतों के बन्धनों में बाँधनेवाले (पाशी) और इस प्रकार अपने को श्रेष्ठ बनानेवाले प्रस्कण्व! **त्वम्**=तू **येन**=जिस **चक्षसा**=दृष्टि से **जनान् अनुपश्यसि**=मनुष्यों के हित का ध्यान करता है (looks after=अनुपश्यसि), उसी दृष्टि से तू **भुरण्यन्तम्**=सभी के भरण करनेवाले उस प्रभु को **पश्यसि**=देख पाता है। जिस दृष्टि से तू लोकों के हित का ध्यान करता है, वही दृष्टि तुझे प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है। 'अनु'='पीछे' यह शब्द स्पष्ट कर रहा है कि पहले 'लोकहित' और पीछे 'प्रभु-दर्शन'। यदि मनुष्य लोकहित में प्रवृत्त नहीं होता तो वह प्रभु-दर्शन भी नहीं कर पाता।

इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह प्रभु को 'भुरण्यन्तम्'=पालन करनेवाले के रूप में देखता है और अनुभव करता है कि भरण तो सभी का प्रभु कर रहे हैं। मैं तो बीच में निमित्तमात्र बनता हूँ। इस निमित्त बन सकने के लिए आवश्यक है कि १. मैं पावक बनूँ—अपने जीवन को पवित्र बनाऊँ और २. वरुण बनूँ—व्रतों के बन्धनों में अपने को बाँधकर

अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाऊँ। वरुण 'प्रचेताः' है–प्रकृष्ट ज्ञानवाला बनकर मैं वरुण बनूँगा और तब निष्कामभाव से लोकहित में प्रवृत्त हुआ–हुआ प्रभु–दर्शन कर पाऊँगा।

भावार्थ–लोकहित का ध्यान करनेवाली दृष्टि ही प्रभु का दर्शन कराती है।

ऋषिः–**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता–**सूर्यः**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

सबके हित को देखनेवाला

६३८. उद् द्यामेषि रजः पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः। पश्यञ्जन्मानि सूर्य॥ १२॥

प्रस्कण्व अपने को ऊँचे–से–ऊँचा ज्ञानी बनाने का प्रयत्न करता है। वह ज्ञान से सूर्य की भाँति चमकने लगता है और ज्ञान को सूर्य की भाँति निरन्तर सरणशील, क्रियाशील भी बनाता है। जैसे यह सूर्य द्युलोक में उदित होता है उसी प्रकार हे प्रस्कण्व! तू भी १. **द्याम् उत् एषि**=इस मस्तिष्करूप द्युलोक में उदय को प्राप्त होता है, अर्थात् तू अपने ज्ञान को अधिक और अधिक बढ़ाता चलता है। इस ज्ञान–विस्तार के परिणामरूप ही तू २. **पृथुरजः**=इस विस्तृत हृदयान्तरिक्ष में उदित होता है, अर्थात् तू अपने हृदय को विशाल बनाता है। ३. तू **अक्तुभिः**=ज्ञान की रश्मियों के द्वारा अपने जीवन के **अहा**=दिनों को **मिमानः**=उत्तम बनानेवाला होता है। 'सुदिनत्वमह्नाम्'='मुझे दिनों का शोभनत्व प्राप्त हो' यह प्रार्थना तेरे जीवन में क्रियात्मकरूप धारण करती है।

एवं, मस्तिष्क को दीप्त, हृदय को विशाल और प्रकाश से दिनों को उत्तम बनाता हुआ तू **जन्मानि**=जन्म धारण करनेवाले सब प्राणियों को **पश्यन्**=देखनेवाला होता है–उन सबके हित का ध्यान करता है। जैसे सूर्य अपने लिए थोड़े ही चमकता है? वह लोगों को प्रकाश देने के लिए अपने मार्ग पर निरन्तर चल रहा है, इसी प्रकार तू भी लोकहित के लिए क्रियाशील हो रहा है–और इस प्रकार तू सचमुच ही सूर्य है।

भावार्थ–मस्तिष्क को उज्ज्वल, हृदय को विशाल व दिनों को शुभ बनाता हुआ मैं लोकहित में प्रवृत्त रहूँ।

ऋषिः–**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता–**सूर्यः**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

सात घोड़ों को जोतना

६३९. अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः। ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः॥ १३॥

अपने मस्तिष्क को ज्ञान–ज्योति से उज्ज्वल करनेवाला यह **सूरः**=विद्वान् **रथस्य**=शरीररूप रथ के **नप्त्यः**=न गिरने देनेवाले–पतन की ओर न ले–जानेवाले–और **शुन्ध्युवः**=शोधन करनेवाले **सप्त**=सात अश्वों को **अयुक्त**=जोड़ता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये सात घोड़े हैं जो इस शरीररूप रथ को आगे और आगे ले–चलते हैं। वश में किये हुए ये पतन के कारण नहीं बनते और मनुष्य का जीवन शुद्ध बना रहता है। इसी उद्देश्य से **सूरः**=विद्वान्–समझदार व्यक्ति इन्हें उस प्रभु में लगाने का प्रयत्न करता है। **ताभिः**=उन इन्द्रियों को **स्वयुक्तिभिः**=(स्व=आत्मा) आत्मा में लगाने की प्रक्रिया से यह समझदार (प्रस्कण्व) व्यक्ति **याति**=उस प्रभु को प्राप्त करता है। आत्मा में इन्हें लगाने पर ये पतन के कारण भी नहीं होते और हमारे जीवन को शुद्ध बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—मैं इन्द्रियों, मन व बुद्धि को आत्मा में समाविष्ट करने का प्रयत्न करूँ।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-मन्दिर में पहुँचना

६४०. सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य। शोचिष्केशं विचक्षण॥ १४॥

वह व्यक्ति जो इन्द्रियों, मन व बुद्धि को आत्मा में संयुक्त करने का प्रयत्न करता है, पतन की ओर न जाकर शुद्ध बनता हुआ दिव्य गुणों से युक्त होकर 'देव' बनता है। विशेष दृष्टिकोणवाला होने से 'विचक्षण' होता है, लोकहित के लिए निष्कामभाव से क्रियाशील होने के कारण 'सूर्य' होता है। ज्ञानरश्मियों की दीप्ति के कारण वह 'शोचिष्केश' कहलाता है।

मन्त्र में कहते हैं कि हे **देव! सूर्य! विचक्षण! शोचिष्केशम्**=दीप्त ज्ञानरश्मिवाले **त्वा**=तुझे **रथे**=इस शरीररूप रथ में **सप्त हरितः**=ज्ञानेन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप सात घोड़े **वहन्ति**=उस प्रभु की ओर ले-चलते हैं। यह जीव अपने अन्दर उस प्रभु की प्रभा को देखता है। उसे अपने शरीररूप रथ का नियन्ता वह प्रभु ही प्रतीत होता है। इन्द्रियरूप घोड़े 'हरितः' हैं—हरण करनेवाले हैं। इन्हें हम वश में करने का प्रयत्न करते हैं तो ये हमें उस प्रभु को प्राप्त कराते हैं। अवशीभूत होने पर हमें विषयों में जा फँसाते हैं। 'प्रस्कण्व' को ये प्रभु को प्राप्त कराते हैं। इस प्रस्कण्व की वृत्ति दैवी होती है न कि दानवी। 'इसके ज्ञान पर कभी काम का आवरण नहीं आता', अतः यह 'शोचिष्केश' कहलाता है।

भावार्थ—मेरे इन्द्रियरूप सात घोड़े मुझे प्रभु को प्राप्त कराएँ।

सामवेद-संहितायां पूर्वार्चिकः समाप्तः

अथ महानाम्न्यार्चिकः

इन मन्त्रों के ऋषि प्रजापति हैं—देवता इन्द्र है।

मार्ग का ज्ञान व मार्ग पर चलने की शक्ति

६४१. विदा मघवन्विदा गातुमनुशंसिषो दिशः।
शिक्षा शचीनां पते पूर्वीणां पुरूवसो॥ १॥

इन्द्र=जीव प्रजापति से कहता है—हे **मघवन्**=सर्वैश्वर्यशालिन् प्रजापते! आप पापशून्य हैं (मा+अघ=मघ), अपापविद्ध हैं। **विदा**=आप सर्वज्ञ हैं। **विदा गातुम्**=आप मुझे भी मार्ग का (गा=गतौ) ज्ञान दीजिए। आपकी कृपा से मुझे सत्यासत्य व कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक प्राप्त हो। **दिशः अनुशंसिषाः**=इस जीवन-यात्रा में मुझे कब किस दिशा में चलना है इसका आप अनुशंसन कीजिए। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास इन चार प्रयाणों के कर्त्तव्यों का आप मुझे क्रमशः उपदेश दीजिए।

इस मार्ग-ज्ञान के साथ मुझे शक्ति भी दीजिए कि मैं इस मार्ग पर चल सकूँ। हे **पुरूवसो**=पालन व पूरण के द्वारा उत्तम निवास करानेवाले प्रभो! आप **पूर्वीणां शचीनां पते**=पालक व पूरक शक्तियों के पति हैं। मुझे भी आप अपने ही समान **शिक्ष**=शक्त बनाने की इच्छा कीजिए। संसार में मेरी शक्ति सदा पालन व पूरण करनेवाली हो।

'इन्द्रियों को निर्बल करके वश में करना' यह विचार वेदानुकूल नहीं है। हमारी इन्द्रियाँ शक्तिशाली हों, परन्तु हमारे मन का उनपर नियन्त्रण हो। सशक्त घोड़ों पर चढ़नेवाले सवार हम सशक्ततर हों।

भावार्थ—मार्ग के ज्ञान के लिए हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक हों और ठीक मार्ग पर चलने के लिए हमारी कर्मेन्द्रियाँ सशक्त हों।

सूर्य-किरणों के समान

६४२. आभिष्ट्वमभिष्टिभिः स्वाऽ३र्न्नांशुः। प्रचेतन प्रचेतयेन्द्र द्युम्नाय न इषे॥ २॥

'अभिष्टि' शब्द Attack=आक्रमण का वाचक है। आक्रमण मार्ग का भी होता है। प्रजापति इन्द्र से कहते हैं कि तू अपने जीवन-यात्रा के चारों प्रयाणों में 'पठन, पालन, पाठन व प्रचार' के मार्गों को ठीक रखता चला तो **आभिः त्वम् अभिष्टिभिः**'=तू इन मार्ग के आक्रमणों से **स्वः अंशुः न**=सूर्य-किरण के समान चमकनेवाला बनेगा—इतनी अधिक तेरी शोभा होगी, अतः **प्रचेतन**=हे प्रकृष्ट चेतनावाले जीव! तू **प्रचेतय**=चेत, होश में आ। मोहमयी प्रमाद-मदिरा को पीकर उन्मत्त न बना रह। तू 'इन्द्र' है—मैंने तुझे इन्द्रियों का स्वामी बनाया है—तू इन्द्रियों का दास न बनना। **द्युम्नाय**=तुझे संसार में ज्योति प्राप्त करने के लिए भेजा गया है **न इषे**=केवल अन्न के लिए नहीं भेजा गया। शरीर-यात्रा के लिए भोजन करते हुए तू जीवन का लक्ष्य ज्ञान-प्राप्ति को ही समझना।

'न इषे' का सन्धि-छेद 'नः इषे' भी हो सकता है। तब भावना यह होगी कि तुझे हमने **नः**=हमारी प्रजा को **इषे**=उत्तम प्रेरणा देने के लिए भेजा है। ज्ञान प्राप्त करके तूने अपने जीवन से औरों को भी उत्तम प्रेरणा देनी है।

भावार्थ—हम खाने-पीने की दुनिया में ही न रमे रह जाएँ, ज्ञान प्राप्त करें।

शक्ति व दान

६४३. एवा हि शक्रो राये वाजाय वज्रिवः।
शविष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जस आ याहि पिब मत्स्व॥ ३॥

गत मन्त्र में प्रभु ने जीव से कहा था कि **द्युम्नाय न इषे**=तुझे ज्ञान-दीप्ति के लिए भेजा गया है न कि खाने-पीने के लिए। अब प्रभु कहते हैं कि **एवाहि**=निश्चय से इसी मार्ग पर चलने से ही तू **शक्रः**=शक्तिशाली बनेगा। खाने-पीने को जीवन का लक्ष्य बना देने पर तो तू भोगों में फँसकर जीर्णशक्ति हो जाएगा। यह ज्ञान का मार्ग ही तुझे **राये**=उस धन के लिए ले-चलेगा जो सदा लोकहित के लिए दिया जाता है। यही मार्ग **वाजाय**=तुझे शक्ति-सम्पन्न बनानेवाला होगा। उस दिन तू सचमुच वज्रतुल्य देहवाला होकर **'वज्रिवः'**=इस सम्बोधन के योग्य होगा।

प्रभु इस वज्रतुल्य देहवाले जीव से कहते हैं कि तू **वज्रिन्** और **शविष्ठ**=अत्यन्त शक्तिशाली बनकर **ऋञ्जसे**=मेरी आराधना करता है। **मंहिष्ठ वज्रिन् ऋञ्जसे**=तू खूब दाता व वज्रतुल्य बनकर ही मुझे अलंकृत करता है—तू मेरा सच्चा पुत्र होता है। एवं, प्रभु की आराधना 'शक्तिशाली बनकर, दानशील बनने में ही' है। प्रभु जीव से कहते हैं कि—**आयाहि**=आ, इधर-उधर मत भटक। नाना प्रकार की वासनाओं में भटकने की बजाए अपनी बुद्धि को समाहित कर। इस प्रकार तू अपने में शक्ति का **पिब**=पान कर और इस शक्ति को अपने अन्दर ही खपाकर **मत्स्व**=आनन्द का लाभ कर।

भावार्थ—हम शक्तिशाली व उत्तम दाता बनकर प्रभु के उपासक बनें।

वीर्यवान् ही दाता बनता है

६४४. विदा राये सुवीर्यं भवो वाजानां पतिर्वशाँ अनु मंहिष्ठ
वज्रिन्नृञ्जसे यः शविष्ठः शूराणाम्॥ ४॥

राये=उस ऐश्वर्य के लिए जिसे हम उदार मनोवृत्ति से लोकहित के लिए दे डालते हैं (रा-दाने) **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **विदा**=प्राप्त कर। प्रभु के इस वाक्य को सुनकर जीव प्रश्न करता है इस शक्ति को प्राप्त कैसे करूँ? प्रभु उत्तर देते हैं कि तू **वशान् अनु**=संयमी—जितेन्द्रिय=वशी लोगों के पीछे चलता हुआ **वाजानां पतिः भवः**=शक्तियों का पति बन। जितेन्द्रियता ही शक्तिसम्पन्न बनने का एकमात्र मार्ग है। यह शक्तिसम्पन्न पुरुष अपने शरीर को वज्रतुल्य बनाकर 'मंहिष्ठ' कहलाया है। यह **वज्रिन् मंहिष्ठ ऋञ्जसे**=प्रभु की सच्ची आराधना करता है **यः**=जो **शूराणाम् शविष्ठः**=शूरों में भी शूरतम है। वस्तुतः बिना शूरता के दानशूरता भी हममें आती नहीं। निर्बल व्यक्ति कृपण मनोवृत्ति का बन जाता है।

वह धन का त्याग करके प्रभु का आराधक बने यह उसके वश की बात नहीं रहती।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बन शक्ति का सम्पादन करें।

दाता ही चमकता है

६४५. यो मंहिष्ठो मघोनामंशुर्न शोचिः। चिकित्वो अभि नो नयेन्द्रो विदे तमु स्तुहि ॥ ५ ॥

यः=जो **मघोनाम्**=ऐश्वर्यशालियों में **मंहिष्ठः**=सर्वाधिक दान देनेवाला है, वही **अंशुः न**=सूर्य-किरणों के समान **शोचिः**=चमकवाला होता है। धन स्वयं चमकीला है—इसकी चमक से मनुष्य मुग्ध होकर इसे जुटाने में जुट जाता है। इसे जुटाकर वह अपनी चमक को मध्यम कर लेता है। उससे सत्य का स्वरूप छिप जाता है। कृपण धनी की क्या संसार में कोई शोभा रहती है? हाँ, धनी बनकर यदि वह खूब देनेवाला बनता है तो वह चमकने लगता है। **'जुहोत प्र च तिष्ठत'**=दान दो और शोभा पाओ। दान के अनुपात में ही शोभा बढ़ती है। यह दातृतम बनता है और सूर्य-किरणों के समान चमकने लगता है।

अब यह प्रकृति के पीछे भागते रहने को ठीक नहीं समझता और प्रार्थना करता है कि हे **चिकित्वः**=ज्ञान-सम्पन्न गुरो! **नः**=हमें **अभिनय**=धर्म के मार्ग की ओर ले-चलो। इसकी इस प्रार्थना पर गुरु उसे कहते हैं कि **इन्द्रः**=प्रभु ही **विदे**=ज्ञानी हैं **तम् उ स्तुहि**=उसकी ही स्तुति करो। मुझे प्रभु जितना मार्ग दिखाएँगे, मैं तो उतना ही तुम्हारा पथप्रदर्शन कर पाऊँगा, अन्त में सभी के मार्ग-दर्शक वे प्रभु ही हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम उत्तम मार्गदर्शक पाकर धनों की ममता से ऊपर उठें।

द्वेष से दूर

६४६. ईशे हि शक्रस्तमूतये हवामहे जेतारमपराजितम्।
स नः स्वर्षदति द्विषः क्रतुश्छन्द ऋतं बृहत् ॥ ६ ॥

ईशे हि=जो निश्चय से अपना ईश होता है—अपनी इन्द्रियों का स्वामी होता है, वही **शक्रः**=शक्तिशाली बनता है, समर्थ होता है तथा प्रत्येक कार्य में सफलता लाभ करता है। ऐसे ही **जेतारम्**=काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीतनेवाले तथा **अपराजितम्**=कभी भी कामादि से पराजित न होनेवाले **तम्**=उस राजा को **ऊतये**=रक्षा के लिए **हवामहे**=पुकारते हैं। मन्त्र के इन शब्दों से यह स्पष्ट है कि राजा जितेन्द्रिय होना चाहिए। बिना जितेन्द्रियता के वह राज-कार्य में सफल नहीं हो सकता। यदि वह काम-क्रोधादि को नहीं जीत सकता तो प्रजा के मनों को भी क्या जीतेगा?

सः=वह राजा **नः**=हमें **द्विषः**=सब द्वेष-भावनाओं से **अतिस्वर्षत्**=पार ले-जाए। राजा का मूल कर्त्तव्य यह है कि वह प्रजाओं में प्रेम का संचार करे, जिससे वे एक-दूसरे की उन्नति में सहायक हों।

राजा की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह—

१. **क्रतुः**=दृढ़-संकल्पवाला हो। ढिलमिल स्वभाववाला व्यक्ति शासन में कभी सफल नहीं हो सकता।

२. **छन्दः**=राजा वेद का ज्ञाता हो। वेद के छन्द उसे सदा पाप से बचानेवाले हों

(छन्दांसि छादनात्)।

३. **ऋतम्**=उसका जीवन ऋत का पालन करनेवाला हो। वह सूर्य और चन्द्रमा की भाँति अपने जीवन में नियमित गतिवाला हो।

४. **बृहत्**=यह बढ़े हुए मनवाला हो। इसका हृदय संकुचित भावनाओंवाला न हो। अन्यथा यह विविध मनोवृत्तिवाली प्रजाओं में सबके साथ पक्षपातशून्य बर्ताव न कर सकेगा।

भावार्थ—राजा स्वयं जितेन्द्रिय हो तथा प्रजाओं को परस्पर द्वेष की भावना से दूर रक्खे।

प्रजापति का कर्त्तव्य

६४७. इन्द्रं धनस्य सातये हवामहे जेतारमपराजितम्।
स नः स्वर्षदति द्विषः स नः स्वर्षदति द्विषः ॥ ७॥

६४८. पूर्वस्य यत्ते अद्रिवोंऽ शुर्मदाय। सुम्न आ धेहि नो वसो पूर्तिः शविष्ठ शस्यते।
वशी हि शक्रो नूनं तन्नव्यं संन्यसे ॥ ८॥

१. शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला, बलयुक्त कर्मों को करनेवाला, ऐश्वर्यशाली राष्ट्र का शासक 'इन्द्र' कहलाता है। इसका प्रथम कर्त्तव्य इन शब्दों में सूचित हुआ है कि **इन्द्रम्**=राजा को **धनस्य**=धन के **सातये**=उचित संविभाग के लिए **हवामहे**=पुकारते हैं। जिस राष्ट्र में धन कुछ व्यक्तियों में केन्द्रित हो जाता है, वह राष्ट्र उसी प्रकार रोगी हो जाता है जिस प्रकार वह शरीर जिसमें रुधिर किसी एक अङ्ग में इकट्ठा हो जाए। राजा धन को एक स्थान पर केन्द्रित न होने दे।

२. **जेतारम्**=उस राजा को पुकारते हैं जो विजयशील है, **अपराजितम्**=कभी पराजित नहीं होता। राजा स्वयं तो व्यसनी होना ही नहीं चाहिए, वह राष्ट्र के बाह्य शत्रुओं का भी अभिभव कर सके। प्रजा विजेता का ही साथ देती है।

३. **सः**=वह राजा **नः**=हमें **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं से **अति**=परे **सु-अर्षत्**=उत्तमता से प्राप्त कराए। राष्ट्र में धर्म के नाम पर परस्पर घृणा प्रजा के लिए विनाशकारी है, राष्ट्र को निर्बल करनेवाली है। Secular state का अभिप्राय यही है कि वह प्रभु की उपासना के प्रकारविशेष पर बल देनेवाली न हो।

४. **पूर्वस्य**=(पर्व पूरणे) राष्ट्र में शिक्षा भरनेवाले हे **अद्रिवः**=वज्रवाले राजन्! **यत्**=जो **ते**=तेरी **अंशुः**=ज्ञानकिरण है—ज्ञान का सर्वत्र प्रसारण है, यह **मदाय**=राष्ट्र के वास्तविक हर्ष का कारण बनती है। राष्ट्र का कोई व्यक्ति अशिक्षित न रह जाए इस बात के लिए राजा को व्यवस्था करनी है। जो माता-पिता शिक्षा के योग्य बालकों को शिक्षणालयों में न भेजें वे दण्डनीय हों। 'अद्रिवः' शब्द राजा के हाथ में वज्र देकर यही सूचित कर रहा है।

५. हे **वसो**=उत्तम ढङ्ग से प्रजा को बसानेवाले राजन्! **नः**=हम सबको **सुम्ने**=सुम्न में **आधेहि**=सर्वथा स्थापित कीजिए। सुम्न शब्द का प्रथम अर्थ है—**सु**=उत्तम **म्न**=अभ्यास, उत्तम ज्ञान की प्राप्ति। इसका दूसरा अर्थ Hymn=स्तोत्र व प्रभुस्तवन है और तीसरा यह आनन्द का वाचक है। राजा को चाहिए उसकी प्रजा ज्ञानयुक्त होकर प्रभु की स्तुति करनेवाली बने और इस प्रकार आनन्द का लाभ करे।

६. **शविष्ठ**=हे गतिशील व शक्तिशाली राजन्! **पूर्तिः**=प्रजा का पालन व पूरण ही **शस्यते**=तेरा प्रशंसित कर्म है। तूने उत्तम राष्ट्र-व्यवस्था के द्वारा प्रजा को पूर्णता की ओर ले-चलना है। उनका शरीर स्वस्थ हो, मन निर्द्वेष हो, बुद्धि प्रकाशमय हो।

७. **वशी**=जो स्वयं अपने पर काबू कर प्रजाओं को भी वश में कर सकता है **हि**=निश्चय से वही **शक्रः**=समर्थ होता है—शासन-व्यवस्था चला पाता है। एवं, राजा को स्वयं व्यसनों से अवश्य ऊपर उठना चाहिए।

यदि राजा इस प्रकार राष्ट्र का शासन करता हुआ अपने इन कर्त्तव्यों का पालन करता है **तत्**—तो वह **नूनम्**=(न ऊनम्) पूर्ण तथा नव्यं (नु स्तुतौ) प्रशंसनीय **संन्यसे**=प्रभु की पूजा करता है। राजा की सच्ची प्रभु-पूजा यही है कि वह उपर्युक्त राज-कर्त्तव्यों में लगा रहे। (O king this is your perfect and praiseworthy worship.)

सबके साथ स्नेह करनेवाला व सत्यवादी (Benevolent and upright)

६४९. प्रभो जनस्य वृत्रहन्त्समर्येषु ब्रवावहै।
शूरो यो गोषु गच्छति सखा सुशेवो अद्वयुः॥ ९॥

परमात्मा तो प्रभु हैं ही। वैदिक साहित्य में राजा भी परमात्मा का प्रतिनिधि होने से प्रभु कहलाता है। राजा को चारों वर्णों को स्वधर्म में स्थापित करना होता है। प्रभु सदा हृदयस्थ हो उत्तम प्रेरणा द्वारा मनुष्यों की वासनाओं को नष्ट कर रहे हैं और राजा राष्ट्र में उत्तम व्यवस्था द्वारा वृत्रों का नाश करता है। मन्त्र में कहते हैं कि **प्रभो**=हे अनन्त प्रभाव-सम्पन्न ईश! **जनस्य वृत्रहन्**=लोकों के वृत्रों (वासनाओं) के विनाशक! आप ऐसी कृपा कीजिए कि हम दोनों (पति+पत्नी) **अर्येषु**=स्वामियों—जितेन्द्रियों में **संब्रवावहै**=बोले जाएँ, गिनती किये जाएँ, अर्थात् हम जितेन्द्रिय बनें। **शूरः**=शूरवीर वही है **यः**=जो **गोषु**=इन्द्रियों पर **गच्छति**=आक्रमण करता है (attack=आ+टेक=गतौ, आक्रमण में क्रम=गतौ) बाह्य शत्रुओं की विजय के स्थान में आन्तर शत्रुओं का विजय करनेवाला कहीं वीर है। 'इस वीर की परिभाषा क्या है? इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र निम्न शब्दों में देता है १. **सखा**=यह सभी के साथ स्नेह करनेवाला, सभी के प्रति उत्तम हृदयवाला होता है। (Benevolent, Bene=good, volo=to wish) **सुशेवः**=उत्तम, सुखद कर्मों को करनेवाला होता है। (Beneficent, Bene=good, facie=to make) **अद्वयुः**=इसके जीवन में द्वैध (duplicity) नहीं होता। जो इसके मन में, वही वचन में, वही कर्म में। एवं, यह सत्य, सरल पथ का अनुसरण करता है।

क्या इन तीन विशेषताओं से विशिष्ट जीवन सुन्दरतम नहीं है? किसकी इच्छा न होगी कि इस प्रकार का जीवन बने। इसी से वह अगले मन्त्र में कहता है कि—

प्रभु व जीव का वार्तालाप

६५०. एवाह्येऽ३ऽ३ऽ३व। एवा ह्यग्ने। एवाहीन्द्र। एवा हि पूषन्। एवा हि देवाः॥ १०॥

हे प्रभो! मैं तो **एवा हि एव**=ऐसा ही बनूँगा। सखा, सुशेव और अद्वयु। ऐसा ही और ऐसा ही। जीव के ऐसे दृढ़ निश्चय को सुनकर प्रभु कहते हैं कि—ऐसा तो तुझे बनना ही चाहिए।

मनुष्य जीवन चार भागों में बँटा है—१. ब्रह्मचर्याश्रम में जीवन में अग्नि बनना है—आगे बढ़नेवाला व अग्नि के समान तेजस्वी २. गृहस्थ—यहाँ शतशः प्रलोभनों के होते हुए उसने इन्द्र=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनने का प्रयत्न करना है, ३. वानप्रस्थ—इसमें उसे गृहस्थ में आ गयी थोड़ी-बहुत कमी को अपने को परमेश्वर से गुणित करके दूर करना है। फिर से अपना पोषण करने से यहाँ वह 'पूषन्' कहलाता है, ४. संन्यास—यहाँ वह सब सङ्गों को त्याग देता है, अपना जीवन भी लोकहित के लिए दे डालता है। दीपन, द्योतन व दान के कारण वह सचमुच 'देव' बन जाता है।

प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **अग्ने!**=यदि तू प्रथमाश्रम में स्थित होने से अग्नि नामवाला है तो तू यही निश्चय कर कि **एवा हि**=ऐसा ही, अर्थात् 'सखा, सुशेव और अद्वयु' बनना है। यदि तू द्वितीयाश्रम में होकर इन्द्र उपाधिवाला हुआ है तो **एवा हि इन्द्र**=ऐसा ही बन। तृतीयाश्रम का **पूषन्** होकर भी **एवा हि**=ऐसा ही तुझे बनना है और चौथे आश्रम में **देव** पदवीवाला होकर भी तूने ऐसा ही बनना। जिस किसी भी आश्रम में होना, तेरा लक्ष्य यही हो 'सखा, सुशेवः, अद्वयुः'। इन्हीं तीन शब्दों का तूने जप करना, इन्हीं का चिन्तन और इन्हीं को अपने जीवन में अनूदित करने के लिए तेरा सारा प्रयत्न हो।

यहाँ तीन बार ३ का अंक यह संकेत करता है कि ये तीनों बातें समवेतरूप में ही तेरे अन्दर हों, तीनों ही आवश्यक हैं।

भावार्थ—हम अर्य बनें, शूर हों, सखा, सुशेव व अद्वयु बनना हमारा आदर्श हो। हम दृढ़ निश्चय करें कि ऐसा ही बनना है।

इति महानाम्न्यार्चिकः समाप्तः

इति सामवेदभाष्ये पूर्वार्चिकः समाप्तः॥